॥ णमो सुअस्स ॥

जैनशास्त्रमाला—प्रथमं रत्नम्

दशाश्रुतस्कन्धसूत्रम्

संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतं

गणपतिगुणप्रकाशिकाहिन्दी-भाषा-टीकासहितं च

अनुवादक

जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न, जैनमुनि
श्री श्री श्री १००८ उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज

पञ्जाबी

प्रकाशक

खज़ानचीराम जैन
जैन शास्त्रमाला कार्यालय

सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

प्रथमावृत्ति १०००] [मूल्य लागतमात्र ४॥)

महावीराब्द २४६२ विक्रमाब्द १९९३ ईसवी सन् १९३६

प्रकाशक
लाला खज़ानचीराम जैन,
संयोजक तथा प्रबन्धक,
जैनशास्त्रमाला कार्यालय,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

मुद्रक
लाला खज़ानचीराम जैन,
मैनेजर, मनोहर इलैक्ट्रिक प्रेस,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

दशाश्रुतस्कन्धसूत्रम्

विषय-सूची

प्रथमा दशा

द्वितीया दशा

तृतीया दशा

चतुर्थी दशा

पञ्चमी दशा

षष्ठी दशा

सप्तमी दशा

अष्टमी दशा

नवमी दशा

भगवान् का साधु और साध्वियों को आमंत्रित कर ३० महामोहनीय कर्मों का वर्णन करना

दशमी दशा

धन्यवाद

कुछ वर्ष हुए, श्री १००८ पूज्य अमोलक ऋषि जी महाराज ने अत्यन्त परिश्रम करके श्वेताम्बर-स्थानकवासी सम्प्रदाय के मान्य ३२ जैन शास्त्रों का हिन्दी अनुवाद किया था और महेंद्रगढ़ के दानवीर राजा बहादुर सेठ सुखदेव सहाय ज्वालाप्रसाद जी ने उनको सहस्रों रुपये खर्च कर प्रकाशित करके शास्त्रप्रेमियों में बिना मूल्य वितरण कराया। इस उपकार के लिये हम उक्त दोनों महापुरुषों का जितना भी धन्यवाद करें, थोड़ा है। यह उनका प्रथम यत्न था और बहुत ही अल्पकाल में पूरा किया गया था, इसलिए उसमें कई एक त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक ही था। फिर भी उन शास्त्रों से जितना उपकार हुआ है, वह अकथनीय है; और जैन-समाज उक्त महानुभावों का अत्यन्त आभारी है।

सौभाग्यवश मुझे भी उन शास्त्रों के पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। किन्तु मैं उनसे पूर्ण लाभ न उठा सका। अनेक स्थल अभी भी इतने कठिन और अस्पष्ट थे कि मैं अल्पज्ञ उनके समझने में असफल रहा। इसलिये मेरे मन में एक दिन यह अध्यवसाय उत्पन्न हुआ कि शास्त्रों का इतना सरल अनुवाद प्रकाशित किया जाय कि अल्पबुद्धि पाठक भी उनसे पूर्ण लाभ उठा सकें। तथा शास्त्रों का महत्त्व बनाए रखने के लिए मूलपाठ भी साथ दे दिया जाए और संस्कृतज्ञों के लिए संस्कृत छाया भी। इन विचारों से प्रेरित होकर मैं कुछ दिनों के पश्चात्

१००८ जैनधर्मदिवाकर, साहित्य-रत्न, जैनागमरत्नाकर उपाध्याय मुनि श्री आत्माराम जी महाराज की सेवा में उपस्थित हुआ। यथाविधि वन्दना नमस्कार करके बैठ गया। दर्शन करके अहोभाग्य समझा। कैसी सौम्य मूर्त्ति, विशाल नेत्र, उदारहृदय, परम गम्भीर, ज्ञान-सम्पन्न, महाप्रतिभाशाली, प्रकृति और स्वभाव इतना मृदु कि कुछ कहते नहीं बनता। विद्या और गुणों से इतने परिपूर्ण मानों साक्षात् देव हों। वे बड़े रूपवान्, कान्तियुक्त, तेजस्वी, महाप्रतापी, आजन्म ब्रह्मचारी, मधुर-भाषी और सभा-निपुण हैं। मैंने उनके चरणकमलों में अपना अभिप्राय निवेदन किया, जिसे सुनकर वे परम हर्षित हुए और उन्होंने सर्व प्रकार से सहायता देने का वचन दिया। उन्होंने तो मुझे इतना प्रोत्साहित किया कि मेरे हर्ष का पारावार ही न रहा। मैंने तो समझा कि मेरे जैसा पुण्यवान् कोई नहीं है, जिस पर ऐसे ऐसे महापुरुषों की इतनी कृपा है। आप उच्चकोटि के विद्वान् हैं। केवल प्राकृत ही नहीं, संस्कृत भी खूब पढ़े हुए हैं। प्राकृत पर तो मातृभाषा के तुल्य आपका पूरा पूरा अधिकार है। मैं किस मुख से प्रशंसा करूँ। हमारे पंजाबी सम्प्रदाय में आप उच्चकोटि के शास्त्रमर्मज्ञ हैं। आपकी वक्तृता में भी एक अद्भुत और अलौकिक शक्ति है। वक्तृता बड़ी विद्वत्तापूर्ण होती है। अधिक क्या लिखूँ, आप सर्वगुणसम्पन्न हैं। धन्य वे पुरुष हैं जिनको ऐसे ऐसे महात्यागी, महावैरागी, महाब्रह्मचारी, महातपस्वी विद्वानों की सेवा का अवसर प्राप्त होता है। परस्पर वार्त्तालाप हुई। अन्त में निश्चय हुआ कि एक ऐसी शास्त्रमाला का प्रबन्ध किया जाए जो काग़ज़, छपाई आदि की दृष्टि से सर्वोच्च हो। अनुवाद इतना सरल हो, जिसे थोड़ा पढ़ा लिखा



श्री श्री श्री १००८ श्री

(चित्र परिचय के लिए है पूजन के लिए नहीं)

भी समझ सके। पाठ सर्वथा शुद्ध और शब्दार्थ-सहित हो। संस्कृतज्ञ विद्वानों के लिये संस्कृत छाया भी साथ ही दी गई हो। शास्त्र ऐसे उच्च श्रेणी के हों, जो जैन एवं जैनेतर विद्वानों में सम्मान पा सकें और जिस किसी गृह, पुस्तकालय तथा संग्रहालय में रक्खे हों, वहां की शोभा में चार चाँद लगा सकें। प्रकाशन पुस्तकाकार हो। साइज़ २०×३० आठ पेजी अर्थात् ७½×१० इंच हो। मूलपाठ लाल रंग में हो और शेष सब काली स्याही में। ऊपर मूलपाठ, नीचे संस्कृत छाया; उसके पश्चात् एक एक प्राकृत शब्द का अर्थ, तब मूलार्थ और अन्त में विस्तृतार्थ हो, ताकि समझने में किसी कठिनाई का सामना न रहे। शास्त्रों के अनुवाद का भार उन्होंने बड़ी ही उदारता और साहस से अपने ऊपर लिया और इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए दाताओं के प्रबन्ध में मुझे यथाशक्ति सहायता देने के लिए बड़ी ही उदारता दिखाई। इस तरह उद्देश्य पूर्ण होता देखकर मेरे हर्ष की सीमा न रही। मेरे भाग्योदय से मुझे साहित्य-सेवा का अवसर मिलेगा, इससे बढ़कर मुझे और क्या प्रसन्नता हो सकती थी।

प्रबन्ध यह हुआ कि आठ ऐसे धनाढ्य पुरुष लिए जाएँ, जिनमें से प्रत्येक ६२५) रुपये देकर इस शास्त्रोद्धार-कार्य का सहायक बने। इस प्रकार ५०००) पांच हज़ार रुपया जमा करके शास्त्र-प्रकाशन का कार्य आरम्भ कर दिया जाए। पहले एक शास्त्र छापा जाए। उसको व्ययमात्र पर बेचकर जो रुपया एकत्र हो, उससे दूसरे शास्त्र का कार्य हाथ में लिया जाए। फिर उसको भी व्ययमात्र पर बेचकर तीसरे किसी शास्त्र का उद्धार किया जाए। इस प्रकार ३२ के ३२ ही आगम, अर्थात् पूरी बत्तीसी का प्रकाशन करके उद्देश्यपूर्त्ति हो।

अब दाताओं का प्रश्न उपस्थित हुआ। श्री उपाध्याय जी महाराज की मैं किन शब्दों में प्रशंसा करूँ। इस सारे उद्धार और प्रचार का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। मैं सत्य कहता हूँ कि यह उन्हीं की योग्यता, ज्ञान और तपश्चर्या का पुण्य-प्रताप है, जो मैं इस महान् ज्ञानसेवा के कार्य को सफल होता देख रहा हूँ।

आप ग्रामानुग्राम पैदल विहार करते हुए एक समय कसूर पधारे । वहां मुझे बुलाया गया । मेरी उपस्थिति में वहां के मुख्य नेताओं की एक सभा एकत्रित की गई और मुझे अपना अभिप्राय निवेदन करने के लिए आज्ञा हुई । मैंने भी अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार अपने संपूर्ण विचारों को दिल खोल कर उनके सम्मुख रख दिया । और आठ सहायकों में सर्व-प्रथम मैंने ही अपने आपको पेश किया । और ६२५) रुपये की सहायता देने की प्रतिज्ञा की ।



इस शास्त्रमाला का संयोजक और प्रबन्धक

[illegible]

फर्म—मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास जैन, पुस्तक विक्रेता, लाहौर



श्रीमान् लाला आशाराम जी

श्री उपाध्याय जी महाराज ने भी संक्षिप्त किंतु अत्यंत प्रभावशाली वक्तृता दी । सोने में सुगन्ध का काम हुआ । बड़ी सफलता हुई । वयोवृद्ध श्रीमान् लाला आशाराम जी जैन अर्ज़ीनवीस, बैंकर और मालिक फर्म लाला आशाराम जगन्नाथ जी जैन सराफ़ कसूर हमारे सहायक बने । आप बड़े धर्मप्रेमी और भगवद्भक्त हैं । अपने नगर में सुप्रसिद्ध और प्रतिष्ठित हैं ।

इसके अतिरिक्त कसूर निवासी धर्म-मूर्त्ति स्वर्गीय श्रीमान् बाबू परमानन्द

जी वकील की धर्मपत्नी श्रीमती दुर्गादेवी जी भी हमारी सहायक बनीं। स्वर्गीय बाबू जी की धर्मपत्नी ने अपने पूज्य पतिदेव की स्मृति में यह दान देने की कृपा की। स्वर्गीय बाबू जी पंजाब की जैनसमाज के एक मुख्य नेता थे। पंजाब जैनसभा के प्रसिद्ध कार्यकर्त्ता और बच्चे बच्चे के हितैषी थे। लाहौर के श्री अमर जैन होस्टल की स्थापना का श्रेय आप ही को प्राप्त है। आपकी अपने नगर में बड़ी प्रतिष्ठा थी। राजदरबार में आपको यथेष्ट सम्मान प्राप्त था। वकीलों में आप



चोटी के वकील थे। अब मुझे मिला कर तीन सहायक हो गए। अब तो आशांकुर बड़े वेग से फूट पड़ा। चातुर्मास के पश्चात् जब श्री उपाध्याय जी महाराज लुधियाना विराजमान हुए, मुझे फिर वहां उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। और वहां पर हमें दो सहायक और प्राप्त हुए। १ लाला मोहनलाल जी मालिक फर्म लाला मिट्ठीमल बाबूराम जी जैन, बैंकर वा क्लाथ मर्चेण्ट, लुधियाना। यह बड़े ही उत्साही, धर्मप्रेमी और दानवीर हैं। इनके हाथों धर्मोन्नति के सैकड़ों



श्रीमान् लाला मोहनलाल जी

काम चले और चल रहे हैं। आप जाति से अग्रवाल हैं और नगर में विशेष प्रतिष्ठा रखते हैं। देशहित आपमें कूट कूट कर भरा हुआ है। जैनसमाज के बच्चे बच्चे से आपका विशेष प्रेम है।

दूसरे लाला मन्तलाल जी जैन रईस मालिक फर्म लाला मल्हीमल मन्तलाल लुधियाना। आप बड़े धर्मात्मा हैं। प्रकृति बड़ी सरल है। आप भी जाति के अग्रवाल हैं। साधु महात्माओं की संगति में ही आपका अधिक समय व्यतीत होता है। सादगी इतनी बढ़ी चढ़ी है कि कहते नहीं बनता। धनिक होने पर



[illegible]

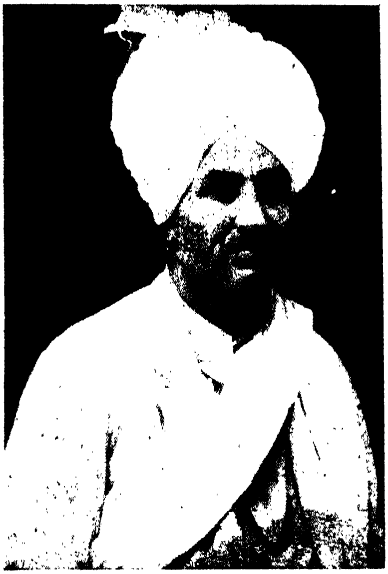
भी मान नाममात्र को नहीं।

मेरे पूज्य चचा श्रीयुत गोपीराम जी, मालिक फर्म लाला कन्हैयालाल बृजलाल, फर्नीचर मर्चेण्ट वा बैंकर, होशियारपुर एक बार लाहौर आए। यह मेरे दादा स्वर्गीय लाला मेहरचन्द्र जी के भतीजे (अर्थात् उनके कनिष्ठ भ्राता स्वर्गीय लाला कन्हैयालालजीके सुपुत्र) हैं। इनके साथ भी मेरी शास्त्रो-द्धार-विषयक चर्चा चली। उन्होंने भी सहायक बनना स्वीकार कर लिया। आप बालब्रह्मचारी हैं। बड़े ही उदार और अपनी बिरादरी के धनिक और प्रतिष्ठित सज्जनों में से एक हैं। धर्म



[illegible]

की बड़ी लगन है। सेवाभाव इतना उच्च है कि निर्धन से निर्धन व्यक्ति के यहां भी कोई छोटे से छोटा काम हो तो भाग कर जाते हैं। अब हम ६ सहायक हो गए।



इस वर्ष हमारे सर्वमाननीय उपाध्याय जी महाराज का चातुर्मास रावलपिण्डी शहर में हुआ। वहां फिर मुझे उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। फलतः शेष दो महायक हमारे और बढ़े। एक लाला तेजेशाह जी मालिक फर्म लाला तेजेशाह एण्ड सन्ज़, बैंकर, सराफ़ वा क्लाथ मर्चेण्ट, रावलपिण्डी।



श्रीमान् लाला रोचीशाह जी

दूसरे लाला रोचीशाह जी मालिक फर्म लाला कन्हैयाशाह रोचीशाह जी जैन, क्लाथ मर्चेण्ट, रावलपिण्डी। मैं इन दोनों सज्जनों की कहाँ तक प्रशंसा करूँ। आपकी शास्त्रश्रद्धा, उपाध्याय जी महाराज के प्रति अनन्य भक्ति और ज्ञानदान में उदारहृदयता देखकर मेरा हृदय गद्गद् हो गया। मन-ही-मन प्रफुल्लित होता और भगवान् को लाख लाख धन्यवाद देता। इन सज्जनों ने केवल इसी धर्म-कार्य में ही अपने हृदय की विशालता का परिचय नहीं दिया किन्तु इनके यशस्वी हाथों से अनेक

धर्म-कार्य सम्पन्न हो चुके हैं। आप दोनों रावलपिण्डी जैनसंघ के मुख्य नेता और दानवीर हैं। महान् धनिक और प्रसिद्ध व्यापार-कुशल हैं।

इस प्रकार मेरा उद्देश्य और उद्योग पूर्णरूपेण सफल हुआ अर्थात् आठों सहायक प्राप्त हो गए। कार्य आरंभ हुआ।

श्री उपाध्याय जी महाराज ने सब से पहले दशाश्रुत-स्कन्ध सूत्र को हाथ लगाया तथा इतनी शीघ्रता और निपुणता से इसके अनुवाद को पूर्ण किया कि मैं दंग रह गया। मानो कोई दैवी शक्ति काम कर रही हो। मुझे सचमुच विस्मय हुआ। मेरे मुख से यही प्रार्थना-पूर्ण शब्द निकलते थे कि—हे भगवन्! उपाध्याय जी महाराज को दीर्घायु प्राप्त हो ताकि जिस महान् कार्य को उन्होंने अपने हाथ में लिया है, वह निर्विघ्न समाप्त हो। मुझे विश्वास है कि मेरी प्रार्थना को भगवान् अवश्य सुनेंगे। विश्वास से ही संसार में सब काम सिद्ध होते हैं।

अन्त में मैं सब महानुभावों का हृदय से धन्यवाद करता हूं। इसके लिए आपकी आत्मा का कल्याण हो और आप सब मोक्षमार्ग पर आरूढ हों, यही हम सबकी नित्य प्रति की भावना है। सबसे अधिक धन्यवाद के पात्र हमारे गुरुदेव मुनि श्री उपाध्याय आत्माराम जी महाराज हैं। उनका उपकार मैं किन शब्दों में प्रकट करूं। संक्षेप में मैं इतना ही कहे देता हूं कि सकल जैनसमाज आपकी इस अतुलनीय सेवा के लिए आपकी आभारी है और आजन्म आपके इस उपकार को नहीं भूलेगी।

जैन सिद्धान्त के विशेष प्रचार के लिए यह परमावश्यक है कि शास्त्रों का अन्य स्वदेशी और विदेशी सर्व भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित किया जाए और इसी तरह व्ययमात्र पर विक्रय करके प्रचार किया जाए। किन्तु इस भारी काम के लिए रुपए की बड़ी भारी आवश्यकता है। यदि हमारी समाज के दानवीरों ने कुछ और उदारता दिखाई तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं उस अवस्था में साहित्य की और भी अधिक सेवा कर सकूंगा।

मैनेजिंग प्रोप्राइटर
फर्म—मेहरचन्द लक्ष्मणदास जैन
बैंकर, बुकसेलर, पब्लिशर और प्रिंटर
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

विनीत
खज़ानचीराम जैन
संयोजक व प्रबन्धक
जैनशास्त्रमाला कार्यालय

पूज्यपाद आचार्यवर्य्य श्री अमरसिंह जी महाराज की पट्टावली ॥

पंचनईय सव्वगुणालंकयस्स पुज्जसिरि अमरसिंहस्स सीसोमहाचाइ वेरग्गमुद्दा रामबक्खस महामुणी तपट्टे विराइओ !

तपट्टे तेसिं लहुगुरु भाया संति मुद्दा गणिगुणालंकओ सत्थविसारओ पुज्जसिरि मोतीरामो भूओ ।

तपट्टे संघहिएसी जोइसविण्णु मिच्छत्त निकंदणकत्ता पुज्जसिरि सोहणलालो होत्था ।

तप्पट्टे जइण जाइए दसाए उद्धारए पंचालकेसरी इय उपाधिधारए पुज्जसिरि कासीरामो संप्पइ काले विरायए साहिच्चमंडलस्स ठावणा इमेसिं काले भूआ ! आसं करेमि एएसिं पहावओ सव्वकज्जं सफलं भविस्सइ ।

विक्रम संवत् १९९३ भाद्रपद शुक्ला बुधवारे ।

गुर्वावली

नायसुओ वद्धमाणो नायसुओ महामुणी ।
लोगे तित्थयरो आसी अपच्छिमो सिवंकरो ॥१॥
सतित्थे ठविओ तेण पढमो अणुसासगो ।
सुहम्मो गणहरो नाम तेअंसी समणच्चिओ ॥२॥
तत्तो पवट्टिओ गच्छो सोहम्मोनाम विस्सुओ ।
परंपराए तत्थासी सूरीचामरसिंघओ ॥३॥
तस्स संतस्स दंतस्स मोतीरामाभिहो मुणी ।
होत्थ सीसोमहापन्नो गणिपयविभूसिओ ॥४॥
तस्स पट्टे महाथेरो गणवच्छेअगो गुणी ।
गणपति संनिओ साहू सामण्ण गुण्णसोहिओ ॥५॥
तस्स सीसो गुरुभत्तो सो जयरामदासओ ।
गणावच्छेअगो अत्थि समो मुत्तोव्व सासणे ॥६॥
तस्स सीसो सच्चसंधो पवट्टगपयंकिओ ।
सालिग्गामो महाभिक्खू पावयणी धुरंधरो ॥७॥
तस्संतेवासिणा एसा अप्पारामेण भिक्खुणा ।
उवज्झाय पयंकेणं भासाटीका समत्थिआ ॥८॥
दसासुतक्खंधटीकेयं लोकभासासुबद्धिआ ।
पढंताणं गुणंताणं वायंताणं पमोइणी ॥९॥

इगूणवीसा नवासीइ विक्कमवासेसु निम्मिआ एसा लुधि-
याणा नामयनयरे दसासुयक्खंध टीकासमत्ता ।

स्वाध्याय

आत्मा स्वाध्यायद्वारा आत्मविकास कर सकता है, परन्तु स्वाध्याय विधिपूर्वक होना चाहिए। यदि विधिशून्य स्वाध्याय किया जायगा, तो वह आत्मविकास करने में समर्थ नहीं हो सकेगा, क्योंकि विधिपूर्वक किया हुआ स्वाध्याय ही वास्तविक स्वाध्याय है।

स्वाध्याय का फल

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि स्वाध्याय करने से किस फल की प्राप्ति होती है। इसका उत्तर यही है कि—

"सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणइ" "सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवइ" उत्तराध्ययन अ० २९ सू० १८

अर्थात् हे भगवन् ! स्वाध्याय करने से किस फल की प्राप्ति होती है ? भगवान् कहते हैं कि—हे शिष्य ! स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण हो जाते हैं। जब ज्ञानावरणीय कर्म ही क्षीण हो गए, तो आत्मविकास स्वयमेव हो जायगा, जिससे कि आत्मा अपने स्वरूप में प्रविष्ट हो जाने के कारण सब दुःखों से छूट जायगा। क्योंकि—

"सज्झाएवा सव्वदुक्खविमोक्खणे" उत्त० अ० २६ गा० १०

अर्थात् स्वाध्याय सब दुःखों से विमुक्त करने वाला है।

शारीरिक और मानसिक दुःखों का उद्भव अज्ञानता से ही होता है। जब अज्ञानता नष्ट होगई, तब वे दुःख भी स्वयं नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि—

"दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो" उत्त० अ० ३२ का० ८

अर्थात् जिसको मोह नहीं होता, मानों उसने दुःखों का भी नाश कर दिया। अतः सब प्रकार के दुःखों से छूटने के लिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

स्वाध्याय किन किन ग्रन्थों का करना चाहिए?

स्वाध्याय उन्हीं ग्रन्थों का करना चाहिए, जो सर्वज्ञप्रणीत, सत्य पदार्थों के प्रदर्शक, ऐहलौकिक और पारलौकिक शिक्षाओं से युक्त, उभयलोकों के हितोपदेष्टा और जिनके स्वाध्याय से तप, क्षमा और अहिंसा आदि तत्वों की प्राप्ति हो। तात्पर्य यह है कि जिनके स्वाध्याय से आत्मा ज्ञानी और चारित्रयुक्त एवं आदर्शरूप बन सके, वे ही आगम स्वाध्याय करने योग्य हैं। उन्हीं के स्वाध्याय से आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान सकता है। किंतु प्रत्येक मतावलम्बी अपने आगमों को सर्वज्ञप्रणीत मानता है; फिर इस बात का निर्णय कैसे हो कि अमुक आगम ही सर्वज्ञप्रणीत हैं, अन्य नहीं? इसका उत्तर यही है कि आगमों की परीक्षा के लिए मध्यस्थ भाव से प्रमाण और नय के जानने की आवश्यकता है। जो आगम प्रमाण और नय से बाधित न हो सकें, वे ही प्रमाण-कोटि में माने जा सकते हैं। जैसे कि—कुछ व्यक्तियों ने अपने अपने आगमों को अपौरुषेय (ईश्वरोक्त) माना है, उनका यह कथन प्रमाण-बाधित है। क्योंकि जब ईश्वर अकाय और अशरीरी है, तो भला फिर वह वर्णात्मकरूप छन्द किस प्रकार उच्चारण कर सकता है! क्योंकि शरीर के बिना मुख नहीं होता और मुख के बिना वर्णों का उच्चारण नहीं हो सकता। अतः उनका यह कथन प्रमाण-बाधित सिद्ध हो जाता है। किन्तु जैनागम इस विषय को इस प्रकार प्रमाणपूर्वक सिद्ध करते हैं, जिसे मानने में किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती और नाही किसी प्रकार की शंका ही उत्पन्न हो सकती है। उदाहरणार्थ—शब्द पौरुषेय है और अर्थ अपौरुषेय है;

अर्थात् शब्दद्वारा सर्वज्ञ आत्माओं ने उन अर्थों का वर्णन किया जो कि अपौरुषेय हैं। कल्पना कीजिए कि सर्वज्ञ आत्मा ने वर्णन किया कि 'आत्मा नित्य है' सो यह शब्द तो पौरुषेय है, किन्तु शब्दों द्वारा जिस द्रव्य का वर्णन किया गया है, वह नित्य (अपौरुषेय) है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य के विषय में समझ लेना चाहिए। अतः सिद्ध हुआ कि सर्वज्ञप्रणीत आगमों का ही स्वाध्याय करना चाहिए।

सर्वज्ञप्रणीत आगम कौन कौन से हैं ?

वर्तमान काल में सर्वज्ञप्रणीत और सत्य पदार्थों के उपदेश करने वाले ३२ आगम ही प्रमाण-कोटि में माने जाते हैं। इन आगमों में पदार्थों का वर्णन प्रमाण और नय के आधार पर ही किया गया है। इनके अध्ययन से इन आगमों की सत्यता और इनके प्रणेता सर्वज्ञ या सर्वज्ञ-कल्प स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं।

वर्तमान काल में ३२ आगम इस प्रकार हैं—

"से किं तं सम्मसुअं ? जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पणण नाणदंसणधरेहिं तेलुक्क निरिक्खिअ महिअ पूइएहिं तीयपडुप्पणण मणागय जाणएहिं सव्वएणूहिं सव्वदरिसीहिं पणीअं दुवालसंगं गणिपिडगं तं जहा—आयारो १ सूयगडो २ ठाणं ३ समवाओ ४ विवाहपणणत्ती ५ नायाधम्मकहाओ ६ उवासगदसाओ ७ अंतगडदसाओ ८ अणुत्तरोववाइय-दसाओ ९ पण्हवागरणाइं १० विवागसुअं ११ दिट्ठिवाओ १२ इच्चेअं दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दस पुव्विस्स सम्मसुअं अभिण्ण दस पुव्विस्स सम्मसुअं तेणपरं भिण्णेसु भयणा सेतं सम्मसुअं। नंदीसूत्र (सू० ४०)

१२ अंगशास्त्र, १२ उपांगशास्त्र, ४ मूलशास्त्र, ४ छेदशास्त्र और

१ आवश्यक सूत्र । किन्तु ये ३२ होते हैं। विचार करना चाहिए कि इस समय ११ अंगशास्त्र विद्यमान हैं; १२ वाँ दृष्टिवादाङ्ग-शास्त्र व्यवच्छेद हुआ माना जाता है। अंगशास्त्रों के नाम निम्नलिखित हैं—१ आचारांगशास्त्र, २ सूयगडांगशास्त्र, ३ स्थानांगशास्त्र, ४ समवायांगशास्त्र, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीशास्त्र), ६ ज्ञाताधर्मकथांगशास्त्र, ७ उपासकदशांगशास्त्र, ८ अंतकृद्दशांगशास्त्र, ९ अनुत्तरोपपातिकशास्त्र, १० प्रश्नव्याकरणशास्त्र, ११ विपाकशास्त्र, १२ दृष्टिवादांगशास्त्र (जो व्यवच्छेद होगया है) ।

उपांगशास्त्रों के नाम ये हैं—१ औपपातिकशास्त्र, २ राजप्रश्नीयशास्त्र, ३ जीवाभिगमशास्त्र, ४ प्रज्ञापनाशास्त्र, ५ जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिशास्त्र, ६ सूर्यप्रज्ञप्तिशास्त्र, ७ चन्द्रप्रज्ञप्तिशास्त्र, ८ निरयावलिकाओ, ९ कप्पवडिंसियाओ, १० पुप्फियाओ, ११ पुप्फचूलियाओ, १२ वण्हिदसाओ । और चार मूल शास्त्र ये हैं—दशवैकालिकशास्त्र १, उत्तराध्ययनशास्त्र २, नंदीशास्त्र ३, और अनुयोगद्वारशास्त्र ४। चार छेदशास्त्र-व्यवहारशास्त्र १, बृहत्कल्पशास्त्र २, दशाश्रुतस्कन्धशास्त्र ३, निशीथशास्त्र ४, एवं ३१ और ३२ वाँ आवश्यकशास्त्र । इस प्रकार ३२ आगमों की संज्ञा वर्तमान काल में मानी जाती है। किन्तु यह संज्ञा अर्वाचीन प्रतीत होती है। कारण यह है कि नंदीसिद्धांत में सब सिद्धान्तों की चार प्रकार से निम्नलिखित संज्ञाएँ वर्णन की गई हैं। जैसे—अंगशास्त्र, उत्कालिकशास्त्र, कालिकशास्त्र, और आवश्यकशास्त्र। जो उपांगशास्त्र और मूल चार छेदशास्त्र हैं, वे सब कालिक और उत्कालिक शास्त्रों के ही अन्तर्गत लिए गये हैं । देखो—नदीसिद्धान्त—श्रुतज्ञानविषय ।

तथा औपपातिक आदि शास्त्रों में कहीं पर भी यह पाठ नहीं है कि—यह उपांगशास्त्र है। जैसे पाँचवें अंग के आगे के अंगशास्त्रों के आदि में यह पाठ आता है कि, भगवान् जंबूस्वामी जी कहते हैं—"हे भगवन् ! मैंने छठे अंगशास्त्र के अर्थ को तो सुन लिया है, किन्तु सातवें अंगशास्त्र का श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने क्या अर्थ वर्णन किया है ?" इत्यादि। किन्तु उपांगशास्त्रों में यह शैली नहीं देखी जाती, और नाही शास्त्रकर्त्ता ने उनकी उपांग संज्ञा कही है। किन्तु केवल निरयावलिकासूत्र के आदि में यह सूत्र अवश्य विद्यमान है। तथा च पाठः—

"तएणं से भगवं जंबूजातसड्ढे जावपज्जुवासमाणे एवं वयासि—उवंगाणं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं, एवं उवंगाणं पंचवग्गा पण्णत्ता ? तं जहा निरयावलियाओ १ कप्पवडिंसियाओ २ पुप्फियाओ ३ पुप्फचूलियाओ ४ वण्हिदसाओ ५"—इत्यादि ।

इस पाठ के आगे वर्गों के कतिपय अध्ययनों का वर्णन किया गया है । इस पाठ से यह स्फुट नहीं होसकता कि—ये उपांगों के पाँच वर्ग कौन कौन से अंगशास्त्र के उपांग हैं । यद्यपि पूर्वाचार्यों ने अंग और उपांगों की कल्पना करके अंगों के साथ उपांग जोड़ दिये हैं, किन्तु यह विषय विचारणीय है । कालिक और उत्कालिक संज्ञा स्थानांगादि शास्त्रों में होने से बहुत प्राचीन प्रतीत होती है । किन्तु उपांगादि संज्ञा भी उपादेय ही है । अथवा यह विषय विद्वानों के लिये विचारणीय है । आचार्यवर्य हेमचन्द्र जी ने अपने बनाये 'अभिधानचिंतामणि' नामक कोष में अंगशास्त्रों का नामोल्लेख करते हुए 'केवल उपांगयुक्त अंगशास्त्र हैं' ऐसा कहकर विषय की पूर्ति कर दी है । किन्तु जिस प्रकार अंगशास्त्रों के नामोल्लेख किए हैं, ठीक उसी प्रकार किस किस अंग का कौन कौन सा उपांगशास्त्र है, ऐसा नहीं लिखा है । इससे भी यह कल्पना अर्वाचीन ही सिद्ध होती है । हाँ ! यह अवश्य मानना पड़ेगा कि—यह कल्पना अभयदेव सूरि या मलयगिरि आदि वृत्तिकारों से पूर्व की है । क्योंकि उपांगों के वृत्तिकार वृत्ति की भूमिका में उस उपांग का किस अंग से संबंध है, इस प्रकार का लेख स्फुट रूप से करते हैं । अतः वृत्तिकारों के समय से भी यह कल्पना पूर्व की है; इसलिए यह कल्पना श्वेताम्बर आम्नाय में सर्वत्र प्रमाणित मानी गई है ।

विधिविरुद्ध स्वाध्याय के दोष

जिस प्रकार सातों स्वर और रागों के समय नियत हैं—जिस समय का

जो राग होता है, यदि उसी समय पर गायन किया जाय, तो वह अवश्य आनन्दप्रद होता है, और यदि समयविरुद्ध राग अलापा गया, तब वह सुखदाई नहीं होता; ठीक इसी प्रकार शास्त्रों के स्वाध्याय के विषय में भी जानना चाहिए। और जिस प्रकार विद्यारम्भ संस्कार के पूर्व ही विवाह संस्कार और भोजन के पश्चात् स्नानादि क्रियाएँ सुखप्रद नहीं होतीं, और जिस प्रकार समय का ध्यान न रखते हुए असंबद्ध भाषण करना कलह का उत्पादक माना जाता है, ठीक उसी प्रकार बिना विधि के किया हुआ स्वाध्याय भी लाभदायक नहीं होता। और जिस प्रकार लोग शरीर पर यथास्थान वस्त्र धारण करते हैं—यदि वे बिना विधि के तथा विपरीतांगों में धारण किए जाएँ, तो उपहास के योग्य बन जाते हैं। ठीक इसी प्रकार स्वाध्याय के विषय में भी जानना चाहिए। अतः सिद्ध हुआ कि विधिपूर्वक किया हुआ स्वाध्याय ही समाधिकारक माना जाता है। जिस प्रकार उक्त विषय विधिपूर्वक किए हुए ही 'प्रिय' होते हैं, ठीक उसी प्रकार स्वाध्याय भी विधिपूर्वक किया हुआ ही आत्मविकास का कारण होता है। प्रस्तुत शास्त्र की पहली दशा में उस विषय का स्फुट रूप से वर्णन किया गया है।

स्वाध्याय का समय

स्वाध्याय के लिए जो समय आगमों में बताया गया है, उसी समय स्वाध्याय करना चाहिए, किन्तु अनध्याय काल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी स्वाध्याय के अनध्याय काल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। क्योंकि वे लोग वेद के भी अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय काल माना जाता है। किन्तु जैनागमों के सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्यासंयुक्त होने के कारण इनका भी अनध्याय काल आगमों में वर्णित है। यथा—

"दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाइए प. तं.—उक्कावाते दिसिदाग्घे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जूयते, जक्खालित्ते, धूमिता महिता, रत उग्घाते। दसविहे ओरालिते, असज्झातिते,

प० तं० अट्ठिमंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडणे, रायवुग्गहे, उवसयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।" स्थानांगसूत्र स्थान १० सू० ७१४ ।

(छाया) दशविधं आन्तरीक्षकं अस्वाध्यायिकं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—उल्कापातः, दिग्दाहः, गर्जितं, विद्युत्, निर्घातः, यूपकः, यक्षादीप्तं, धूमिता, महिता, रजउद्घातः। दशविधः औदारिकः अस्वाध्यायिकः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—अस्थिमांसशोणितानि अशुचिसामन्तं श्मशानसामन्तं चन्द्रोपरागः सूरोपरागः पतनं राजविग्रहः उपाश्रयस्यान्ते औदारिकं शरीरकं। तथा च पाठः—

"नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा आसाढ पाडिवए, इन्दमहपाडिवाते कत्तिएपाडिवए, सुगिम्ह पाडिवए, णो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चउहिं सज्झाहिं सज्झायं करेत्तए, तं पडिमाते पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते, कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए तं०—पुव्वण्हे अवरण्हे पओसे पच्चुसे।" स्थानांगसूत्र स्थान ४ उद्देश २ सू. २८५

(छाया) नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा चतुर्भिः महाप्रातिपद्भिः स्वाध्यायं कर्त्तुम्। तद्यथा—आषाढ़ीप्रतिपदः, इन्द्रप्रतिपदः, कार्तिकप्रतिपदः, सुग्रीष्मप्रतिपदः ? नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां चतुर्भिः सन्ध्याभिः स्वाध्यायं कर्त्तुम्। प्रथमायां पश्चिमायां मध्याह्ने अर्धरात्रौ। कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां चतुष्काले स्वाध्यायं कर्त्तुम्। तद्यथा—पूर्वाह्णे, अपराह्णे, प्रदोषे, प्रत्यूषे।

भावार्थ—आकाश से संबंध रखने वाले कारणों से आकाश संबंधी दश प्रकार से अस्वाध्याय वर्णन किए गए हैं। जैसे उल्कापात (तारापतन); यदि महत् तारापतन हुआ हो, तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्रों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए १। जब तक दिशा रक्त वर्ण की दिखाई पड़ती रहे, तब भी शास्त्रीय

स्वाध्याय नहीं करना चाहिए २। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए। दो प्रहर पर्यन्त बादल गरजने पर ३। एक प्रहर पर्यन्त बिजली चमकने पर ४। दो प्रहर पर्यन्त कड़कने पर ५, अर्थात् बादल के होने या न होने पर आकाश में घोर गर्जना हो, शुक्लपक्ष में तीन दिन पर्यन्त, बालचन्द्र होने पर तीन दिन पर्यन्त। प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया की रात्रि को एक एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करना चाहिए ६। आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे ७। धूमिका श्वेत ८। धूमिका कृष्ण ९। माघ आदि महीनों में धुंध जब तक रहे तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए, विशेषतया वृष्टि होने पर १०। उक्त कारणों के उपस्थित होने पर शास्त्रों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। किन्तु गर्जना और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास्य में न मानना चाहिए। क्योंकि वह गर्जित और विद्युत्-कार्य ऋतु स्वभाव से ही प्रायः होता है। अतः आर्द्रार्क और स्वाँति अर्क तक अस्वाध्याय नहीं माना जाता। दश प्रकार औदारिक शरीर से संबंध रखने वाले कारणों के उपस्थित हो जाने पर भी अस्वाध्याय हो जाता है। जैसे हड्डी के दिखाई देने पर १। मांस के समीप होने पर २। रुधिर के समीप होने पर ३। वृत्तिकारों ने ६० हाथ के आसपास उक्त चीज़ें पड़ी होने पर अस्वाध्याय माना है। अशुचि (मलमूत्रादि) के समीप होने पर ४। श्मशान के पास होने पर ५। चन्द्रग्रहण के होने पर ८-१२-१६ प्रहर पर्यन्त ६। सूर्यग्रहण होने पर ८-१२-१६ प्रहर पर्यन्त ७। किसी बड़े राजा आदि अधिकारी की मृत्यु हो जाने पर—उनके संस्कार पर्यन्त अथवा अधिकार प्राप्त होने तक शनैः शनैः पढ़ना चाहिए ८। राजाओं के युद्ध स्थान पर ९। उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर—जैसे किसी ने कबूतर या चूहे को मार दिया हो तथा १०० हाथ के आसपास मनुष्य आदि का शव पड़ा हो, तब भी स्वाध्याय न करना चाहिए १०। एवं २०॥

चार महाप्रतिपदाओं में भी स्वाध्याय न करना चाहिए। जैसे आषाढ़ शुक्ला पौर्णमासी और श्रावण प्रतिपदा २, आश्विन शुक्ला पौर्णमासी तथा कार्तिक प्रतिपदा ४, कार्तिक शुक्ला पौर्णमासी तथा मार्गशीर्ष प्रतिपदा ६, चैत्र शुक्ला पौर्णमासी और वैशाख प्रतिपदा ८। और सूर्योदय से एक घड़ी पूर्व तथा एक घड़ी पश्चात् एवं सूर्यास्त से एक घड़ी पूर्व तथा एक घड़ी पश्चात्,

मध्याह्न के समय तथा अर्धरात्रि के समय भी पूर्ववत् स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। किन्तु दिन के प्रथम प्रहर और पश्चिम प्रहर तथा रात्रि के प्रथम प्रहर और पिछले प्रहर में अस्वाध्याय काल को छोड़कर अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए। इस प्रकार ३२ प्रकार के अस्वाध्याय काल को छोड़कर स्वाध्याय करना चाहिए। तथा निशीथ सूत्र के १९ वें उद्देश में यह पाठ है—

"जे भिक्खू चउसु महापडिवएसु सज्झायं करेइ करंतं वा साइज्जइ, तं जहा सुगिम्हिए पाडिवाए, आसाढी पाडिवए, भद्दवए पाडिवए, कत्तिए पाडिवए।"

इनका अर्थ भी पूर्ववत् है, किन्तु इस पाठ में भाद्रपद भी ग्रहण किया गया है। सो भाद्रशुक्ला पौर्णमासी और आश्विन कृष्णा प्रतिपदा, इस प्रकार दो दिनों की वृद्धि करने से ३४ अस्वाध्याय काल हो जाते हैं। अतः इनको छोड़कर ही स्वाध्याय करना चाहिए। व्यवहार सूत्र के सातवें उद्देश में स्वाध्याय और अस्वाध्याय काल के विषय में वर्णन करते हुए उत्सर्ग और अपवादमार्ग दोनों का ही अवलम्बन किया गया है। जैसे—

"नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वितिकिट्ठाए काले सज्झायं उद्दिसित्तए वा करित्तए ॥१४॥ कप्पति निग्गंथीणं वितिकिट्ठाए काले सज्झायं उद्दिसित्तए वा करित्तए वा निग्गंथणिस्साए ॥१५॥ नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असज्झायं सज्झायं करित्तए ॥१६॥ कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सज्झाइय सज्झायं करित्तए ॥१७॥ नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अप्पणो असज्झाइयं करित्तए कप्पति णं अण्णमन्नस्स वायणं दालित्तए ॥१८॥"

इन सूत्रों का भावार्थ केवल इतना ही है कि—साधु या साध्वियों को अकाल में स्वाध्याय न करना चाहिए। किन्तु काल में ही स्वाध्याय करना

चाहिए। यदि परस्पर वाचना चलती हो, तो वाचना की क्रिया कर सकते हैं; अर्थात् वाचना अकाल में भी दे ले सकते हैं। और यदि अपने शरीर से रुधिर आदि बहता हो, तब भी स्वाध्याय नहीं कर सकते, परन्तु उस स्थान को ठीक बाँधकर यदि खून आदि बाहर न बहते हों, तो परस्पर वाचना दे ले सकते हैं। इस प्रकार शुद्धिपूर्वक स्वाध्याय करने में प्रयत्नशील होना चाहिए।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि—अस्वाध्याय मूल सूत्र का होता है या अनुप्रेक्षादि का भी ? इसका उत्तर यही है कि—ठाणांग सूत्र के वृत्तिकार अभयदेव सूरि चार महा प्रतिपदाओं की वृत्ति करते समय प्रथम ही यह लिखते हैं :—

"स्वाध्यायो नन्द्यादिसूत्रविषयो वाचनादिः अनुप्रेक्षा तु न निषिध्यते"

इस कथन से सिद्ध हुआ कि केवल संहिता-मात्र का अस्वाध्याय है, अनुप्रेक्षा आदि का नहीं।

अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने से हानि

अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने से यही हानि है कि—शास्त्र के देवाधिष्ठित एवं देव-वाणी होने के कारण अशुद्धिपूर्वक पढ़ने से कोई क्षुद्र देव पढ़ने वाले को छल ले या उसे दुःख दे देवे ! (एतेषु स्वाध्यायं कुर्वतां क्षुद्रदेवता छलनं करोति इति वृत्तिकारः) जिससे कि लोकों में अत्यंत अपवाद हो जावे। तथा आत्मविराधना और संयमविराधना के होने की भी संभावना की जा सकती है। अथवा—

"सुय णाणंमि अभत्ती लोगविरुद्धं पमत्त छलणा य।
विज्जा साहणवे गुन्न धम्मया एव मा कुणसु ॥१॥"

"श्रुतज्ञानेऽभक्तिः लोकविरुद्धता प्रमत्तछलना च।
विद्यासाधनवैगुण्यधर्मता इति मा कुरु ॥"

अर्थात्—विद्यासाधन में असफलता, इत्यादि कारण जानकर, हे शिष्य !

अकाल में स्वाध्याय न करना चाहिए । अत एव सिद्ध हुआ कि अकाल में स्वाध्याय न करना चाहिए। जैसे जो वृक्ष अपनी ऋतु आने पर ही फलते और फूलते हैं, वे जनता में समाधि के उत्पन्न करने वाले माने जाते हैं। किन्तु जो वृक्ष अकाल में फलते और फूलते हैं, वे देश में दुर्भिक्ष, मरी, और राज्य-विग्रह (कलह) आदि के उत्पन्न करने वाले माने जाते हैं । इसी प्रकार स्वाध्याय के काल, अकाल विषय में भी जानना चाहिए । कारण यह है कि प्रत्येक कार्य विधिपूर्वक किया हुआ ही सफल होता है । जैसे समय पर सेवन की हुई ओषधि रोग की निवृत्ति और बल की वृद्धि करती है, ठीक इसी प्रकार भक्तिपूर्वक और स्वाध्यायकाल में ही किया हुआ स्वाध्याय कर्मक्षय और शान्ति की प्राप्ति कराता है । अतः—

"उद्देसोपासगस्सनत्थि"

इस वाक्य का स्मरण कर इस विषय को यहीं पर समाप्त किया जाता है । अर्थात् बुद्धिमान् को उपदेश की आवश्यकता नहीं । वह स्वयं ही अपने कृत्यों को समझता है । इसलिए मुमुक्षु जनों को उचित है कि वे शास्त्रीय स्वाध्याय से अपने जीवन को पवित्र बनाकर मोक्ष के अधिकारी बनें । क्योंकि शास्त्र का वाक्य है :—

"दोहिं ठाणेहिं अणगारे संपन्ने अणादीयं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीतिवतेज्जा, तं जहा विज्जाए चेव चरणेण चेव ।" स्थानांगसूत्र, स्थान २ उद्देश १ सूत्र ६३

दो कारणों से संयुक्त भिक्षु अनादि अनन्त दीर्घ मार्ग वाले चतुर्गति रूप संसाररूपी कान्तार से पार हो जाते हैं, जैसे कि विद्या और आचरण से । इसलिए हमें चाहिए कि देश और धर्म का अभ्युदय करते हुए अनेक भव्य प्राणियों को मोक्ष का अधिकारी बनावें, जिससे जनता में सुख और शांति का संचार हो । इत्यलं विद्वद्वर्येषु ।

नमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ।

प्राक्कथन

पाठक-वृन्द !

यह संसार चक्र-रूप है, अनादि काल से इसी तरह चला आ रहा है। जन्म और मरण इसके दो मुख्य अङ्ग हैं। जो भी प्राणी यहां जन्म लेता है, उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। इस जन्म-मरण के बन्धन में प्रत्येक प्राणी को अपने कर्मों के अनुसार आना पड़ा है, पड़ता है और पड़ेगा। इस प्रकार इस चक्र में आकर प्राणी अनेक प्रकार के दुःख और सुखों का अनुभव करता है। किन्तु यह स्मरण रखने की बात है कि इस प्रकार के आवागमन का अन्तिम परिणाम दुःख-मय ही होता है। मुक्ति की प्राप्ति ही इससे छूटने का एकमात्र उपाय है। उसकी प्राप्ति का मुख्य द्वार कर्म-निर्जरा ही है। जब तक प्राणी कर्मों की निर्जरा नहीं कर पाता तब तक उसका मुक्ति-प्राप्ति करना भी हाथ से चन्द्रमा को पकड़ने के सदृश ही है। अतः इस जन्म-मरण के बन्धन से छूटने के लिए प्रत्येक प्राणी को कर्म-निर्जरा की ओर ही झुकना चाहिए।

कर्म-निर्जरा विना सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के नहीं हो सकती। इनकी सर्वथा उपार्जना मनुष्य-शरीर के विना नहीं हो सकती। संसार में मनुष्य-जन्म प्राप्त करना यदि असम्भव नहीं तो दुस्साध्य अवश्य है। यदि मनुष्य

जन्म को प्राप्त करके भी इसे पशुओं के समान आहार, निद्रा, भय और मैथुन में ही व्यतीत कर दिया तो समझना चाहिए कि हाथ में आये हुए अमूल्य हीरे को जान बूझ कर पानी में बहा दिया गया है। पूर्व जन्म के अबोधि आदि कर्मों के कारण यदि कोई विशेष ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता तो उसको सद्-बुद्धि से कम से कम इस अनुपम मनुष्य-शरीर की पुनः प्राप्ति के लिये अवश्य दृढतर प्रयत्न करना चाहिए, ताकि समय पाकर वह कभी न कभी उक्त सम्यग् दर्शन आदि की उपार्जना कर अपने कल्याण करने के लिए समर्थ हो सके।

जिन व्यक्तियों के क्षयोपशम भाव विशेष होते हैं, उनको स्वतः ही मनुष्य-जन्म की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु जिनके उक्त भाव नहीं होते, उनको सदुपदेश से उसकी प्राप्ति होती है। सदुपदेश से हमारा तात्पर्य साधु पुरुषों के सदुपदेश से है, जिसकी प्राप्ति के लिये विशेष प्रयत्न और अभ्यास की आवश्यकता है। संसार में देखा गया है कि कुसंगति की ओर मनुष्य का झुकाव अधिक होता है, अनेक प्रकार के उपदेश भी कई एक व्यक्तियों को सन्मार्ग की ओर नहीं पलट सकते। यदि प्रारम्भ से ही मन की प्रवृत्तियां इस ओर लगाई जायं तो पूर्ण सफलता मिल सकती है। जिन व्यक्तियों की संगति से सद्गुण और ज्ञान आदि की प्राप्ति हो, उन्हीं की संगति सत्संगति कही जा सकती है। ऐसे व्यक्तियों की पहचान के लिए भी आज कल अत्यन्त बुद्धिमत्ता और चतुरता की आवश्यकता है। क्योंकि कई एक व्यक्ति मिथ्या आडम्बर रच कर भोले-भाले युवकों को अपने जाल में फँसा कर सन्मार्ग से ढकेल कर घोरतर कुसंगति के कूएँ में डुबो देते हैं।

उक्त सुसंगति तीन तरह की वर्णन की गई है—द्रव्य-सुसङ्गति, क्षेत्र-सुसङ्गति और काल-सुसङ्गति। द्रव्य-सुसङ्गति भी सचित्त, अचित्त और मिश्रित भेद से तीन ही प्रकार की होती है। सचित्त द्रव्य मनुष्य आदि जीव हैं, अचित्त भोग्य पदार्थ और मिश्रित वीणा आदि वादित्र हैं। सुसङ्गति के लिए उन्हीं मनुष्यों की सङ्गति करनी चाहिए, जिनका आचरण शुद्ध हो और जो आस्तिक हों। उनकी सङ्गति से जीवन में नवीनता और पवित्रता का सञ्चार होता है। अपने ज्ञान में दिन प्रति दिन वृद्धि होती चली जाती है और समय पाकर वह एक दिन अपने कल्याण के लिए स्वयं समर्थ हो जाता है। इस तरह शास्त्रों में मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधि-ज्ञान, मनः-पर्यव-ज्ञान और केवल-ज्ञान—पांच प्रकार का

ज्ञान कथन किया गया है। इन पांचों में श्रुत-ज्ञान ही सबसे अधिक परोपकारी माना गया है। क्योंकि जब कोई निरन्तर गुरु-मुख से पवित्र आर्य-वाक्यों को सुनेगा तो अवश्य ही उसकी आत्मा पर उनका प्रभाव पड़ेगा और इस प्रकार श्रुत-ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर शेष ज्ञानों की प्राप्ति बिना किसी अधिक परिश्रम के हो सकेगी और फिर वह निरन्तर अपने आत्मा को पवित्र बनाने में प्रयत्न-शील बना रहेगा। अतः यह निर्विवाद मानना पड़ेगा कि श्रुत-ज्ञान ही पथ-प्रदर्शक होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है। अचित्त-द्रव्य-सङ्गति शुद्ध भोजन आदि की कही गई है। जो व्यक्ति शुद्ध और अभक्ष्य-वर्जित अर्थात् तामस-रहित भोजन करता है, उसके आत्मा में अवश्य ही पवित्र विचारों का सञ्चय होता रहता है। जो व्यक्ति निरन्तर तमोगुण-युक्त भोजन करता है, उसके चित्त में अच्छे उपदेशों से अच्छे विचारों का सञ्चय नहीं होता है। क्योंकि जिस भोजन से उसका देह बना होता है, वह उसकी बुद्धि को उसी रूप में रंगता चला जाता है। जिस नदी में जल की अधिकता और वेग होता है उसमें अच्छे से अच्छे तैराक भी जिस तरह बह जाते हैं उसी प्रकार तमो-गुण की बाढ़ में श्रेष्ठ से श्रेष्ठ उपदेश भी अपना बल नहीं दिखा सकता। प्रकृति भी हमें यही बताती है कि सिंहादि हिंसक जन्तु लोगों की दृष्टि में निकृष्ट समझे जाते हैं किन्तु तृणादि भक्षण करने वाले गौ आदि बुरी दृष्टि से देखे जाने के स्थान पर पूजे और पाले जाते हैं। यही कारण है कि शुद्ध भोजन से चित्त शान्त होकर अपने कल्याण की ओर झुक जाता है। जिस क्षेत्र में रह कर चित्त में दुर्भावना और बुरे विचार पैदा न हों, किन्तु वह शान्त होकर धार्मिक मार्ग की ओर झुकने लगे उसको क्षेत्र-सुसङ्गति कहते हैं। यह निश्चित है कि स्थान का प्रभाव जीवन पर अवश्य पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति वेश्या के घर के नजदीक रहता है तो वह शुद्ध होने पर भी अवश्य एक न एक दिन अपना सदाचार खो बैठेगा। इसी प्रकार मदिरा पीने वाले और चोरों के समीप रहने वाले पर भी उनका प्रभाव बिना पड़े न रहेगा। किन्तु जो सदाचारी और धर्मात्माओं के समीप रहेगा, वह बुरे से बुरा भी एक दिन अवश्य ठीक रास्ते पर आजायगा। अतः सिद्ध हुआ कि क्षेत्र-सुसङ्गति से शुद्ध आत्माओं की ज्ञान-वृद्धि तो होनी ही है, किन्तु नीच से नीच व्यक्तियों का भी इससे आचार शुद्ध हो जाता है।

हमारी इस भारत-भूमि में पूर्व काल से ही इन तीनों सुसङ्गतियों की

प्राप्ति होती रही है। अतः शास्त्रकारों ने सहस्रों देश होने पर भी इस आर्य-भूमि को ही धर्म-ध्यान की दृष्टि से सर्वोत्तम माना है।

काल-सुसङ्गति उसको कहते हैं जिस काल में आत्मा के भाव शुद्ध रह सकें। प्रत्येक कार्य उचित काल में ही करना चाहिए, वास्तव में यही काल-सुसङ्गति होती है। बिना समय के कार्य करने में लाभ के स्थान पर हानि होने की अधिक सम्भावना रहती है। यदि कोई व्यक्ति अनुचित समय में परिभ्रमण करता है तो वह उससे अनेक प्रकार की हानि उठाता है। विरुद्ध समय में मन में विचार भी विरुद्ध ही उठते हैं, अतः बहुत सम्भव है कि इस अकाल में कार्य करने से उसके सदाचार पर धक्का पहुंचे। प्रकृति भी हमें यही बताती है कि असमय में न केवल आत्मिक प्रत्युत शारीरिक भी क्षति होती है। जैसे यदि कोई व्यक्ति अनियत समय पर अनियमित भोजन करता है तो वह अपने स्वास्थ्य से हाथ धो बैठता है। दूसरे, मान लिया जाय कि कोई व्यक्ति अंधेरे में घूमने के लिए निकला। इस समय प्रायः अनेक चरित्र-भ्रष्ट चोर डाकू आदि अपने घात में लगे रहते हैं। उनके मिलाप से या तो वह स्वयं चरित्र-भ्रष्ट हो जायगा या वे लोग उसको अपना शत्रु समझ कर हानि पहुंचाएंगे, अतः इससे अवश्य ही आत्म-विराधना और संयम-विराधना होगी। सिद्ध यह हुआ कि स्वाध्याय के समय स्वाध्याय, भोजन के समय भोजन और तप तथा कायोत्सर्गादि के समय तप और कायोत्सर्गादि करने चाहिए, इसी में श्रेय है।

भाव-सुसङ्गति उसको कहते हैं, जिससे आत्मा के भाव शुद्ध रह सकें। भाव प्रायः अच्छे २ शास्त्रों के स्वाध्याय से शुद्ध होते हैं। जिन ग्रन्थों में उत्तम और सत्य शिक्षाएं होती हैं, उनके अध्ययन का आत्मा पर शीघ्र और अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। किन्तु जिन ग्रन्थों में मिथ्या आडम्बर भरा हुआ है, उन पर चित्त का विश्वास ही नहीं होता। किन्तु यह न भूल जाना चाहिए कि संसार में मनुष्यों का बुरे विचारों की ओर जितना झुकाव होता है, अच्छी बातों पर उतना अधिक नहीं होता। हम देखते हैं कि लोग प्रायः धर्म-शास्त्रों के स्थान कामोत्तेजक शास्त्रों की ओर विशेष झुकते हैं। फल यह होता है कि वे अपने पैरों स्वयं कुल्हाड़ा चला कर अपना यह लोक और पर-लोक दोनों खो बैठते हैं। अतः जो लोग अपनी वास्तविक भलाई चाहते हैं, उनको कामोत्तेजक उपन्यास आदि के स्थान पर

सर्वथा हितकारी शास्त्रों का ही अध्ययन करना चाहिए, जिससे उनके भाव शुद्ध हों और उनका कल्याण हो सके। अन्यथा सदाचार-भ्रष्ट करने वाले शास्त्रों के अध्ययन से निरन्तर अशान्ति के सिवाय और कुछ हाथ नहीं आ सकता। आध्यात्मिक शास्त्रों अर्थात् जिन शास्त्रों में पदार्थों का सत्य स्वरूप स्याद्वाद-शैली से प्रतिपादन किया गया है तथा जिन शास्त्रों में अहिंसा का प्रतिपादन किया गया है उनके स्वाध्याय से जितनी भावों की शुद्धि होती है उतनी अन्य शास्त्रों से नहीं होती। इन्हीं का अध्ययन इसका सर्वोत्तम साधन है।

इन सब सुसङ्गतियों के होने पर आत्मा में ज्ञान-रूप अग्नि उत्पन्न होती है, जो कर्म-रूपी इन्धन को भस्म कर उनसे ढके हुए आत्मा का स्वरूप हमारे सामने प्रकट करती है। हम पहले भी कह चुके हैं कि कर्मों के हेर-फेर में आकर ही आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है और जब तक वह उन पर फिर से विजय नहीं पा लेता तब तक वह उससे वञ्चित ही रहता है। जिस प्रकार सूर्य स्वतः प्रकाश-रूप है किन्तु मेघों के सामने हो जाने पर वह अपने उस रूप को नहीं दिखा सकता, यही दशा आत्मा की भी है। जिस प्रकार मेघों के हट जाने पर सूर्य धीरे २ फिर अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो जाता है, ठीक इसी प्रकार कर्म-क्षय अथवा क्षयोपशम भावों के होने पर आत्मा भी अपने निर्मल स्वरूप को देखने लगता है।

किन्तु उसको इस तरह आत्म-दर्शी बनने के लिए साधनों की अत्यन्त आवश्यकता है। जिस प्रकार एक बीज में अङ्कुर आदि होने पर भी वह उनको प्रकट करने के लिए पृथ्वी-जलादि की आवश्यकता रखता है, ठीक इसी प्रकार आत्मा को भी अपने स्वरूप के प्रकट करने के लिए साधनों की आवश्यकता है।

वे साधन हैं धर्म-शास्त्रों का श्रवण और उन पर अपने अनुभव से विचार करना। जो व्यक्ति धर्म-शास्त्रों को सुन कर उन पर स्वबुद्धि से अनुशीलन करने लग जाता है, उसका आत्मा अवश्य स्वात्म-प्रदर्शन की ओर झुक जाता है तथा उसको इस रास्ते में अन्य विशेष कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता। उसकी दशा ठीक वही होती है, जो एक पथभ्रष्ट पुरुष को ठीक रास्ते पर खड़ा कर देने से होती है। इतना होने पर भी लोगों को इस ओर मुड़ना कटु क्यों मालूम पड़ता है? उत्तर स्पष्ट है कि यहां किसी को न तो अपनी स्तुति कहीं

मिलेगी नांही शत्रु की निन्दा। यहां तो है बहुत अभ्यास के बाद प्राप्त करने योग्य फल ऐह-लौकिक और पार-लौकिक शिक्षाओं का भण्डार। कड़वी दवाई पीने को किसी का जी नहीं चाहता। किन्तु जो साहस करके इसको पी लेता है, वह उसके बाद उसके गुणों पर मुग्ध हो जाता है। हाँ, जिन व्यक्तियों के क्षयोपशम-भाव विशेष होते हैं उनका स्वभावतः इस ओर आकर्षण हो जाता है।

धर्म-शास्त्र, जैसे पहले भी कहा जा चुका है, वास्तव में उन्हीं ग्रन्थों का नाम है जिनमें अर्थ और काम की गाथाएं न हों किन्तु जिनमें मोक्ष-साधन का विषय तथा पदार्थों का सत्य स्वरूप वर्णन किया गया हो। यह सैद्धान्तिक, औपदेशिक और ऐतिहासिक तीन विभागों में विभक्त है। इसके द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग और धर्म-कथानुयोग चार अनुयोग भी कथन किये गये हैं। इनमें से द्रव्यानुयोग में सैद्धान्तिक विषय, चरणकरणानुयोग में चारित्र-विषय, गणितानुयोग में गणित विद्या का विषय और धर्म-कथानुयोग में ऐतिहासिक तथा औपदेशिक विषय आता है।

ध्यान रहे कि धर्म-कथानुयोग में उन्हीं भव्य आत्माओं का जीवन-चरित्र रहता है, जिन्होंने सब तरह से अपने इस मनुष्य-जीवन को सफल बनाया है। उनका चरित्र जनता के लिए अमूल्य शिक्षाओं का भण्डार होता है। अनेक व्यक्ति उनके चरित्र का अध्ययन कर और उसका अनुशीलन कर स्वयं भी उन्हीं के समान आदर्श पुरुष बन जाते हैं और बनते रहे हैं। व्यावहारिक पक्ष में जनता को सुशिक्षित बनाने वाला एक चारित्र-धर्म ही प्रधान माना गया है, क्योंकि न्याय-पथ-प्रदर्शक एक चारित्र-धर्म ही है। इसी बात को लक्ष्य में रख कर हम अपने पाठकों के सामने एक महर्षि का जीवन रखते हैं। आशा है कि पाठक अवश्य ही उनके जीवन-चरित्र से कई एक अनुपम शिक्षाओं को ग्रहण कर अपने जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करेंगे।

जिन महर्षि का जीवन-चरित्र हम यहां देने लगे हैं, वे बिलकुल आधुनिक हैं। आज कल जनता प्रायः धर्म के मार्ग से पीछे हट रही है, बल्कि यहां तक कि धर्म को अपनी उन्नति के मार्ग में कण्टक भी समझने लगी है। इन धार्मिक क्रान्ति के दिनों में भी उन्होंने अपने जीवन से सिद्ध कर दिया है कि जिन झगड़ों में तुम फंसे हो, वे वास्तविक नहीं हैं। धर्म ही एक वास्तविक शान्ति प्रदान

कर सकता है। अतः इस ओर आओ, तुम्हारा कल्याण होगा।

आप थे, सुगृहीत-नामधेय श्री १००८ गणावच्छेदक स्थविर-पद-विभूषित श्रीमद् गणपतिराय जी महाराज। आपका जन्म जिला स्यालकोट, पसरूर शहर में भाद्रपद कृष्णा तृतीया संवत १९०६ वि० के मङ्गलवार को लाला गुरुदासमल श्रीमाल काश्यप गोत्र के अन्तर्गत त्रिपंखिये गोत्र की धर्मपत्नी माई गौरां की कुक्षि से हुआ था। आपके निहालचन्द्र, लालचन्द्र, पालामल और पञ्जुमल चार भ्राता थे और श्रीमती निहालदेवी, पालीदेवी और तोतीदेवी तीन बहनें थीं। आपका बालकपन बड़े आनन्द से व्यतीत हुआ। इसके अनन्तर आपने व्यापार-विषयक शिक्षा प्राप्त की। युवावस्था आने पर आपका नूनार ग्राम में १९२४ में विवाह-संस्कार हुआ।

इसके बाद आपने सराफी की दुकान खोली। आपकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी। चांदी और सोने की परीक्षा आप बड़ी निपुणता और सूक्ष्म दृष्टि से करते थे। बालकपन से ही आपकी धर्म की ओर विशेष रुचि थी। यही कारण था कि आप प्रत्येक धार्मिक उत्सव में सदैव विशेष भाग लेते थे। सांसारिक पदार्थों की ओर आपकी स्वाभाविक अरुचि थी। सांसारिक सुखों को आप बन्धन समझते थे और सदैव इस बन्धन से छूटने के प्रयत्न में रहते थे। किन्तु हर एक बात के लिए समय बलवान होता है। जब तक जिसका समय नहीं आता, लाख प्रयत्न करने पर भी वह बात सिद्ध नहीं होती।

अन्ततः बहुत प्रतीक्षा के बाद वह समय आ ही गया। एक समय की बात है, आप को किसी कार्य के लिए मुकाम नारोवाल जाना पड़ा। वहां से लौटते समय आप 'डेक' नामक नदी के किनारे पहुंचे। इस नदी पर न तो कोई पुल ही था, न नावें ही चलती थीं। केवल किनारे पर एक खेवट रहता था। वही पथिकों को इधर से उधर और उधर से इधर पार कर दिया करता था। वह आपके कहने पर आपको भी पार करने के लिए राजी हो गया। आपके साथ दो आदमी और भी पार जाने को थे। खेवट ने तीनों का हाथ पकड़ लिया और नदी में उतर आया। जब ये लोग अभी बीच नदी में थे कि दुर्भाग्य अथवा सौभाग्य से नदी में बाढ़ आगई। यह देख कर खेवट तो जान बचाकर भागा और ये बेचारे पानी में गोते खाने लगे। उस समय अन्तिम समय समीप समझ कर आपने विचार किया कि इस समय

यदि इस कष्ट से छूट जाऊंगा तो गृहस्थाश्रम छोड़कर मुनि-वृत्ति धारण कर लूंगा। उनके इस बात के विचारते ही दैव-योग से अथवा उन के पुण्यों के प्रभाव से या आयुष्कर्म के दीर्घ होने से उस प्रबल प्रवाह के धक्के से ही आप नदी के किनारे लग गये। शेष दो साथी उस प्रवाह-रूपी काल की कराल गाल में समा गये।

घर पहुंचने पर आपने अपनी आप-बीती सब को सुनाई, जिसको सुनकर आपके जीवन के पुनरावर्तन से कुटुम्बी जनों को अतीव हर्ष हुआ। किन्तु जब आपने अपनी प्रतिज्ञा के पालन के लिए उन लोगों से दीक्षित होने की आज्ञा मांगी तो सारा परिवार चिन्ता और शोक से व्याकुल हो गया। किन्तु अब इससे क्या होता था। वे दृढ़ प्रतिज्ञा कर चुके थे। जिस हंस को एक बार मानसरोवर प्राप्त हो जाता है, क्या वह उससे लौटने की इच्छा करेगा? पारिवारिक अनेक विघ्न भी उनको अपने निश्चय से न हटा सके। आपने घर से आज्ञा न मिलने पर सांसारिक धन्धों को छोड़ कर केवल धर्म-मय जीवन व्यतीत करने के लिए जैन उपाश्रय में ही निवास कर लिया। उसी समय श्री दूलोराय जी तथा श्री १००८ पूज्य सोहनलाल जी महाराज ने भी, जो पशरूर में अपने नाना के घर में रहते थे, अपने जीवन को पवित्र बनाने के लिए धार्मिक जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। इन तीन व्यक्तियों का परस्पर संसर्ग से वैराग्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला गया। आखिर, घर वाले भी उनकी इस आत्मिक उन्नति में अधिक बाधक न हुए और उन्होंने इन लोगों को दीक्षित होने की आज्ञा दे दी।

आज्ञा प्राप्त करते ही आप प्रसन्नता-पूर्वक दीक्षा ग्रहण करने के लिए श्री श्री श्री १००८ आचार्य-वर्य श्री पूज्य अमरसिंह जी महाराज की सेवा में अमृतसर आये। उस समय श्री दूलोराय जी, श्री शिवदयाल जी, श्री सोहनलाल जी और श्री गणपतिराय जी—ये सब मिलकर चार व्यक्ति थे। इनको दीक्षा के लिए उपस्थित हुआ देखकर श्री पूज्य आचार्य जी महाराज ने उनको और भी वैराग्य में दृढ़ किया और बार बार संसार की अनित्यता का ज्ञान कराया। जब इन सब का वैराग्य उच्च-कोटि पर पहुंच गया तो श्री महाराज ने इन महापुरुषों को संवत् १९३३ वि० मार्गशीर्ष शुक्ला पञ्चमी चन्द्रवार के दिन बड़े समारोह से दीक्षित किया।

उन दिनों श्री पूज्य मोतीराम जी महाराज नालागढ़ में विराजमान थे। श्री पूज्य अमरसिंह जी महाराज ने श्री गणपतिराय जी को इनके निश्राय में कर

दिया। वहां जाकर इन्होंने अपना सारा समय ज्ञान और ध्यान में लगाना आरम्भ किया। यहां इन्होंने श्रुताध्ययन और साधु-क्रियाओं का विशेष परिचय प्राप्त किया। आपका ध्यान वैयावृत्त्य और गुरु-भक्ति में भी इसी प्रकार लग गया। इन्हीं सब गुणों के कारण आप शीघ्र ही सारे गच्छ में या श्री सङ्घ में सुप्रसिद्ध हो गये। आपकी सौम्य आकृति, नम्रता और साधु-भक्ति ने प्रत्येक जन को मुग्ध कर दिया। इन सब गुणों के साथ २ आपकी दीर्घ-दर्शिता और प्रतिभा (ठीक समय पर काम आने वाली बुद्धि) विलक्षण ही थी। इस तरह साधु-वृत्ति को पालन करते हुए निम्न-लिखित चातुर्मास किये।

सब से पहला संवत् १९३४ वि० का चातुर्मास आपने श्री पूज्य मोतीराम जी के साथ खरड़ शहर, जिला अम्बाला में किया। दूसरा संवत् १९३५ में स्यालकोट, तीसरा जम्बू शहर, चौथा पसरूर शहर, पांचवां लुधियाना शहर, छठा अम्बाला शहर (इस समय श्री १००८ पूज्य सोहनलाल जी महाराज आदि चार ठाणे थे। उसी समय संवेगी साधु आत्माराम जी का चातुर्मास अम्बाला शहर में ही था), सातवां पूज्य मोतीराम जी महाराज के साथ नालागढ़, आठवां और नवां लुधियाना (इस समय श्री विलासराय जी महाराज भी यहां विराजमान थे, अतः इन्हीं की सेवा के लिए आपने भी यहीं चातुर्मास किया), दसवां छींटावाले, पटियाला रियासत, ग्यारहवां फिर पूज्य मोतीराम जी महाराज के साथ नालागढ़, बारहवां माछीवाड़ा, तेरहवां पटियाला शहर, चौदहवां रायकोट शहर, पन्द्रहवां फरीदकोट, सोलहवां पटियाला, सत्रहवां मलेरकोटला, अट्ठारहवां अम्बाला शहर, उन्नीसवां संवत् १९५२ में लुधियाना में ही किया।

इस समय श्री आचार्य-वर्य, क्षमा के सागर श्री पूज्य मोतीराम जी जङ्घा-बल क्षीण होने के कारण लुधियाना शहर में ही विराजमान हो गये। तब आपने श्री महाराज की सेवा करने के लिए संवत् १९५३ से १९५८ तक के सब चातुर्मास लुधियाना में ही किये। इन चातुर्मासों में जो कुछ धर्म-वृद्धि हुई, उसका वर्णन

१ संवत् १९३८ में श्रीमदाचार्य श्री १००८ पूज्य अमरसिंह जी महाराज का अमृतसर में स्वर्ग-वास हो चुका था। अतः श्री सङ्घ ने १९३९ में मलेरकोटला में श्री मोतीराम जी महाराज को आचार्य-पद पर स्थापित किया। इस का विस्तृत वर्णन श्री मोतीराम जी महाराज के जीवन-चरित्र में पढ़ें।

श्री पूज्य मोतीराम जी महाराज के जीवन-चरित्र में लिखा जा चुका है। जब आश्विन कृष्णा चतुर्दशी को श्री पूज्य मोतीराम जी महाराज का स्वर्ग-वास हो गया तब आपने चातुर्मास के पश्चात् श्री श्री श्री १००८ मोहनलाल जी महाराज को श्री १००८ आचार्य-वर्य मोतीराम जी की आज्ञानुसार आचार्य पद की चादर दी। उस समय श्री १००८ स्वामी लालचन्द्र जी महाराज पटियाला में ही विराजमान थे।

इस कार्य से निबटने के बाद आपने अम्बाला, सढौरा की ओर विहार कर दिया। फिर आप सढौरा, अम्बाला, पटियाला, नाभा, मलेरकोटला, रायकोट, फीरोजपुर, कसूर और लाहौर होते हुए गुजरांवाला पधारे। वहां रावलपिण्डी वाले श्रावकों की ओर से अधिक आग्रह होने पर आपने वहीं के लिए विहार कर दिया। रास्ते में आप वज़ीराबाद, कुंजाह, जेहलम, रोतास और कल्लर होते हुए रावलपिण्डी पहुंचे। इस वर्ष आपने अपने मुनिपरिवार के साथ यहीं चातुर्मास किया। इस चातुर्मास में और वर्षों की अपेक्षा अत्यधिक धर्मप्रचार हुआ। चातुर्मास के पश्चात् वहां से विहार कर मार्ग में धर्म-प्रचार करते हुए आप स्यालकोट पधारे। यहां भी बड़े समारोह से धर्म-प्रचार हुआ और यहां के श्रावकों का अत्यन्त आग्रह देख उनकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए आपने १९६० का चातुर्मास स्यालकोट में ही किया। चातुर्मास के पहले आपने अमृतसर आदि क्षेत्रों में भी धर्म-प्रचार किया। चातुर्मास के पश्चात आप फिर अमृतसर में पधारे। इस समय वहां श्री आचार्य-वर पूज्य मोहनलाल जी महाराज, मारवाड़ी साधु श्री देवीदास जी महाराज तथा अन्य बहुत से साधु और साध्वियां एकत्रित हुए थे। इस समय गच्छ में बहुत सी उपाधियां वितीर्ण हुई और आपको 'श्रीमद् गणावच्छेदक स्थविर पद' से अलङ्कृत किया गया।

इस समय आपको अचानक ही दमा के रोग ने घेर लिया। जिसके कारण बहुत दूर तक विहार करने में बाधा उत्पन्न होने लगी। अतः आपने १९६१ का चातुर्मास फरीदकोट शहर में किया। वहां से विहार कर आपने १९६२ का चातुर्मास पटियाला और १९६३ का अम्बाला शहर में किया। १९६४ का चातुर्मास आपने रोपड़ शहर में किया। इस चातुर्मास में जैनेतर लोगों को बहुत सा धार्मिक लाभ हुआ। नगर की जनता उनकी सेवा में दत्त-चित्त होकर धर्मोपार्जन करने

लगी। दुर्भाग्य से श्वास रोग का कई प्रकार से प्रतीकार किये जाने पर भी वह शान्त न हो सका। यह देख कर लोगों ने उनसे स्थिरवास की प्रार्थना की। किन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया और आत्मबल से विचरते रहे। कई बार जब आपको मार्ग में श्वास का प्रबल दौरा हो गया तब आपकी शिष्य-मण्डली ने वस्त्र की डोली बनाकर नगर में प्रवेश किया। बहुत समय तक आप ऐसी ही अवस्था में रहे। १९६५ का चातुर्मास आपने खरड़ शहर में किया। इस चातुर्मास में भी जैनेतर लोगों को अत्यधिक धर्म-लाभ हुआ। इसके अनन्तर १९६६ का फरीदकोट और १९६७ का कसूर में लाला परमानन्द बी. ए., एल. एल. बी. के स्थान पर किया।

संवत् १९६८ के चातुर्मास के लिए जब आप अम्बाला की ओर पधार रहे थे उस समय आपके साथ एक दैवी घटना हुई, जो सर्वथा विस्मय से भरी हुई है। जब आपने राजपुरा से अम्बाला के लिए विहार किया तो आपका विचार था कि मुगल की सराय में ठहरेंगे। किन्तु वहां जाने पर पता लगा कि साधु-वृत्ति के अनुसार वहां तक पानी नहीं पहुंचता है। अतः राजकीय सड़क पर एक पुल के पास एक अत्यन्त विशाल वृक्ष के नीचे जहां पानी पहुंच सकता था अपने सह-चारी मुनियों के साथ विराजमान हो गये। वहां अपने पानी के पात्र तथा अन्य उपकरण खोल कर रख दिये। वस्त्र आदि अन्य उपकरण जो पसीने से गीले हो गये थे उनको भी सुखाने के लिए फैला दिया। आपका विचार था कि थोड़ा सा दिन रहते ही सराय मे पहुंच जाएंगे। इसी समय अम्बाला की श्रावक-मण्डली आपकी सेवा में यहां उपस्थित हुई। आपने उनको अपना सराय में पहुंचने का विचार सुना दिया और वे लोग माङ्गलिक पाठ सुनकर वहां से चल पड़े।

उसी समय अकस्मात् एक पुरुष श्री महाराज के पास आकर खड़ा हो गया और साधुओं के उपकरण की ओर टक-टकी बांध कर देखने लगा। जब श्रीमहाराज ने पूछा कि आप यह क्या देख रहे हैं? ये सब साधुओं के उपकरण हैं, जो सदैव उनको साथ रखने पड़ते हैं। तब उस पुरुष का और श्री जी का निम्न-लिखित वार्तालाप हुआ :—

पुरुष—आप कौन हैं?

श्रीमहाराज—हम साधु हैं।

पुरुष—ये क्या हैं?

श्रीमहाराज—ये साधुओं के धर्म-साधन के उपकरण वस्त्र आदि हैं।

पुरुष—आप इस स्थान पर से उठ जाइए।

श्रीमहाराज—क्यों ?

पुरुष—यह वृक्ष गिरने वाला है।

श्रीमहाराज—इस समय आँधी वगैरह तो कुछ भी नजर नहीं आती दिखाई देती फिर यह क्योंकर गिर जायगा ?

पुरुष—कभी यों भी गिर जाया करते हैं।

यह सुनकर श्रीमहाराज तथा अन्य साधु जब अन्यत्र जाने लगे तो उस पुरुष ने कहा कि आप अपने उपकरण भी उठा लें। जब तक आप सब कुछ नहीं उठा लेंगे, तब तक इसके गिरने की सम्भावना नहीं। यह सुन साधुओं ने शान्ति-पूर्वक अपने उपकरण उठाए और उनको लेकर दूसरे स्थान पर शान्ति-पूर्वक बैठ गए। तब वह पुरुष अदृश्य हो गया। ठीक उसी समय वृक्ष की जो सब से बड़ी शाखा सारे पुल को घेरे हुए थी, अचानक गिर पड़ी और पुल का सारा रास्ता बन्द हो गया। इसके गिरने का इतना भयङ्कर शब्द हुआ कि सराय की ओर जाते हुए श्रावकों को भी सुनाई दिया और वे फिर से श्रीमहाराज के दर्शनों के लिए वहां पहुंच गये। उनको सकुशल पाकर श्रावकों को अतीव आनन्द हुआ और जब उन्होंने ऊपर वाली घटना सुनी तो उनके हर्ष और विस्मय का पारावार ही न रहा और वे लोग श्रीमहाराज की स्तुति करते हुए फिर वापिस चले गये।

इसी प्रकार अन्य भी कई विस्मय-जनक घटनाएं आपके जीवन में घटी हैं। एक बार आप नाभा से विहार कर पटियाला की ओर जा रहे थे, तब आप को एक जंगली चीता मिला। उसको देख कर आप निर्भीकता से खड़े हो गये। चीता उनकी ओर देखकर शान्ति-पूर्वक जङ्गल की ओर चला गया। यह आपकी शान्ति और संयम तथा प्रत्येक प्राणी के साथ सम-दृष्टि का प्रभाव था कि एक हिंसक जन्तु भी आपको देखकर शान्त हो गया। यह बात संसार में सब एक-मुख से मानते हैं कि आत्मिक-बल के सामने अन्य सब बल तुच्छ हैं। जिसको इस बल की प्राप्ति हो जाय, उसका पहले तो कोई वैरी ही नहीं हो सकता और यदि कोई हो भी जाय तो वैर छोड़कर शान्त-रूप हो जाता है। अम्बाला के उस चातुर्मास की ही घटना है, एक समय वर्षा के अनन्तर मध्याह्न काल में आप

पुरीषोत्सर्ग के लिए नगर के बाहर गए। जब आप नैतिक क्रियाओं से निवृत्त होकर शहर की ओर लौट रहे थे, मार्ग में एक भयङ्कर सर्प आपको मिला और आपके साथ ही हो लिया। जब वे शहर के समीप आये और मार्ग परिवर्तन करने लगे तो उन्होंने कहा कि ऐसा न हो कि इसको कोई मार डाले। इतना आप के मुख से निकलते ही वह सांप एक घनी झाड़ी में आपके देखते ही घुस गया और आप शान्त चित्त से शहर में पधार गये।

इसी प्रकार की एक घटना फीरोजपुर शहर में भी हुई। आप नित्य की भांति नैतिक क्रियाओं से निवृत्त होने के लिए उपाश्रय से बाहर जारहे थे। रास्ते में एक भयङ्कर काला नाग, जो अनुमान से दो गज लम्बा रहा होगा, आपको मिला। वह शरीर से भी अत्यन्त स्थूल था। किन्तु इसकी गति इतनी शीघ्र थी कि उसको देख कर आस-पास के पक्षी भी भय के मारे चिल्ला रहे थे। वह आपके पास आया और आपको भली भांति देख कर सीधा आगे चला गया। इस प्रकार और समय भी आपको हिंसक जन्तु मिले किन्तु आपकी अहिंसा के माहात्म्य से उन्होंने भी अपनी भद्रता का ही परिचय दिया। वास्तव में हिंसक जन्तु सहसा किसी पर आक्रमण नहीं करते। वे भी मनुष्य के भाव को अवश्य पहचान लेते हैं। जिनको वे स्वभावतः अहिंसक पाते हैं, उनको देख कर स्वयं भी अहिंसक बन जाते हैं। अतः अहिंसा एक अत्युत्तम धर्म है। इसका माहात्म्य भी अनुपम है।

संवत् १९६९ का चातुर्मास आपने लुधियाना शहर में किया। इस वर्ष भी धर्म का अत्यधिक प्रचार हुआ। १९७० का चातुर्मास फरीदकोट में हुआ। इसमें भी अनेक जैन और अजैन व्यक्तियों को अत्यन्त लाभ हुआ। १९७१ का चातुर्मास कसूर और १९७२ का नाभा रियासत में हुआ। इस वर्ष आपको श्वास ने बेहद कष्ट पहुंचाया। किन्तु फिर भी आप अपने नियत मार्ग से न डिगे। आपने अतुल धैर्य और शान्ति धारण की।

उन दिनों मुनि श्री ज्ञानचन्द्र जी महाराज चातुर्मास के पश्चात् नाभा से विहार कर बरनाला मण्डी में पहुंचे। वहां उनको जीर्ण-ज्वर हो गया था। कई एक योग्य प्रतिकार होने पर भी रोग शान्त नहीं हुआ। यह समाचार पाकर आपने नाभा से विहार किया और बरनाला मण्डी पहुंच कर उक्त मुनि को दर्शन दिये। जब मुनि जी का स्वर्गवास हो गया, तब आपने बहुत से भाइयों की विज्ञप्ति

होने पर लुधियाना के चातुर्मास की विज्ञप्ति स्वीकार कर ली। तदनुसार १९७३ का चातुर्मास आपने लुधियाना में ही किया।

चातुर्मास के अनन्तर जब आप विहार के लिए तय्यार हुए तो लुधियाना-निवासी श्रावक-मण्डल ने आप से निवेदन किया कि हे भगवन्! आपका शरीर अब बिलकुल ही निर्बल हो गया है। श्वास के कारण अब अपने जङ्घा-बल से चल भी नहीं सकते। यह भी अनुचित प्रतीत होता है कि आप अब एक गांव से दूसरे गांव में डोली बनाकर विहार करें। अतः हमारी यही प्रार्थना है कि आप अब इसी स्थान पर स्थिर वास रहने की कृपा करें। श्री १००८ आचार्य्य-वर्य मोतीराम जी महाराज के समान ही आपकी भी इस शहर पर अतुल कृपा है। अतः आप अवश्य अब यहां पर स्थिर-निवास कर लें। श्रावकों का इस प्रकार आग्रह देख कर श्री महाराज ने उनकी विज्ञप्ति स्वीकार कर ली और तदनुसार लुधियाना में ही विराजमान हो गये।

जब से आपने लुधियाना शहर में स्थिर-निवास किया, तभी से वहां अनेक धार्मिक कार्य होने लगे। आपने सब से पहले शास्त्रीय पुस्तकों के प्रकाशन के लिए आयोजना की। यहां एक युवक-मण्डल की स्थापना हुई। आपके स्थिर-निवास से यहां अनेक श्रावक, श्राविकाएं, साधु और साध्वियां आने लगे।

संवत् १९७९ में आपकी आंखों में मोतिया उतरने लगा। तब श्रीमान डाक्टर मथुरादास जी, मोगा निवासी की सम्मति के अनुसार आप को साधु-वस्त्र की डोली में बैठा कर मोगा मण्डी में ले गये। डाक्टर साहब ने बड़े प्रेम से आप की आंखों की चिकित्सा की और आपकी आंखों से मोतिया निकल गया। फलतः आपकी दृष्टि ठीक होगई। यह सब हो जाने पर आपको फिर साधु-वस्त्र की डोली में बैठा कर लुधियाना में ही ले आए। आपके लुधियाना में निवास से नगरनिवासी प्रत्येक व्यक्ति के मुख पर प्रसन्नता दिखाई देती थी।

जिस प्रकार जैन लोग आपकी भक्ति में दत्त-चित्त थे, इसी प्रकार जैनेतर लोग भी आपकी सेवा से अपने जीवन को सफल मानते थे। आपका प्रेम-भाव भी प्रत्येक के लिए समान था। अतः प्रत्येक मत वाला आपको पूज्य दृष्टि से देखता था और आपके दर्शन से अपने आपको कृतार्थ समझता था। आपके सत्योपदेश और प्रयत्न का ही यह फल है कि लुधियाना में 'जैन कन्या पाठशाला' नाम की

संस्था भली प्रकार से चल रही है। जहां आजकल अनुमानतः तीन सौ कन्याएं शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। इस संस्था में कन्याओं को सांसारिक शिक्षा के अतिरिक्त धार्मिक शिक्षा भी भली भांति दी जाती है। पंजाब प्रान्त के स्थानक-वासी जैन-समाज में यही एक पाठशाला है, जिसका संचालन सुप्रबन्ध और नियम से चल रहा है।

आप के वचन में ऐसी अलौकिक शक्ति थी कि प्रत्येक व्यक्ति को आकर्षित कर लेती थी। आप के वाक्य मधुर, स्वल्पाक्षर और गंभीरार्थ होते थे। आपका अधिक समय प्रायः मौनवृत्ति में ही व्यतीत होता था। आप प्रायः आत्म-विचार में निमग्न हो कर आत्मिक आनन्द का अनुभव करते रहते थे।

काल-गति ऐसी विचित्र है कि वह किसी का ध्यान नहीं करती। उसके लिए धर्मात्मा, पुण्यात्मा, ऊंच नीच का कोई विचार नहीं होता। आखिर इसने अपना कराल पञ्जा स्वामी जी के ऊपर भी डाला। १९८८ ज्येष्ठ कृष्णा १५ शुक्रवार को आपने पाक्षिक व्रत किया। वैसे तो वृद्धावस्था के कारण प्रायः खेद रहा ही करता था, किन्तु इस पारण के दिन आपको वमन और विरेचन लग गये और आप अत्यन्त निर्बल हो गये। यह देख सायंकाल आपने साधुओं को कहा कि मुझे अब अनशन करा दो। तदनुसार साधुओं ने आपको सागारी अनशन करा दिया। उस समय आपने आलोचना द्वारा भली भांति आत्म-शुद्धि की और सब जीवों के प्रति शुद्ध अन्तःकरण से क्षमापन किया। रविवार के दिन औषध छोड़ कर सागारी अनशन किया। बारह बजे के बाद आपकी दशा विशेष चिन्ता-जनक हो गई। आपने सायंकाल चार बजे आहार का त्याग कर दिया। सोमवार प्रातःकाल डाक्टर और वैद्यों ने जब आपकी दशा अधिक चिन्ताजनक देखी तो आपको आजीवन अनशन करा दिया गया। कोई साढ़े आठ बजे के समय आपके मुख पर अकस्मात् एक मुस्कराहट आई। आपके ओष्ठ इस प्रकार हो गये कि जैसे आप पाठ कर रहे हों। १९८८ ज्येष्ठ कृष्णा द्वितीया को सोमवार के दिन आपके प्राण नाक और आंखों के मार्ग से निकलते हुए प्रतीत हुए। इस शान्ति और समाधिमय मुद्रा से आप इस औदारिक देह को छोड़कर तेजोमय वैक्रिय शरीर धारण कर स्वर्गलोक में उत्पन्न हुए।

आपके वियोग से श्रीसंघ में अत्यन्त व्याकुलता छा गई। किन्तु फिर भी धैर्य धारण कर पंजाब प्रान्त में चारों ओर आपके स्वर्ग-वास का समाचार तार से

पहुंचाया गया। इस शोक-मय समाचार को पाकर प्रायः बाहर के दो हजार श्रावक आपकी अन्त्येष्टि क्रिया के लिए लुधियाना पहुंचे। तब आपके शव को स्नानादि क्रियाएं करा कर एक अत्यन्त सुन्दर विमान पर लिटाया गया। लुधियाना शहर की सारी जनता और बाहर के श्रावकों ने आप का अन्तिम दर्शन किया। दर्शक लोग विस्मित इस बात पर थे कि इस समय भी आपका मस्तिष्क लाली से चमक रहा था और सारे मुख पर तेज के चिह्न विराजमान थे, मृत्यु का एक भी चिह्न इस पर नहीं था। आपके विमान के आगे भजन-मण्डलियां भजन गा रही थीं। साथ में तीन बाजे बज रहे थे। इस शव पर ८१ दुशाले पड़े हुए थे। जिस समय शव श्मशान भूमि में पहुंचा, उस समय इसके साथ लगभग २० हजार से अधिक आदमी थे। आपके शव का दाह सोलह मन चन्दन की लकड़ी से किया गया। दो मन के करीब इस चिता में छुहारे आदि मेवे डाले गये। इस प्रकार बड़े समारोह से आपका अन्तिम संस्कार हुआ। इसमें बहुत से जैनेतर लोग भी सम्मिलित हुए। फिर तीसरे दिन आपकी अस्थियां श्मशान घाट से लाई गईं।

अन्त में जिन भावों को लेकर आपने दीक्षा ग्रहण की थी, उन्हीं भावों से आपने मृत्यु प्राप्त की। आपकी मृत्यु से पञ्जाब श्री संघ को एक अमूल्य रत्न की हानि हुई। मृत्यु के समय आपकी अवस्था ८१ वर्ष ९ महीने की थी। आपने अपने जीवन के ५५ वर्ष ५ मास और १२ दिन साधु-वृत्ति में व्यतीत किये। आपका शिष्य-वृन्द इस समय भी उन्नत दशा में है। आपके शिष्य श्री श्री श्री १००८ गणावच्छेदक जयरामदास जी महाराज हैं। उन्होंने या उनके शिष्य-प्रवर्तक श्री स्वामी शालिग्राम जी महाराज ने तथा अन्य साधुओं ने आपकी सेवा से अत्यन्त लाभ उठाया। इन सब मुनियों ने आपके वियोग से सन्तप्त जनता के हृदयों को सत्य उपदेशों से शान्त किया।

इस जीवन-चरित्र को यहां देने का मेरा विचार केवल यही है कि जनता इससे शिक्षा ग्रहण कर सुगति की अधिकारिणी बन सके। यदि कुछ व्यक्तियों ने भी इससे अपने जीवन में सुधार किया तो मैं अपने इस प्रयत्न में अपने आपको कृत-कृत्य समझूंगा।

भूमिका

प्रस्तुत शास्त्र की उपयोगिता

प्राक्कथन में स्पष्ट किया जा चुका है कि भाव की शुद्धि श्रुताध्ययन से ही हो सकती है। वह श्रुत चार अनुयोगों में विभक्त किया गया है—चरणकरणानुयोग, धर्मानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग। इनमें चरणकरणानुयोग का वर्णन कालिक श्रुत आदि में है, धर्मानुयोग के ऋषि-भाषित आदि सूत्र हैं, गणितानुयोग के सूर्य-प्रज्ञप्ति आदि सूत्र हैं और द्रव्यानुयोग का पूर्ण वर्णन करने वाला दृष्टि-वादाङ्ग है। इसके अतिरिक्त थोड़ा बहुत द्रव्य-विषयक वर्णन अङ्ग या उपाङ्ग आदि सूत्रों में भी मिलता है।

हमें यहां चरणकरणानुयोग के विषय में ही विशेष रूप से कुछ कहना है, क्योंकि हमारा प्रस्तुत शास्त्र 'दशाश्रुतस्कन्धसूत्र' इसीसे विशेष सम्बन्ध रखता है।

इससे पहले कि हम प्रस्तुत-ग्रन्थ के विषय में कुछ कहें, हमें यह आवश्यक प्रतीत होता है कि 'श्रुताध्ययन' के विषय में कुछ कह दें। पहले हम कह चुके हैं कि 'श्रुत' धर्मशास्त्रों की संज्ञा है। जिन ग्रन्थों में सिद्धान्त, उपदेश और आचार के विषय में कहा गया है उन्हीं को धर्मशास्त्र या श्रुत कहते हैं। इनमें व्यावहारिक दृष्टि से आचार को ही सर्व-प्रथम स्थान दिया जा सकता है और देना चाहिए। क्योंकि जिस व्यक्ति का आचार ही शुद्ध नहीं होगा, उसका सिद्धान्त विषय पर चित्त ही कैसे लगेगा। उपदेश तो उसके लिए सर्वथा असम्भव सा प्रतीत होता है। क्योंकि उसी व्यक्ति का जनता पर प्रभाव पड़ता है, जिसका अपना आचार शुद्ध

हो। यदि कोई शराबी दूसरों को शराब न पीने का उपदेश करे तो सुनने वाले उसको मान के स्थान पर घृणा की दृष्टि से देखेंगे। किन्तु जिस व्यक्ति का आचार शुद्ध होता है, उसके बिना कुछ कहे ही जनता उसकी सेवा-भक्ति करती है और उसके मुख से उपदेशामृत पान करने के लिए लालायित रहती है। वह जो कुछ भी कहता है, उस पर चलने के लिये प्रयत्न करती है। अतः आचार-विषयक ग्रन्थों का सब से पहले अध्ययन करना चाहिए। तभी शेष दो विषय अर्थात् सिद्धान्त और उपदेश में सफलता प्राप्त हो सकती है। सिद्ध यह हुआ कि भाव-शुद्धि बिना श्रुताध्ययन के नहीं हो सकती और श्रुतों में सब से पहले आचार-विषयक श्रुत का अध्ययन करना चाहिए।

यह आचार भी दो प्रकार का कथन किया गया है—साधु आचार और गृहस्थ आचार। साधुओं के लिए जो आचार-विषयक नियम हैं, उनको साधु-आचार और गृहस्थों के लिए जो नियम हैं, उनको गृहस्थाचार कहते हैं। जिन ग्रन्थों में इस दोनों प्रकार के आचार का वर्णन किया गया हो, उनका विशेष रूप से अध्ययन करना अधिक श्रेयस्कर है। हमने यहां जिस सूत्र की व्याख्या की है, वह भी ऐसे ही ग्रन्थों में से एक है।

इस सूत्र के अध्ययन के लिए तथा विशेष रूप से ज्ञान प्राप्त करने के लिए उपक्रम, नय और निक्षेप का वर्णन अनुयोग द्वार सूत्र से जान लेना बहुत आवश्यक है, क्योंकि यहां स्थान २ पर इन विषयों के संक्षिप्त परिचय की आवश्यकता प्रतीत होती है।

इस ग्रन्थ या सूत्र का नाम 'दशाश्रुतस्कन्धसूत्र' है। इसका 'स्थानाङ्गसूत्र'

---

१ पंचवीस परियाए समणे णिग्गंथे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पण्णत्ति-कुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्खुयायारे असबलायारे अभिण्णायारे असंकिलिट्ठायारे चरित्ते बहुसुए बब्भागमे जहण्णेणं दसाकप्पववहारे कप्पति आयरिय उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए। (व्यवहार सूत्र उद्देश० ३ सू० ४)

पंचवीस परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पति दसाकप्प ववहारनामं अज्झयणे। उद्दिसित्तए वा। (व्यवहार सू० उ १० सू० २८)

छब्बीसं दस कप्पा ववहाराणं उद्देसणकाला पं० तं० दसदसाणं छ कप्पस्स दस ववहारस्स। (समवायाङ्ग सू० समवाय २६)

ठाणांग सू० स्थान ६ पद्मचरित्र—

प्रश्नव्याकरण सू० पांचवाँ संवरद्वार—

उत्तराध्ययन सू० अ० ३१ गा० १७

के दशवें स्थान में 'आचारदशा' के नाम से भी उल्लेख मिलता है। जैसे—"आयारदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा—वीसं असमाहिठाणा, एगवीसं सबला, तेतीसं आसायणातो, अट्ठविहा गणिसंपया, दस चित्तसमाहिठाणा, एगारस उवासगपडिमातो, बारस भिक्खुपडिमातो, पज्जोसवणकप्पो, तीसं मोहणिज्जठाणा, आजाइट्ठाणं"। उक्त ग्रन्थ के इस 'अध्ययन-विवरण' से पता चलता है कि जिसमें ज्ञानादि पांच आचारों का वर्णन है, उसी का नाम आचारदशा है। वही वर्णन दशाश्रुत-स्कन्धसूत्र में बिना किसी परिवर्तन के मिलता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि 'आचारदशा' इसी का दूसरा नाम है।

ग्रन्थकर्ता का निर्णय

यद्यपि अर्थागम की अपेक्षा से सब शास्त्र अर्हन् भगवान् के ही भाषित हैं किन्तु सूत्रागम की अपेक्षा वे ही गणधर, स्थविर तथा प्रत्येक बुद्धादि कृत भी होते हैं। इन सब की प्रामाणिकता अङ्ग शास्त्रों के आधार पर ही मानी जाती है और अङ्ग शास्त्रों में आये हुए विषयों की विस्तृत व्याख्या उपाङ्ग शास्त्रों में ही देखी जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत शास्त्र अर्थतः अर्हन् भाषित ही है। अब हमें यह निर्णय करना है कि इसको सूत्र-रूप में किसने प्रकट किया है। इसके विषय में इस सूत्र की वृत्ति लिखते हुए वृत्तिकार श्री मतिकीर्ति गणि 'अनुयोग' शब्द पर लिखते हैं—"गणधरैरप्यत एव तस्यैवादौ प्रणयनमकारि, अतस्तत्प्रतिपादकस्य दशाश्रुतस्कन्धस्यानुयोगः समारभ्यते। दशाश्रुतस्यानुयोगोऽर्थकथनं दशाश्रुतस्कन्धानुयोगः। सूत्रादनु-पश्चादर्थस्य योगोऽनुयोगः, सूत्राध्यायनामतत्पश्चादर्थकथनमिति भावना। अणोर्वा लघीयसः सूत्रस्य

आवश्यकसूत्रे-श्रमणसूत्रमध्ये —

नंदीसूत्रे-कालिकसूत्राधिकारे—

व्याख्या प्रज्ञप्ति शतक १०-उद्देश २—

१. 'पज्जो' इत्यादि—पर्याया-ऋतुबद्धिका द्रव्यक्षेत्रकालभावसम्बन्धिन उज्झंते उत्सृज्यन्ते-यस्यां सा निरुक्तविधिना पर्यासवना, अथवा परीति सर्वतः क्रोधादिभावेभ्य उपशम्यते यस्यां सा पर्युपशमना, अथवा परि-सर्वथा, एकक्षेत्रे जघन्यतः सप्तदिनान्युत्कृष्टतः षण्मासान् वसनं निरुक्तादेव पर्युषणा तस्याः कल्पः-आचारो मर्यादेत्यर्थः, पर्योसवनाकल्पः, पर्युपशमनाकल्पः, पर्युषणा कल्पो वेति। स च 'सक्कोस जोयणं विगइनवयं' इत्यादिकस्तत्रैव प्रसिद्धस्तदर्थमध्ययनं स एवोच्यते इति स्थानाङ्गसूत्रवृत्तितो ज्ञेयम्।

महतार्थेन योगोऽनुयोगः।" इस कथन से वृत्तिकार का यही तात्पर्य है कि गणधरों ने ही सब से पहले सूत्रों का प्रणयन किया, अतः दशाश्रुतस्कन्धसूत्र भी गणधरों का ही प्रतिपादित है। इस कथन से यही सिद्ध हुआ कि अन्य सूत्रों के समान इस सूत्र को भी गणधरों ने ही रचा। किन्तु शङ्का यह उपस्थित होती है कि जहां अन्य गणधरों के प्रतिपादित सूत्रों के प्रारम्भ में केवल 'सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं' इतना ही पाठ मिलता है वहां इस सूत्र के आदि में 'इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीस असमाहिठाणा पण्णत्ता' इतना पाठ अधिक मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि गणधर-कृत सूत्रों से आचार-विषयक सूत्रों का संग्रह करके नूतन शिष्यों के बोध के लिए स्थविर भगवन्तों ने ही इस सूत्र की रचना की, क्योंकि इस में स्थविरों का कर्तृत्व स्पष्ट-रूप से मिलता है। 'प्रज्ञप्ताः' कृदन्त-रूप का कर्ता यहां स्थविर ही है, गणधर नहीं। वृत्तिकार यह भी निर्णय करते हैं कि इस सूत्र का सम्पादन श्री भद्रबाहु स्वामी जी महाराज ने किया है। यह बात उन्होंने उक्त सूत्र की ही निम्न लिखित वृत्ति में स्पष्ट कर दी है:—'सुयं मे' इत्यादि—सूत्रस्यार्थः समुन्नीयते—भगवान भद्रबाहुस्वामी स्वशिष्यं स्थूलभद्रमिदमाचष्टे :—श्रुतमाकर्णितं गुरुपर्यायेण, मे—मया, आउसंति—आयुर्जीवितं तत्संयमप्रधानतया प्रशस्तं प्रभूतं यस्य स आयुष्मान्, तस्यामन्त्रणं हे आयुष्मन्! शिष्य! तेणंतिय: सन्निहित-व्यवहितसूक्ष्मस्थूलबाह्याध्यात्मैकसकलपदार्थेषु अव्याहतवचनतयाप्तत्वेन जगति प्रतीत-स्तेन महावीरेण भगवता ज्ञानाद्यैश्वर्ययुतेनैवामुना वक्ष्यमाणेन विंशत्यादिना प्रकारेणा-ख्यातमसंकीर्णमाश्राद्धसाधुकरणीयलक्षणरूपेण विधिनाथवा हेयोपादेयरूपसमस्तवस्तु-विस्तारलक्षणेन व्यापारलक्षणेनाख्यातं कथितमिहार्हद्वचने खलु वाक्यालङ्कारे स्थवि-रैर्गणधरैः सुधर्मजम्बूभद्रबाह्वादिश्रुतकेवलिभिर्विंशतिरसमाधिस्थानानि असमाधेरसमा-धानस्य स्थानानि पदानि प्रज्ञप्तानि प्रतिपादितानि इति" इस वृत्ति में स्थविर शब्द से सुधर्मस्वामी, जम्बूस्वामी और भद्रबाहु आदि सभी श्रुत-केवलियों का ग्रहण किया गया है। दशाश्रुतस्कन्धसूत्र के निरुक्तिकार भी इसी मत की पुष्टि करते हैं। वे लिखते हैं "वंदामि भद्दबाहूं पाईण चरिमसयलसुयनाणिं सुत्तस्स कारगमिसं दसासु कप्पे य ववहारे" इसका भाव यह है कि मैं चरम-सकल-श्रुतज्ञानी और दशाश्रुतस्कन्ध-सूत्र, बृहत्कल्प और व्यवहारसूत्र के रचयिता श्री भद्रबाहु स्वामी को नमस्कार करता हूं। मतिकीर्ति गणि जी ने इस पर वृत्ति लिखते हुए इसे और भी स्पष्ट कर दिया

है। इस वृत्ति से और भी कई एक शङ्काओं का समाधान हो जाता है। अतः हम पाठकों की सुविधा के लिए उस वृत्ति को भी यहां दे देते हैं:—

"वंदामीति वन्दे भद्रबाहुं प्राचीनगोत्रोत्पन्नं चरममकलश्रुतज्ञानिनं श्रुतकेवलिनमित्यर्थः। सूत्रस्य कारकमित्यत्र जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्यापीति बहुत्वे एकवचनम्। तेन सूत्राणां दशाश्रुतस्कन्धबृहत्कल्पव्यवहाराणां सूत्रयितारम्। सूत्रत्वममीषां सम्पूर्णम्। चतुर्दशपूर्वधरविरचितत्वेन तथोच्यते—सुत्तं गणहररइयं तहेव पत्तेयबुद्धरइयं सुयकेवलिणा रइयं अभिन्नदसपुव्वणा रइयमिति।" नन्वेवं श्रावकस्य निर्युक्त्यादिदशनिर्युक्तीनामपि समानकर्तृत्वेन सूत्रत्वमापन्नम्. आपद्यतान्नाम तासामपि समवायाङ्गे सूत्रात्मकप्रतिपादनात्। तथाहि—"आचारस्स णं परित्ता वायण संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा ओपडिवत्तीओ संखिज्जा वेढा, संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ। से ण अंगठयाए पढमे अंगे दो सुयक्खंधा बीसं अज्झयणेत्यादि" वाचनादीनाञ्चाचाराङ्गस्वरूपनिरूपणेनाचाराङ्गत्वमुक्तम्। तथा च स्वतःसिद्धं निर्युक्तेः सूत्रत्वम्। अत एवोच्यतेऽनुयोगद्वारसूत्रमिति निर्युक्तिरप्यनुयोग एवेत्यलमतिप्रसङ्गेन अथ किं निमित्तम्। तस्य नमस्कारः क्रियते। स चोच्यते सूत्रकारको न त्वर्थकारकः। अर्थो हि तीर्थकृद्भ्यः प्रसूतो येनोच्यते "अत्थ भासइ अरिहा सुत्तं गंथंति गणहरा, निउणं सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइत्ति" कृतं सूत्रं दशाः कल्पो व्यवहारश्च कुतस्तत् (स्व) समुद्धृतमुच्यते, प्रत्याख्यानननवपूर्वात्, इयं गाथा केनापि निर्युक्त्यनुयोगविधायिनाचार्येण स्वशिष्येभ्यो निर्युक्त्यनुयोगप्रतिपादनावसरे पारम्पर्यप्रदर्शनाय दशाश्रुतस्कन्धादिकर्तृत्वप्रतिपादनाय श्रीभद्रबाहवे नमस्करणाय च प्रतिपादितास्तीति सम्भाव्यते। स्वेनैव स्वस्य नमस्कृतेरनुपपद्यमानत्वात्। नहि महान्तो निकृष्टजनोचितं स्वमुखेन स्वस्ववर्णनमाद्रियन्ते। दृश्यते ते च सत्प्रतिपादकसत्यप्रतिपाद्यगुरुशिष्यपरम्परया तत्त्वेन स्ववचसि प्रत्ययोत्पादनाय तत्र-तत्र ज्ञाता धर्मकथादेः सुधर्मजम्बूस्वाम्यादीनां वर्णनं प्रभवादिभिर्लिखितमित्य एव 'तित्थयरे भंते' इत्यादि। इस प्रकार इस वृत्ति में श्री भद्रबाहु स्वामी इस सूत्र के सम्पादन करने वाले माने गये हैं। इसके अतिरिक्त दशवीं दशा की समाप्ति में भी वृत्तिकार इस प्रकार लिखते हैं:—

"स्वमनीषिकापरिहाराय भगवान् भद्रबाहुस्वामी प्राह 'तेणं कालेणं तेणं समएणं' इत्यादि"। इस कथन से यह भी भली भांति सिद्ध किया गया है, भद्रबाहुस्वामी

ने जो कुछ भी वर्णन किया है वह सब श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी के कथन का ही अनुवाद-मात्र है। अपनी बुद्धि से उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। यह प्रत्येक दशा के अन्त में भी स्पष्ट किया गया है। उपर्युक्त विवरण से पाठकों को इस बात के समझने में कोई भी बात अवशिष्ट न रही कि वास्तव में इस सूत्र के मूल प्रणेता तो श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी ही हैं। किन्तु शिष्य-परम्परा में उनके इस कथन को स्थिर रखने के लिए इसका सङ्कलन श्री भद्रबाहु स्वामी ने किया।

रचना का आधार

इस सूत्र की रचना जिन ग्रन्थों के आधार पर की गई है, उनका नाम क्रमशः दशाओं के अनुसार हम पाठकों की सुविधा के लिए नीचे दे देते हैं:—

इस में प्रायः बहुत सा भाग समवायाङ्ग सूत्र से केवल कुछ ही परिवर्तन के साथ लिया गया है, जैसे पहली दशा में बीस असमाधि-स्थानों का वर्णन किया गया है। यह सब 'समवायाङ्गसूत्र' बीसवें स्थान से सूत्र-रूप में ही उद्धृत किया गया है। भेद केवल इतना ही है कि 'समवायाङ्गसूत्र' में 'बीसं असमाहिठाणा पण्णत्ता तं जहा' इतना ही पाठ देकर असमाधि-स्थानों का वर्णन प्रारम्भ कर दिया गया है किन्तु यहां पर 'सुयं मे आउसं तेणं' इत्यादि पाठ उक्त पाठ के साथ और जोड़ दिया गया है। दूसरे में किसी २ स्थान पर स्थान-परिवर्तन भी कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त और कोई भेद इनमें नहीं मिलता।

दूसरी दशा के इक्कीस 'शबल-दोष' भी समवायाङ्ग सूत्र से ही ज्यों-के-त्यों उद्धृत कर दिये हैं। भेद केवल पहली दशा के समान भूमिका-वाक्य में ही है। तीसरी दशा की 'आशातनाएं' भी इसी सूत्र से उक्त-रूप में ही ली गई हैं।

चौथी दशा में आठ प्रकार की 'गणि-सम्पत्' का वर्णन किया गया है। इस आठ प्रकार की सम्पत् का नाम-निर्देश-मात्र 'स्थानाङ्ग-सूत्र' के आठवें स्थान में वर्णन किया गया है। विशेष-रूप से इसके विषय में वहां कुछ नहीं कहा गया है। अतः इसके अन्य जितने भी भेद, उपभेद यहां मिलते हैं तथा वर्णन की जो कुछ भी विशेषता है, वह किसी दूसरे सूत्र से संगृहीत की गई है।

पांचवीं दशा में दश 'चित्त-समाधियों' का वर्णन आता है। इसमें से केवल उपोद्घात-भाग संक्षेप रूप में औपपातिक सूत्र से लिया गया है। इसके बाद दश

चित्त-समाधियों का गद्य-रूप पाठ समवायाङ्ग सूत्र के दशवें स्थान से उद्धृत किया गया है और शेष पद्य-रूप भाग किसी अन्य सूत्र से संग्रह किया हुआ प्रतीत होता है ।

छठी दशा में श्रमणोपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन आता है । उस का भी सूत्र-रूप मूल पाठ तो समवायाङ्ग-सूत्र के ग्यारहवें स्थान से ही संगृहीत किया गया है किन्तु इसकी विशद व्याख्या अन्य सूत्र से ग्रहण की गई है । अक्रिया-वाद के वर्णन में 'सूयगडांगसूत्र' के द्वितीय सूत्र के द्वितीयाध्ययन में आए हुए 'अधर्मपक्ष'से बहुत सा पाठ लिया गया है और तेरह क्रियाओं के स्थान वर्णन करते हुए लोभ-प्रत्यय के क्रियास्थान से इसी प्रकार अत्यधिक पाठ संगृहीत किया गया है । शेष पाठ अन्य सूत्रों से उद्धृत किया गया है ।

सातवीं दशा में बारह भिक्षु-प्रतिमाओं का वर्णन है । इसमें मूल समवायाङ्ग के बारहवें स्थान से और विस्तृत व्याख्या भाग स्थानाङ्ग सूत्र के तीसरे स्थान और भगवती अंतगड आदि सूत्रों से लिया गया है ।

आठवीं दशा में श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पांच कल्याणों का वर्णन है । इस दशा का नाम पर्युषणा कल्प है । इस दशा का मूल सूत्र स्थानाङ्ग सूत्र के पञ्चम स्थान के प्रथमोद्देश से संगृहीत है । यही पाठ आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुत-स्कन्ध के चौवीसवें अध्ययन में और कल्पसूत्र के आदि में भी पाया जाता है ।

नवमी दशा में तीस महामोहनीय स्थानों का वर्णन किया गया है । इसका उपोद्घात भाग औपपातिक सूत्र और तीस महामोहनीय स्थानों का पद्यरूप वर्णन समवायाङ्ग सूत्र के तीसवें स्थान से उद्धृत किया गया है ।

दशवीं दशा में नौ प्रकार के निदान कर्मों का वर्णन किया गया है । उसका उपोद्घात औपपातिक सूत्र से संक्षेप में और शेष पाठ औपपातिक सूत्र या सूयगडांग सूत्र द्वितीय श्रुत-स्कन्ध से अथवा अन्य ग्रन्थों से लिया प्रतीत होता है । तथा नव निदान कर्मों का वर्णन किसी अन्य जैनागम से संगृहीत किया गया है । कारण कि बहुत से आगम व्यवच्छेद भी हो चुके हैं ।

ये ही इस रचना के आधार-ग्रन्थ हैं । इस सूत्र का सम्पादन करने वाले श्री भद्रबाहु स्वामी ने इस सूत्र में अपनी ओर से कुछ नहीं जोड़ा, यह इससे स्पष्ट प्रतीत होता है । उन्होंने जनता की हित-दृष्टि से ही आचार-विषयक इस सूत्र का अङ्गादि

सूत्रों के आधार पर ही सङ्कलन किया। बल्कि यों कहिए कि उन्होंने उक्त अङ्ग सूत्रों का आचार-विषयक पाठ एक स्थान पर एकत्रित कर दिया है। इस सूत्र के सङ्कलन में उनका ध्येय जैसा हम कह चुके हैं केवल शिष्य-मण्डली और जनता के आचार को सुधारने का ही था। इसका सम्पादन करने के अनन्तर उन्होंने स्थान २ पर इसका प्रचार किया, जिससे जनता को आचार-विषयक शिक्षा का भण्डार एक ही स्थान पर मिल जाय और उसको इसके लिए व्यर्थ इधर-उधर न भटकना पड़े।

हम यह पहले भी कह चुके हैं कि धर्म के विषय में आचार का सब से पहला स्थान है। उसका ज्ञान अवश्य करना चाहिए। बिना धर्म-विषयक ग्रन्थों का अध्ययन किए हुए कई एक व्यक्तियों की सच्ची श्रद्धा भी भ्रम-मूलक ज्ञान के कारण मिथ्या-मार्ग की ओर चली जाती है, अतः भ्रम निवारण के लिए पहले उसका सच्चा ज्ञान अवश्य कर लेना चाहिए, जो कि उस विषय के ग्रन्थों के स्वाध्याय या श्रवण के बिना नहीं हो सकता है। आत्म-हितैषी व्यक्तियों को उचित है कि आचार-शुद्धि के लिए इस अपूर्व ग्रन्थ का एक बार अवश्य अध्ययन करें, जिससे उनका आचार शुद्ध हो सके और वे मुक्ति-मार्ग की ओर भी अग्रसर हो सकें।

यह जिज्ञासा पाठकों के चित्त में उठ सकती है कि क्या निर्युक्तिकार ने भी इस विषय में कुछ लिखा है कि श्री भद्रबाहु स्वामी ने अमुक २ स्थल अमुक ग्रन्थ से उद्धृत किये हैं। उनके समाधान के लिए हम यह बताना आवश्यक समझते हैं कि निर्युक्तिकार के मन्तव्य को ही टीकाकार ने नीचे लिखे शब्दों में स्पष्ट किया है—"तत्र तीर्थकरस्य सामायिकादिक्रमेण उपोद्घातः कृतः। आर्यसुधर्मणो जम्बूस्वामिनः प्रभवस्य शय्यंभवस्य यशोभद्रस्य संभूतविजयस्य ततो भद्रबाहोरवसर्पिण्यां पुरुषाणाम् आयुर्बलयोर्हानिं ज्ञात्वा चिन्ता समुत्पन्ना पूर्वगते व्युच्छिन्ने विशोधिं न ज्ञास्यन्तीति कृत्वा प्रत्याख्यानपूर्वाद् दशाकल्पव्यवहारान्निर्यूढ एष उपोद्घातः" इत्यादि कथन से सिद्ध होता है कि श्री भद्रबाहु स्वामी ने प्रत्याख्यानपूर्व से दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रों का उद्धार अर्थात् आचार आदि विषयों को भिन्न भिन्न सूत्र-ग्रन्थों से एकत्रित करके उसको एक नये ग्रन्थ के रूप में जनता के सामने रखा।

पदार्थ-निर्णय के विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—"इह किल भद्रबाहुः स्वामी चतुर्दशपूर्वधरस्थूलभद्रस्वामिनं स्वशिष्यं प्रतिपादयाञ्चकार—श्रुतम् आकर्णितम्, गुरुपरम्परयेत्यादि" जहां दशा की समाप्ति हुई है, वहां ('त्ति बेमि' इस पद पर वृत्ति-

कार लिखते हैं—"इति ब्रवीमि यद् भगवता सर्वविदोपदिष्टं मयाकर्णितम् इति तदहमपि भद्रबाहुस्वामी प्रतिपादयामीति भावः" इस कथन से भी भली भांति सिद्ध होता है कि श्री भगवान् के वचनों को ही श्री भद्रबाहु स्वामी ने उद्धृत किया है और वह भी प्रत्याख्यान पूर्व से ही । अतः यह सूत्र सर्वथा प्रमाण है और वास्तव में इसकी रचना गणधरों ने ही की है ।

ग्रन्थ-प्रतिपादन-शैली

यद्यपि हम स्वाध्याय के विषय में प्रायः लिखते ही जा रहे हैं । फिर भी इसके वास्तविक लाभों पर जब हमारी दृष्टि पड़ती है तो पुनरुक्ति का भय रहते हुए भी इस विषय में और अधिक लिखने की इच्छा बढ़ती ही जाती है । जितना कोई व्यक्ति धर्म-शास्त्रों का अध्ययन करेगा उतना ही उसकी आत्मा पर अधिक प्रभाव पड़ेगा और धीरे २ वह उसी के आनन्द में लीन हो कर अनायास ही कर्म-क्षय की ओर अग्रसर हो जायगा । जिस समय कोई भी व्यक्ति एक उन्नतम फल अपनी आंखों के सामने देख लेता है फिर वह उसकी प्राप्ति की ओर लग जाता है । किन्तु पहले साधारण व्यक्ति का चित्त इस ओर आकर्षित करने के लिए अच्छे सुललित, सरल, विस्तृत और अनेक उदाहरण और प्रत्युदाहरणों से युक्त ग्रन्थों की आवश्यकता है । हमारा प्रस्तुत ग्रन्थ इसी प्रकार के ग्रन्थों में से एक है । इसमें अत्यन्त मनोहर गद्य में शिक्षा का भण्डार संगृहीत है । और प्रत्येक विषय का विस्तृत-रूप से निरूपण किया गया है । उदाहरणार्थ पहली दशा लीजिए । इसमें बीस असमाधियों का वर्णन किया गया है । असमाधि के ज्ञान के लिए पहले समाधि के ज्ञान की आवश्यकता है । अतः उसके पहले द्रव्य-समाधि और भाव-समाधि के दो भेद कहे गये हैं । द्रव्यों के सम प्रमाण से अथवा अविरोधि-भाव से मिलन को द्रव्य-समाधि कहते हैं । अनेक प्रकार की शिल्प-कलाओं की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य, द्रव्यों के ठीक ज्ञान होने से, द्रव्य-समाधि की प्राप्ति ही है । इस तरह प्रत्येक द्रव्य के ठीक २ उपयोग का ज्ञान ही द्रव्य-समाधि कहलाती है । दूसरी भाव-समाधि है । इसका तात्पर्य ज्ञान, दर्शन और चरित्र द्वारा आत्मा में समाधि उत्पन्न करना है । जिस समय आत्मा में ज्ञान आदि का सञ्चय हो जाता है, उस समय उसमें एक अलौकिक प्रशान्तरस का सञ्चार होने लगता है और उसको फलतः समाधि की प्राप्ति भी होने लग जाती है ।

इन दोनों प्रकार की समाधियों की प्राप्ति के लिए अपने कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को सदैव प्रयत्न-शील होना चाहिए, जिससे वह इह-लौकिक सुख के साथ पारलौकिक उन्नति के साधन भी एकत्रित कर सके।

इस प्रकार केवल असमाधि-स्थानों के वर्णन से सूत्रकार ने हमारे सामने कितनी उच्च शिक्षाओं का भण्डार रख दिया है। इसका अनुभव पाठक स्वयं कर सकते हैं। इसी तरह अन्य दशाओं में भी मिलता है। यह कहने की आवश्यकता अब नहीं कि इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय केवल आचार ही है, जिसके बिना ज्ञान दर्शन की प्राप्ति असम्भव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। अतः सबसे पहले सदाचार को अपनाकर ज्ञान आदि की सहायता से सुसमाहित-आत्मा बनना चाहिए। ज्ञान आदि से अलंकृत आत्मा ही सुसमाहित आत्मा कहला सकता है।

सूत्र शब्द का अर्थ

'सूत्र' शब्द का अर्थ करते हुए निर्युक्तिकार लिखते हैं—

"सुत्तं तु सुत्तमेव उ अहवा सुत्तं तु तं भवे लेसो अथस्स सूयणा वा"। सूत्र शब्द के अर्थ-ज्ञान के लिए इस शब्द (सूत्र शब्द) का अर्थ जानना बहुत आवश्यक है। साथ ही यह जानना भी परम आवश्यक है कि 'सुत्त' शब्द के प्राकृत में 'सुप्त' और 'सूत्र' दो अर्थ होते हैं। अतः इस वाक्य का अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार सोये हुए पुरुष के पास वार्तालाप करते हुए भी उसको उसका कुछ बोध नहीं होता, इसी प्रकार बिना व्याख्या अथवा वृत्ति या भाष्य के जिसके अर्थ का बोध यथार्थ रूप से नहीं होता, उसका नाम सूत्र है। अर्थात् सूत्र में संक्षेप से ही बहुत सा अर्थ वर्णन किया जाता है। तत्त्वज्ञ विद्वान् भाष्य आदि कर उसका अर्थ सर्व-साधारण के लिए भाष्य या व्याख्या-रूप में करते हैं। अथवा जिस प्रकार एक सूत्र अर्थात् तागे में कई प्रकार के पदार्थ एकत्रित किये जाते हैं, इसी प्रकार सूत्र में नाना प्रकार के अर्थों का संग्रह किया होता है। अथवा जिससे केवल अर्थ की सूचना मात्र हो, उसको सूत्र कहते हैं। अथवा सूक्त अर्थात् जन-हितैषिणी दृष्टि से ज्ञान-पूर्वक जो कथन किया जाता है, वही सूक्त होता हुआ सूत्र कहलाता है। प्राकृत भाषा में सूक्त के लिए भी 'सुत्त' शब्द का ही प्रयोग होता है।

निरुक्तिकार इस शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं :—

"नेरुत्तिया इतम्सं सूयइ सिव्वइ तहेव सुवइत्ति ।
अणुमरंति त्तिय भेया तस्स नामा इमाहुंति ॥"

इस पद्य का अर्थ यह है कि जो सूचना करता है, वही सूत्र है। क्योंकि जिस प्रकार सूत्र-संयुक्त सुई खो जाने पर भी सूत्र (तागे) की सहायता से मिल जाती है, इसी प्रकार अनेक प्रकार के घटनाचक्र में आकर विस्मृत अर्थ का भी सूत्र सूचक होता है। अथवा जिस प्रकार सुई भिन्न वस्त्रों के टुकड़ों को सी कर कञ्चुक आदि अत्युत्तम और उपयोगी वस्त्र बना देती है, इसी प्रकार जो इधर उधर बिखरे हुए अर्थों को एक रूप में संगृहीत कर देना है, उसी का नाम सूत्र है। अथवा जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि से चन्द्रमा की किरणों के संयोग से जल और सूर्यकान्तमणि से सूर्य की किरणों के स्पर्श होने पर अग्नि स्रुत होती है अर्थात् बहने लगती है, इसी प्रकार जिससे अर्थ की धारा निकल पड़े, उसी का नाम सूत्र है। अथवा जिसकी सहायता से आठ कर्मों का मल बाहर किया जाय, उसका नाम सूत्र है। जैसे एक अन्धा व्यक्ति रज्जु या यष्टि की सहायता से घर के भीतर का सब कूड़ा-करकट बाहर फेंक देता है, इसी प्रकार सूत्र की सहायता से क्रियाकलाप द्वारा आत्मा का कर्म-रज दूर किया जाता है।

सूत्रों के भेद

सूत्रों के मुख्य भेद—संज्ञासूत्र, कारकसूत्र और प्रकरणसूत्र इस प्रकार से तीन होते हैं। पुनः उनके उत्सर्ग और अपवाद रूप दो भेद और होते हैं। संज्ञासूत्र उन्हें कहते हैं, जिनमें किसी भी अर्थ का सामान्यरूप से निर्देश होता है। जैसे—

"जे छेए से सागारियं परियाहरे तहा सव्वामगंधपरिन्नाय निरामगंधो परिव्वए" अर्थात् जो छेक (निपुण) है वह मैथुन को छोड़ देता है, ज्ञान-परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से त्याग कर देता है और निर्दोप वृत्ति से निर्वाह करता हुआ विचरता है। यही संज्ञा सूत्र है।

कारकसूत्र उसको कहते हैं, जिसमें क्रियाकलाप का वर्णन किया होता है। जैसे—"अहाकम्मं भुंजमाणे समणे निग्गंथे कइ कम्म पगडीओ बंधंति गोयमा आउवज्जाओ सत्त कम्म पगडीओ से केण ट्ठणं भंते एवं वुच्चइ" इत्यादि। प्रकरणसूत्र उसको कहते हैं जिसमें नमिप्रव्रज्या, गौतम केशिय इत्यादि अध्ययनों के नाम से उस प्रकरण का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार मुख्य सूत्रों के ये तीन भेद हो जाते हैं।

इनमें से प्रत्येक के उत्सर्ग और अपवाद रूप से दो भेद हो जाते हैं। उत्सर्ग सूत्र उनको कहते हैं, जिनमें किसी भी क्रिया का सामान्य-रूप से विधान किया जाता है। जैसे—

"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमेतालपलंबे अभिन्ने पडिग्गहित्तए" इसमें सामान्य-रूप से तालवृक्ष के अभिन्न कच्चे फल का निषेध किया गया है। किन्तु अपवादसूत्र—जिसमें उत्सर्ग विधि का बाध होता है—में "कप्पइ निग्गंथाण निग्गंथीण वा पक्के तालपलंबे भिन्नेऽभिन्ने पडिग्गहित्तए" उक्त विधि का बाध कर तालवृक्ष के पके हुए भिन्न या अभिन्न फल का ग्रहण करना बताया गया है। सूत्रों का उत्सर्गापवाद रूप एक और भेद होता है। इसका तात्पर्य एक पदार्थ का निषेध होते हुए भी किसी विशेष कार्य के लिए उसका विधान कर देना है। जैसे प्रथम पौरुषी का नवनीत (मक्खन) आदि पदार्थ लाया हुआ चतुर्थ प्रहर तक नहीं रखना चाहिए, किन्तु किसी विशेष-गाढ़ कारण के उपस्थित होने पर वह रखा भी जा सकता है। इनके अतिरिक्त अपवादोत्सर्ग रूप एक भेद और होता है। वैसे गौण भेद कई प्रकार के हो जाते हैं। जैसे—समास सूत्र, आख्यात सूत्र, तद्धित सूत्र और निरुक्त सूत्र इत्यादि।

अस्तु, किसी भी सूत्र का अध्ययन, उसके भेद और उपभेदों के ज्ञान सहित करना चाहिए। इन भेदों से ज्ञान से सूत्रार्थ समझने में सरलता आजाती है। सच्चे सदाचार के जिज्ञासु को सूत्र और अर्थ दोनों का भली भांति बोध करना चाहिए तभी वह अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। हम पहले भी लिख चुके हैं कि बिना उपयोग पूर्वक स्वाध्याय के कोई भी उस विषय में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। अतः सूत्र और अर्थ दोनों का ठीक २ ज्ञान कर स्वाध्याय करना ही विशेष फल प्राप्ति का साधन हो सकता है।

माङ्गलिक विचार

यदि किसी व्यक्ति के चित्त में यह जिज्ञासा उत्पन्न होजाय कि इस सूत्र के आदि में मङ्गलाचरण किया गया है कि नहीं। उसको सबसे पहले यह बात न भूलनी चाहिए कि सब शास्त्रों के मूल-प्रणेता श्री अर्हन् भगवान् ही हैं। उनके प्रणीत होने से वे सब मङ्गलरूप ही हैं। मङ्गलाचरण इष्टदेव की आराधना के लिए किया जाता है। जहां प्रणेता ही स्वयं इष्टदेव हैं, वहां अन्य मङ्गल की क्या आव-

श्यकता है। यह शंका उपस्थित हो सकती है कि ठीक है, मूल-प्रणेता श्री भगवान् ही हैं। किन्तु सूत्रों की रचना तो गणधरों ने की है, फिर उनको तो अवश्य ही मङ्गलाचरण से अपने इष्ट देव का स्मरण करना चाहिए था ? ठीक है, किन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गणधरों ने केवल श्री भगवान् के प्रतिपादित अर्थरूप आगम का ही सूत्ररूप में अनुवाद किया है। अतः उन्होंने भी यह आवश्यक नहीं समझा कि भगवान् के प्रतिपादित अर्थ को ही प्रगट करने के लिए किसी प्रकार से मंगल किया जाय।

अथवा यह शास्त्र अङ्ग और पूर्वों से उद्धृत किया हुआ है। अतः इसका प्रत्येक अक्षर मङ्गल-रूप है। ऐसी शङ्का फिर भी उपस्थित हो सकती है कि यदि गणधरों को स्वयं इसकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं तो उनको शिष्टजनोचिताचार और शिष्य-परम्परा की शिक्षा के लिए तो आदि, मध्य और अन्त में कुछ न कुछ मङ्गल अवश्य करना चाहिए था ? उनके समाधान के लिए हम कह सकते हैं कि विघ्न-शान्ति के लिए इस में तीनों मङ्गल विद्यमान हैं। जैसे 'सुयं मे आउसं' इत्यादि आदिवाक्य में श्री भगवान् के वचनों का अनुवाद रूप मङ्गल ही है और दूसरे में 'सुयं' शब्द से 'श्रुत' ज्ञान का ग्रहण किया गया है, अतः श्रुत-स्मरण भी मङ्गल रूप ही है। जिसको इस विषय में विशेष जिज्ञासा हो, उसको अपनी जिज्ञासा पूर्ति के लिए 'नन्दीसूत्र' का स्वाध्याय करना चाहिए।

मध्य-मङ्गल पर्युषणा कल्प अध्ययन है, क्योंकि इस अध्ययन में अर्हन् भगवान् के जीवन चरित्र का वर्णन है, जो सदैव मङ्गल-रूप ही है। अथवा अर्हन्त भगवन्तों की आज्ञा में चलने वाले साधु भी मङ्गल-रूप ही हैं, क्योंकि मङ्गल चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। जैसे—"चत्तारि मङ्गलं अरिहंता-मङ्गलं, सिद्धामङ्गलं, साहुमङ्गलं, केवलिपन्नत्तो धम्मो मङ्गलं"।

अन्तिम मङ्गल "तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे" इत्यादि वाक्य हैं। अतः व्यवहार पक्ष में इसमें तीनों मङ्गल विद्यमान हैं। इन तीनों मङ्गलों में से पहला मङ्गल विघ्न-शान्ति, मध्य मङ्गल चिर-सञ्चित पापों के क्षय के लिए और अन्तिम मङ्गल शिष्यों को शास्त्रार्थ में स्थिर करने के लिए होता है। किन्तु वास्तव में सब शास्त्र ही मङ्गल[1]-रूप हैं, क्योंकि इनकी सहायता से आत्मा

---

१ मङ्गलमिति कः शब्दार्थः। उच्यते 'अगिरगिलगिवगिमगीति' दण्डकधातुरस्ये-

संसार सागर को पार कर मङ्गल-रूप सिद्ध पद की प्राप्ति करता है। उस पद की प्राप्ति के लिए सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही साधन है, जिनका इस सूत्र में विवरण किया गया है अतः सम्पूर्ण सूत्र का स्वाध्याय ही मङ्गल है। इस-सूत्र के अनुवाद करने का ध्येय—पहले भी कहा जा चुका है कि इस सूत्र में धर्म के मुख्य अंग आचार का प्रतिपादन विशेष रूप से किया गया है और साथ ही यह सम्यग् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यग् दर्शन का भी बोधक है। अतः इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए। हमारे विचार में तो यह बात भली भांति आती है कि पर्युषणा के दिनों में कल्पसूत्र और अंतगडसूत्र के स्थान पर अथवा उनके साथ २ इस सूत्र का वाचन भी अवश्य होना चाहिए क्योंकि यह सूत्र साधु और गृहस्थों के लिए अतीव शिक्षा-प्रद है। प्रायः सब तरह का क्रिया-कलाप इसमें प्रतिपादन किया गया है, जिससे श्री सङ्घ को इसके अध्ययन और श्रवण से बहुत सा लाभ हो सकता है। तथा श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का जीवन-चरित्र भी इस सूत्र के आठवें अध्ययन में संक्षेप से वर्णन किया गया है। इसी लिए कल्पसूत्र के कर्ता ने यह लिखा है कि यह पाठ दशाश्रुतस्कन्ध-सूत्र के आठवें अध्ययन से उद्धृत किया गया है। अथवा योंही कहना चाहिए कि कल्पसूत्र इस सूत्र का आठवां अध्ययन मात्र है। साथ ही इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पर्युषणा कल्प के आठ दिन केवल मोदक आदि की प्रभावना के लिए ही नहीं होते, प्रत्युत उन दिनों में उच्च से उच्चतम शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जो इस सूत्र के स्वाध्याय और श्रवण से अच्छी तरह प्राप्त हो सकती है। इससे न केवल अपने आपको ही कोई संसार से पार करता है अपितु दूसरी आत्माओं के तारने में भी समर्थ हो जाता है।

अतः इतनी उच्च शिक्षाओं का भण्डार देखकर हमारे चित्त में यह विचार हुआ कि सर्व-साधारण के लिए इसका हिन्दी-भाषा में अनुवाद अवश्य होना चाहिए।

दितो नुम्धातोः' इति नुमि विहिते उणादि 'कालच्' प्रत्ययान्तस्यानुबन्धलोपे कृते प्रथमैकवचनान्तस्य मङ्गलमिति रूपं भवति। मग्यते हितमनेनेति मङ्गलम्। मग्यतेऽधिगम्यते साध्यते इति यावत् अथवा मंगेति धर्माभिधानं लादानेऽस्य धातोर्मङ्ग उपपदे 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति क-प्रत्ययान्तस्यानुबन्धलोपे कृते 'आतो लोप इटि च' इत्यनेन सूत्रेणाकारलोपे च प्रथमैक-वचनान्तस्य मङ्गलमिति मङ्गं लातीति मङ्गलं धर्मोत्पादनहेतुरित्यर्थः। मां गालयति भवात् इति मङ्गलं संसारादपनयतीत्यर्थः। इति वृत्तौ।

यद्यपि इसके गुजराती-मारवाड़ी भाषा में अनेक भाष्य-रूप लेख लिखे मिलते हैं और श्रीमान् मतिकीर्तिगणि विरचित संस्कृत टीका भी विद्यमान है। परन्तु अब दिन प्रति दिन हिन्दी की उन्नति देखने में आती है और प्रत्येक प्रान्त इसको अपना रहा है। अतः सब लोग इसका लाभ उठा सकें, इसी ध्येय से यह प्रयत्न किया गया है। जो व्यक्ति संस्कृतानुरागी हैं, उनके लिए मूल सूत्र के साथ ही संस्कृत छाया भी दे दी गई है, जिससे उनको प्राकृत शब्दों के जानने में कोई भ्रम उत्पन्न न हो।

टीका के नाम रखने का कारण

इस हिन्दी भाषा टीका का नाम 'गणपतिगुणप्रकाशिका' रखा गया है। इसका कारण यह है कि मेरे दीक्षाचार्य श्री श्री श्री १००८ स्वामी गणावच्छेदक स्थविरपद-विभूषित श्री गणपतिराय जी महाराज हैं, जिनका संक्षिप्त जीवन-चरित्र प्राक्कथन में दे दिया है। यह टीका उन्हीं के स्मरण के उपलक्ष में बनाई है। आप सौम्यमूर्ति, दीर्घदर्शी और श्रीसङ्घ के परम हितैषी थे। आपने सारा जीवन जिन-आज्ञापालन में ही व्यतीत किया। इस दास पर भी आपकी असीम कृपा थी। आपने ही धर्म के तत्त्वों से इस दास को परिचित कराया है। अतः आपके गुणों पर मुग्ध हो कर आपके असीम उपकारों का स्मरण करते हुए इस लघु दास ने आपके ही नाम से इस टीका का उक्त नाम रखा है। आनन्द का विषय है कि आपके नाम की महिमा से आज 'श्री गणपतिगुणप्रकाशिका' टीका निर्विघ्न समाप्त हो गई है।

टीका के आधार

इस टीका को लिखते समय मेरे पास एक संस्कृतटीका और दो गुजराती भाषा की हस्तलिखित अर्थ-सहित प्रतियां थीं। उन्हीं के आधार पर इस की रचना की गई है। यदि किसी अर्थ या पाठ में सतत प्रयत्न करते हुए भी कोई अशुद्धि रह गई हो तो विद्वान् जन 'समादधति सज्जनाः' इस सूक्ति का अनुसरण करते हुए स्वयं उसको शुद्ध कर और मुझ को उसकी सूचना दे कर चिरकाल के लिए आभारी बनावें।

गुरुचरणसेवी—

उपाध्याय जैनमुनि आत्माराम

श्रीः

दशाश्रुतस्कन्धसूत्रम्

संस्कृतच्छाया, पदार्थान्वय, मूलार्थोपेतं

गणपतिगुणप्रकाशिकाहिन्दीभाषाटीकासहितं च

णमोऽत्थु णं समणस्स भगवतो महावीरस्स

प्रथमा दशा ।

सुयं मे, आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं ।

श्रुतं मया, आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम् ।

पदार्थान्वयः—**आउसं**–हे आयुष्मन् शिष्य !, **मे**–मैंने, **सुयं**–सुना है, **तेणं**–उस, **भगवया**–भगवान् ने, **एवं**–इस प्रकार, **अक्खायं**–प्रतिपादन किया है ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् शिष्य ! मैंने सुना है, उस भगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है (कहा है) ।

टीका—इस सूत्र में तीन [आप्त-वाक्य[1], कोमल-आमन्त्रण (सम्बोधन) और अपौरुषेय-वाक्य[2]] विषयों का स्पष्ट वर्णन किया गया है । आप्त वाक्यों का समुदाय 'शास्त्र' कहलाता है । वह (शास्त्र) पौरुषेय[3] है, अपौरुषेय नहीं । कोमल आमन्त्रण चित्त-प्रसादक माना गया है, इसलिए श्रीसुधर्म्माचार्य श्रीजम्बूस्वामी को 'आउसं' इस कोमल-आमन्त्रण से सम्बोधित कर कहते हैं:—

"हे जम्बू ! (मेरे चिरजीवी शिष्य !) मैंने सुना है उस (सर्वज्ञ) भगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है ।"

इस सूत्र में "श्रुतं मया—मैंने सुना है" वाक्य से यह सिद्ध होता है कि शब्द अपौरुषेय नहीं प्रत्युत पौरुषेय ही है ।

---

१ यथार्थवक्ता पुरुषों के वचन । २ ईश्वर-रचित । ३ पुरुष-रचित ।

इसके अतिरिक्त इस सूत्र में गुरुभक्ति का भी दिग्दर्शन कराया गया है । क्योंकि नियमपूर्वक गुरुकुल में रहने वाला जिज्ञासु ही वास्तव में सुन सकता है (सुनकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है)। अतः सिद्ध हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति को यही उचित है कि वह 'आभिनिबोधिक ज्ञान', 'श्रुतज्ञान', 'अवधिज्ञान', 'मनःपर्यवज्ञान' तथा चतुर्दश पूर्व का ज्ञान होने पर भी गुरु-भक्ति न छोड़े । जैसे श्री सुधर्म्माचार्य ने श्री भगवान् की भक्ति से ज्ञान प्राप्त कर निरभिमान-भाव से सूत्र के प्रारम्भ में ही "श्रुतं मया" वाक्य द्वारा गुरु-भक्ति और स्वविनय का परिचय दिया । फलतः यह वाक्य शब्द की अपौरुषेयता तथा शास्त्र की आप्त-प्रणीतता का साधक है ।[1]

"श्रुतं मया" वाक्य इस बात को भी प्रमाणित करता है कि 'द्रव्यश्रुत'[2] 'भावनिक्षेप' के अधीन होने के कारण अनुपयोगी और 'भावश्रुत'[3] उपयोगी है; क्योंकि भावश्रुत श्रोत्रेन्द्रिय का उपयोग, लक्षणयुक्त होने से सुना हुआ पदार्थ ही निश्चयात्मक माना जाता है ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किसके मुख से सुना हुआ पदार्थ निश्चयात्मक हो सकता है ? समाधान यह है कि सुना हुआ आप्त-वाक्य ही निश्चयात्मक होता है । जब आप्त-वाक्य ही निश्चयात्मक होता है तो यह शङ्का स्वभावतः उत्पन्न होती है कि आप्त किसे कहते हैं ? उत्तर यह है कि जिस व्यक्ति की आत्मा राग द्वेषादि से रहित है, जिसके ज्ञानावरणीय,[4] दर्शनावरणीय,[5] मोहनीय[6] और अन्तराय,[7] कर्म नष्ट हो चुके हों तथा जिसकी आत्मा में अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व और अनन्त-शक्ति उत्पन्न हो गई हो—सारांश यह है कि जिसकी आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है—उसी को आप्त कहते हैं ।

उनके मुख से निकले हुए वाक्यों को आप्त-वाक्य कहते हैं । उन वाक्यों को ही गणधरों[8] ने सूत्र रूप में निर्माण किया है । इसलिए इन सूत्रों को आप्त-प्रणीत (रचित) कहते हैं । दशपूर्वधारी[9] से लेकर चतुर्दशपूर्वधारी तक के उपयोगपूर्वक

१ यथार्थ वक्ताओं का बनाया हुआ है न कि ईश्वर का। २ पुस्तकादि पर लिखा हुआ या बिना उपयोग (अर्थादि ज्ञान) के पठन किया हुआ। ३ उपयोगपूर्वक पठन किया हुआ। ४ ज्ञान को आच्छादन करने वाले। ५ आत्मदर्शन को आच्छादन करने वाले। ६ सांसारिक पदार्थों में लुभाने वाले। ७ आत्मोन्नति के बाधक। ८ तीर्थङ्कर का मुख्य शिष्य। ९ जिन्होंने दश पूर्व की विद्या अध्ययन की है।

कहे हुए वाक्य भी आप्त-वाक्य हैं; क्योंकि गणधरों की सूत्ररचना को भी भगवान ने संशययुक्त नहीं बताया; अपितु आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम यह तीन प्रकार का लोकोत्तर आगमं भी प्रतिपादन किया है । श्री भगवान के अर्थ आत्मागम, गणधरों के अर्थ अनन्तरागम और सूत्र आत्मागम होते हैं, किन्तु गणधरों के शिष्यों के सूत्र अनन्तरागम और अर्थ परम्परागम होते हैं । तत्पश्चात् सूत्र तथा अर्थ दोनों परम्परागम होते हैं । उपरोक्त सारे विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि सूत्र और अर्थ दोनों आप्त-वाक्य हैं और आप्त-वाक्य ही पदार्थों के निर्णय में सामर्थ्य रखते हैं ।

यहां पर प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि अमुक व्यक्ति सर्वज्ञ था या सर्वज्ञ है इस में क्या प्रमाण है ? उत्तर यह है कि किसी व्यक्ति की सर्वज्ञता का निश्चय उसके प्रतिपादन किये हुए वाक्यों से हो सकता है । यदि किसी के कथन में परस्पर विरोध न हो तो जान लेना चाहिए कि वह सर्वज्ञ है । और यदि किसी के कथन में हमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है तो निःसन्देह मानना पड़ता है कि उसका प्रतिपादन करने वाला कोई रागी, द्वेषी और अल्पज्ञ है । इसी प्रकार जब कहीं पर पदार्थों का यथार्थ-स्वरूप-वर्णन नहीं मिलता तो निश्चततया मानना पड़ता है कि उसका प्रतिपादक कोई अयथार्थज्ञ साधारण व्यक्ति है ।

इसके अतिरिक्त अनुमान प्रमाण से भी हम किसी की सर्वज्ञता का ज्ञान कर सकते हैं । जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमत्वात्' इस अनुमान में किसी व्यक्ति ने कहा 'पर्वतो वह्निमान्' (पर्वत में अग्नि है) । दूसरे ने पूछा 'कस्मात्' (तुमने क्यों कर जाना ?) । पहिले ने उत्तर दिया 'धूमत्वात्' (क्योंकि वहां धूम है) । जब कोई व्यक्ति धूम देखकर पक्ष (पर्वत) में अग्नि सिद्ध करता है तो निश्चित है कि उसने अनुमान प्रमाण से ही उसकी सिद्धि की । जो अग्नि के पास बैठे हैं उनको तो अग्नि प्रत्यक्ष ही है । इसी प्रकार सर्वज्ञ के विषय में भी जानना चाहिए । जैसे—जो पदार्थ 'मतिज्ञान', 'श्रुतज्ञान', 'अवधिज्ञान' और 'मनःपर्यवज्ञान' के विषय में न आसके तो यह अवश्य मानना पड़ेगा कि इसके अतिरिक्त भी कोई विशिष्ट-ज्ञान है, जो उक्त पदार्थ को प्रत्यक्ष करता है । उस ज्ञान को जानने वाला ही सर्वज्ञ या

---

१ स्वतःप्रमाण । २ अनन्तर (पश्चात्) आगम (प्रमाण), आत्मागम का अनुयायी द्वितीयागम । ३ परम्परा से प्रमाण । ४ प्रमाण ।

सर्वदर्शी कहलाता है । जिस प्रकार हमने देश-विप्रकृष्ट (दूर) का ज्ञान अनुमान प्रमाण से किया, ठीक उसी प्रकार काल-विप्रकृष्ट के विषय में भी जानना चाहिए । जैसे रामचन्द्रादिक यदि हम से विप्रकृष्ट (दूर, भूतकाल में) हैं, तो अपने सम-कालीनों में वह प्रत्यक्ष भी थे। इसी प्रकार सर्वज्ञों के विषय में भी जानना चाहिये।

ऊपर की हुई विवेचना से सर्वज्ञ-सिद्धि भली भाँति होगई । सर्वज्ञों के रचित वाक्यों को ही आप्त-वाक्य या शास्त्र कहते हैं ।

सूत्र में 'आयुष्मन् शिष्य !' यह आमन्त्रण सिद्ध करता है कि सब कार्यों में जीवन ही प्रधान है । केवल दीर्घजीवी व्यक्ति ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है । तथा 'हे आयुष्मन् शिष्य !' यह आमन्त्रण कोमल होने के कारण शिष्य के हृदय में प्रसन्नता उत्पन्न करता है । आयु सब को प्रिय है । लोक में भी आयुवृद्धि का ही आशीर्वाद देने की प्रथा प्रचलित है । इससे यह सिद्ध हुआ कि सूत्र में 'आयुष्मन्' आमन्त्रण अत्युत्तम तथा युक्तिसंगत है ।

जब जीवन सबको प्रिय है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जीवन कितने प्रकार का होता है। उत्तर में कहा जाता है कि जीवन—नाम, स्थापना, द्रव्य, ओघ, भव, तद्भव, भोग, संयम, यश और कीर्ति—भेदों से दश प्रकार का होता है । जैसे—

१ **नाम-जीवन**—सजीव या निर्जीव पदार्थों का जीवन–नाम रखना ।

२ **स्थापना-जीवन**—उन पदार्थों की स्वरूपस्थापना ।

३ **द्रव्य-जीवन**—जीवितव्य (जीने की योग्यता) का कारण 'द्रव्य-जीवन' कहलाता है ।

४ **ओघ-जीवन**—नारकी आदि का अविशेष (सामान्य) आयुरूप, द्रव्य-मात्र सामान्य जीवन 'ओघ-जीवन' होता है ।

५ **भव-जीवन**—नारकादि भव विशिष्ट रूप ।

६ **तद्भव**—जैसे मनुष्यादि का मृत्यु के अनन्तर मनुष्यादि का ही जीवन होना । समान-जाति होने से इसको तद्भव जीवन कहते हैं ।

७ **भोग-जीवन**—चक्रवर्ती आदि महापुरुषों का जीवन 'भोग-जीवन' होता है ।

८ संयम-जीवन—साधु महापुरुषों का जीवन ।

९ यशो-जीवन—यशरूप जीवन ।

१० कीर्ति-जीवन—कीर्तिरूप जीवन । जैसे श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का ।

इन सब दश प्रकार के जीवनों की सत्ता आयुरूप जीवन के आश्रित है । प्रस्तुत प्रकरण में 'संयम-आयु' और यश 'कीर्तिरूप' आयु से ही शास्त्रकार का तात्पर्य है, किन्तु वह भी आयु कर्म के ही आश्रित हैं । इस कथन से यह शिक्षा भी लेनी चाहिए कि इस प्रकार के कोमल आमन्त्रणों से ही शिष्य को बुलावे, क्योंकि शुभ आमन्त्रण चित्त को प्रसन्न कर देता है । साथ ही आयु के सर्वप्रिय होने से सुनने वाले की आत्मा को इस (आशीर्वादात्मक) आमन्त्रण से शान्ति लाभ होता है । इसके अतिरिक्त यह बात भी सिद्ध होती है कि शुभगुणयुक्त पात्र को ही दिया हुआ शास्त्रोपदेश (विद्यादान) पूर्णतया सफल हो सकता है । जैसे क्षेत्र में ही वृष्टि लाभ-दायक हो सकती है न कि पत्थरों पर । तथा आयुष्मन् कहने से दीर्घजीविता का भी स्पष्ट भास होता है; क्योंकि दीर्घजीवन ही मनोरथों को सफल बना सकता है ।

सूत्र में दिये हुए "तेणं (तेन)" पद का तात्पर्य यह है:—जिस आत्मा की अनादि काल से सम्बन्ध रखने वाली मिथ्यात्वरूपी वासना नष्ट होगई है, जिस को केवल ज्ञान और केवल दर्शन उत्पन्न होगया है और जिसके पुण्य प्रताप से तीर्थङ्कर गोत्र पद का उदय हो रहा है, जिससे उसकी आप्तता जगत्प्रसिद्ध हो रही है—उस श्रमण भगवान् महावीर ने 'इस प्रकार प्रतिपादन किया है' ।

सूत्र में "भगवता" शब्द का अष्टमहाप्रातिहार्य रूप सम्पूर्ण ऐश्वर्यादि युक्त भगवान् से तात्पर्य है । उन्होंने ही तत्त्वों का स्वरूप स-विधि तथा वस्तु-विस्तार-पूर्वक 'ख्यान' वर्णन किया है ।

"श्रुतं मया" का तात्पर्य यह भी है कि मैंने अर्थ-रूप में ही भगवान् के मुख से सुना न कि सूत्र-रूप में, अतः सूत्र, अर्थ का अनुवाद रूप होने से प्रामाणिक हैं ।

'श्रुतं मया भगवता एवमाख्यातम्' यह वाक्य-द्वय इस बात को पूर्णतया परिपुष्ट करता है कि शब्द अपौरुषेय हो ही नहीं सकता; क्योंकि वाक्योत्पत्ति (शब्दोत्पत्ति) कण्ठादि स्थानाश्रित है और स्थान शरीराश्रित । ईश्वर अशरीरी है,

अतः शब्द के अपौरुषेय होने की कल्पना ही असम्भव है । सारांश यह निकला कि शास्त्र अपौरुषेय नहीं हैं किन्तु सर्वज्ञ-रचित होने से सर्वथा मान्य और प्रमाण हैं ।

इस स्थान पर शङ्का हो सकती है कि सर्वसाधारण पुरुषों के वाक्यों की तरह शास्त्रादि-वाक्य भी सर्वथा अप्रमाण हैं, क्योंकि पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता इसलिए उनके रचित शास्त्रादि वाक्य भी प्रमाण नहीं हो सकते । इसका समाधान यह है कि आत्मा सर्वज्ञ हो सकती है, यह पहले ही सिद्ध किया जा चुका है । अतः सर्वज्ञ के कथन किये हुए शास्त्र सर्वथा प्रमाण हैं ।

अपौरुषेय वाक्य असम्भव होने से अप्रामाणिक माने जाते हैं, इसलिए यह स्पष्ट कर दिया कि 'भगवान् के मुख से सुना' ।

क्योंकि भक्तिपूर्वक ग्रहण किया हुआ ज्ञान ही पूर्णरूप से सफल हो सकता है, इसलिए भक्ति के वशीभूत होकर सम्पूर्ण विशेषणों से युक्त भगवान् का ही 'सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं' सूत्र में वर्णन किया गया है । जैसे 'आउसं तेणं' यह भगवान् का विशेषण है—"आयुष्मता चिरजीविना" इत्यर्थः । चिरजीवी भगवान् ने ऐसा कहा है । इससे यह सिद्ध होता है कि निरायु (सिद्ध परमात्मा) मुक्तात्मा शरीराभाव से कुछ नहीं कह सकता ।

"आउसं तेणं" "श्रुतं मया" यदि ऐसा पाठ पढ़ा जाय, तो मैंने मर्यादापूर्वक गुरुकुल में रहकर यह सुना है—यह अर्थ होता है ।

फलतः यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक जिज्ञासु को नियमपूर्वक गुरुकुल में रहकर तथा गुरुभक्ति करते हुए ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । तभी उसका ज्ञान सफल हो सकता है ।

यदि "आउसं तेणं" के स्थान पर "आमुसं तेणं" पढ़ा जाय तो 'आमृशता भगवत्पादारविन्दं भक्तितः करतलयुगलादिना स्पृशता' अर्थात् भगवान् के चरण-कमलों को भक्ति-पूर्वक स्पर्शकर—यह व्याख्या भी हो सकती है । इस परिवर्तन से यह शिक्षा मिलती है कि सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने पर भी गुरु के प्रति श्रद्धा और भक्ति कभी न छोड़नी चाहिए ।

यदि "आउसं तेणं" का "आजुषमाणेन" यह संस्कृतानुवाद कर—'गुरुओं की सेवा में रहकर मर्यादा और विधिपूर्वक सुनने से'—यह अर्थ किया जाय तो यह

बात सिद्ध होती है कि उचित देश में रह कर गुरु से ही (शास्त्र) सुनना चाहिए और शास्त्राध्ययन के समय कदापि आलस्य तथा निद्रादि के वशीभूत नहीं होना चाहिए।

यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि 'मे' 'अस्मत्-शब्द' की षष्ठी व चतुर्थी का एकवचन होने से तृतीयान्त अर्थ कैसे बता सकता है। उत्तर यह है कि यहां 'मे' चतुर्थी व षष्ठी का एकवचन नहीं किन्तु विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय है और यहाँ पर 'अस्मत्-शब्द' की तृतीया के एकवचन का अर्थ निर्देश करता है।

उपरोक्त रीति से प्रत्येक सूत्र-पद व वाक्य में अपनी बुद्धि के अनुसार (पदार्थ व वाक्यार्थ का) विचार करना चाहिए। इस सूत्र में तो 'आप्त-वाक्य' 'कोमल-आमन्त्रण' और 'अपौरुषेय-वाक्य' तीनों विषयों का भली प्रकार वर्णन किया गया है।

यह बात तो निर्विवाद सिद्ध है कि जब तक कोई श्रद्धा व विनय से शास्त्राध्ययन नहीं करता तब तक वह कदापि अलौकिक आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता, न उसे आत्म-ज्ञान ही हो सकता है। इसलिए प्रत्येक जिज्ञासु को शास्त्राध्ययन श्रद्धा तथा विनय से ही करना चाहिये, जिससे अध्येता शीघ्र अभीष्ट-सिद्धि कर सके। साथ ही साथ श्रुताध्ययन के योग्य तप भी करते जाना चाहिये, जिससे अध्ययन काल में ही आत्म-समाधि की भी भली भाँति प्राप्ति हो सके। श्री भगवान् के मुख से जो कुछ सुना उसी का अब सुचारु रूप से वर्णन करते हैं:—

इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहि-ठाणा पण्णत्ता, कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहि-ठाणा पण्णत्ता, इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहि-ठाणा पण्णत्ता। तं जहा—

इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्विंशतिरसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिर्विंशतिरसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ? इमानि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिर्विंशतिरसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा—

पदार्थान्वयः—इह–इस लोक में, खलु–वाक्यालङ्कार अर्थ में अव्यय है, **थेरेहिं**–स्थविर, **भगवंतेहिं**–भगवन्तों ने, **वीसं**–बीस, **असमाहि**–असमाधि के, **ठाणा**–स्थान, **पण्णत्ता**–प्रतिपादन किये हैं । शिष्य प्रश्न करता है—**कयरे**–कौन से, **खलु**–निश्चय से, **ते**–वे, **थेरेहिं**–स्थविर, **भगवंतेहिं**–भगवन्तों ने, **वीसं**–बीस, **असमाहि**–असमाधि के, **ठाणा**–स्थान, **पण्णत्ता**–प्रतिपादन किये हैं । गुरु उत्तर देते हैं—**इमे**–ये, **खलु**–निश्चय से, **ते**–वे, **थेरेहिं**–स्थविर, **भगवंतेहिं**–भगवन्तों ने, **वीसं**–बीस, **असमाहि**–असमाधि के, **ठाणा**–स्थान, **पण्णत्ता**–प्रतिपादन किए हैं, **तं जहा**–जैसेः—

मूलार्थ—इस लोक में स्थविर भगवन्तों ने बीस असमाधि के स्थान प्रतिपादन किये हैं । शिष्य ने प्रश्न किया—कौन से वे स्थविर भगवन्तों ने बीस असमाधि के स्थान प्रतिपादन किये हैं ? गुरु ने उत्तर में कहा कि—ये स्थविर भगवन्तों ने बीस असमाधि के स्थान प्रतिपादन किये हैं । जैसे :—

टीका—इस सूत्र में पहली बात यह दिखाई गई है कि पहली 'दशा' में किस विषय का वर्णन किया गया है, दूसरी यह कि उस विषय को किस प्रकार स्फुट करना चाहिए । सर्व प्रथम गुरु ने इस बात का वर्णन किया है कि इस लोक व जैन-शासन में स्थविर भगवन्तों ने बीस असमाधि के स्थान प्रतिपादन किये हैं । शिष्य ने प्रश्न किया कि कौन से बीस असमाधि के स्थान स्थविर भगवन्तों ने प्रतिपादन किये हैं ? गुरु ने उत्तर दिया कि आगे उन्हीं का वर्णन किया गया है ।

यह प्रतिपादन-शैली जिज्ञासुओं के बोध के लिये अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि इस प्रकार की रोचक शैली से प्रत्येक जिज्ञासु को शीघ्र ही विषय का बोध हो जाता है ।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'समाधि' और 'असमाधि' के क्या लक्षण हैं ? उत्तर में कहा जाता है—'समाधानं समाधिश्चेतसः स्वास्थ्यं मोक्षमार्गेऽवस्थानमित्यर्थः' । चित्त का स्वास्थ्य-भाव और मोक्ष मार्ग की ओर लगना ही समाधि कहलाता है; अर्थात् जिस कार्य के करने से चित्त को शान्ति-लाभ हो तथा वह मोक्ष की ओर लग उस (मोक्ष) की प्राप्ति कर सके उसको समाधि कहते हैं । जो इसके विपरीत हो उसका नाम 'असमाधि' है । जिन कारणों से 'असमाधि' उत्पन्न होती है उनको 'असमाधि-स्थान' कहते हैं ।

अब यह प्रश्न होता है कि असमाधि के मुख्य भेद कितने और कौन २

हैं ? उत्तर यह है कि यद्यपि 'असमाधि' के अनेक भेद हैं तथापि प्रधान भेद दो ही माने गये हैं—१–'द्रव्य-असमाधि' और २–'भाव-असमाधि' ।

१—'द्रव्य-असमाधि' उसे कहते हैं जो पदार्थों के सम-भाव से सम्मिलित होने में बाधक होकर 'समाधि' उत्पन्न नहीं होने देती । जैसे शाक में लवण, दूध में शक्कर अधिक व न्यून होने से खाने वाले को रुचिकर नहीं होते, इसी प्रकार पदार्थों का सम व उचित प्रमाण से एकत्रित न होना असमाधि का कारण है ।

२—'भाव-असमाधि' का सम्बन्ध आत्मा के भावों पर ही निर्भर है ।

प्रस्तुत दशा में केवल भाव-असमाधि का ही निरूपण किया गया है । यद्यपि कभी कभी 'द्रव्य-असमाधि' भी 'भाव-असमाधि' उत्पन्न करने का कारण बन जाती है तथापि प्रस्तुत दशा में केवल 'भाव-असमाधि' का ही वर्णन किया गया है । 'द्रव्य-असमाधि' 'भाव-असमाधि' का गौण कारण होते हुए भी 'भाव-असमाधि' ही मुख्य है जो जनता के हृदय पर सुगमतया अंकित होजाती है ।

प्रश्न यह है कि क्या असमाधि के बीस ही स्थान हैं ? इससे न्यूनाधिक नहीं हो सकते ? समाधान में कहा जाता है कि बीस से अधिक स्थान भी हो सकते हैं, किन्तु यहां पर 'नयों' के अनुसार ही असमाधि के बीस स्थान कहे हैं । इनके अतिरिक्त अन्य सब भेद इन्हीं के अन्तर्गत हो जाते हैं । जिस स्थान का यहां वर्णन किया गया है उसके सदृश अन्य स्थान भी उसी में आजाते हैं। जैसे 'शीघ्र-गमन' क्रिया असमाधि का एक कारण है, तत्सदृश 'शीघ्र-भाषण' 'शीघ्र-भोजन' आदि सब 'शीघ्र-क्रियाएं' उसी के अन्तर्गत हो जाती हैं । जितने भी असंयम के स्थान हैं वे सब असमाधि के कारण कहे गये हैं । इसी प्रकार इन्द्रिय विषय, कषाय, निद्रा, विकत्था (आत्माभिमान) आदि भी 'भाव-असमाधि' के कारण हैं । किन्तु इन सब का अन्तर्भाव उक्त स्थानों में ही हो जाता है । इसी तरह शबल-दोष तथा आशातनाएं आदि सब असमाधि के कारण हैं । किन्तु उनका प्राधान्य सिद्ध करने के लिए इन कारणों का दूसरी 'दशाओं' में वर्णन किया गया है ।

जब भगवान् ने ही अपने सिद्धान्तों में बीस असमाधि के स्थान कह दिये थे तो ऐसा क्यों कहा कि स्थविर भगवन्तों ने यह बीस भेद असमाधि के प्रतिपादन

किये हैं ? इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि स्थविर भगवान् प्रायः 'श्रुत-केवली' होते हैं; उनका 'स्वसदृशवक्तृत्व' सिद्ध करने के लिए इस प्रकार वर्णन किया गया है। तत्त्व-वेत्ता (तत्त्व जानने वाले) स्थविर सूत्र-रचना करने में स्वयं भी समर्थ हैं, इस बात की सिद्धि के लिए तथा उनके यथार्थ कथन की स्व-कथन के साथ समता दिखाने के लिये इस प्रकार कहा गया है। सारांश यह निकला कि 'श्रुत-केवली' भी केवली भगवान के समान कथन करने की योग्यता रखता है; इस लिए उक्त कथन युक्ति-संगत सिद्ध होता है।

इस सूत्र में यह तो स्पष्ट कर ही दिया है कि 'भाव-असमाधि' के अनेक कारण होने पर भी मुख्य वीस ही कारण हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सब कारण इन्हीं के अन्तर्गत हो जाते हैं।

'इह खलु' इत्यादि सूत्र की वृत्ति में वृत्तिकार स्वयं लिखते हैं :—

"इह अस्मिन् लोके निर्ग्रन्थ-प्रवचने वा, खलु वाक्यालङ्कारे अवधारणे वा, तथा च इहैव न शाक्यादिप्रवचनेषु, अथवा खलुशब्दो विशेषणे च, स च अतीतानागतानां स्थविराणामेव प्रज्ञापनायेति।"

अर्थात्—'इह' का अर्थ हुआ इस लोक में अथवा निर्ग्रन्थप्रवचन में। 'खलु' यहां वाक्यालङ्कार व अवधारण (निश्चय) के लिए दिया गया है। अथवा खलु शब्द से तीन काल के स्थविर भगवान् इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं यह अर्थ जानना चाहिए।

"ठाणा" "ठाणाणि" (स्थानानि) शब्द नपुंसक-लिङ्ग होते हुए भी प्राकृत होने से दोषाधायक नहीं है।

अब सूत्रकार असमाधि के वीस भेदों का विस्तारपूर्वक नामाख्यान करते हैं:—

दव-दव-चारि यावि भवइ ॥ १ ॥ अपमज्जिय-चारि यावि भवइ ॥ २ ॥ दुपमज्जिय-चारि आवि भवइ ॥ ३ ॥

द्रुत-द्रुत-चारी चापि भवति ॥ १ ॥ अप्रमार्जित-चारी चापि भवति ॥ २ ॥ दुष्प्रमार्जित-चारी चापि भवति ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**दव-दव-चारि**–अति शीघ्र चलने वाला जो, **भवइ**–होता है, **य**–'च' शब्द से अन्य क्रियाओं के विषय में भी जानना चाहिए, **अवि**–'अपि' शब्द से उत्तर असमाधि की अपेक्षा समुच्चय अर्थ जानना चाहिए । पुनः जो, **अपमज्जिय-चारि भवइ**–अप्रमार्जितचारी है । 'च' और 'अपि' शब्द पूर्ववत् जानने चाहिएँ । **दुपमज्जिय-चारि भवइ**–जो दुष्प्रमार्जितचारी है, 'च' शब्द से अन्य क्रियाओं के विषय में भी जानना चाहिए । और 'अपि' शब्द से उत्तरोत्तर असमाधियों का भी बोध होता है ।

मूलार्थ—शीघ्र शीघ्र गमन करना ॥ १ ॥ अप्रमार्जित स्थान पर गमन करना ॥ २ ॥ दुष्प्रमार्जित होकर गमन करना ॥ ३ ॥

टीका—इस सूत्र में 'ईर्या-समिति' से सम्बन्ध रखने वाली तीनों असमाधियों का वर्णन किया गया है । जैसे—शीघ्र गमनादि 'शीघ्र-क्रियाओं' से 'आत्म-विराधना' और 'संयम-विराधना' की सम्भावना हो सकती है । उदाहरणार्थ–यदि कोई व्यक्ति असावधानता से शीघ्र-गमन कर रहा हो (क्योंकि शीघ्रता में असावधानता अवश्य होती है) तो बहुत सम्भव है कि वह गर्तादि (गढ़े आदि) में गिर पड़े और उससे उसकी 'आत्म-विराधना' हो । दूसरे में, शीघ्र गमन करने से अवश्य ही उससे कीटादि जीवों की हिंसा होगी; इस से 'संयम-विराधना' होती है; जिसका परिणाम दोनों लोकों में असमाधि उत्पन्न करने वाला होता है ।

यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि शारीरिक दशा ठीक न होने पर 'आत्म-समाधि' नहीं हो सकती; अतः आत्म-रक्षा से ही संयम-रक्षा हो सकती है । किन्तु शीघ्र-गमन-क्रिया-जनित अन्य जीवों की हिंसा का परिणाम ऐह-लौकिक (इस लोक की) और पार-लौकिक (पर-लोक की) असमाधि का कारण होगा; क्योंकि किसी बलयुक्त प्राणी को चोट आगई तो वह जाने वाले व्यक्ति को उसी समय स्वेच्छानुसार शिक्षा देगा । दूसरे, उस हिंसा का परिणाम परलोक में दुःख-प्रद अवश्य होगा; अतः शीघ्र गमन क्रिया दोनों लोकों में अशुभ फल देने वाली है यह बात निःसन्देह सिद्ध होती है ।

शीघ्र-गमन-क्रिया की तरह अन्य उसके समान शीघ्र-भाषण, शीघ्र-भोजन, शीघ्र-अवलोकन, शीघ्र (पादादि) प्रसारण (फैलाना) व संकोचन (सिकोड़ना) और शीघ्र-पठनादि क्रियाओं का परिणाम भी दोनों लोकों में अहितकर होता है ।

सूत्र में पठित "च" और "अपि" शब्द "द्रुतं-द्रुतं-चारी" क्रिया-सदृश अन्य क्रियाओं के भी बोधक हैं।

शीघ्रगमन के जिस प्रकार अनेक अशुभ फल वर्णन किये गए हैं, उसी प्रकार अप्रमार्जित स्थान में गमन करने से भी अनेक दोषों की प्राप्ति होती है। जैसे–अप्रमार्जित स्थान में अनेक जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। उस स्थान में (बिना प्रमार्जन के) चलने से 'आत्म-विराधना' और 'संयम-विराधना' की सम्भावना है। क्योंकि उस स्थान में उत्पन्न हुए बिच्छु आदि जन्तु पादादि के स्पर्श-होने पर शान्त तो रह नहीं सकते, अतः 'आत्म–विराधना' और 'संयम-विराधना' के कारण बन जाते हैं और उसका परिणाम दोनों लोंको में अहित-कर होता है।

"अपि" से रजोहरणादि से अप्रमार्जित शय्या संस्तारक आदि यावन्मात्र उपकरणों का ग्रहण करना भी 'आत्म-विराधना' तथा 'संयम-विराधना' का मुख्य कारण है। अप्रमार्जित स्थान में बैठना, शयन करना, और उच्चारादि (मल) की परिष्ठापना आदि क्रियाएं सुख-प्रद नहीं होती हैं प्रत्युत असमाधि का कारण बन जाती हैं।

इसी प्रकार दुष्प्रमार्जित के विषय में भी जानना चाहिये। स्थान के भली प्रकार प्रमार्जित न होने पर भी उक्त दोषों की प्राप्ति हो सकती है। इसीलिए सोते हुए भी पार्श्व-परिवर्तन के समय शय्या रजोहरण से प्रमार्जित कर लेनी चाहिए।

गमन क्रिया करते समय भी सुप्रमार्जित स्थान ही 'समाधि-स्थान' होता है। तद्-विपरीत (अप्रमार्जित व दुष्प्रमार्जित स्थान में गमन) 'आत्म-विराधना' व 'संयम-विराधना' के हो जाने से असमाधि-स्थान होगा।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि अन्य सब समितियों को छोड़ कर सब से पहले 'ईर्या-समिति' का ही ग्रहण क्यों किया? उत्तर यह है कि गमन क्रिया ही सर्व-प्रथम है। इस क्रिया की समाधि होजाने से शेष सब समितियों की समाधि सहज ही में हो सकती हैं। तथा उपयोग पूर्वक गमन-क्रिया तभी हो सकती है जब कर्ता सब जीवों को आत्म-सम देखे और जाने।

इस से सिद्ध हुआ कि समभाव ही समाधि का मुख्य प्रयोजन है। अतः असमाधि को दूर कर समाधि का ही आश्रय लेना चाहिए।

अब सूत्रकार चतुर्थी असमाधि का विषय वर्णन करते हैं:—

अतिरित्त-सज्जासणिए ॥ ४ ॥

अतिरिक्त-शय्यासनिकः ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**अतिरित्त**—अधिक, **सज्जा**—वसति-उपाश्रय और, **आसणिए**-आसन पट्टकादि रखने ।

मूलार्थ—प्रमाण से अधिक उपाश्रय का पट्टकादि आसन रखना असमाधि का कारण है ।

टीका—इस सूत्र में यह बात स्पष्ट की गई है कि आवश्यकता से अधिक शय्या व पट्टकादि न रखने चाहियें; क्योंकि प्रमाण-युक्त वस्तुओं की ही रक्षा और शुद्धि विधि-पूर्वक हो सकती है, उस से अधिक की नहीं । जिन वस्तुओं की यथोचित रीति से प्रमार्जना व रक्षा नहीं हो सकती, उन में अनेक प्रकार के जीव उत्पन्न हो जाते हैं । जब आसनादि उपकरणों में कीटादि जन्तु उत्पन्न हो जायेंगे, तो 'आत्म-विराधना' और संयम विराधना के कारण सहज में ही उत्पन्न हो जाएंगे और उनका परिणाम उभय लोक में अहित-कर होगा । इतना ही नहीं किन्तु असमाधि द्वारा संसार-चक्र में परिभ्रमण करना पड़ेगा ।

इस सूत्र से प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा लेनी चाहिए कि प्रमाण पूर्वक वस्तु-सेवन असमाधि का कारण नहीं होता । जैसे प्रमाणपूर्वक भोजन किया हुआ रोग का कारण नहीं होता ।

सूत्र में पठित 'शय्या' शब्द से वसति-सामान्य और 'आसन' शब्द से सब प्रकार के आसनों का ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि उक्त पदार्थ अधिक मात्रा में रखने से अवश्य ही 'आत्म-विराधना' और 'संयम-विराधना' के कारण बन असमाधि उत्पन्न करेंगे । अतः निष्कर्ष यह निकला कि प्रमाण से अधिक वस्तुओं का उपयोग कदापि न करना चाहिए ।

इस प्रकार 'आदान-मात्र-भाण्डोपकरण-समिति' का वर्णन कर सूत्रकार अब 'भाषा-समिति' का विषय वर्णन करते हैं—

रातिणिअ-परिभासी ॥ ५ ॥

रात्निक-परिभाषी ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—रातिणिअ–रत्नाकर के प्रति, परिभासी–परिभाषण करना ।

मूलार्थ—गुरु-आदि वृद्धों के सामने भाषण करना ।

टीका—इस सूत्र में यह दिखाया गया है कि वृद्धों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए । जो व्यक्ति वृद्धों से सभ्यता का व्यवहार करता है, उसको समाधि-स्थान की प्राप्ति होती रहती है । इसके विपरीत रात्निक—आचार्य, उपाध्याय, अन्य स्थविर तथा श्रुत-पर्याय और दीक्षादि में वृद्ध साधुओं—का तिरस्कार करने वाला, उनसे शिक्षा प्राप्त कर उनका ही पराभव करने वाला, उनके लिए अपमान-सूचक शब्द प्रयोग करने वाला, उनकी जाति आदि को लेकर उनका उपहास (हँसी) करने वाला, उनसे प्राप्त पवित्र शिक्षा में तर्क वितर्क करने वाला तथा निरन्तर उनकी निन्दा में कटि-बद्ध रहने वाला सदैव असमाधि-भाजन होता है ।

इसके अतिरिक्त इससे 'आत्म-विराधना' व 'संयम-विराधना' के कारण उपस्थित हो जाते हैं जिसका परिणाम उभय-लोक में अहित-कर होता है । अत एव समाधि-इच्छुक आत्माओं को 'वाक्य-समिति' का अवश्य ध्यान रखना चाहिए ।

अब सूत्रकार प्राणातिपात का विषय वर्णन करते हैं :—

थेरोवघाइए ॥ ६ ॥

स्थविरोपघातिकः[1] ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—थेरोवघाइए–स्थविरों का उपघात करने वाला ।

मूलार्थ—स्थविरों का उपघात करने वाला ।

टीका—इस सूत्र में निरूपण किया गया है कि स्थविरों का उपघात करने वाला कभी भी समाधि-स्थान की प्राप्ति नहीं कर सकता । जिस व्यक्ति का स्वभाव स्थविर, आचार्य तथा गुरु-आदि मान्य-जनों का अनाचार दोष से, शील दोष से, आत्माभिमानादि द्वारा, तथा असत्-दोषारोपण से उपहनन (हिंसा) करना या उपहनन करने के उपायों का अन्वेषण करना (ढूँढना) होगया है । वह निःसन्देह

१ उपघातकः, उपघाती ।

असमाधि को प्राप्त करता है, जिससे परिणाम में आत्म-विराधना व संयम-विराधना का होना स्वाभाविक है ।

यदि स्थविरों की विधि-पूर्वक उपासना की जाए, तभी आत्मा समाधि-स्थान प्राप्त कर सकता है । अतः सिद्ध हुआ कि समाधि चाहने वाले जीव को स्थविरो-पघातक न होना चाहिए । यदि स्थविर आत्म-शक्ति का प्रयोग करे तो उस उपघातक व्यक्ति को इसी लोक में असमाधि का कारण उत्पन्न हो जाएगा ।

निष्कर्ष यह निकला कि समाधि-स्थान प्राप्ति के लिए स्थविरों का मान करना आवश्यक है, जिस से समाधि-स्थानों की विशेष रक्षा हो सके ।

भूओवघाइए ॥ ७ ॥

भूतोपघातिकः[1] ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**भूओवघाइए**–जीवों का उपघात करने वाला ।

मूलार्थ—एकेन्द्रियादि जीवों का उपघात करने वाला ।

टीका—इस सूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि हिंसा करने में लगा हुआ, जीव हिंसक, यत्न-मार्ग-पराङ्मुख तथा दया को लेश मात्र से भी न जानने वाला व्यक्ति आत्म-समाधि के मार्ग से बहुत दूर है । क्योंकि जीवों में साम्य भाव के विना समाधि-स्थान प्राप्त ही नहीं हो सकते और साम्य-भाव विना भूत-दया के असम्भव है । अतः दया के विना समाधि स्थान की प्राप्ति दुष्कर ही नहीं, असाध्य है । सिद्ध यह हुआ कि जिसकी आत्मा एकेन्द्रियादि जीवोपघात में लगी है वह असमाधि-स्थान प्राप्त करता है, जिस से आत्म-विराधना और संयम-विराधना का होना स्वाभाविक है और उनका परिणाम दोनों लोकों में अहितकर है । अतः आत्म-समाधि चाहने वाले व्यक्ति को उचित है कि वह प्रत्येक प्राणी की रक्षा करता हुआ समाधि-स्थानों की वृद्धि करे और असमाधि-स्थानों का त्याग कर अपने ध्येय में दूध में मिश्री की तरह लीन हो जाय । तभी आत्मा अलौकिक आनन्द प्राप्त कर सकेगा ।

अब सूत्रकार समाधि प्रति-बन्धक कषायों का वर्णन करते हैं—

१ उपघातकः, उपघाती ।

संजलणे ॥ ८ ॥

सञ्ज्वलनः ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**संजलणे**–प्रतिक्षण रोष करने वाला ।

मूलार्थ—प्रतिक्षण रोष करने वाला ।

टीका—इस सूत्र में इस विषय को स्पष्ट किया गया है कि आत्मा को कषायक्षय (क्रोधादि मनोविकारों का नाश) और क्षयोपशम के विना आत्म-समाधि प्राप्त नहीं हो सकती । क्रोध, मान, माया और लोभ से पीड़ित आत्मा को समाधि कहाँ ? क्योंकि उस का चित्त तो सदैव विक्षिप्त रहता है । चञ्चल चित्त में कभी भी शान्ति नहीं होती । कषायों से दूषित आत्मा आंधी के दीप की तरह अस्थिर तथा सम्यक् विचार से अत्यन्त दूर रहता है ।

कषायों के उदय होने पर आत्मा समाधि-स्थान प्राप्त नहीं कर सकता । अतः सूत्र में कहा गया है कि हर समय रोष करने वाले को कभी भी समाधि स्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जब कभी कोई उसको शिक्षा देगा तभी उसको क्रोध उत्पन्न हो जायगा तो फिर किस प्रकार उसको समाधि स्थान की प्राप्ति हो सकती है । अतः सिद्ध होता है कि कषायादि से रहित शान्त-आत्मा ही समाधि मार्ग में प्रविष्ट हो सकता है । जैसे जल से ही वृक्ष वृद्धि हो सकती है न कि अग्नि से ।

कोहणे ॥ ९ ॥

क्रोधनः ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—**कोहणे**–क्रोध करने वाला ।

मूलार्थ—क्रोध करने वाला ।

टीका—क्रोध-शील व्यक्ति का अन्तःकरण सदैव असमाधि का स्थान रहता है । क्योंकि (सकृत्क्रुद्धोऽत्यन्तक्रुद्धो भवति) यदि किसी कारण से एक बार किसी को क्रोध उत्पन्न हो जाय तो उस (क्रोध) को त्यागना उस व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर हो जाता है । अर्थात् क्रोध-शील व्यक्ति समाधि स्थानों की वृद्धि

कभी नहीं कर सकता प्रत्युत असमाधि-स्थानों की ही वृद्धि करता है। जैसे चन्द्र ही शीत और जल की वृद्धि कर सकता है न कि अग्नि। उसी प्रकार शान्त आत्मा ही समाधि स्थानों की वृद्धि कर सकता है न कि क्रोध-शील।

सिद्ध यह हुआ कि आत्म-समाधि के इच्छुक व्यक्ति को न केवल क्षमा ही धारण करनी चाहिए अपितु शान्ति को ही ध्येय बनाकर आत्म-समाधि की प्राप्ति करनी चाहिए।

सूत्रकार ने और जितने भी दूसरे समाधि के प्रति-बन्धक कारण हैं उन सब का उक्त दोनों सूत्रों में ही समावेश कर दिया है।

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह हुआ कि प्रति-बन्धकों को त्याग कर प्रत्येक व्यक्ति को समाधि-स्थ होना चाहिए।

अब सूत्रकार समाधि-प्रतिबन्धक 'पिशुनता' दोष का वर्णन करते हैं:—

पिट्ठि-मंसिए ॥ १० ॥

पृष्ठ-मांसिकः ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**पिट्ठिमंसिए**—पीछे अवगुणवाद करने वाला।

मूलार्थ—पीछे निन्दा करने वाला।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि पिशुन (पीठ पीछे निन्दा करने वाला) व्यक्ति कभी भी समाधि प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि निन्दक अपने गुणों का नाश कर दूसरों के गुणों को आच्छादन करता (छिपाता) है। अन्तःकरण के शुद्ध न होने से निन्दक समाधि की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त निन्दा के अन्य सब दोष जगत्प्रसिद्ध हैं, इसलिए किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए।

सूत्र में वर्णित "पृष्ठ-मांसिकः" व्यक्ति की भद्र जनों के साथ समता भी लज्जाजनक है। पृष्ठमांसिकः (पीठ का मांस खाने वाला) अर्थात् (पराङ्-मुखस्य परस्यावर्णवादकारी) अनुपस्थित व्यक्ति के लिए निन्दाजनक शब्दों का प्रयोग करने वाला। निन्दा से सम्बन्ध रखना भी अनुचित है। अतः उसका सर्वथा त्याग कर समाधि चाहने वाले पुरुष को समाधि-स्थ होना चाहिए।

किसी २ पुस्तक में ("पिट्ठि-मंसिए यावि भवइ"—पृष्ठ-मांसिकश्चापि भवति) इस प्रकार पाठ भेद भी मिलता है। इस पाठ में "च" और "अपि" इन दोनों शब्दों का तात्पर्य सब तरह की चुगली व निन्दा-वाचक शब्दों से है क्योंकि ये सब समाधि स्थानों के प्रतिबन्धक हैं। अतः प्रत्येक समाधि-इच्छुक को उचित है कि निन्दादि दुर्गुणों को छोड़कर समाधि स्थानों की वृद्धि करे।

यहां शङ्का यह होसकती है कि जिस व्यक्ति में यथार्थ में दोष हैं उनको प्रकट करने में क्या दोष है ? उत्तर में कहा जाता है कि उक्त व्यक्ति को हित-बुद्धि से दोष परित्याग की शिक्षा देनी उचित है न कि उसके दोषों को द्वेष बुद्धि से जनता पर प्रकट कर उससे द्वेष बढ़ाना। समाधि चाहने वाले व्यक्तियों को इसलिए भी निन्दादि से दूर रहना चाहिए कि उनका कर्तव्य तो मौनावलम्बन कर अपने स्वरूप में प्रविष्ट होना तथा सत्योपदेश करना है। इसके अतिरिक्त दूसरों की निन्दा व अवगुणों का वर्णन करना उनका कर्तव्य नहीं।

सूत्रकार ने इस असमाधि का वर्णन इसलिए किया है कि इससे सहज ही में आत्म-विराधना व संयम-विराधना होने की सम्भावना है, जिस का परिणाम दोनों लोकों में दुःख-प्रद है।

अतः दूसरों की निन्दा करना छोड़कर केवल आत्म-दोषों का अवलोकन करे (और उनके त्यागने का प्रयत्न करे)। अपने दोषों को जनता पर प्रकट करने से आत्मा समाधि प्राप्त कर सकता है; क्योंकि ऐसा करने से आत्मा के कषायादि दोष शान्त होजाएँगे और वह आत्म-विशुद्धि करने योग्य बन जायेगा। आत्म-समाधि भी दोष दूर करने के लिए ही की जाती है अतः प्रत्येक को अपने दोष दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अगले सूत्र में इस बात का वर्णन किया जाता है कि अनिश्चित अर्थ को निश्चित कहना भी असमाधि-स्थान होता है।

अभिक्खणं २ ओहारइत्ता भवइ ॥ ११ ॥

अभीक्ष्णमभीक्ष्णमवधारयिता भवति ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—अभिक्खणं २–बार-बार, ओहारइत्ता–अवधारणी भाषा का बोलने वाला जो भवइ–है।

मूलार्थ—शङ्का युक्त पदार्थों के विषय में शङ्का रहित भाषा बोलने वाला ।

टीका—सूत्र का तात्पर्य यह है कि जब तक पदार्थों के विषय में सन्देह है तब तक उनके लिए निश्चित भाषा का प्रयोग न करना चाहिए; क्योंकि यदि वक्ता को स्वयं किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं और वह उसको निश्चित अर्थ कह जनता पर प्रकट करे तो शङ्का उपस्थित होने पर उस (वक्ता) को अवश्यमेव आत्म-विराधना और संयम-विराधना होगी ।

सिद्ध यह हुआ कि सन्दिग्ध विषयों को सन्देह रहित कहना असमाधि का कारण है; अतः बार-बार हठ कर किसी अनिश्चित अर्थ को निश्चित न कहना और दूसरों के गुणों के आच्छादन करने वाली भाषा का प्रयोग न करना ही उचित और दोष-रहित है । जैसे किसी अदास (जो दास नहीं) को दास कहना और अचोर (जो चोर नहीं) को चोर कहना आत्मा में अशान्ति उत्पन्न करता है, उसी प्रकार असत्य भाषण भी आत्मा को अशान्त कर असमाधि-स्थान की प्राप्ति करता है । इसलिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव, जिसमें भी सन्देह हो उसको निश्चितार्थ न कहना चाहिए; क्योंकि ऐसा करना आत्म-समाधि का प्रति-बन्धक है । प्रतिबन्धकों को छोड़कर आत्म-समाधि में ही समाधि चाहने वाले को लीन होना चाहिये ।

यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि आत्म-समाधि क्या है जिसके विषय में इतने प्रति-बन्धकों का वर्णन किया जा रहा है । उत्तर में कहा जाता है कि जिस समय 'आत्मा' को अपना स्वरूप प्रकट होजाता है और वह 'ध्याता' और ध्येय का भेद भाव मिटा कर केवल 'ध्येय' रूप ही हो जाता है उसको आत्म-समाधि कहते हैं ।

किन्तु उक्त आत्म-समाधि की प्राप्ति क्लेषादि के त्याग से ही हो सकती है अतः आगे के सूत्र में क्लेषादि से उत्पन्न होने वाली असमाधि का ही विषय कहते हैं :—

णवाणं अधिकरणाणं अणुप्पण्णाणं उप्पाइत्ता भवइ ॥ १२ ॥

नवानामधिकरणानामनुत्पन्नानामुत्पादिता भवति ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—**णवाणं**—नूतन, **अधिकरणाणं**—अधिकरणों का जो, **अनु-**

प्पराणां–उत्पन्न नहीं हुए (उनको), **उपाइत्ता**–उत्पन्न करने वाला, **भवइ**–है ।

मूलार्थ—अनुत्पन्न नये कलहों को उत्पन्न करने वाला ।

टीका—सूत्र का तात्पर्य यह है कि कलहादि वास्तव में समाधि के प्रतिबन्धक हैं । जिन कलहों की सत्ता ही नहीं उनको किसी निमित्त से उत्पन्न करना असमाधि कारण होता है, क्योंकि क्रोध से आत्म-विराधना और संयम-विराधना सहज ही में उत्पन्न हो जाती हैं । अतः सिद्ध हुआ कि कलह भी समाधि के मुख्य प्रति-बन्धक हैं । यह न केवल समाधि के ही प्रति-बन्धक हैं अपितु अनेक अनर्थों के मूल भी हैं ।

सूत्र-स्थ 'अधिकरण' शब्द की वृत्तिकार निम्नलिखित व्याख्या करते हैं—"अधिकरणानां-कलहानां, यन्त्राणां, ज्यौतिपनिमित्तानां वा" अर्थात् यन्त्रादि उत्पन्न करना अथवा ज्योतिष द्वारा किसी निमित्त को लक्ष्य बनाकर कलह उत्पन्न करना; क्योंकि जितने भी शस्त्रादि निर्माण किए (बनाये) जाएंगे वे हिंसक पदार्थ होने से अवश्य असमाधि के कारण होंगे ।

सूत्र में पठित 'नूतन' शब्द का तात्पर्य शान्ति-पूर्वक तथा परस्पर अविरुद्ध भाव से जीवन व्यतीत करने वाली जनता की शान्ति भङ्ग करने के लिये किसी निमित्त को सामने रखकर कलह उत्पन्न करने से है । जिससे प्राणिमात्र को असमाधि उत्पन्न हो जाए । ऐसे कार्यों से आत्मा समाधि-स्थान से पतित हो असमाधि की ओर जाता है । अतः भव्य जीवों को उचित है कि वे नूतन कलहों से सर्वथा पृथक् रहें ।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब यहां नूतन अधिकरणों का वर्णन किया गया है तो पुरातन अधिकरण भी अवश्य होंगे । इसके उत्तर में सूत्रकार स्वयं कहते हैं:—

पोराणाणं अधिकरणाणं खामिय विउसविआणं पुणोदीरित्ता भवइ ॥ १३ ॥

पुरातनानामधिकरणानां क्षमापितानां व्यपशमितानां वा पुनरुदीरयिता भवति ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—**पोराणाणं**–पुरातन, **अधिकरणाणं**–कलह (जो), **खामिय**–क्षमित हैं, **विउसविआणं**–उपशान्त होगये हैं (उनका जो), **पुणोदीरित्ता**–फिर उदीरण करने वाला, **भवइ**–है ।

मूलार्थ—क्षमापन द्वारा उपशान्त पुराने अधिकरणों का फिर से उदीरणा करने वाला (उभारने वाला) ।

टीका—इस सूत्र में यह बताया गया है कि क्षमापन से शान्त कलहों को फिर से उभारना असमाधि का एक मुख्य कारण है; क्योंकि ऐसा करने से अनेक व्यक्तियों का शुभ-कर्म से हटकर दुष्कर्म में लग जाने का भय है । तथा इस से आत्म और संयम विराधना सहज में होजाती हैं; क्योंकि अधिकरण शब्द का अर्थ है "अधः करोति आत्मनः शुभपरिणाममित्यधिकरणम्, अधृतिकरणं वा कलह इत्यर्थः" जो आत्मा के शुभ भावों को नीचे कर देता है तथा अधृति (अशान्ति) उत्पन्न करने वाला है उसे अधिकरण कहते हैं । कलह या अधिकरण के कारण आत्मा असमाधि में प्रविष्ट होता है, इससे ही तप का नाश, यश की हानि, ज्ञानादि रत्न-त्रय का उपघात तथा संसार में परस्पर द्वेष की वृद्धि होती है ।

सिद्ध यह हुआ कि समाधि की रक्षा के लिए पुरातन कलह-युक्त बातों का स्मरण न करना चाहिये । प्रत्येक व्यक्ति को इससे शिक्षा लेनी चाहिए कि शान्ति के समय के उपस्थित होजाने पर पुरातन कलहों की स्मृति न करनी ही उचित है; क्योंकि इससे असमाधि बढ़ जाने का भय रहता है । अतः समाधि इच्छुक व्यक्ति को कलहादि से पृथक् रहकर ही समाधि प्राप्त करनी चाहिए जिससे उसकी आत्मा का कल्याण हो ।

अगले सूत्र में सूत्रकार वर्णन करते हैं कि कलहादि का त्याग कर प्रत्येक व्यक्ति को केवल स्वाध्याय में ही निरत होना चाहिये । किन्तु अकाल में स्वाध्याय भी असमाधि का कारण होता है ।

अकाल-सज्झायकारए यावि भवइ ॥ १४ ॥

अकाल-स्वाध्याय-कारकश्चापि भवति ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—**अकाल**–अकाल में (जो), **सज्झायकारए**–स्वाध्याय करने वाला **भवइ**–है ।

मूलार्थ—अकाल में स्वाध्याय करने वाला ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया है कि स्वाध्याय यद्यपि परम आवश्यक है तथापि वह उचित समय में ही होना चाहिए । संगीत शास्त्र में रागों की तरह श्रुत-ज्ञान में भी अंग और उप-अङ्गादि शास्त्रों का समय नियत है । जैसे असमय में गान किये हुए राग सुख-प्रद नहीं होते इसी प्रकार असमय का स्वाध्याय भी समाधि के स्थान पर असमाधि-उत्पन्न करने वाला होजाता है । अतः सिद्ध हुआ कि अकाल में स्वाध्याय करने से असमाधि-स्थान की प्राप्ति होती है ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अकाल में स्वाध्याय से असमाधि दोष क्यों माना गया है ? उत्तर इस प्रकार है कि स्थानाङ्गादि शास्त्रों में जो अनध्यायों का वर्णन किया गया है उनके पालन न करने से एक तो आज्ञा-भङ्ग दोष होता है, दूसरे देवाधिष्ठित शास्त्रों का समय तथा स्थान का ध्यान रखे विना पठन से तत्तत् देवों के प्रतिपादित असमाधि के कारण उपस्थित हो जाते हैं ।

स्वाध्याय के लिए उचित समय की तरह उचित स्थान भी आवश्यक है । समय-सिद्धि के लिए संगीत-विद्या का उदाहरण दे चुके हैं । स्थान सिद्धि के लिए अधोलिखित उदाहरण देते हैं—पवित्र भोजन जैसे मलादि के स्थान या वर्च-गृह (पुरीषोत्सर्ग स्थान) में सुखप्रद नहीं होता इसी प्रकार स्थान शुद्धि के विना स्वाध्याय भी सुख-प्रद नहीं माना जाता ।

सिद्ध यह हुआ कि अकाल में स्वाध्याय कदापि न करना चाहिए । यह सर्व-सम्मत है कि विधि पूर्वक स्वाध्याय से ही स्व-इष्ट-देव की सिद्धि हो सकती है । अतः अकाल में स्वाध्याय सर्वथा वर्जित है ।

सूत्र में पठित "च" और "अपि" शब्द से दूसरे जितने भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सम्बन्धी अनध्याय के कारण हैं उनका ग्रहण करना चाहिए । इन सब को छोड़कर सूत्र-सम्बन्धी स्वाध्याय में प्रवृत्त होना चाहिए । किन्तु इन सब का सूत्र से ही सम्बन्ध है न कि अर्थ-अनुप्रेक्षा से ।

पृथ्वी-काय की रक्षा किस प्रकार होनी चाहिए यह इस सूत्र में वर्णन करते हैं:—

ससरक्ख पाणि-पाए ॥ १५ ॥

सरजस्क-पाणि-पादः ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**ससरक्ख**–सचित्तरज से भरे हुए **पाणि-पाए**–हाथ और पादों वाले से आहारादि ग्रहण करना ।

मूलार्थ—यदि गृहस्थ के हाथ और पाद सचित्त (सजीव) रज से लिप्त हों तो उससे भिक्षादि ग्रहण न करनी चाहिए ।

टीका—इस सूत्र में यह दिखाया गया है कि पृथ्वी-काय की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए। जिस गृहस्थ के हाथ और पैर सचित्त (सजीव) रज से लिप्त हों उससे साधु को भिक्षा न लेनी चाहिए; ऐसी अवस्था में भिक्षा ग्रहण करने से पृथ्वीकाय जीवों की विराधना होगी जिसका परिणाम आत्म तथा संयम विराधना होगा। इसके अतिरिक्त जब कोई साधु पुरीषोत्सर्गादि से निवृत्त होकर आए तो उसको हाथ पैर प्रमार्जन कर ही आसनादि पर बैठना चाहिए। ऐसा न करने से पृथ्वी-काय जीवों की विराधना होगी; क्योंकि प्रमार्जन से पूर्व उसके पैर अवश्य ही सचित्त रज से लिप्त होंगे। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हो यत्न शील बने।

प्रश्न यह होता है कि ऐसी क्रियाओं से क्यों असमाधि उत्पन्न होती है ? समाधान इस प्रकार है कि जीव-हिंसा का परिणाम असमाधि ही होता है । किन्तु इस स्थान पर मृत्तिका नाम निर्देश सारे षट्काय जीवों की रक्षा का उपलक्षक (बताने वाला) है । निम्नलिखित षट्काय के जीवों की रक्षा का ही विधान शास्त्र में किया गया है :—

१—पृथिवी-काय २—अप्-काय ३—तेजस्काय ४—वायु-काय ५—वनस्पतिकाय और ६—त्रस-काय ।

क्योंकि अहिंसक आत्मा ही समाधि-स्थानों के योग्य है, अतः प्रत्येक समाधि चाहने वाले व्यक्ति को हिंसा से सर्वथा बचना चाहिये ।

इसके अनन्तर सूत्रकार इस विषय का वर्णन करते हैं कि समाधि-युक्त आत्मा को रात्रि तथा दिन में कैसा शब्द करना चाहिए, और कैसे शब्द करने से उसको असमाधि-स्थान की प्राप्ति होती है :—

सद्द-करे ॥ १६ ॥

शब्द-करः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**सद्दकरे**—रात्रि तथा दिन में प्रमाण से अधिक शब्द करना।

मूलार्थ—प्रमाण से अधिक शब्द करने वाला ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि समाधि-युक्त व्यक्ति को शब्द करने के पहिले द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव का ज्ञान कर लेना चाहिए, क्योंकि असमय का शब्दोच्चारण अवश्य ही असमाधि का कारण बन जाता है। अतः शब्दोच्चारण के लिये समय-ज्ञान अवश्य होना चाहिए। एक गहन वसति में रात्रि के समय ऊंचे स्वर में शब्दोच्चारण अनुचित है, क्योंकि ऐसा करने से बहुत से व्यक्तियों को असमाधि हो जाती है। रात्रि के एक प्रहर के बाद यदि ऊंचा शब्द किया जाए तो लोगों को दुःख होगा। यह समय प्रायः लोगों के शयन का होता है। इसी प्रकार मध्य-रात्रि तथा पश्चिम-रात्रि और रात्रि की तरह दिन के विषय में भी जानना चाहिए। जैसे—यदि कभी ऐसे स्थान में ठहरना पड़ा जहां का अधिपति रुग्ण है, किन्तु वैद्यों के किसी प्रयोग से उसको दिन में निद्रा आगई; वैद्यलोग ऊंचे स्वर से वार्तालाप करना निषेध कर गये, अब यदि कोई साधु वहां ऊंचे स्वर से शब्दोच्चारण करने लगे तो अवश्य ही असमाधि-स्थान की प्राप्ति करेगा। इसी प्रकार सम्मति-स्थान, ध्यान-स्थान और धर्मोपदेश-स्थान पर भी असामयिक शब्दोच्चारण करना आत्म-विराधना और संयम-विराधना का कारण हो सकता है।

समाधि-इच्छुक व्यक्ति को गृहस्थों की तरह असभ्य तथा अशिष्ट भाषा का प्रयोग न करना चाहिए।

सिद्ध यह हुआ कि सर्व-प्रथम शब्द ज्ञान की आवश्यकता है। तदनन्तर शब्द-प्रयोग के लिए उचित समय के ज्ञान की भी अत्यन्त आवश्यकता है, जिससे असमाधि उत्पन्न न होसके।

अब सूत्रकार अगले सूत्र में कहते हैं कि ऐसे शब्दों का प्रयोग न करना चाहिए जिससे साम्य-भाव का नाश हो।

झंझ-करे ॥ १७ ॥

झञ्झा-करः ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—**झंझकरे**–फूट उत्पन्न करने वाले वचनों का प्रयोग करने वाला।

मूलार्थ—परस्पर भेद भाव उत्पन्न करने वाले वचनों का प्रयोग करने वाला।

टीका—गणों में परस्पर भेद उत्पन्न करने वाले तथा उनके चित्त में दुःख पैदा करने वाले वचनों का प्रयोग असमाधि पैदा करने वाला होता है; कारण स्पष्ट है—जब गण में भेद उत्पन्न हो जाएगा तो समाधि भङ्ग होकर अवश्य असमाधि की उत्पत्ति होगी जिसका परिणाम आत्म-विराधना और संयम-विराधना होगा।

जब किसी व्यक्ति को दुःख होता है तो उसके चित्त में खेद तथा क्रोध के अतिरिक्त अन्य भाव प्रायः उत्पन्न नहीं होते; और ये दोनों समाधि को समूल नष्ट करने में पूर्ण समर्थ हैं; अतः सिद्ध हुआ कि भेद भाव उत्पन्न करने वाले वचनों का प्रयोग न करना चाहिए। आत्म-समाधि के इच्छुक व्यक्तियों को तो ऐसे कृत्यों से सर्वथा पृथक् रहने में ही लाभ है।

"झञ्झा" शब्द का असभ्यता से परस्पर विवाद करने में भी प्रयोग होता है। समाधि-इच्छुक व्यक्तियों को ऐसा विवाद कभी नहीं करना चाहिये।

सार यह निकला कि परस्पर भेदोत्पादक शब्दों का कभी प्रयोग न करे, क्योंकि इससे असमाधि का प्राप्त होना अनिवार्य है।

अब सूत्रकार कलह-विषय का वर्णन करते हैं:—

कलह-करे ॥ १८ ॥

कलह-करः ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**कलहकरे**–कलह करने वाला।

मूलार्थ—क्लेश करने वाला।

टीका—इस सूत्र में इस बात का प्रकाश किया गया है कि कलह करने से समाधि-स्थान का नाश तथा असमाधि-स्थान की वृद्धि होती है। कलहोत्पादक शब्दों के प्रयोग से कलह उत्पन्न होना स्वाभाविक है। जैसे मृत्तिका (मिट्टी) खनन

से गर्त होना स्वाभाविक है और वही पतन के लिए पर्य्याप्त है इसी प्रकार कलह-उत्पादक शब्दों से कलह होना स्वाभाविक है और उससे आत्म-विराधना और सयंम-विराधना का होना अनिवार्य है । कलह दोनों लोकों में अशुभ फल देने वाला है, अतः यह समाधि का प्रति-बन्धक है ।

समाधि-इच्छुक व्यक्ति को उचित है कि वह कलह-उत्पादक शब्दों का प्रयोग कभी न करे प्रत्युत कलह-शान्ति के उपायों की चिन्तना में रहे ।

कलह असमाधि कारक होने से सर्वथा त्याज्य है । जैसे बादलों के हट जाने से सूर्य प्रकाशित होजाता है, इसी प्रकार कलह-नाश से आत्मा के गुण प्रकाशित होजाते हैं ।

अब सूत्रकार आहार के विषय में कहते हैं:—

सूर-प्पमाण-भोई ॥ १९ ॥

सूर-प्रमाण-भोजी ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः—**सूर-प्पमाण-भोई**—सूर्य-प्रमाण भोजन करने वाला ।

मूलार्थ—सूर्य-प्रमाण भोजन करने वाला ।

टीका—इस सूत्र में इस विषय का वर्णन किया गया है कि प्रमाण-पूर्वक भोजन करने वाला ही समाधि-स्थान की प्राप्ति कर सकता है न कि विना प्रमाण के; क्योंकि सूर्योदय से सूर्यास्त तक जिस को केवल भोजन का ही ध्यान रहे, उसको समाधि के लिए समय कहां ! यदि कोई व्यक्ति उसे (अप्रमाण-भोजी को) प्रमाण-पूर्वक भोजन की शिक्षा दे या उसके अधिक भोजन का प्रतिवाद करे तो वह अवश्य ही उस (शिक्षक) से कलह कर बैठेगा तथा उस पर असत्य दोषों का आरोपण करने लगेगा । ऐसी अवस्था में उसे समाधि-स्थान की प्राप्ति कैसे होसकती है, अर्थात् कदापि नहीं होसकती ।

विसूचिकादि अनेक दोष भी प्रमाणाधिक भोजन से ही होते हैं । इससे निद्रा, आलस्य और रोग की वृद्धि होती है, जिस से स्वाध्याय का अभाव स्वाभाविक है । अतः प्रमाण पूर्वक तथा एक ही समय भोजन करना उचित है । साथ ही जिन पदार्थों से असमाधि होने की आशंका हो उनको भी न खाना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त भोजन का समय भी नियत होना चाहिये । भोजन का समय और प्रमाण नियत होने से ही समाधि-स्थान की प्राप्ति हो सकती है ।

अब सूत्रकार बीसवीं असमाधि का विषय वर्णन करते हैं:—

एसणाऽसमिते आवि भवइ ॥ २० ॥

एषणाऽसमितश्चापि भवति ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—**एसणाऽसमिते**–एषणा-समिति के विरुद्ध **आवि भवइ**–जो होता (चलता) है ।

मूलार्थ—एषणा-समिति के विरुद्ध चलने वाला ।

टीका—एषणा-समिति का अर्थ है कि जितने भी साधु के ग्रहण करने योग्य पदार्थ हैं उन सब को गवेषणा या एषणा द्वारा शुद्ध करके ही ग्रहण करना चाहिए। अग्राह्य पदार्थों को कभी न लेना चाहिए । एषणा-समिति के उपयोग के ज्ञान विना, अविचार से पदार्थों को ग्रहण करने वाला असमाधि-स्थानों की वृद्धि करता है । तथा एषणा-समिति का पूर्ण ध्यान न रखने से अनुकम्पा (दया) के भावों में भी न्यूनता आजाती है, क्योंकि जो कोई विना किसी साधु-विचार के (अर्थात् केवल आहार के ही विचार से) भिक्षा करने जाता है उस का भाव केवल ग्रहण करने का ही होता है, वह यह नहीं देखता कि अमुक वस्तु सदोष है या निर्दोष, हिंसा-वृत्ति से उत्पन्न की गई है या अहिंसा-वृत्ति से । विना एषणा के पदार्थ ग्रहण करने से छः प्रकार के जीवों पर अनुकम्पा का भाव उठ जाता है ।

यदि कोई साधु उसे (विना एषणा के पदार्थ ग्रहण करने वाले को) विना एषणा के पदार्थ ग्रहण करने से रोके और वह उससे कलह कर बैठे तो अवश्य ही आत्म-विराधना और संयम-विराधना होगी ।

निष्कर्ष यह निकला कि समाधि-इच्छुक व्यक्ति को विना एषणा के कोई भी पदार्थ ग्रहण न करना चाहिए ।

यहां तक समाधि के प्रतिबन्धकों का ही वर्णन किया गया है । समाधि-स्थानों का वर्णन आगे किया जाएगा ।

'समवायाङ्ग' सूत्र के बीसवें समवाय में भी बीस असमाधि-स्थानों का वर्णन किया गया है किन्तु ध्यान रहे कि इस अध्याय और उक्त बीसवें समवाय में वर्णन किए हुए असमाधि-स्थानों में भेद अवश्य है । उदाहरणार्थ "समवायाङ्ग सूत्र" में "संजलणे ॥ ८ ॥ कोहणे ॥ ९ ॥" यह दोनों, ८ वां और ९वां, दो स्थान वर्णन किए गये हैं किन्तु "दशाश्रुतस्कन्धसूत्र" में इन दोनों स्थानों को "संजलणे, कोहणे" ८ ॥ एक ही स्थान कहा गया है । 'समवायाङ्ग सूत्र' में 'पिट्ठि-मंसिए' यह दशवां स्थान प्रतिपादन किया गया है, किन्तु 'दशाश्रुतस्कन्धसूत्र' में "पिट्ठिमंसिए यावि भवइ" इस प्रकार ९वां स्थान ही कहा गया है । 'समवायाङ्ग सूत्र' में "ससरक्ख-पाणि-पाए" यह १६वां स्थान है, किन्तु 'दशाश्रुतस्कन्धसूत्र' में "अकाले सज्झाकारि-यावि भवइ" इस स्थान के आगे "ससरक्ख-पाणि-पाए" स्थान लिखा गया है और 'समवायाङ्ग सूत्र' में "अकाल-सज्झाय-कारए यावि भवइ" यह १५ वें स्थान में प्रतिपादन किया गया है । 'समवायाङ्ग सूत्र' में "कलहकरे" १६वां स्थान और दशाश्रुतस्कन्धसूत्र में १७वां स्थान प्रतिपादन किया गया है । "दशाश्रुतस्कन्ध-सूत्र" में पूर्व अङ्क की न्यूनता पूर्ति के लिये "असमाहि-कारए" 'असमाधि-कारकः' प्रतिपादन किया गया है । तथा 'दशाश्रुतस्कन्धसूत्र' की किसी २ प्रति में "अस-माहि-कारए" इसके स्थान पर "भेयकरे" पाठ भी मिलता है, किन्तु इससे केवल शब्द-भेद ही होता है अर्थ में कोई भेद नहीं पड़ता । अतः बुद्धिमान व्यक्तियों को उचित है कि इन अंकों को विचारपूर्वक स्मरण रखते हुए असमाधि-स्थानों को दूर कर समाधि-स्थानों की प्राप्ति करें; जिससे आत्म-शुद्धि हो जाने से आत्मा को निर्वाण-पद की प्राप्ति हो सके ।

समाधि ही मोक्ष पद देने वाली है न कि असमाधि, इस लिए मोक्ष की इच्छा करने वाले को समाधिस्थ होना चाहिए ।

अब सूत्रकार अध्ययन की समाप्ति करते हुए लिखते हैं :—

एतं खलु तं थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहि-ठाणा पण्णत्ता-त्ति बेमि ॥ २१ ॥

इति पढ़मा दसा समत्ता ॥

एतानि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिर्विंशत्यसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि"-इति ब्रवीमि॥ २१ ॥

इति प्रथमा दशा समाप्ता ॥

पदार्थान्वयः—**एते**–ये **खलु**–निश्चय से **ते**–वे **थेरेहिं**–स्थविर **भगवंतेहिं**–भगवन्तो ने **वीसं**–बीस **असमाहि**–असमाधि के **ठाणा**–स्थान **पण्णत्ता**–प्रतिपादन किये हैं । **त्ति**–इस प्रकार **बेमि**–मैं कहता हूं ॥ **इति**–इस तरह **पढमा**–पहला **दसा**–अध्ययन **समत्ता**–समाप्त हुआ ।

मूलार्थ—यही निश्चय से स्थविर भगवन्तों ने बीस असमाधि के स्थान प्रतिपादन किए हैं ।

टीका—इस सूत्र में प्रस्तुत-अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि अनन्तरोक्त स्थविर भगवन्तों ने यही बीस स्थान असमाधि के प्रतिपादन किए हैं । इस कथन का मुख्य उद्देश्य यह है कि इनके अतिरिक्त शेष सब भेद इन्हीं बीस के अन्तर्गत होजाते हैं ।

उदाहरणार्थ—सूत्रकार ने "कलह-करः" एक असमाधि का स्थान वर्णन किया है, इसके अतिरिक्त सब कलह के कारण इसी के अन्तर्गत हो जाते हैं । जैसे रंग अनेक प्रकार के होते हुए भी प्रधान पांच रंगों में ही आजाते हैं, इसी प्रकार कलह के अनेक कारणों का एक ही अंक में समावेश होजाता है ।

जिज्ञासु जनों को असमाधि छोड़कर समाधि-स्थ होना श्रेयस्कर है ।

यह शङ्का हो सकती है कि प्रस्तुत अध्ययन में समाधि-स्थानों का वर्णन न कर सर्व प्रथम असमाधि-स्थानों का ही वर्णन क्यों किया ? समाधान में कहा जाता है कि प्रस्तुत अध्ययन में भाव-समाधि की प्राप्ति के लिए ही समाधि तथा असमाधि दोनों स्थानों का वर्णन किया गया है । सूत्रकर्त्ता ने प्रतिपादन किया है कि असमाधि के बीस स्थान हैं । असमाधि शब्द यहां नञ् तत्पुरुष समासान्त पद है । यदि नञ् समास न किया जाए तो यही बीस समाधि स्थान बन जाते हैं, अर्थात् अकार के हटा देने से यही बीस भाव-समाधि के स्थान हैं । जैसे 'ज्ञानावरणीय' शब्द से

आवरण हटाकर 'ज्ञान' ही अवशिष्ट रह जाता है, इसी प्रकार अकार के हटा देने से 'समाधि-स्थान' बन जाता है ।

अतः सिद्ध हुआ कि इसी अध्ययन से जिज्ञासु समाधि और असमाधि के स्वरूप भली भांति जान लें ।

अब सुधर्म्माचार्य जम्बू स्वामी से कहते हैं—हे जम्बू स्वामिन् ! मैंने जिस प्रकार श्री भगवान् के मुखारविन्द से इस अध्ययन का अर्थ श्रवण किया, उसी प्रकार तुम से प्रतिपादन किया है । अपनी बुद्धि से मैंने कुछ नहीं कहा ।

प्रथमा दशा समाप्ता ।

द्वितीया दशा ।

पहली दशा में असमाधि-स्थानों का वर्णन किया गया है । असमाधि-स्थानों के आसेवन से शबल-दोष की प्राप्ति होती है, अतः इस दशा में, पहली दशा से सम्बन्ध रखते हुये, ग्रन्थकार शबल दोषों का विस्तृत वर्णन करते हैं ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शबल (दोष) किसे कहते हैं ? उत्तर में कहा जाता है कि शबल—'द्रव्य-शबल' और 'भाव-शबल' दो प्रकार का होता है। द्रव्य-शबल, जैसे कोषकार कहते हैं "शबलं कर्बुरं चित्रम्,"—गो आदि पशुओं के चित्रल (अनेक रंगों का एकत्र समावेश—रङ्ग बिरंगे) रङ्ग को कहते हैं । भाव-शबल ग्रहण किए हुए व्रतादि पर लगने वाले दोष का नाम है; अर्थात् अपने नियम से भ्रष्ट होना ही भाव-शबल कहलाता है । किन्तु अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार पर्य्यन्त ही भाव-शबल होता है ।

उदाहरणार्थ—किसी व्यक्ति ने साधु को अपने घर भोजन के लिए निमन्त्रित किया, उस निमन्त्रण को स्वीकार करना अतिक्रम दोष होता है, भोजन के लिए प्रस्तुत हो जाना व्यतिक्रम होता है, पात्रादि में भोजन ग्रहण करना अतिचार दोष होता है और उस भोजन का भोग कर लेना अनाचार दोष हो जाता है ।

मूल गुणादि में प्रथम तीन का भङ्ग शबल दोषाधायक (दोष करने वाला) होता है और चतुर्थ का भङ्ग सर्व-भङ्ग कहलाता है; कहा भी है "मूल गुणेषु—आदिमेषु भंगेषु शबलो भवति चतुर्थे भंगे सर्वभङ्गः" ।

शबल दोषों के विस्तृत वर्णन से पहले यह बता देना आवश्यक है कि जैसे

शुक्ल वस्त्र पर लगा हुआ धब्बा क्षारादि उचित द्रव्यों से दूर किया जाता है ऐसे ही जिस प्रकार से शबल दोष का आसेवन किया हो उसी प्रकार के प्रायश्चित्त से उस को दूर कर देना चाहिए। किन्तु लेश मात्र भी दोष न रहने देना चाहिए; क्योंकि घट के एक छोटे से छिद्र से भी जैसे उसका सब जल बाहर निकल जाता है उसी प्रकार जीव-रूपी घट में अवशिष्ट एक छोटा सा दोष भी संयम-रूपी जल को बाहर निकाल देने के लिए पर्य्याप्त है। इस लिए जहां तक हो सके शबल दोष दूर करने के लिए दत्तचित्त होकर प्रयत्न करे, जिससे चारित्र्य-धर्म में अणुमात्र (थोड़ा सा) भी दोष न रह सके।

जिस प्रकार कुम्भकार प्रमाण पूर्वक चक्र-भ्रमण आदि क्रियाओं से घट उत्पन्न करता है उसी प्रकार प्रमाण पूर्वक क्रियाओं से संयम की रक्षा करे, किन्तु शबल-दोष उत्पन्न न होने दे। अनेक धब्बों से चित्रित शुक्ल पट की तरह संयम-रूपी पट को शबल दोष से चित्रित न होने दे। अर्थात् संयम-शुद्धि के लिए सदा प्रयत्न करता रहे।

क्योंकि असमाधि होने से आत्मा के सब भाव असंयम की ओर झुक जाते हैं, अतः समाधि की उत्पत्ति को मुख्य उद्देश्य बना कर इस दशा की रचना की गई है।

यद्यपि 'शबल-दोष' एक ही शब्द है, किन्तु व्यवहार नय के अनुसार, जिज्ञासुओं के विशेष ज्ञान के पवित्र विचार और जनता की हित-बुद्धि से शास्त्रकार ने शबल-दोषों की संख्या नियत कर दी है।

उसका वर्णन सूत्रकार स्वयं करते हैं :—

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं, इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं एगवीसं सबला पण्णत्ता, कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं एगवीसं सबला पण्णत्ता, इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं एगवीसं सबला पण्णत्ता, तं जहा :—

श्रुतं मया, आयुष्मन्, तेन भगवतैवमाख्यातं; इह खलु

स्थविरैर्भगवद्भिरेकविंशति शबलाः प्रज्ञप्ताः, कतरे खलु ते स्थविरैर्भगवद्भिरेकविंशति शबलाः प्रज्ञप्ताः ? इमे खलु ते स्थविरैर्भगवद्भिरेकविंशति शबलाः प्रज्ञप्ताः तद्यथा :—

पदार्थान्वयः—**आउसं**—हे आयुष्मन् शिष्य, **मे**—मैंने, **सुयं**—सुना है, **तेणं**—उस, **भगवया**—भगवान् ने, **एवं**—इस प्रकार, **अक्खायं**—प्रतिपादन किया है, **इह**—इस जैन-शासन व लोक में, **खलु**—निश्चय से, **थेरेहिं**—स्थविर, **भगवंतेहिं**—भगवन्तों ने, **एक्कवीसं**—इक्कीस, **सबला**—शबल-दोष, **पण्णत्ता**—प्रतिपादन किए हैं । शिष्य ने प्रश्न किया, **कयरे**—कौन से, **खलु**—निश्चय से, **थेरेहिं**—स्थविर, **भगवंतेहिं**—भगवन्तों ने, **ते**—वे, **एगवीसं**—इक्कीस, **सबला**—शबल-दोष, **पण्णत्ता**—प्रतिपादन किये हैं ? गुरु उत्तर देते हैं । **इमे**—ये, **खलु**—निश्चय से, **ते**—वे, **एक्कवीसं**—इक्कीस, **सबला**—शबल दोष, **थेरेहिं**—स्थविर, **भगवंतेहिं**—भगवन्तों ने, **पण्णत्ता**—प्रतिपादन किये हैं, **तं जहा**—जैसे : —

मूलार्थ—हे आयुष्मन् शिष्य ! मैंने सुना है उन भगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है, इस जैन-शासन में स्थविर भगवन्तों ने इक्कीस शबल-दोष प्रतिपादन किए हैं । शिष्य ने प्रश्न किया कि कौन से इक्कीस शबल-दोष स्थविर भगवन्तों ने प्रतिपादन किए हैं ? गुरु ने उत्तर दिया कि स्थविर भगवन्तों ने वक्ष्यमाण इक्कीस शबल-दोष प्रतिपादन किए हैं । जैसे :—

टीका—इस सूत्र में पहली दशा की तरह प्रस्तुत दशा का विषय—शबल-दोषों का वर्णन—गुरु शिष्य के प्रश्नोत्तर रूप में ही वर्णन किया गया है । साथ ही इस बात को भी स्पष्ट किया गया है कि श्री भगवान् के वाक्य प्राणि-मात्र के लिए उपादेय (ग्रहण करने योग्य) हैं, क्योंकि भगवान् प्राणि-मात्र के हितैषी हैं अतः उनके वाक्य भी प्राणियों के लिए हित-कारक हैं ।

सूत्र में "स्थविर भगवन्तों ने शबल दोष के इक्कीस भेद प्रतिपादन किए हैं" यह कथन "अजिणा जिणसंकासा जिणा इव अवितह-वागरमाणा" सूत्रार्थ की सिद्धि के लिए है; अर्थात् स्थविर भगवान् जिन तो नहीं हैं किन्तु जिन के समान हैं और जिन के समान यथार्थ-वक्ता भी हैं । अतः उक्त विषय स्थविर-प्रतिपादित होने पर भी

जिन-प्रतिपादित ही समझना चाहिए। यह दोनों लोकों में हितकारी है, अतः प्राणि-मात्र को इसे ग्रहण करना चाहिए और भगवत्-कथन होने के कारण विनय-पूर्वक सीखना चाहिए।

प्रश्न यह हो सकता है कि उक्त विषय भगवान् ने ही प्रतिपादन किया है इस में क्या प्रमाण है ? हो सकता है कि अन्य किसी व्यक्ति ने इसकी रचना कर भगवान् के नाम से प्रकाशित कर दिया हो ? समाधान में कहा जाता है कि भगवान् के कथन में अलौकिक शक्ति होती है, यह युक्ति-संगत और बुद्धि-ग्राह्य होता है और इतना ही नहीं किन्तु दोनों लोकों के लिए हितकारी भी होता है। प्रस्तुत दशा में ये सब गुण मिलते हैं अतः इस में कोई सन्देह नहीं कि यह कथन भगवान् का ही है। अपना शुभ चाहने वालों को इसका अध्ययन आदर और श्रद्धा से करना चाहिए।

अब सूत्रकार प्रस्तुत विषय का वर्णन करते हुये प्रथम शबल दोष का विषय वर्णन करते हैं:—

हत्थ-कम्मं करेमाणे सबले ॥ १ ॥

हस्त-कर्म-कुर्वन् शबलः ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—**हत्थकम्मं**–हस्त-क्रिया **करेमाणे**–करता हुआ **सबले**–शबल दोष युक्त होता है।

सूत्रार्थ—हस्त क्रिया करने से शबल दोष लगता है।

टीका—इस सूत्र में इस बात का प्रकाश किया गया है कि संसार में ऐसे अनभिज्ञ लोग भी हैं जो अनेक ऐसे कुकर्म कर बैठते हैं जिनसे सहज में ही आत्म-विराधना तथा संयम-विराधना उत्पन्न होजाती हैं।

संसार में ऐसे २ नीच कर्म हैं जिनका सम्पूर्ण फल इस सारे जीवन में भी नहीं भुगता जासकता, अतः परलोक में भी उनका परिणाम भोगना पड़ता है। जिन कर्मों के प्रभाव से मनुष्य जन्म ही व्यर्थ होजाता है और आत्मा को सुगति के स्थान पर दुगति भोगनी पड़ती है अर्थात् उसका सम्पूर्ण जीवन दुःख-मय होजाता है। इस सूत्र में कुछ ऐसे ही कर्मों का वर्णन किया गया है। जैसे मोहनीय कर्म के

उदय से किसी जीव को वेद विकार होगया, उसके वश में आकर पुरुष हस्त-क्रिया द्वारा वीर्यपात और स्त्री किसी काष्ठादि द्वारा कुचेष्टा करे तो अवश्य ही निर्बल हो रोगों के घर बन जायेंगे। लिखा भी है:—

कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्च्छा भ्रमिर्ग्लानिर्बल-क्षयः।
राजयक्ष्मादि रोगाश्च भवेयुर्मैथुनोत्थिताः॥

इत्यादि रोग इसी कर्म के प्रभाव से होते हैं। तथा स्मृति शक्ति की न्यूनता, अप्रतिभा, मस्तक पर तेजका अभाव, मन की विशेष चञ्चलता, किसी पदार्थ में दृढ़ विश्वास न होना, सभा-आदि में लज्जा युक्त होना, आंखों के तेज का नाश, शीघ्र ही उष्ण होना, धैर्य्य की न्यूनता, आलस्य की वृद्धि, चित्त में भ्रम, बल का नाश, नपुंसकता, स्वप्न में वीर्य-पात तथा मूत्र के साथ धातु-पतनादि विकार हस्त-मैथुन से ही उत्पन्न होते हैं।

हस्त-मैथुन करने वाले के हां सन्तति होना तो अलग रहा, वह इस दुष्कर्म को करने से अपने आप भी अल्पायु होजाता है।

संसार में ऐसा कोई सत्कर्म नहीं जिसका हस्त-मैथुन से नाश नहीं होता नाहीं कोई ऐसा रोग है जिसका हस्त-मैथुन करने वाले पर आक्रमण नहीं होता; क्योंकि प्रतिश्याय (जुकाम या शीत) के पुनः २ होने से मस्तिष्क का खोखलापन, जठराग्नि मन्द होने से क्षुधा-मान्द्य (भूख कम लगना), रुधिर अधिक न होने से श्लेष्म-वृद्धि आदि होते ही रहते हैं। तथा सदा कब्जी रहने से शरीर मिट्टी सा होजाता है। इसके अतिरिक्त "जरामरणरोगशोकबाहुल्यम्" सूत्रोक्त सारे विकार उसके पीछे पड़े ही रहते हैं। अर्थात् मैथुन क्रिया से शारीरिक कान्ति का नाश, अपमृत्यु, रोग (शारीरिक रोग) और शोक (मानसिक चिन्ता) बढ़ते ही रहते हैं। अतः मूर्खता से पवित्र वीर्य का हस्त द्वारा नाश न करना चाहिए; क्योंकि इसकी रक्षा पर ही जीवन की सत्ता निर्भर है।

हस्त-मैथुन करने वाले अपने पवित्र सदाचार को शबल (दागी) बनाते हैं और शरीर को रोगों का घर बना कर अपने जीवन पर अपने हाथ से कुल्हाड़ा मारते हैं। अतः ऐसे कर्म कदापि न करने चाहिएं और अन्य व्यक्तियों से भी न कराने चाहिएं ना हीं करने वालों को उत्साह देना चाहिए।

अब सूत्रकार दूसरे शबल का विषय वर्णन करते हैं :—

मेहुणं पडिसेवमाणे सबले ॥ २ ॥

मैथुनं प्रति-सेवमानः शबलः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**मेहुणं**–मैथुन, **पडिसेवमाणे**–सेवन करते हुए, **सबले**–शबल दोष होता है ।

अर्थ—मैथुन सेवन करने से शबल दोष लगता है ।

टीका—पूर्व सूत्र में हस्त-मैथुन का वर्णन किया गया है, इस सूत्र में मैथुन से होने वाले शबल दोष का वर्णन करते हैं ।

सदैव विषय-आसक्त व्यक्ति को भी पूर्वोक्त सारे रोग उत्पन्न हो जाते हैं । मानसिक मैथुन के विचारों से वीर्य के परमाणुओं का नाश करना आत्मा को शक्ति-हीन बनाता है । इसी तरह सदैव विषय-वासना में लिप्त रहने से मन की सारी शक्तियाँ विकसित होने के स्थान पर मुरझा जाती हैं और धीरे २ मन्द पड़ जाती हैं । अतः मैथुन का विचार तक न करना चाहिये ।

जैसे पहिले कहा जा चुका है शबल-दोष अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार तक ही माना जाता है, ऐसे ही यहां पर भी मैथुन–देव, मानुष और तिर्यक्-सम्बन्धि–अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार द्वारा सेवन किया हुआ ही शबल-दोष-आधायक (करने वाला) होता है; किन्तु यदि अनाचार से मैथुन सेवन किया जाय तो सर्वथा व्रत भङ्ग होता है । इसी बात को स्पष्ट करते हुये वृत्तिकार लिखते हैं:—

"एवं मैथुनं–दिव्यमानुषतिर्यग्योनिसम्बन्धि–अतिक्रमव्यतिक्रमातिचारैःसेव्य-मानः शबलः–अनाचारेण तु सर्वथा भङ्ग इत्यादि ।"

'समवायांग सूत्र' के २१ वें समवाय में शबल दोषों की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं:—

"मैथुनं प्रति-सेवमानोऽतिक्रमादिभिस्त्रिभिः प्रकारैः"

अर्थात् अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार द्वारा किया हुआ मैथुन शबल

दोप युक्त होता है और यदि अनाचार द्वारा सेवन किया जाए तो सर्वथा व्रतभङ्ग कहलाता है; क्योंकि शरीर से ही जब मैथुन कर लिया तो व्रत-भङ्ग होना निर्विवाद है।

इसके अतिरिक्त मैथुन से आत्म-विराधना और संयम-विराधना होना तो प्रत्यक्ष ही है; क्योंकि उन्माद या राजयक्ष्मादि होने से आत्म-विराधना होती है और स्त्री योनि में असंख्य समूर्छिम जीवों के नाश होने से संयम-विराधना होती है । उत्कृष्ट नवलक्ष जीव योनि में उत्पन्न होते हैं, पुरुष-संग से उन जीवों की विराधना अवश्य होती है । अतः सिद्ध हुआ कि यह कर्म सर्वथा त्याज्य है ।

संसार में ऐसे व्यक्ति भी हैं जो सदैव विपय वासना में लिप्त हो अपने पवित्र जीवन को शबल-दोप-युक्त बनाते हैं; किन्तु अपनी भद्र कामना करने वाले व्यक्ति को कदापि ऐसा न करना चाहिए ।

अब सूत्रकार तृतीय शबल का वर्णन करते हैं:—

राइ-भोअणं भुंजमाणे सबले ॥ ३ ॥

रात्रि-भोजनं भुञ्जानः शबलः ।

पदार्थान्वयः—**राइ-भोअणं**—रात्रि में भोजन **भुंजमाणे**—भोगते हुए **सबले**—शबल दोष लगता है ।

मूलार्थ—रात्रि में भोजन करने से शबल दोप होता है ।

टीका—इस सूत्र में जीवरक्षा के लिए रात्रि-भोजन का विवेचन किया गया है । जैसे—"भुज्यते इति भोजनं रात्रौ भोजनं रात्रि-भोजनम्" रात्रि में अशनादि पदार्थों का उपभोग करना 'रात्रि-भोजन' कहलाता है । अशनादि पदार्थों के चार भाग निम्न लिखित रीति से कहे गये हैं—१–द्रव्य से अन्नादि २–क्षेत्र से–समय क्षेत्र प्रमाण, ३–काल से–(क) दिन में ग्रहण किया भोजन दिन में खा लिया (ख) दिन में ग्रहण किया रात्रि में खा लिया (ग) रात्रि में ग्रहण किया दिन में खा लिया (घ) रात्रि में ग्रहण किया रात्रि में खाया, ४–भाव से–अशनादि यदि राग द्वेप से खाया जा रहा है तब भी शबल दोष की प्राप्ति होती है । यह ध्यान रखना चाहिए कि काल के चार विभागों में से प्रथम विभाग शुद्ध है बाकी के तीन अशुद्ध हैं ।

विधिपूर्वक भोजन करने से शबल दोष नहीं होता है। इस सूत्र में रात्रि-भोजन को शबल-दोष-युक्त कहा गया है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि रात्रि-भोजन से क्या हानि है ? गुरु उत्तर देते हैं कि रात्रि में भोजन करने से प्रथम तो अहिंसा व्रतकी पूर्ण रूप से पालना नहीं होसकती, क्योंकि सूक्ष्म जीव उपयोग पूर्वक देखने से जिस प्रकार दिन में दृष्टिगोचर हो सकते हैं उस प्रकार रात्रि में नहीं होते। अतः सिद्ध हुआ कि जीव रक्षा के लिए रात्रि में भोजन न करना चाहिए। दूसरे में रात्रि के समय जीव तथा निर्जीव कण्टकादि स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई देते, इनका भोजन में आना बहुत सम्भव है और इससे नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं, अतः आत्म-रक्षा के लिए भी रात्रि में भोजन न करना चाहिए। तीसरे में समाधि-स्थ साधुओं की समाधि में रात्रि भोजन से विघ्न पड़ता है, अतः रात्रि-भोजन सर्वथा त्याज्य है। इन सबके अतिरिक्त रात्रि में भोजन न करने का एक विशेष लाभ यह भी है कि इससे तप कर्म सहज ही में सम्पन्न होजाता है, क्योंकि रात्रि-भोजन के त्याग से आयु का शेष सारा आधा भाग तप में ही लग जाएगा।

जैन भिक्षुओं के लिए तो यह नियम परमावश्यक है; क्योंकि पांच महा-व्रतों के पश्चात् ही इसका पाठ पढ़ा जाता है, इसलिए इसका समावेश मूल गुणों में ही किया गया है।

सिद्ध यह हुआ कि रात्रि में भोजन करने से एक तो श्रीभगवान् की आज्ञा भंग होती है, दूसरे मूल-गुण-विराधना नामक दोष लगता है। अतः सूर्यास्त के अनन्तर और सूर्योदय से पूर्व कदापि भोजन न करना चाहिए। इतना ही नहीं बल्कि जब तक सूर्य की सम्पूर्ण किरण उदय न होगई हों उस समय तक भी भोजन न करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने पर भी दोष होता है।

अब सूत्रकार साधुओं के ग्रहण करने योग्य भोज्य-पदार्थों के विषय में कहते हैं :—

आहा-कम्मं भुंजमाणे सबले ॥ ४ ॥

आधा-कर्म भुञ्जानः शबलः ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**आहा-कम्म**–आधा-कर्म **भुंजमाणे**–भोगते हुए **सबले**–शबल दोष लगता है ।

मूलार्थ—आधा-कर्म आहार करने वाले व्यक्ति को शबल दोष लगता है ।

टीका—आधा कर्म आहार करने से आत्मा शबल-दोष-युक्त होता है ।

अब यह प्रश्न होता है कि आधा-कर्म आहार किसे कहते हैं ? उत्तर में कहा जाता है कि साधु के निमित्त बनाये हुए भोजन में यदि षट्-काय वध हो जाय तथा उस (साधु) के लिए यदि स्व-साधारण (अपने भोजन के समान) भोजन तय्यार किया जाए तो उसे आधा-कर्म आहार कहेंगे । इस बात को वृत्ति में स्पष्ट कर दिया गया है:—

"आहाकम्ममिति–आधानं–आधा–साधुनिमित्तं चेतसः प्रणिधानम्—यथा–अमुकस्य साधुकृते मया भोज्यादि पचनीयमिति, आधायाः कर्म–पाकादि-क्रिया–आधा-कर्म" इत्यादि ।

इस प्रकार के आहार करने से दया के भावों का नाश होता है; क्योंकि जिन जीवों के शरीर का आहार किया जाता है उन पर दया-भाव नहीं रहता ।

आधा-कर्म आहार करने से प्रथम महा-व्रत की विराधना भी होती है, क्योंकि आधा कर्म आहार करने से, तीन करण और तीन योगों से परित्यक्त (छोड़ी हुई), जीव-हिंसा की प्रतिज्ञा का पालन नहीं हो सकता । यदि मुनि उक्त विधि से बनाया हुआ आहार करे तो सात व आठ कर्मों की प्रकृतियों को बांधकर संसार-चक्र में परिभ्रमण करेगा । अतः मुनि को कभी भी आधा-कर्म आहार न करना चाहिए ।

अब सूत्रकार राज-पिण्ड-विषयक पञ्चम शबल का वर्णन करते हैं :—

राय-पिंडं भुंजमाणे सबले ॥ ५ ॥

राज-पिण्डं भुञ्जानः शबलः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—**राय-पिंडं**–राज-पिण्ड **भुंजमाणे**–भोगते हुए **सबले**–शबल दोष लगता है ।

मूलार्थ—राजा का आहार करते हुए शबल दोष लगता है ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि (जैन) साधु को जैनेतर राजाओं के घर से भोजन कभी न लेना चाहिए; विशेषतः उनके जिन का विधि-पूर्वक राज्याभिषेक हुआ है और जो खड्ग, छत्र, मुकुट और बाल-व्यञ्जनादि चिह्नों से युक्त हैं, क्योंकि इससे अनेक दोषों के होने की सम्भावना है । जैसे—१—जैनेतर राजाओं के भोजन में भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं होता २—बलिष्ठ भोजन कामोत्पादक होने से साधुओं के योग्य नहीं होता ३—बार २ राजकुल में जाने से जनता के चित्त में अनेक प्रकार की शङ्काएं उत्पन्न होती हैं ४—बहुत सम्भव है कि साधु-आगमन को अमङ्गल समझ कोई उसके शरीर को कष्ट पहुंचावे या उसके पात्रादि तोड़ दे तथा ५—यह भी हो सकता है कि साधु को चोर या गुप्तचर समझ कर कोई उसको कष्ट पहुंचावे । ऊपर कही हुई और इस प्रकार की अन्य सब क्रियाओं से जिन-शासन में लघुता आ सकती है, अतः राजपिण्ड सर्वथा त्याज्य है ।

शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि यदि राजा द्वादश-व्रत-धारी जैनी हो और विज्ञप्ति द्वारा मुनियों को भोजन के लिये निमन्त्रित करे तो उस समय उनको क्या करना उचित है ? इस के समाधान में कहा जाता है कि उत्सर्ग मार्ग में ही राज-पिण्ड का निषेध किया गया है न कि अपवाद मार्ग में । अपवाद मार्ग में राज-पिण्ड का निषेध नहीं है तथा यह मत जैन-मत सापेक्ष है । जिसकी अपेक्षा से राज-पिण्ड का निषेध है वह पक्ष भी ठीक है और जिस पक्ष में राज-पिण्ड का ग्रहण है वह भी ठीक है, किन्तु अनेक दोषों के सम्भव होने से उस मार्ग में भी निषेध ही पाया जाता है ।

अब सूत्रकार षष्ठ शबल दोष का विषय वर्णन करते हैं:—

कीयं वा पामिच्चं वा आच्छिज्जं वा अणिसिट्ठं वा आहट्टु दिज्जमाणं वा भुंजमाणे सबले ॥ ६ ॥

क्रीतं वा (अपमित्य) प्रामित्यकं वा आच्छिन्नं वा अनिसृष्टं वा आहृत्यदीयमानं वा भुञ्जानः शबलः ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**कीयं**–मूल्य देकर लिया हुआ **वा**–अथवा **पामिच्चं**–उधार लिया हुआ **वा**–अथवा **आच्छिज्जं**–किसी निर्बल से छीन कर लिया हुआ **वा**–अथवा **अणिसिट्ठं**–साधारण पदार्थ विना आज्ञा के लिया हुआ **वा**–अथवा **आहट्टु**–साधु के लिए उसके सन्मुख लाकर **दिज्जमाणं**–दिए जाते हुए पदार्थ का **भुंजमाणे**–भोग करने से **सबले**–शबल-दोष होता है । अर्थात् उक्त दोषों के सेवन करने से शबल दोष होता है ।

मूलार्थ—मूल्य से लिए हुए, उधार लिए हुए, साधारण की विना आज्ञा के लिए हुए, निर्बल से छीन कर लिए हुए, तथा साधु के स्थान पर लाकर दिये जाने वाले आहार के भोगने से शबल दोष होता है ।

टीका—इस सूत्र में साधु-वृत्ति की शुद्धि के लिए पांच प्रकार के आहार को छोड़ने की आज्ञा प्रदान की गई है । जैसे साधु को उसके नाम से वस्तु मोल लेकर देना क्रीत आहार कहलाता है । यद्यपि इसके अनेक भेद होते हैं, तथापि मुख्य निम्न लिखित चार ही हैं—

१—आत्म-द्रव्य-क्रीत २—आत्म-भाव-द्रव्य-क्रीत ३—पर-द्रव्य-क्रीत ४—पर-भाव-द्रव्य-क्रीत । इस प्रकार के आहार लेने से अनेक दोषों की प्राप्ति होती है ।

दूसरा "प्रामित्यकं" दोष है । इसका भाव यह है कि यदि कोई गृहस्थी अन्य गृहस्थी से वस्तु उधार लेकर किसी मुनि को समर्पण करना चाहे तो उस (मुनि) को उचित है कि ऐसा पदार्थ कभी ग्रहण न करे, क्योंकि ऐसा करने से अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं । इसके भी लौकिक और लोकोत्तर दो भेद हैं । लौकिक गृहस्थों के और लोकोत्तर साधुओं के परस्पर लेन देन से सम्बन्ध रखता है । जैसे—"कोपि, कियद्दिनान्तरं ते प्रत्यावर्तयिष्यामीति, एतद्दिनानन्तरं तवैतत्सदृशं वस्तु दास्यामीति वा प्रतिज्ञाय, कस्यचिद्वस्त्रादिकं गृह्णीयात्" अर्थात् यदि कोई साधु अन्य किसी साधु से कुछ समय बाद लौटाने की अथवा उसके समान अन्य वस्त्रादि वस्तु देने की प्रतिज्ञा कर वस्त्रादिक ले तो अनेक दोषों की प्राप्ति होती है—पहले पक्ष में, लिए हुए वस्त्रों के मलिन होने से, फटजाने से या चुराये जाने से परस्पर कलह होने की सम्भावना है और दूसरे में भी यही दोष आ सकता है; क्योंकि बहुत सम्भव है कि लेने वाले को उसकी वस्तु के बदले दी हुई वस्तु

पसन्द न आए और दोनों (लेने और देने वाले) में वैमनस्य हो जाए । सिद्ध यह हुआ कि साधुओं को ऐसे कार्य कभी न करने चाहिएँ ।

तीसरा दोष "आच्छिन्नं" है, इसका तात्पर्य यह है कि किसी से छीन कर दिया हुआ पदार्थ मुनि को कदापि न लेना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से अनेक दोषों की सम्भावना है । इसके भी स्वामि-विषयक, प्रभु-विषयक, और स्तेन-विषयक तीन भेद हैं ।

प्रश्न यह होता है कि स्वामी और प्रभु के अर्थ में क्या अन्तर है ? उत्तर यह है कि स्वामी ग्राम के नायक को कहते हैं और प्रभु घर के मालिक को । इनसे छीन कर तथा चोर से लेकर देने में अप्रीति, कलह, अन्तरायादि अनेक दोष होते हैं; अतः मुनि को ऐसे पदार्थ कभी ग्रहण न करने चाहिएँ ।

सर्व-साधारण पदार्थ विना सबकी सम्मति के एक व्यक्ति की विज्ञप्ति मात्र से न लेना चाहिए, न केवल एक की बल्कि सर्व-सम्मति के विना बहुमत से भी सर्व-साधारण पदार्थ नहीं लेना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से परस्पर कलह होने की सम्भावना है । जिससे आत्म और संयम-विराधना होना बहुत सम्भव है । उदाहरणार्थ—जैसे कोई कुछ व्यक्तियों की सम्मिलित वस्तुओं का विक्रय कर रहा है, उसने भक्ति-भाव से उनमें से कुछ किसी साधु के समर्पण कर दी और साधु ने उनको ग्रहण कर लिया; अब यदि साथियों को इसका पता लग जाए तो साधु अथवा विशेषतया विक्रेता को इससे बहुत हानि है । इसका असर उसके जीवन तक पर पड़ सकता है । अतः मुनि को ऐसे पदार्थ न लेने चाहिएं ।

यदि कोई व्यक्ति स्थानान्तर से आहारादि लाकर किसी साधु को देना चाहे तो साधु को उचित है कि उनका ग्रहण न करे, क्योंकि इससे भी अनेक दोषों की सम्भावना है । लाने वाला दोष या निर्दोष का विवेक तो कम ही करेगा साथ ही लेने वाले को अपने संयम का ध्यान नहीं होगा, ऐसी अवस्था में संयम-वृत्ति कैसे रह सकती है । अतः सिद्ध हुआ कि संयम-रक्षा के लिए इस प्रकार के पदार्थों का सेवन न करना चाहिए ।

ऊपर बताये हुए किसी भी प्रकार के आहार को ग्रहण करने से मुनि को शबल दोष की प्राप्ति होती है ।

'समवायाङ्गसूत्र' में केवल "उद्देसियं कीयं, आहट्टु दिज्जमाणं, भुंजमाणे सबले" इतना ही पाठ मिलता है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए सूत्रकार लिखते हैं:—"औद्देशिकं क्रीतमाहृत्य दीयमानं (च) भुञ्जानः, उपलक्षणत्वात्प्रामित्यकाच्छेद्यानिसृष्टग्रहणमप्यत्र द्रष्टव्यम्–इति" वृत्तिकार ने वृत्ति में उपलक्षण द्वारा प्रामित्यक, आच्छेद्य और अनिसृष्ट दोषों का ग्रहण किया है। 'दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र' में उक्त दोषों का मूल में ही पाठ कर दिया है।

सिद्धान्त यह निकला कि ऊपर कहे हुए सब तरह के आहार त्याज्य हैं।

अब सूत्रकार सप्तम शबल दोष का विषय वर्णन करते हैं।

अभिक्खणं अभिक्खणं पडियाइक्खित्ताणं भुंजमाणे सबले ॥ ७ ॥

अभीक्ष्णमभीक्ष्णं प्रत्याख्याय (अशनादिकं) भुञ्जानः शबलः ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**अभिक्खणं** २–पुनः पुनः **पडियाइक्खेत्ताणं**–प्रत्याख्यान करके फिर उन पदार्थों को **भुंजमाणे**–भोगते हुए **सबले**–शबल दोष होता है।

मूलार्थ—पुनः पुनः प्रत्याख्यान कर पदार्थों को भोगने वाला शबल दोष युक्त होता है।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि जिस पदार्थ का एक वार प्रत्याख्यान (त्याग) कर दिया हो फिर उसको ग्रहण नहीं करना चाहिए। जो बार २ अशनादि पदार्थों का त्याग कर फिर उन्हीं को ग्रहण करने लगता है उसको शबल दोष की प्राप्ति होती है; क्योंकि ऐसा करने से सत्य-नाश, अधैर्य, प्रतिज्ञा-भङ्ग आदि अनेक (अवान्तर) दोषों की प्राप्ति होती है। तथा देखने वाले भव्य-व्यक्तियों के अन्तःकरण से जैन धर्म की महत्ता घट जाती है। सम्भव है कि उनके चित्त में यह विचार उत्पन्न होजाय कि इनके नियमों के पालन करने का कोई ठिकाना नहीं और धर्म का उपहास होने लगे। ऐसा करने वालों का चरित्र निन्दनीय हो जाता है और जनता पर प्रकट हो जाने से जनता के हृदय से उनका विश्वास उठ जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रतिज्ञा-भङ्ग आदि क्रियाओं का फल दोनों लोकों में अशुभ होता है, अतः इन कर्मों का सर्वथा त्याग करना चाहिए, जिससे शबल तथा अन्य दोषों की प्राप्ति न हो ।

अब सूत्रकार अष्टम शबल का वर्णन करते हैं:—

अंतो छण्हं मासाणं गणाओ गणं संकममाणे सबले ॥ ८ ॥

अन्तः षण्णां मासानां गणाद्गणं सङ्क्रामन् शबलः ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**छण्हं**—छ **मासाणं**-मासों के **अंतो**—भीतर ही **गणाओ**—एक गण से **गणं**—गण में **संकममाणे**—सङ्क्रमण करते हुए **सबले**-शबल दोष होता है।

मूलार्थ—छः मास के अन्दर ही एक गण से दूसरे गण में चले जाने से शबल दोष लगता है।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि विद्याध्ययन आदि के विषय में साधु को क्या करना चाहिए । यदि अपने गण में श्रुतादि से विशेष लाभ नहीं है तो दूसरे गण में जाकर उसका लाभ उठाना चाहिए इस विषय में सूत्रकार कहते हैं:—

किसी साधु के मन में विचार हुआ कि कर्म-निर्जरा के वास्ते अपूर्व-श्रुत का ग्रहण करना चाहिए किन्तु साथ ही श्रुत-विस्मृत का अनुसन्धान भी आवश्यक है तथा चारित्र में विशेष शुद्धि और महापुरुषों की सेवा से जन्म की सफलता भी होनी चाहिए । ऐसी स्थिति में वह अपने गण में उक्त सामग्री का अभाव देख ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की शुद्धि के लिये गुरु या वृद्ध की आज्ञा से एक गण से दूसरे गण में जा सकता है । किन्तु यदि उसे गण परिवर्तन का स्वभाव पड़ जाय और वह छ मास के अन्दर ही एक गण से दूसरे गण में जाने लगे तो उसे शबल दोष लगेगा; क्योंकि छ मास तक परिवर्तित-गण में उस की शुश्रूषा होती रहती है । उसके चित्त में विचार उत्पन्न हो सकता है कि गण का परिवर्तन करना बहुत ही अच्छा है, क्योंकि इस से ज्ञान प्राप्ति के साथ २ सेवा भी होती रहती है । किन्तु

समाधि-इच्छुक को कभी ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि इससे समाधि शबल दोष-युक्त हो जाती है। इस के अतिरिक्त ऐसा करने से उस की स्वच्छन्दता बढ़ जाती है और इससे लोगों का उस पर अविश्वास हो जाता है, जो उसको सब प्रकार से अयोग्य बना देता है। कृतज्ञता का भाव तो उस में अवशिष्ट ही नहीं रह सकता।

सारे कथन का सारांश यह निकला कि छः मास के अन्दर एक गण से दूसरे गण में न जाना चाहिए।

अब सूत्रकार नवम शबल दोष का वर्णन करते हैं:—

अंतो मासस्स तओ दगलेवे करेमाणे सबले ॥ ९ ॥

अन्तर्मासस्य त्रीनुदकलेपान् कुर्वन् शबलः ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—**मासस्स**–एक मास के **अंतो**–भीतर **तओ**–तीन **दग-लेवे**–उदक (जल) के लेप **करेमाणे**–करते हुए **सबले**–शबल दोष लगता है।

मूलार्थ—एक मास के भीतर तीन उदक-लेप करने से शबल दोष लगता है।

टीका—साधु को आठ मास धर्म प्रचार के लिए देश में भ्रमण करने का विधान है। इस सूत्र में बताया गया है कि यदि मार्ग में नदी जलाशयादि पड़ जावें तो उसे (यात्री साधु को) क्या करना चाहिए। इसी बात को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि यदि किसी नगर को जाते हुए मार्ग में नदी आदि जलाशय पड़ जावें तो साधु सूत्रोक्त विधि से उनको पार कर नगर में जा सकता है। किन्तु यदि एक मास में तीन बार उनको (जलाशयादि को) पार करे तो शबल दोष का भागी होता है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि एक मास में एक या दो बार विधि-पूर्वक जलावगाहन करने से शबल दोष नहीं होता। किन्तु तीसरी बार करने से अवश्य ही होजाता है।

"आचाराङ्ग सूत्र" में जङ्घा प्रमाण और इस सूत्र की तथा "समवायाङ्ग सूत्र" की व्याख्या में नाभि प्रमाण जलावगाहन का विधान (लेख) है।

धर्म-प्रचार और जीव-रक्षा को लक्ष्य रखकर ही सूत्रकार ने उक्त कथन किया है।

अब सूत्रकार दशम शबल दोष का वर्णन करते हैं ।

अंतो मासस्स तओ माइट्ठाणे करेमाणे सबले ॥१०॥

अन्तर्मासस्य त्रीणि माया-स्थानानि कुर्वन् शबलः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—**मासस्स**—एक मास के **अंतो**—भीतर **तओ**—तीन **माइट्ठाणे**—माया-स्थानों को **करेमाणे**—करते हुए **सबले**—शबल दोष लगता है ।

मूलार्थ—एक मास के अन्तर्गत तीन माया-स्थान करने से शबल दोष लगता है ।

टीका—यह अपवाद-सूत्र है । माया (छल कपट) का सेवन सर्वथा निषिद्ध है । यहां सूत्रकार कहते हैं कि यदि कोई भिक्षुक भूल से माया-स्थानों का सेवन कर बैठे तो उसे ध्यान रखना चाहिए कि दो से अधिक माया-स्थानों का सेवन शबल-दोष करने वाला होता है ।

इस कथन से सूत्रकार का यह आशय भी प्रतीत होता है कि मायावी की आत्मा क्रोध, मान, माया और लोभ चारों कषायों से युक्त तो होती है किन्तु वह सदा इसी चिन्तना में रहता है कि कैसे वह इन कषायों से मुक्त हो । एक बार इनसे मुक्त होकर यदि मोहोदय से वह फिर इनका सेवन कर बैठे तो उसके लिए नियम कर दिया है कि दो से अधिक बार माया-स्थान-सेवन से भिक्षुक शबल दोष भागी होता है ।

सिद्धान्त यह निकला कि माया-स्थानों का सेवन कभी न करना चाहिए । यदि कोई माया-पूर्वक आलोचना भी करे तो उसे एक मास अधिक उसका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा । यह अपवाद सूत्र है अतः इस में स्थूलतया (गौण रूप से) ही माया के विषय में कहा गया है ।

माया का सर्वथा परित्याग ही श्रेयस्कर है, क्योंकि ऋजु-(शुद्ध प्रकृति वाला) आत्मा ही आत्म-विशुद्धि प्राप्त कर सकता है न कि मायावी ।

"समवायाङ्ग सूत्र" में "करेमाणे" के स्थान पर "सेवमाणे" पाठ है और किसी २ लिखित पुस्तक में "ठाणे" के स्थान पर "ठाणाइं" पाठ भी मिलता है ।

अब सूत्रकार एकादश शबल दोष का विषय वर्णन करते हैं :—

सागरिय-पिंडं भुंजमाणे सबले ॥ ११ ॥

सागरिक-पिण्डं भुञ्जानः शबलः ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**सागरिय**—स्थानदाता के **पिंड**—आहार को **भुंजमाणे**—भोगते हुए **सबले**—शबल दोष लगता है ।

मूलार्थ—आश्रय दाता के आहार को भोगने से शबल दोष लगता है ।

टीका—साधु जिस घर में ठहरे उसे उपाश्रय या शय्या कहते हैं । सूत्र में बताया गया है कि साधु जिस गृहस्थ के स्थान पर ठहरे, उससे ठहरने की तिथि से ही आहारादि ग्रहण न करे; क्योंकि ऐसा करने से उस की (आश्रय-दाता की) श्रद्धा और भक्ति विशेष हो सकती है । यदि आश्रयदाता के घर से ही आहारादि पदार्थ भी लिए जावें तो सम्भव है कि स्थान देने के लिए भी उस के भावों में परि-वर्तन आ जावे; अतः शास्त्रकारों ने उसके घर के तथा उससे किसी प्रकार भी सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों के लेने का निषेध कर दिया है ।

यह प्रश्न हो सकता है कि जिस व्यक्ति में भक्ति-भाव नहीं उससे न लेना ठीक है किन्तु जो भक्ति-पूर्वक समर्पण करता है उससे लेने में क्या हानि है ? समाधान में कहा जाता है कि नियम सब के लिए एक होता है और उसका सर्वत्र एकसा पालन होना चाहिए । यदि एक से लिया जाय और दूसरे से न लिया जाय तो गृहस्थों में परस्पर वैमनस्य होने का भय है । दूसरे साधुओं के चित्त भी कई प्रकार के संकल्प विकल्पों से आक्रान्त रहेंगे । जैसे किसी धनिक के घर पर ठहर साधु के चित्त में विचार आसकता है कि इतना धनी होने पर भी अमुक व्यक्ति ने भोजन के लिए निमन्त्रित न किया । क्या हुआ यदि हम इसके घर ठहर गए । इत्यादि अनेक भावों से चित्त में राग और द्वेष की विशेष उत्पत्ति होने की सम्भावना रहती है; अतः आश्रय-दाता के घर से आहार न लेना ही अच्छा है । यही त्रिकाल-हितकारी वीतराग भगवान् की वाणी है ।

"समवायाङ्ग सूत्र" में यह सूत्र 'पञ्चम' और राज-पिंड-विषयक सूत्र 'एकादश' वर्णन किया गया है ।

अब सूत्रकार प्राणातिपात के विषय में कहते हैं :—

आउट्टियाए पाणाइवायं करेमाणे सबले ॥ १२ ॥

आकुट्या प्राणातिपातं कुर्वन् शबलः ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—**आउट्टियाए**—जानकर **पाणाइवायं**—प्राणातिपात (जीव हिंसा) **करेमाणे**—करते हुए **सबले**—शबल दोप लगता है ।

मूलार्थ—जान बूझ कर जीव-हिंसा करने से शबल दोप होता है ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि किस तरह की जीव-हिंसा से शबल दोप होता है । मायावी व्यक्तियों से जीव-हिंसा होना अनिवार्य है । इसी बात को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जानकर जीव-हिंसा करने से ही शबल दोप होता है ।

यदि साधु किसी ऐसे गृहस्थी से, जिसके हाथ आदि अङ्ग सचित्त (जीव-युक्त) रज से लिप्त या सचित्त जल से स्निग्ध हों या जो अग्नि कार्य से, व्यजन (पङ्खा) आदि से तथा काष्ठादि छेदन से द्वीन्द्रियादि जीवों की हिंसा कर रहा हो, भिक्षा ले तो शबल दोप का भागी होगा । इसके अतिरिक्त जो साधु स्वयं प्राणातिपात में लगा हुआ हो तथा मन से अथवा वाणी से किसी से द्वेप करे या किसी को द्वेप सूचक वचन कहे, उसे भी शबल दोप लगता है ।

यह स्पष्ट ही है कि यदि अनजान में किसी से प्राणातिपात हो जाय तो शबल दोप नहीं होता किन्तु जान कर करने से ही होता है ।

सिद्ध यह हुआ कि समाधि-इच्छुक व्यक्ति को प्राणातिपात नहीं करना चाहिए, नाहीं किसी से द्वेष-भाव रखना चाहिए ।

सूत्रकार प्राणातिपात के अनन्तर अब मृपा-वाद के विपय में कहते हैं :—

आउट्टियाए मुसा-वायं वदमाणे सबले ॥ १३ ॥

आकुट्या मृषा-वादं वदन् शबलः ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—**आउट्टियाए**–जानकर **मुसा-वायं**–मृषा-वाद **वदमाणे**–बोलते हुए **सबले**–शबल दोष लगता है ।

मूलार्थ—जानकर असत्य बोलने से शबल दोष होता है ।

टीका—इस सूत्र में प्राणातिपात की रीति से ही मृषा-वाद का वर्णन किया गया है । जैसे–जान कर असत्य भाषण करना, संदिग्ध विषय को असंदिग्ध बताना, किसी पदार्थ के स्वरूप को जानते हुए भी झूठ बोल कर लोगों से छिपाना तथा यश और कीर्ति के लिए झूठा आडम्बर रचना शबल-दोषाधायक होता है । यदि कोई व्यक्ति व्याख्यानादि की उपयुक्त शैली, सूत्र-व्याख्या और शिष्यादि के लोभ के वश में आकर असत्य का प्रयोग करे तो भी उसे शबल दोष लगता है ।

प्रश्न यह होता है कि असत्य-भाषण से द्वितीय महा-व्रत का भंग होता है, अतः इसको महा-व्रत-भंग दोष कहना चाहिए था–शबल दोष क्यों कहा ? समाधान यह है कि महा-व्रत-भंग इससे भी उत्कृष्ट भाव-असत्य आदि कारणों से होता है । जैसे किसी पदार्थ का स्वरूप न जानकर उसके विपरीत मिथ्या कल्पना कर कहना । यहां यह कथन केवल द्रव्य-असत्य के विषय में प्रतीत होता है । परन्तु समाधि-इच्छुक को इससे भी बचने का प्रयत्न करना चाहिए । जैसे–राजा आदि की हिंसा महामोहनीय कर्म का कारण है किन्तु स्नानादि से हुई जीव-हिंसा हिंसा होते हुए भी उस में भावों की तीव्रता नहीं होती इसी प्रकार मृषा-वाद के विषय में भी जानना चाहिए ।

मृषा-वाद के अनन्तर अब सूत्रकार अदत्तादान के विषय में कहते हैं :—

आउट्टियाए अदिण्णादाणं गिण्हमाणे सबले ॥ १४ ॥

आकुट्या अदत्त-दानं गृह्णन् शबलः ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—**अदिण्णादाणं**–अदत्त-दान **आउट्टियाए**–जानकर **गिण्हमाणे**–ग्रहण करते हुए **सबले**–शबल दोष लगता है ।

मूलार्थ—जानकर अदत्त-दान ग्रहण करने से शबल दोष होता है ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि जानकर, विना आज्ञा के किसी वस्तु का उपभोग करने से शबल-दोष होता है । किन्तु इसका तात्पर्य चोरी आदि

बड़े दुष्कर्मों से नहीं है, केवल साधारण वस्तु के विना आज्ञा ग्रहण से ही है । उदाहरणार्थ कल्पना करो कि एक पदार्थ दश व्यक्तियों का साधारण है अर्थात् दश व्यक्ति उसके पाने के अधिकारी हैं, उनमें एक यदि अन्य नौ की आज्ञा विना उस पदार्थ का उपयोग करे तो उसको शबल दोष की प्राप्ति होगी ।

किन्तु धन, धान्य, पशु और स्त्री आदि की चोरी से, ताला तोड़ डाका मारने से, लूटमार करने से तथा मकान में सन्धि लगाने से तो महाव्रत-भङ्ग-दोष होता है । क्योंकि इन कर्मों से तृतीय महाव्रत का भङ्ग होता है । अतः इस विषय में अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार पर्यन्त ही शबल दोष जानना चाहिए । सिद्ध यह हुआ कि अदत्त-दान कभी ग्रहण न करे ।

व्यवहार नय के अनुसार केवल भावों के संक्रमण (परिवर्तन) से ही शबल दोष होता है ।

अब सूत्रकार पृथ्वी-काय की रक्षा के विषय में कहते हैं:—

आउट्टियाए अणंतर-हिआए पुढवीए ठाणं वा निसीहियं वा चेतमाणे सबले ॥ १५ ॥

आकुट्या अनन्तर्हितायां पृथिव्यां स्थानं वा नैषेधिकं वा चेतयन् शबलः ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**आउट्टियाए**–जानकर **अणंतरहिआए**–सचित्त **पुढवीए**–पृथिवी पर **ठाणं**–कायोत्सर्ग करना **वा**–अथवा **निसीहियं**–बैठना **वा**–अथवा अन्य क्रियाओं को **चेतमाणे**–करते हुए **सबले**–शबल दोष लगता है ।

भावार्थ—जानकर, सचित्त पृथिवी पर निरन्तर कायोत्सर्ग करते हुए, बैठते हुए तथा इसके समान अन्य क्रियाएं करते हुए शबल दोष होता है ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को पृथ्वी-काय जीवों की रक्षा यत्न से करनी चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से ही संयम-आराधना नियम-पूर्वक होसकती है ।

सचित्त पृथिवी में, जानकर निरन्तर कायोत्सर्ग करने से, स्वाध्याय करने

से, शयन करने से, बैठने से तथा इनके समान अन्य क्रियाएँ करने से शबल दोष लगता है; क्योंकि जो जानकर इस प्रकार करेगा उसके चित्त में पृथ्वी-काय जीवों की रक्षा का भाव नहीं रह सकता। जब तक कोई उक्त जीवों की रक्षा के लिए यत्न-शील रहेगा तब तक ही उसके चित्त में रक्षा का भाव बना रह सकता है, जिस समय उसके चित्त से रक्षा का भाव उड़ जायगा उसी समय उसकी आत्मा आत्म-विराधना और संयम-विराधना युक्त हो जाएगी।

सिद्ध यह हुआ कि ऊपर कही हुई कोई भी क्रिया सचित्त पृथिवी में न करे। समाधि का मुख्य कारण होने से इसका सर्व-प्रथम वर्णन किया गया है।

किसी २ प्रति में "सेज्जं वा" (शयनं वा) अर्थात् सचित्त पृथिवी में शयन करना—ऐसा पाठ भी मिलता है। किन्तु "समवायाङ्ग सूत्र" में यह पाठ नहीं है, अपितु प्रस्तुत अध्ययन की प्रतियों में ही है।

सूत्रकार वक्ष्यमाण सूत्र में भी इसी विषय में कहते हैं:—

एवं ससणिद्धाए पुढवीए एवं ससरक्खाए पुढवीए ॥ १६ ॥

एवं सस्निग्धायां पृथिव्यां, एवं सरजस्कायां पृथिव्याम् ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**–इसी प्रकार **ससणिद्धाए**–स्निग्ध **पुढवीए**–पृथिवी पर अथवा **एवं**–इसी प्रकार **ससरक्खाए**–सचित्त रज-युक्त **पुढवीए**–पृथिवी पर कायोत्सर्ग तथा स्वाध्यायादि क्रियाएं न करनी चाहिएँ।

मूलार्थ—इसी प्रकार स्निग्ध और सचित्त-रज-युक्त पृथिवी पर कायोत्सर्गादि क्रियाएं न करनी चाहिएँ।

टीका—पूर्व सूत्र की तरह इस सूत्र में भी पृथिवी-काय जीवों की रक्षा के विषय में ही प्रतिपादन किया गया है।

पानी और बालू के मेल से युक्त (कर्दम–कीचड़ वाली) पृथिवी को स्निग्ध और सचित्त तथा अचित्त रज से अतिश्लक्ष्ण (चिकनी) पृथिवी को सरजस्क पृथिवी

कहते हैं। उक्त दोनों प्रकार की पृथिवी में कायोत्सर्ग, स्वाध्याय तथा शयनादि क्रियाओं के करने से दया के भावों में न्यूनता आजाती है; अतः जीव रक्षा का ध्यान रखते हुए अपने शारीरिक सुखों के लिए सचित्त पृथिवी पर उक्त क्रियाएं न करनी चाहिएँ; क्योंकि जीव-विराधना का परिणाम सुखकर न कभी हुआ है न हो सकता है।

"समवायाङ्ग सूत्र" में इस सूत्र के स्थान पर निम्नलिखित पाठ है—

"एवं आउट्टिआ चित्तमंताए पुढवीए आउट्टिआ चित्तमंताए सिलाए कोलावासंसि वा दारुए ठाणं वा सिज्जं वा निसीहिअं वा चेतमाणे सबले" ॥ १६ ॥ (एवमाकुट्या चित्तवत्यां पृथिव्यां आकुट्या चित्तवत्यां शिलायां लेष्टौ वा कोलावासे दारुणि इत्यादि) "कोलाः—घुणाः, तेपामावासः इति वृत्तिः"। किन्तु पाठ भेद होने पर भी दोनों का भाव एक ही है।

अब सूत्रकार जीव-रक्षा के विपय में कहते हैं:—

एवं आउट्टियाए चित्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलुए कोलावासंसि वा दारुए-जीव-पइट्ठिए सअंडे सपाणे सबीए सहरिए सउस्से सउदगे सउत्तिंगे पणग-दग मट्टीए मक्कडा-संताणए तहप्पगारं ठाणं वा सिज्जं वा निसीहियं वा चेएमाणे सबले ॥ १७ ॥

एवमाकुट्या चित्तवत्यां शिलायां चित्तवति लेष्टौ कोलावासे वा, दारुणि जीव-प्रतिष्ठिते, साण्डे, सप्राणे, सबीजे, सहरिते सोषे सोदके सोत्तिङ्गे, पनकदक-मृत्तिकायां, मर्कट-सन्ताने, तथाप्रकारं स्थानं वा शयनं वा नैषेधिकं वा चेतयन् (कुर्वन्) शबल ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—एवं—इसी प्रकार आउट्टियाए—जानकर चित्त-मंताए—चेतना

वाली **सिलाए**—शिला के ऊपर **चित्त-मंत्ताए**—चेतना वाले **लेलुए**—प्रस्तर खण्ड पर **वा**—अथवा **कोलावासंसि**—घुणा वाले काष्ठ पर तथा **दारु-जीव-पयट्ठिए**—जीव-प्रतिष्ठित काष्ठ पर **साएडे**—अण्ड-युक्त स्थान पर **सप्राणे**—द्वीन्द्रियादि जीव-युक्त **सबीए**—बीज युक्त **सहरिए**—हरित संयुक्त **सओसे**—ओस-युक्त **सउदगे**—जल-युक्त **सउत्तिङ्ग**—पिपीलिका नगर **पणग**—पांच वर्ण के पुष्प **दग**—सचित्त जल से युक्त **मट्टीए**—मिट्टी **मक्कडा**—मर्कट जीव विशेष **संताणए**—जालक (जाला) इन स्थानों पर **तहप्पगारं**—तथा ऐसे अन्य स्थानों पर, जहां जीव विराधना की सम्भावना हो **ठाणं**—कायोत्सर्ग करना **वा**—अथवा **सिज्जं**—शयन करना **वा**—अथवा **निसीहियं**—बैठना **वा**—समुच्चय अर्थ में है **चेएमाणे**—उक्त क्रियाएं करते हुए **सबले**—शबल दोष होता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार, जानकर, चेतना वाली शिला पर, चेतना वाले पत्थर के ढेले पर, घुण वाले काष्ठ पर, जो जीव युक्त है, और ऐसे स्थान पर जहां अण्डे, प्राणी, बीज, हरित, ओस (अवश्याय), उदक, कीड़ी-नगर, पांच वर्ण के पुष्प, दग, मिट्टी (सचित्त जल में मिली हुई मिट्टी—कीचड़) मर्कट—कोलिया जीव का संतान (जाला) आदि हों तथा जहां जीव-विराधना की सम्भावना हो वहां कायोत्सर्ग करना, शयन करना और बैठना आदि क्रियाएं करने से शबल दोष होता है।

टीका—इस सूत्र में षट्-काय जीवों की रक्षा के विषय में विधान किया गया है। जब तक आत्मा जीव-रक्षा में यत्न-शील नहीं होगा, तब तक प्रथम महा-व्रत को पालना असम्भव तो नहीं किन्तु कष्ट-साध्य अवश्यही हो जायगा।

अतः सिद्ध हुआ कि प्रत्येक कार्य यत्न-पूर्वक करना चाहिए। तथा जान कर, सचित्त (चेतना-युक्त—जीव-युक्त) शिला या शिलापुत्र (पत्थर के टुकड़े) पर, घुण तथा अन्य उसके समान जीवों से घिरे हुए अर्थात् घुणादि जीवों से युक्त, अण्डों से युक्त, द्वीन्द्रियादि जीवों से युक्त, बीज-युक्त, हरित-काय-युक्त, ओस-युक्त, जल-युक्त, भूमि में बिल बनाने वाले जीवों से युक्त, पांच वर्ण के पुष्पों से युक्त, जल और मिट्टी से युक्त (कीचड़ वाले) मर्कट-संतान (मर्कट संतानं-कोलिका जालकंलूत पुटका वा—मकड़ी के जाले) से युक्त स्थान पर तथा इस प्रकार के अन्य स्थानों पर जीव-रक्षा के लिए कायोत्सर्ग, शयन और बैठना-आदि क्रियाएं न करनी चाहिएं, क्योंकि इससे जीव-विराधना अवश्य ही होगी और फिर शबल-दोष का होना अनिवार्य है।

अतः पूर्ण यत्न से स्थान को देख तथा शुद्ध कर ऊपर कही हुई क्रियाएं करे ।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सूत्र में पृथ्वी, जल , वनस्पति और त्रस कायिक जीवों का तो प्रत्यक्ष पाठ आगया है किन्तु तेज और वायु-काय के जीवों के विषय में कुछ नहीं कहा । क्या उनकी रक्षा नहीं करनी चाहिए ? उत्तर में कहा जाता है कि कायोत्सर्गादि क्रियाएं काष्ठादि के ऊपर ही हो सकती हैं, अतः उन में रहने वाले जीवों की विराधना की सम्भावना इन क्रियाओं से है किन्तु तेजस्काय और वायु-काय जीवों का ऐसा अधिष्ठान है ही नहीं जिसमें कायोत्सर्गादि क्रियाओं से जीव-विराधना हो सके अतः पाठ देना अनुचित समझकर ही शास्त्रकार ने इनका उक्त सूत्र में पाठ नहीं दिया । क्योंकि जीव-रक्षा समाधि के लिए आवश्यक है अतः उपलक्षण से तेजस्काय और वायु-काय जीवों की रक्षा भी अवश्य करनी चाहिए । जैसे—अग्निकाय जीवों की रक्षा के लिए जहां पर अग्नि-काय-समारम्भ हो रहा हो वहां पर नहीं बैठना चाहिए और शीत-काल में अग्नि के समीप बैठकर उसका सेवन भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से अग्नि के न्यून तथा अधिक होने पर चित्त में अवश्य ही अनेक तरह के संकल्प विकल्प उत्पन्न होंगे और समय २ पर इसको (अग्नि को) अधिक प्रज्वलित करने के लिए इन्धन (लकड़ी) आदि उसमें डालने पड़ेंगे, जिससे अग्निकाय जीवों की विराधना अनिवार्य है । इसी प्रकार वायु-काय जीवों के विषय में भी जानना चाहिए। यदि यत्न-पूर्वक स्फोटादि करेगा तब ही वायु-काय जीवों की रक्षा हो सकती है ।

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि शबल दोष-रहित होकर ही प्रथम महाव्रत की पालना करनी चाहिए ।

अब सूत्रकार वनस्पति की प्रधानता सिद्ध करने के लिए फिर वनस्पति के विषय में ही कहते हैं ।

आउट्टियाए मूल-भोयणं वा कंद-भोयणं वा खंध-भोयणं वा तया-भोयणं वा पवाल-भोयणं वा पत्त-भोयणं वा पुप्फ-भोयणं वा फल-भोयणं वा बीय-भोयणं वा हरिय-भोयणं वा भुंजमाणे सबले ॥ १८ ॥

आकुट्या मूल-भोजनं वा कंद-भोजनं वा स्कन्ध-भोजनं वा त्वग्-भोजनं वा प्रबाल-भोजनं वा पत्र-भोजनं वा पुष्प-भोजनं फल-भोजनं वा बीज-भोजनं वा हरित-भोजनं वा भुञ्जानः शबलः ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**आउट्टियाए**–जानकर **मूल-भोयणं**–मूल का भोजन वा–अथवा **कंद-भोयणं**–कंद का भोजन वा–अथवा **खंध-भोयणं**–स्कन्ध का भोजन वा–अथवा **तया-भोयणं**–त्वक् का भोजन वा–अथवा **पवाल-भोयणं**–प्रबाल का भोजन वा–अथवा **पत्त-भोयणं**–पत्र का भोजन वा–अथवा **पुप्फ-भोयणं**–पुष्पों का भोजन वा–अथवा **फल-भोयणं**–फलों का भोजन वा–अथवा **बीय-भोयणं**–बीजों का भोजन वा–अथवा **हरिय-भोयणं**–हरित-काय का भोजन वा–समुच्चय अर्थ में है **भुंजमाणे**–भोगते हुए **सबले**–शबल दोष लगता है।

मूलार्थ—जानकर मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वक्, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज और हरित के भोजन करने से शबल दोष होता है।

टीका—इस सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि साधु को सचित्त वनस्पति का आहार कदापि न करना चाहिए। यदि मुनि इस बात का विवेक न करेगा तो उसका प्रथम महा-व्रत शबल दोष-युक्त हो जाएगा।

इस सूत्र में "भुंजमाणे" पाठ 'नयों' की अपेक्षा से ही लिया गया है। "कडेमाणे कडे" की तरह अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार पर्य्यन्त ही शबल दोष हो सकता है, यदि अनाचार का ही सेवन किया जाय तो उसे शबल दोष नहीं कहा जाएगा। अतः सिद्ध हुआ कि वनस्पति-विषयक शबल दोष से सदा बचा रहे।

मूल सूत्र में वनस्पति के निम्न-लिखित दश भेद वर्णन किये गये हैं:—

१—मूल············अल्लक, मूलक सट्टादि।
२—कंद············उत्पल, विदारी कन्दादि।
३—स्कन्ध···········भूमि के ऊपर प्रस्फुटित शाखाएं।

४—त्वक्············छाल ।

५—प्रवाल··········नवीन पत्ते, कुंपल (अंकुर) आदि ।

६—पत्र············ताम्बूल, वल्ली पत्रादि ।

७—पुष्प············मधूक पुष्पादि ।

८—फल·············कर्कटी, त्रपु, आम्रादि ।

९—बीज············शाल्यादि ।

१०—हरित···········दूर्वादि ।

इन में से किसी भी सचित्त वनस्पति का सेवन नहीं करना चाहिए । सचित्त वनस्पति की तरह सचित्त मृत्तिका और जलादि के विषय में भी जानना चाहिए ।

किसी २ लिखित प्रति में निम्न-लिखित पाठ-भेद भी देखने में आता है:—

"आउट्टिआए मूल-भोयणं वा, पवाल-भोयणं वा, पत्त-भोयणं वा पुप्फ-भोयणं वा फल-भोयणं वा बीय-भोयणं वा तया-भोयणं वा हरिय-भोयणं वा कंद-भोयणं वा रूढय-भोयणं वा भुंजमाणे सबले" ॥ १८ ॥

समवायाङ्ग सूत्र में निम्न लिखित पाठ है:—

"आउट्टिआए मूल-भोयणं वा, कंद-भोयणं वा तया-भोयणं, पवाल-भोयणं, पुप्फ-भोयणं, फल-भोयणं, हरिय-भोयणं वा भुंजमाणे सबले" ॥ १८ ॥

किन्तु इन सब सूत्रों का भाव एक ही है । अर्थात् सचित्त और अप्राशुक भोजन नहीं करना चाहिए ।

अब सूत्रकार जल-काय जीवों की रक्षा के विषय में कहते हैं:—

अंतो संवच्छरस्स दस दग-लेवे करेमाणे सबले ॥ १९ ॥

अंतः सम्वत्सरस्य दशोदकलेपान् कुर्वन् शबलः ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः—**संवच्छरस्स**—एक संवत्सर के **अंतो**—भीतर **दस**—दश **दग**—पानी के **लेवे**—लेप **करेमाणे**—करते हुए **सबले**—शबल दोष लगता है ।

सूत्रार्थ—एक सम्वत्सर के भीतर दश जल के लेप करने से शबल दोष होता है ।

टीका—इस सूत्र में पूर्व-कथित नवम सूत्र का विषय ही फिर से स्फुट किया गया है। जैसे—नवम सूत्र में वर्णन किया गया था कि एक मास के भीतर तीन बार जलाशयों में अवगाहन करने से शबल दोष होता है । यह आपाततः (अपने आप ही) आजाता है कि एक या दो बार जल-अवगाहन करने से न तो शबल-दोष और नां ही श्रीभगवद्-आज्ञा-भङ्ग दोष होता है ।

इस कथन से कुछ वक्र जड़-बुद्धि यह न विचार करें कि एक मास में तीन बार जलावगाहन से शबल दोष होता है और यदि दो बार किया जाय तो नहीं होता, अतः एक वर्ष के भीतर २४ बार नदी आदि जलाशयों के अवगाहन करने में कोई आपत्ति नहीं । उन शिष्यों के इस तर्क को लक्ष्य में रखते हुए इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि एक सम्बत्सर के भीतर नौ बार से अधिक नदी आदि जलाशयों में अवगाहन करने से शबल दोष होता है ।

धर्म-प्रचार और जीव-रक्षा का भाव ध्यान में रखते हुए ही श्री सर्वज्ञ प्रभु ने प्रतिपादन किया है कि सम्बत्सर के भीतर दश बार जलावगाहन नहीं करना चाहिए । यदि कोई करेगा तो उसको आज्ञा-भङ्ग और शबल दोनों दोष लगेंगे ।

सूत्र-कर्ता के भाव जीव-रक्षा की ओर विशेष हैं, अतः उक्त तर्क का निराकरण करने के लिए प्रस्तुत सूत्र की रचना की गई । साथ ही यह ध्वनि भी निकलती है कि प्रत्येक कार्य उत्सर्ग और अपवाद मार्ग के आश्रित होकर ही करना चाहिए । तथा प्रत्येक प्राणी को अनेकान्त-मार्ग (स्याद्वाद) के अनुसार चलकर क्रियाकाण्ड या पदार्थों के बोध के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए; तभी अभीष्ट पदार्थ की सिद्धि हो सकेगी ।

अब सूत्रकार पुनः माया-स्थानों के विषय में कहते हैं:—

अंतो संवच्छरस्स दस माइ ठाणाइं करेमाणे सबले ॥ २० ॥

अन्तः सम्वत्सरस्य दश माया-स्थानानि कुर्वन् शबलः ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—**संवच्छरस्स**–एक सम्वत्सर के **अंतो**–भीतर **दस**–दश **माई**–माया के **ठाणाइं**–स्थान **करेमाणे**–करते हुए **सबले**–शबल दोष युक्त होता है ।

मूलार्थ—एक सम्वत्सर के अन्दर दश माया-स्थान करने से शबल दोष होता है ।

टीका—दशम सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि एक मास के अन्तर्गत तीन बार माया-स्थानों के सेवन से शबल-दोष होता है । सम्भव है कोई तर्काभास करने वाला व्यक्ति इसका अनुचित अर्थ समझ सम्वत्सर में चौबीस बार माया-स्थानों का सेवन कर बैठे । अतः यहां सूत्रकार कहते हैं कि एक वर्ष में दश बार माया-स्थान सेवन करने से शबल-दोष की प्राप्ति होती है ।

माया-स्थानों का सेवन उपादेय रूप से विधान नहीं किया गया है किन्तु अपवाद रूप से ही यहां उसका कथन किया गया है । अतः किसी को भी उनके ग्रहण करने का इच्छुक नहीं होना चाहिए, बल्कि जहां तक हो सके उनके (माया-स्थानों के) त्यागने का प्रयत्न करे; क्योंकि वे सर्वथा त्याज्य हैं और उनके त्यागने में ही श्रेय है ।

यहां यह सूत्र भी दशम सूत्र का अपवाद रूप है । तात्पर्य्य यह है कि एक वर्ष के भीतर नौ से अधिक माया-स्थानों के सेवन से शबल दोष होता है । अथवा इस स्थान पर यह कथन अनन्तानुबन्धिनी, अप्रत्याख्यायिनी अथवा प्रत्याख्यायिनी माया के विषय में प्रतीत होता है ।

अब सूत्रकार पुनः जल-काय जीवों की रक्षा के विषय में कहते हैं:—

आउट्टियाए सीतोदय-वियड-वग्घारिय-हत्थेण वा मत्तेण वा दव्विण्ण वा भायणेण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहित्ता भुंजमाणे सबले ॥ २१ ॥

आकुट्या शीतोदकविकट-व्यापारितेन हस्तेन वा अमत्रेण (पात्रेण) वा दर्व्या वा भाजनेन वा अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा प्रतिगृह्य भुञ्जानः शबलः ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः—**आउट्टियाए**–जानकर **वियड**–सचित्त **सीतोदय**–शीतोदक **वग्घारिय**–लिप्त हुए **हत्थेण**–हाथ से **वा**–अथवा **मत्तेण**–पात्र से **वा**–अथवा **दव्विएण**–दर्वी (कर्छी) से **वा**–अथवा **भायणेण**–भाजन से **असणं वा**–अन्न अथवा **पानं**–पानी **वा** अथवा **खाइमं**–खाद्य पदार्थ–**वा**–अथवा **साइमं**–स्वादिष्ट पदार्थ **वा**–अन्य साधु के ग्रहण करने योग्य पदार्थ **पडिगाहित्ता**–लेकर **भुंजमाणे**–भोगते हुए **सबले**–शबल दोष लगता है ।

मूलार्थ—जानकर शीतोदक में व्याप्त हुए हाथ से, पात्र से, दर्वी से, भाजन से अशन, पानी, खाद्य पदार्थ या स्वादिम पदार्थ लेकर भोगने से शबल-दोष लगता है ।

टीका—इस सूत्र में जल-काय जीवों की रक्षा के विषय में पुनः प्रतिपादन किया गया है । जैसे—कोई साधु किसी गृहस्थी के घर भिक्षा के लिए गया; यदि उस समय वह (गृहस्थी) स्नानादि क्रियाएं कर रहा हो और उसके हस्तादि अवयव सचित्त जल से न केवल लिप्त हों बल्कि उनसे जल-बिन्दु भी गिर रहे हों तो साधु को उचित है कि उस समय उसके हाथों से, पात्र से, दर्वी से तथा भाजन से अशन, पानी, खादिम और स्वादिम पदार्थों को ग्रहण न करे, क्योंकि इससे जल-काय जीवों की विराधना के कारण शबल दोष होता है ।

सिद्धान्त यह निकला कि जल-काय जीवों की रक्षा भी पृथ्वीकाय जीवों की रक्षा की तरह आवश्यक है; क्योंकि संयम-रक्षा जीव-रक्षा के ऊपर ही निर्भर है।

जल से मनुष्य का सम्बन्ध विशेष होता है, अतः जल-काय जीवों की रक्षा में भी विशेष सावधानता की आवश्यकता है; इसीलिए पुनः जल-विषयक कथन किया गया है । 'समवायाङ्ग सूत्र' में निम्नलिखित पाठ भेद है 'अभिक्खणं २ सीतोदय-वियड-वग्घारिय-पाणिणा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहित्ता भुंजमाणे सबले' ॥ २१ ॥

कुछ हस्त-लिखित प्रतियों में निम्नलिखित पाठ मिलता है:—

"आउट्टियाए सीओदग, रउग्घाण्णं वग्घारिण्णं" इत्यादि—इसका अर्थ यह है (रज उद्घात) जिस प्रकार रजो-वृष्टि होती है ठीक उसी प्रकार शरीर से पानी के बिन्दु नीचे गिरते हैं इत्यादि। उक्त सब पाठों का तात्पर्य यह है कि जल-काय जीवों की रक्षा के लिए यत्न करते हुए षट्-काय जीवों की भी रक्षा करनी चाहिए।

प्रश्न यह उपस्थित होसकता है कि यहां तक जितने भी शबल-दोष प्रतिपादन किये गये हैं, सबका सम्बन्ध चरित्र से ही है; क्या ज्ञान और दर्शन सम्बन्धी कोई शबल दोष नहीं होते उत्तर में कहा जाता है कि ज्ञान और दर्शन सम्बन्धी शबल-दोष भी होते हैं किन्तु यह चरित्र का अधिकार है अतः चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले शबल-दोषों का ही यहां वर्णन किया गया है।

अब प्रश्न यह होता है कि क्रम को छोड़ कर सब से पूर्व चरित्र के विषय में ही क्यों कथन किया गया है ? उत्तर में कहा जाता है कि दर्शन और ज्ञान के पश्चात् चरित्र का विषय है और वह चरित्र दर्शन और ज्ञान पूर्वक ही होता है। अतएव तीनों के ही शबल दोष जान लेने चाहिएं। दर्शन के शबल—दर्शन के विषय में शङ्का, आकाङ्क्षा, विचिकित्सा, मिथ्या-दृष्टि-प्रशंसा और मिथ्या-दृष्टि-संस्तुति—हैं। और ज्ञान-शबल—अकाल-स्वाध्याय ज्ञान के प्रति अविनय, ज्ञान का बहुमान न करना, उपधान तप न करना, ज्ञान की निह्नुति (छिपाना), सूत्र और अर्थ की विपर्य्यासिता (क्रम भेद) तथा सूत्र का विपर्य्यास से (क्रम छोड़कर) पठन करना—हैं।

सारांश यह निकला कि मुमुक्षु आत्माओं को सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्-चरित्र के शबल दोषों का त्याग कर आत्म-विशुद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे निर्वाण-पद की प्राप्ति हो सके।

अब सूत्रकार प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं:—

एते खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कवीसं सबला पण्णत्ता-त्ति बेमि ॥

इति बिइया दसा समत्ता ॥

एते खलु ते स्थविरैर्भगवद्भिरेकविंशतिः शबलाः प्रज्ञप्ता इति ब्रवीमि ।

इति द्वितीया दशा समाप्ता ॥

पदार्थान्वयः—**एते**—ये **खलु**—निश्चय से **थेरेहिं**—स्थविर **भगवंतेहिं** भगवन्तों ने **ते**—वे **एकबीसं**—इक्कीस **सबला**—शबल दोष **पण्णत्ता**—प्रतिपादन किये हैं **त्ति बेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूं । **इति**—इस तरह **विइया**—दूसरी **दसा**—दशा **समत्ता**—समाप्त हुई ।

मूलार्थ—यही निश्चय से स्थविर भगवन्तों ने इक्कीस शबल-दोष प्रतिपादन किये हैं ।

टीका—इस सूत्र में प्रस्तुत दशा का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि यही इक्कीस शबल दोष स्थविर भगवन्तों ने प्रतिपादन किये हैं । स्थविर भगवन्तों की उपमा निम्न-लिखित प्रकार से दी गई है ।

"अजिणा जिणसंकासा जिणा इव अवितहं वागरमाणा" अर्थात् स्थविर भगवान् जिन तो नहीं हैं किन्तु जिन के समान हैं और जिनवत् यथार्थ (अवितथ) कहने वाले हैं । अतएव उनका यह कथन ग्रहण करने के योग्य है । तथा भगवद्-वचन समान कथन होने के कारण उनका कथन प्रामाणिक है ।

अङ्ग-शास्त्र, श्री समवायाङ्ग-सूत्र में उक्त विषय होने से, सर्व मान्य हैं । इसलिए ही "त्ति बेमि" (इति ब्रवीमि) सूत्र के अर्थ में कहा जाता है ।

श्री सुधर्म्माचार्य स्वामी जी अपने शिष्य श्री जम्बू स्वामी जी से कहते हैं "हे जम्बू ! जिस प्रकार मैंने श्री श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी जी से उक्त विषय श्रवण किया था उसी प्रकार तुम से कहा है किन्तु अपनी बुद्धि से कुछ भी कथन नहीं किया ।"

द्वितीया दशा समाप्ता ।

तृतीया दशा

दूसरी दशा में इक्कीस शबल दोषों का विस्तृत वर्णन किया गया है। जिस तरह हस्त-कर्मादि दुष्कर्मों से चरित्र शबल-दोष युक्त होता है, ठीक उसी तरह रत्न-त्रय के आराधक आचार्य या गुरु की 'आशातना' करने से भी चरित्र शबल-दोष युक्त होता है। 'आशातनाओं' के परित्याग से समाधि-मार्ग निष्कण्टक होजाता है, अतः पहली और दूसरी दशा से सम्बन्ध रखते हुए ग्रन्थकार प्रस्तुत तीसरी दशा में तेतीस 'आशातनाओं' का वर्णन करते हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आशातना किसे कहते हैं ? उत्तर में कहा जाता है–"ज्ञानदर्शने शातयति–खण्डयति-तनुतां नयतीत्याशातना" अर्थात् जिस क्रिया के करने से ज्ञान, दर्शन और चरित्र का ह्रास अथवा भंग होता है उसको 'आशातना' कहते हैं। अथवा अभिविधि, अनाचार-सेवन और मूल-व्रत-विराधना से होने वाले चरित्र खण्डन–अर्थात् अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार से होने वाली मूल-गुण और उत्तर-गुण की विराधना–का नाम 'आशातना' है।

उक्त आशातना के–मिथ्या-प्रतिपादना और मिथ्या प्रतिपत्ति-लाभ–दो मुख्य भेद हैं। पदार्थों का यथार्थ स्वरूप न जानकर उनके कोई झूठे कल्पित स्वरूप बना कर कहना मिथ्या-प्रतिपादना 'आशातना' कहलाती है और गुरु-आदि पूज्य जनों पर मिथ्या-आक्षेप करना तथा अपने आपको उनसे बड़ा मानना मिथ्या-प्रतिपत्तिलाभ आशातना होती है।

सारांश यह निकला कि जिन क्रियाओं के करने से चरित्र में शिथिलता

आवे या उसकी विराधना हो वे ही वास्तविक 'आशातनाएं' होती हैं, क्योंकि आत्मा में अविनय-भाव के बढ़ने से ज्ञान, दर्शन और चरित्र सम्बन्धी आशातनाओं का होना अनिवार्य है ।

इनके अतिरिक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, श्रुत, देव, देवी, श्रुत-देव, श्रावक, श्राविका, प्राणी, भूत, जीव, सत्व और अरिहन्तादि पंच परमेष्ठी आदि की आशातनाओं के अनेक कारण वर्णन किये गए हैं, उनको उपलक्षण से जान लेना चाहिए। इन कारणों के स्वरूप को ठीक २ जानकर इनका आसेवन कभी न करना चाहिए। जिस व्यक्ति के ज्ञानादि पहिले से ही शिथिल हैं वह उनकी आराधना किस प्रकार कर सकता है। अतः आशातना दूर करके ज्ञान आदि की भली प्रकार आराधना करनी चाहिए।

अब सूत्रकार मूल सूत्र में इस विषय का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

सुयं मे आउसं तेणं भगवआ एवमक्खायं: इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ. कयरे खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ ? इमाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ । तं जहा:—

श्रुतं मया, आयुष्मन्, तेन भगवतैवमाख्यातं, इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिस्त्रयस्त्रिंशदाशातनाः प्रज्ञप्ताः । कतराः खलु ताः स्थविरैर्भगवद्भिस्त्रयस्त्रिंशदाशातनाः प्रज्ञप्ताः ? इमा खलु ताः स्थविरैर्भगवद्भिस्त्रयस्त्रिंशदाशातनाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा :—

पदार्थान्वयः—**आउसं**—हे आयुष्मन् शिष्य ! **मे**—मैंने **सुयं**—सुना है **तेणं**—उस **भगवआ**—भगवान् ने **एवं**—इस प्रकार **अक्खायं**—प्रतिपादन किया है । **इह**—इस जिन-शासन में **थेरेहिं**—स्थविर **भगवंतेहिं**—भगवन्तों ने **तेतीसं**—तेतीस **आसायणाओ**—आशातनाएं **पण्णत्ताओ**—प्रतिपादन की हैं । शिष्य पूछता है **कयरे**—कौनसी **खलु**—निश्चय से **ताओ**—वे **थेरेहिं**—स्थविर **भगवंतेहिं**—भगवन्तों ने **तेतीसं**—तेतीस

आसायणाओ—आशातनाएं **पण्णत्ताओ**—प्रतिपादन की हैं ? गुरु उत्तर देते हैं **इमाओ**—ये **खलु**—निश्चय से **ताओ**—वे **थेरेहिं**—स्थविर **भगवंतेहिं**—भगवन्तों ने **तेतीसं**—तेतीस **आसायणाओ**—आशातनाएं **पण्णत्ताओ**—प्रतिपादन की हैं । **तं जहा**—जैसेः—

मूलार्थ—हे आयुष्मन् शिष्य ! मैंने सुना है उस भगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है । इस जिन-शासन में स्थविर भगवन्तों ने तेतीस आशातनाएं प्रतिपादन की हैं । शिष्य ने प्रश्न किया कि कौनसी तेतीस आशातनाएं स्थविर भगवन्तों ने प्रतिपादन की हैं ? गुरु उत्तर देते हैं कि वक्ष्यमाण तेतीस आशातनाएं स्थविर भगवन्तों ने प्रतिपादन की हैं । जैसेः—

टीका—पूर्वोक्त दो दशाओं के समान इस दशा का प्रारम्भ भी गुरु-शिष्य की प्रश्नोत्तर शैली से किया गया है जिससे आप्त-वाक्य-प्रामाणिकता और जिज्ञासुओं का बोध सहज ही में सम्पन्न हो जाते हैं ।

यहां पर यह बता देना भी उचित है कि गणधरों को भी स्थविर भगवान् कहते हैं, अथवा चतुर्दश पूर्वधारी से लेकर दश पूर्वधारी तक के मुनि भी स्थविर भगवान् या श्रुत-केवली कहे जाते हैं । इन सब के उपयोग-पूर्वक कथन किये हुए वाक्य भी प्रमाण कोटि में आ जाते हैं ।

अब सूत्रकार आशातनाओं का विस्तृत वर्णन करते हैंः—

सेहे रायणियस्स पुरओ गंता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ १ ॥ सेहे रायणियस्स सपक्खं गंता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २ ॥ सेहे रायणियस्स आसन्नं गंता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ३ ॥ सेहे रायणियस्स पुरओ चिट्ठित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ४ ॥ सेहे रायणियस्स सपक्खं चिट्ठित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ५ ॥ सेहे रायणियस्स आसन्नं चिट्ठित्ता भवइ आसायणा

सेहस्स ॥ ६ ॥ सेहे रायणियस्स पुरओ निसीइत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ७ ॥ सेहे रायणियस्स सपक्खं निसीइत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ८ ॥ सेहे रायणियस्स आसन्नं निसीइत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ९ ॥

शैक्षो रात्निकस्य पुरतो गन्ता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ १ ॥
शैक्षो रात्निकस्य सपक्षं गन्ता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ २ ॥
शैक्षो रात्निकस्यासन्नं गन्ता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ ३ ॥
शैक्षो रात्निकस्य पुरतः स्थाता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ ४ ॥
शैक्षो रात्निकस्य सपक्षं स्थाता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ ५ ॥
शैक्षो रात्निकस्यासन्नं स्थाता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ ६ ॥
शैक्षो रात्निकस्य पुरतो निषीदिता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ ७ ॥
शैक्षो रात्निकस्य सपक्षं निषीदिता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ ८ ॥
शैक्षो रात्निकस्यासन्नं निषीदिता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**—शिष्य **रायणियस्स**—रत्नाकर के **पुरओ**—आगे **गंता**—जाए तो **सेहस्स**—शिष्य को **आसायणा**—आशातना **भवइ**—होती है । **सेहे**—शिष्य **रायणियस्स**—रत्नाकर के **सपक्खं**—सम-श्रेणि में **गंता**—गमन करे तो **सेहस्स**—शिष्य को **आसायणा**—आशातना **भवइ**—होती है । **सेहे**—शिष्य **रायणियस्स**—रत्नाकर के **आसन्नं**—समीप होकर **गंता**—गमन करे तो **सेहस्स**—शिष्य को **आसायणा**—आशातना **भवइ**—होती है । **सेहे**—शिष्य **रायणियस्स**—रत्नाकर के **पुरओ**—आगे **चिट्ठित्ता**—खड़ा हो तो **सेहस्स**—शिष्य को **आसायणा**—आशातना **भवइ**—होती है । **सेहे**—शिष्य **रायणियस्स**—रत्नाकर के **सपक्खं**—सम-श्रेणि में **चिट्ठित्ता**—खड़ा हो तो **सेहस्स**—शिष्य को **आसायणा**—आशातना **भवइ**—होती है । **सेहे**—शिष्य **रायणियस्स**—रत्नाकर के **आसन्नं**—अत्यन्त समीप होकर **चिट्ठित्ता**—खड़ा हो तो **सेहस्स**—शिष्य को **आसायणा**—आशातना **भवइ**—होती है । **सेहे**—शिष्य **रायणियस्स**—रत्नाकर के **पुरओ**—अगो

निसीइत्ता–बैठे तो **सेहस्स**-शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है। **सेहे**–शिष्य **रायणियस्स**–रत्नाकर के **सपक्खं**–सम-श्रेणि में **निसीइत्ता**–बैठे तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है। **सेहे**–शिष्य **रायणियस्स**–रत्नाकर के **आसन्नं**–अत्यन्त समीप **निसीइत्ता**–बैठे तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है।

मूलार्थ—शिष्य रत्नाकर के आगे, रत्नाकर की सम-श्रेणि में और रत्नाकर के अत्यन्त समीप होकर गमन करे, खड़ा हो और बैठे तो उस (शिष्य) को आशातना होती है।

टीका—इस सूत्र में नौ आशातनाएं प्रतिपादन की गई हैं। **निरुक्त-कार** ने 'आशातना' शब्द की निम्न-लिखित निरुक्ति की है–"तत्र–आयः–सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणस्तस्य शातना–खण्डना–निरुक्ता–आशातना" अर्थात् जिससे सम्यग्दर्शनादि की खण्डना हो उसको आशातना कहते हैं। "आयः" शब्द के यकार का "पृषोदरादित्वात्" लोप होजाता है। इस प्रकार आशातना शब्द की सिद्धि होती है।

जिसको लौकिक व्यवहार में अविनय या असभ्यता कहते हैं, उसीका नाम लोकोत्तर व्यवहार में आशातना है। यद्यपि 'आशातना' शब्द सब तरह की असभ्यताओं के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु प्रस्तुत दशा में केवल गुरु-शिष्य-विषयक आशातनाओं के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। क्योंकि विनय और सभ्यता प्राणिमात्र को सुख और शान्ति देने वाली हैं, अतः सबके लिए उपादेय हैं।

सूत्र में 'रत्नाकर' और 'शैक्ष' शब्द परस्पर विरुद्ध अर्थ में प्रयुक्त किये गए हैं। तात्पर्य यह है—"शैक्षः–अल्पपर्यायो रत्नाकरस्य बहुपर्यायस्य"—शैक्ष शब्द से छोटे और रत्नाकर शब्द से बड़े का ग्रहण किया गया है।

अब यह शङ्का होती है कि लौकिक और लोकोत्तर छोटे बड़े में परस्पर क्या भेद है? समाधान में कहा जाता है कि लौकिक व्यवहार में प्रायः जन्म और उपाधि की अपेक्षा से 'छोटे' और 'बड़े' माने जाते हैं किन्तु लोकोत्तर व्यवहार में दीक्षा और उपाधि की अपेक्षा 'छोटा' और 'बड़ा' होता है। वृत्तिकार ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है–"अवम अगीतार्थो लघुः" अर्थात् शिक्षा और दीक्षा में 'छोटा'

छोटा और 'बड़ा' बड़ा होता है । तथा आचार्य और उपाध्याय को छोड़कर शेष मुनिवर्ग को 'शैक्ष' शब्द से बुलाया जाता है ।

'रत्नाकर' उसका नाम है जो कुछ समय पहिले ही दीक्षित होचुका हो । गुणाधिक्य होने से उसे 'रत्नाकर' अर्थात् 'रत्नों की खान' कहा जाता है । उन्हीं का निर्देश कर इस दशा में तेतीस आशातनाएं कथन की गई हैं ।

तेतीस आशातनाओं में से पहिली नौ–गमन करना, खड़ा होना और बैठना–तीन क्रियाओं के विषय में हैं । जैसे–आचार्य, उपाध्याय और दीक्षा में वृद्ध रत्नाकर के आगे, सम-श्रेणि (बराबरी) और उनके वस्त्र स्पर्श करते हुए पीछे चलने से शिष्य को आशातना लगती है । किन्तु कारण विशेष होने से कभी इस उत्सर्ग-मार्ग का अपवाद भी होजाता है । जैसे–यदि गुरु मार्ग नहीं जानता या आगे श्वानादि जीवों की मण्डली बैठी है या अन्य कोई कारण उपस्थित होगया है तो रत्नाकर के आगे चलने में कोई दोष नहीं होता । इसी प्रकार यदि गुरु अधिक थक गया हो, या उसकी आंखों में पीड़ा हो या उसको मूर्छा आरही हो तो उसकी बराबरी में चलने से शिष्य को आशातना नहीं होती । तथा पीछे से यदि पशु आदि आरहे हों तो गुरु की रक्षा के लिए उसके वस्त्रादि स्पर्श होने पर भी आशातना नहीं होती ।

किन्तु विना कारण कभी भी गुरु-आदि वृद्धों के वस्त्रादि स्पर्श करते हुए न चलना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से शिष्य के पैरों की रज (धूलि) गुरु को स्पर्श कर सकती है तथा अन्य श्लेष्मादि दोषों की भी सम्भावना हो सकती है । अतः ऊपर कही हुई विधि से ही गमन करना उचित है, तभी शिष्य आशातना से बच सकता है । गमन क्रिया के समान 'बैठना' और 'खड़ा होना' क्रियाएं भी इसी तरह आशातनाओं से बचकर करनी चाहिएं अन्यथा अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं ।

यदि गुरु अत्यन्त थका हुआ हो या शूल आदि पीड़ा से दुःखित हो तो वैद्य की सम्मति और गुरु की आज्ञा से गुरु के समीप बैठकर सेवा करने से आशातना नहीं होती । किन्तु अविनीत भाव से उस (गुरु) के साथ,–गमन करने में खड़ा होने में और बैठने में–अनुचित और असभ्यता का व्यवहार करने से अवश्य ही आशातना होगी ।

इस सूत्र से प्रत्येक ज्ञानवान् व्यक्ति को शिक्षा लेनी चाहिए कि अपने से बड़ों के साथ सदा सभ्यता का वर्ताव करना उचित है। जैसा हम प्रत्येक दिन देखते हैं, असभ्यता का परिणाम इसी लोक और इसी जीवन में मिल जाता है। अतः अपनी भद्र-कामना करने वाले व्यक्ति को उचित है कि अविनय का सर्वथा परित्याग कर, सदा विनय-शील बना रहे।

अब सूत्रकार १०वीं आशातना का विषय वर्णन करते हैं—

सेहे रायणिएणं सद्धिं बहिया वियार-भूमिं वा निक्खंते समाणे तत्थ सेहे पुव्वतरागं आयमइ पच्छा रायणिए भवइ आसायणा सेहस्स ॥ १० ॥

शैक्षः रात्निकेन सार्द्धं बहिर्विचार-भूमिं वा निष्क्रान्तः सन् (यदि) तत्र शैक्षः पूर्वतरकमाचमति पश्चाद् रात्निकः, भवति आशातना शैक्षस्य ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**—शिष्य **रायणिएणं**—रत्नाकर के **सद्धिं**—साथ **बहिया**—बाहर **वा**—अथवा **वियार-भूमिं**—मलोत्सर्ग की भूमि पर **निक्खंते समाणे**—गया हुआ हो **तत्थ**—वहां **पुव्वतरागं**—पहले **सेहे**—शिष्य **आयमइ**—आचमन करता है **पच्छा**—पीछे **रायणिए**—रत्नाकर—ऐसा करने से **सेहस्स**—शिष्य को **आसायणा**—आशातना **भवइ**—होती है।

मूलार्थ—शिष्य रत्नाकर के साथ यदि मलोत्सर्ग भूमि पर गया हो, (तत्पश्चात् दोनों एक ही पात्र में जल ले गए हों) ऐसी अवस्था में यदि शिष्य गुरु से पहिले आचमन करे तो शिष्य को आशातना होती है।

टीका—इस सूत्र में शौच और विनय के विषय में कथन किया गया है। जैसे-किसी समय रत्नाकर और शिष्य एक ही साथ विचार-भूमि (मलोत्सर्ग के स्थान) को चले गए, किसी कारण से दोनों एक ही पात्र में जल ले गये, उस जल को एक संकेतित स्थान पर रख दोनों अलग २ मलोत्सर्ग के लिए चले गये, अब

यदि शिष्य पहले आकर गुरु या रत्नाकर से पूर्व ही उस जल से आचमन (शौच) कर बैठे तो शिष्य को आशातना लगती है; क्योंकि ऐसा करने से विनय-भंग होता है और साथ ही गुरु-भक्ति के न रहने से आत्मा असमाधि-स्थान की प्राप्ति करता है। अतः कारणवशात् एक ही पात्र में जल लेजाने पर शिष्य को कभी भी गुरु से पहले शौच नहीं करना चाहिए । अर्थात् विधि पूर्वक जब गुरु शौच कर ले तभी शिष्य करे ।

अब यह जिज्ञासा होती है कि यदि जल एक ही पात्र में न हो किन्तु पृथक् २ पात्रों में हो तो किस विधि से शौच करना चाहिए ? समाधान में कहा जाता है यदि साधु के पास शौच के लिए पृथक् जल-पात्र हो तो वह उस पात्र को मल-त्याग-स्थान के अति समीप न रखे नांही अत्यन्त दूर रखे किन्तु प्रमाण पूर्वक स्थान पर ही रखे । शौच करते समय भी ध्यान रखना चाहिए कि शौच न तो मल-त्याग-स्थान पर ही हो न उससे अत्यधिक दूरी पर ही किन्तु प्रमाण पूर्वक स्थान पर ही शौच (आचमन) करे, जिस से पवित्र होकर स्वाध्याय के योग्य बन सके । 'ठाणाङ्ग सूत्र' के दशवें स्थान में दश अनध्यायों का वर्णन किया गया है। उनमें 'अशुचि-सामन्त' चतुर्थ अनध्याय लिखा है । 'व्यवहार सूत्र' के सप्तम उद्देश में लिखा है "नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथिणे वा" अनध्याय में स्वाध्याय न करे और शरीर के अशुचि होने पर भी स्वाध्याय न करना चाहिए । 'आचाराङ्गसूत्र' में भी उक्त विषय का पूर्व-वत् वर्णन किया गया है । 'दशाश्रुतस्कन्धसूत्र' के सप्तम अध्ययन में भी कथन किया गया है कि अशुचि दूर करने के लिए जल अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् जल से शौच करना चाहिए । 'सूयगडांगसूत्र' के नवम अध्ययन में लिखा है कि हरित-काय पर उक्त क्रियाएं न करनी चाहिएं । 'निशीथ-सूत्र' में भी शौच की विधि का जल द्वारा विधान किया गया है । 'निशीथसूत्र' में इस बात का भी वर्णन किया गया है कि मलोत्सर्ग के पश्चात् काष्ठादि द्वारा पायु-स्थान का कभी प्रमार्जन न करे (न पूंछे) । किन्तु 'स्थानाङ्गसूत्र' में निम्न-लिखित पांच प्रकार से शौच वर्णन किया गया है—१–पृथिवी से शौच २–जल से शौच ३–अग्नि से शौच ४–मन्त्र-शौच और ५–ब्रह्म-शौच । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार का मल हो उसी प्रकार का शौच उसके लिए किया जाता है । प्रस्तुत सूत्र

में केवल इस बात का वर्णन किया गया है कि यदि एक ही पात्र में जल हो तो शिष्य को गुरु से पूर्व आचमन (शौच) न करना चाहिए।

किन्तु इसका अपवाद भी होसकता है जैसे गुरु शिष्य को आज्ञा दे कि दिन समाप्ति पर है तुम शीघ्र शौचकर उपाश्रय को चले जाना या अन्य कोई कारण विशेष उपस्थित हो जाय तो गुरु से पूर्व शौच करने पर भी शिष्य को आशातना नहीं लगती। परन्तु यह सब गुरु की आज्ञा पर निर्भर है।

अब सूत्रकार ११ वीं आशातना का विषय वर्णन करते हैं:—

सेहे रायणिएणं सद्धिं बहिया वियार-भूमिं वा विहार-भूमिं वा निक्खंते समाणे तत्थ सेहे पुव्वतरागं आलोएइ पच्छा रायणिए आसायणा सेहस्स ॥ ११ ॥

शैक्षो रात्निकेन सार्द्धं बहिर्वा विचार-भूमिं वा विहार-भूमिं वा निष्क्रान्तः सन्–तत्र शैक्षः पूर्वतरकमालोचयति पश्चाद्-रात्निक आशातना शैक्षस्य ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**–शिष्य **रायणिएणं**–रत्नाकर के **सद्धिं**–साथ **बहिया**–बाहर **वियार-भूमिं**–उच्चार–भूमि के प्रति **वा**–अथवा **विहार-भूमिं वा**–स्वाध्याय करने के स्थान को **निक्खंते समाणे** जाए और वहां से अपने स्थान पर आने पर **वा**–अथवा **तत्थ**–वहां पर **सेहे**–शैक्ष **पुव्वतरागं**–गुरु से पहिले ही **आलोएइ**–आलोचना करता है **पच्छा**–पश्चात् **रायणिए**–रत्नाकर आलोचना करता है तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**– आशातना होती है।

मूलार्थ—रत्नाकर के साथ शिष्य बाहर, विचार-भूमि या विहार-भूमि को जाए और वहां वह (शिष्य) पहिले और गुरु पीछे आलोचना करे तो शिष्य को आशातना लगती है।

टीका—इस सूत्र में रत्नाकर-विषयक-विनय की ही शिक्षा दी गई है। जैसे-शिष्य गुरु के साथ बाहर, उच्चार-भूमि या स्वाध्याय-भूमि को जाए, वहांसे

स्वकार्य साधन के अनन्तर उपाश्रय में वापिस आने पर शिष्य यदि गुरु से पूर्व ही 'ईरिया-बहि' द्वारा आलोचना आरम्भ करदे अर्थात् आते और जाते समय जो क्रियाएं हुई थीं उनकी आलोचना विना गुरु की आज्ञा के गुरु से पहले ही करने लगे तो उस (शिष्य) को आशातना लगती है, क्योंकि इस से विनय-भङ्ग होता है ।

किन्तु यदि गुरु किसी कारण से शिष्य को 'ईरिया-बहि' द्वारा आलोचना करने की आज्ञा प्रदान करदे तो गुरु से पूर्व आलोचना करने पर भी शिष्य को आशातना नहीं होती है ।

सूत्र की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं "विचार-भूमिरुच्चार-भूमिका" अर्थात् 'विचार-भूमि' उच्चार-भूमि का नाम है और 'विहार-भूमि' स्वाध्याय-भूमि का नाम है । किन्तु 'जैनागम-शब्द-संग्रह-कोष' (अर्द्धमागधी-गुजराती) के ७०९ वें पृष्ठ पर लिखा है—विहार–पु० (विहार) क्रीडा; गम्मत; बुद्ध भिक्षु को नो मठ; विचरवुं एक स्थले थी बीजे स्थलेज वुं; स्वाध्याय; शहेरबाहिरनी वस्ति; मल-त्याग करवानी जग्या—स्थान; विशेष अनुष्ठान भगवत् कथित मार्ग मा पराक्रम बताववुं ते; आचार; मर्यादा । उक्त आठ अर्थों में विहार शब्द प्रयुक्त होता है ।

'विहार-भूमि' शब्द केवल दो अर्थों में ही व्यवहृत होता है । जैसे उक्त कोष के उक्त पृष्ठ पर ही लिखा है—विहार-भूमि—स्त्री०–(विहार-भूमि) स्वाध्याय करवानी भूमि; स्वाध्याय करवानी जग्या; क्रीडा करवानी भूमि, बगीचा वगेरे ।

अतः उक्त कथन से सिद्ध हुआ कि विनय की रक्षा के लिए गुरु के साथ विहार-भूमि या विचार-भूमि में जाकर शिष्य गुरु से पूर्व कभी आलोचना न करे ।

अब सूत्रकार वचन की आशातनाओं का वर्णन करते हैं:—

केइ रायणियस्स पुव्व-संलवित्तए सिया, तं सेहे पुव्वतरागं आलवइ पच्छा रायणिए भवइ आसायणा सेहस्स ॥ १२ ॥

कश्चिद्रात्निकस्य पूर्व-संलपितव्यः स्यात्, तं शैक्षः पूर्वतरक-

मालपति पश्चाद् रात्निको भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—**केइ**–कोई **रायणियस्स**–रत्नाकर के **पुव्व**–पूर्व **संलवित्तए सिया**–सम्भाषण करने योग्य हो, **तं**–उसके साथ **सेहे**–शिष्य **पुव्वतरागं**–पहिले ही **आलवइ**–सम्भाषण करता है या करने लगे **पच्छा रायणिए**–और रत्नाकर पीछे सम्भाषण करे तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है ।

मूलार्थ—कोई व्यक्ति रत्नाकर के पूर्व-सम्भाषण करने योग्य है, यदि शिष्य गुरु से पहिले ही उससे सम्भाषण करने लगे तो शिष्य को आशातना लगती है ।

टीका—इस सूत्र में वचन-विषयक विनय का वर्णन किया गया है । जैसे–कोई रत्नाकर का पूर्व-परिचित व्यक्ति उससे मिलने आया । उसने रत्नाकर से कुशल आदि पूछी । अब रत्नाकर के उत्तर देने के पूर्व ही यदि शिष्य उससे वार्तालाप करने लग जाए तो शिष्य को आशातना लगती है; क्योंकि इससे उस (शिष्य) के अविनय, असभ्यता और अयोग्यता का नग्न परिचय मिलता है ।

तीर्थङ्कर और गणधरों ने सब क्रियाएं पहिले रत्नाकर को करने की आज्ञा दी है । उसकी आज्ञा से शिष्य सम्भाषण आदि क्रियाएं रत्नाकर से पहिले भी कर सकता है, किन्तु विना उसकी आज्ञा के कदापि नहीं कर सकता ।

'कश्चित्' शब्द से पाखण्डी या गृहस्थ, स्त्री या पुरुष, स्वपाक्षिक या पर-पाक्षिक, साधु या उपासक जानने चाहिएं ।

तात्पर्य यह निकला कि किसी भी ऐसे व्यक्ति के साथ जो रत्नाकर के सम्भाषण करने योग्य है, शिष्य का गुरु या रत्नाकर से पूर्व सम्भाषण करना सर्वथा अनुचित और सभ्यता के बाहिर है । यदि वह ऐसा करेगा तो उसको आशातना लगेगी ।

यह प्रश्न हो सकता है कि यदि वह व्यक्ति शिष्य का ही परिचित हो और उससे ही वार्तालाप करने लगे तो उस समय शिष्य को क्या करना चाहिए ? उत्तर में कहा जाता है कि उस समय भी शिष्य को गुरु की आज्ञा से ही उससे बात-चीत करनी चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से उस व्यक्ति को भी उस (शिष्य) के विनय, सभ्यता और योग्यता का परिचय मिल जाएगा ।

अब सूत्रकार वचन के न ग्रहण करने की आशातना का वर्णन करते हैं:—

सेहे रायणियस्स राओ वा वियाले वा वाहरमाणस्स अज्जो के सुत्ता के जागरा तत्थ सेहे जागरमाणे रायणियस्स अपडिसुणेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ १३ ॥

शैक्षो रात्निकस्य रात्रौ वा विकाले वा व्याहरतः "हे आर्याः ! के सुप्ताः के जाग्रति" तत्र, शैक्षो जाग्रदपि रात्निकस्याप्रतिश्रोता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे** शिष्य **रायणियस्स**–रत्नाकर के **राओ**–रात्रि में **वा**–अथवा **वियाले वा**–विकाल में **वाहरमाणस्स**–बुलाने पर जैसे–"**अज्जो**–हे आर्यो ! **के**–कौन २ **सुत्ता**–सोए हुए हैं और **के**–कौन २ **जागरा**–जागते हैं" **तत्थ**–वहां **सेहे**–शिष्य **जागरमाणे**–जागते हुए भी **रायणियस्स**–रत्नाकर के वचन को **अपडिसुणेत्ता**–सुनता नहीं है तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है।

मूलार्थ—रत्नाकर ने रात्रि या विकाल में शिष्य को आमन्त्रित किया कि, हे आर्यो ! कौन २ सोए हुए हैं और कौन २ जागते हैं। उस समय यदि शिष्य जागते हुए भी रत्नाकर के वचनों को न सुने तो उसको आशातना लगती है।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि यदि शिष्य गुरु के बुलाने पर मौन धारण कर ले तो उसको आशातना लगती है। जैसे–रत्नाकर या गुरु ने रात्रि या विकाल में साधुओं को आमन्त्रित किया "हे आर्यो ! इस समय कौन २ साधु सोता है और कौन २ जाग रहा है ?" उस समय यदि कोई शिष्य जागता हो और मन में विचारे कि यदि मैं इसका प्रत्युत्तर दे दूं तो सम्भवतः गुरु जी मुझे किसी कार्य में नियुक्त कर दें, अतः मौन रहना ही अच्छा है और वास्तव में मौनावलम्बन कर ले तो शिष्य को आशातना लगती है, क्योंकि इससे असत्य, विनय-भङ्ग और गुरु-वचन-परिभवादि अनेक दोष लगते हैं। इसके अतिरिक्त यदि कोई आवश्यक कार्य हो–जैसे किसी शिष्य को विसूचिका आदि रोग हो गया हो,

स्थान में आग लग गई हो, कोई मदोन्मत्त, व्यभिचारी या चोर व्यक्ति अन्दर घुस गया हो या पार्श्व उद्वर्तनादि विशेष कार्य पड़ गया हो तो गुरु के बुलाने पर न जाने से अत्यन्त हानि हो सकती है।

यदि कोई अज्ञात रत्नाकर कलह करने की इच्छा से बुलावे तो उस समय न जाने में ही श्रेय है, अतः उस समय आज्ञा भङ्ग करने पर भी शिष्य को किसी प्रकार की आशातना नहीं होती।

वचन-विषयक आशातनाओं का वर्णन कर अब सूत्रकार आहार-विषयक आशातनाएं कहते हैंः—

सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहित्ता तं पुव्वमेव सेहतरागस्स आलोएइ पच्छा रायणियस्स आसायणा सेहस्स ॥ १४ ॥

शैक्षोऽशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा प्रतिगृह्य तत्पूर्वमेव शैक्षतरकस्यालोचयति पश्चाद् रात्निकस्याशातना शैक्षस्य ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**—शिष्य **असणं**—अशन **वा**—अथवा **पाणं**—पानी **वा**—अथवा **खाइमं**—खादिम **वा**—अथवा **साइमं**—स्वादिम **वा**—अथवा अन्य कोई वस्त्रादि उपकरण जो साधु के योग्य हों **तं**—उनको **पडिगाहित्ता**—लेकर **पुव्वमेव**—पहिले **सेहतरागस्स**—शिष्य के पास **आलोएइ**—आलोचना करता है **पच्छा**—पश्चात् **रायणियस्स**—रत्नाकर के पास तो **सेहस्स**—शिष्य को **आसायणा**—आशातना होती है।

मूलार्थ—शिष्य अशन, पानी, खादिम, और स्वादिम को गृहस्थ से लेकर उनकी आलोचना यदि पहिले अन्य शिष्यों के पास और पश्चात् गुरु के पास करे तो उसको आशातना लगती है।

टीका—इस सूत्र में आहार-विषयक आलोचना के विषय में कहा गया है। जैसे—कोई साधु गृहस्थों से साधु-कल्प के अनुकूल चारों प्रकार का भोजन

एकत्रित कर अपने आश्रम में आया । अब यदि वह उस आहार की—अमुक पदार्थ अमुक गृहस्थ से प्राप्त किया, अमुक गृहस्थ ने इस प्रकार भिक्षा दी इत्यादि—आलोचना गुरु से पूर्व ही शिष्य से करने लगे तो उसको आशातना लगती है, क्योंकि इससे विनय-भङ्ग और स्वच्छन्दता की वृद्धि होती है । अतः सिद्ध हुआ कि भिक्षा से एकत्रित किये हुए पदार्थों की आलोचना पहिले रत्नाकर के पास ही करनी चाहिए । किन्तु स्मरण रहे कि उनकी आलोचना आहारादि करने के पूर्व ही करनी चाहिए ।

अगले सूत्र में भी सूत्रकार उक्त विषय का ही व्याख्यान करते हैंः—

सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहित्ता तं पुव्वमेव सेहतरागस्स उवदंसेइ पच्छा रायणियस्स आसायणा सेहस्स ॥ १५ ॥

शैक्षोऽशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा प्रतिगृह्य तत्पूर्वमेव शैक्षतरकस्योपदर्शयति पश्चाद् रात्निकस्याशातना शैक्षस्य ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**—शिष्य **असणं**—अशन **वा**—अथवा **पाणं**—पानी **वा**—अथवा **खाइमं**—खादिम **वा**—अथवा **साइमं वा**—स्वादिम **पडिगाहित्ता**—लेकर **तं**—उस आहार को **पुव्वमेव**—पहिले **सेहतरागस्स**—किसी शिष्य को **उवदंसेइ**—दिखाता है **पच्छा**—पीछे **रायणियस्स**—रत्नाकर को दिखाता है तो **सेहस्स**—शिष्य को **आसायणा**—आशातना होती है 'वा' शब्द विकल्प या समूहार्थ में है ।

मूलार्थ—शिष्य अशन, पानी, खादिम और स्वादिम पदार्थों को लेकर गुरु से पूर्व ही यदि शिष्य को दिखावे तो उसको आशातना लगती है ।

टीका—इस सूत्र में प्रकाश किया गया है कि शिष्य गृहस्थों से अशन, पानी, खादिम और स्वादिम पदार्थों को एकत्रित कर सब से पहिले गुरु को दिखावे । यदि वह गुरु से पूर्व ही किसी शिष्य को दिखाता है तो उसको आशातना लगती है; क्योंकि इससे विनय का भङ्ग होता है । तथा ऐसा करने से न गुरु का गुरुत्व ही

रह सकता है न शिष्य का शिष्यत्व ही । इस कथन का सारांश यही निकला कि अशनादि पदार्थों को लाकर सब से पहिले गुरु को दिखावे और फिर दूसरों को । ऐसा करने से ही सभ्यता और विनय-धर्म की सम्यक् पालना हो सकती है ।

कुछ प्रतियों में 'उवदंसेइ' के स्थान पर 'पडिदंसेइ' पाठ मिलता है जिसका अर्थ "पुनः पुनः दिखाना" है ।

अब सूत्रकार आहार-निमन्त्रण के विषय की आशातना कहते हैं:—

सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहित्ता तं पुव्वमेव सेहतरागं उवणिमंतेइ पच्छा रायणिए आसायणा सेहस्स ॥ १६ ॥

शैक्षो ऽशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा प्रतिगृह्य तेन पूर्वमेव शैक्षतरकमुपनिमन्त्रयति पश्चाद् रात्निकमाशातना शैक्षस्य ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**–शिष्य **असणं**–अशन **वा**–अथवा **पाणं**–पानी **वा**–अथवा **खाइमं**–खादिम **वा**–अथवा **साइमं**–स्वादिम को **पडिगाहित्ता**–लेकर **तं**–उस आहार के लिए **पुव्वमेव**–पहले **सेहतरागं**–शिष्य को **उवणिमंतेइ**–निमन्त्रित करता है **पच्छा**–पीछे **रायणिए**–रत्नाकर को तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना होती है ।

मूलार्थ—शिष्य अशन, पानी, खादिम और स्वादिम को लेकर आश्रम में वापिस आए और आनीत आहार से यदि शिष्य को पहिले और गुरु को तदनन्तर निमन्त्रित करे तो उस (शिष्य) को आशातना लगती है ।

टीका—इस में प्रकाश किया गया है कि जब शिष्य आहार लेकर उपाश्रय में आवे तो उसको उचित है कि सब से पहिले रत्नाकर को निमन्त्रित करे । यदि वह रत्नाकर से पहले ही किसी शिष्य को निमन्त्रित करे तो उसको आशातना लगती है, क्योंकि क्रम-भङ्ग होने से विनय-भङ्ग होना अनिवार्य है । अतः

रत्नाकर या गुरु को उसका उचित भाग समर्पण करने के अनन्तर ही शिष्यों का भाग उनको दे । और शिष्यों को भी उचित है कि परस्पर प्रेम वृद्धि के लिए उपलब्ध भाग का अवशिष्ट साधुओं के साथ मिलकर प्रेमपूर्वक भोजन करें ।

अतः सिद्ध हुआ कि विनय-धर्म की पालना के लिए जो कुछ भी भिक्षा से प्राप्त हो उसके लिए सब से पहले गुरु या रत्नाकर को ही निमन्त्रित करे ।

अब सूत्रकार आहार देने के विषय की आशातना का वर्णन करते हैं:—

सेहे रायणिएण सद्धिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहित्ता तं रायणियं अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ तस्स तस्स खंधं खंधं तं दलयति आसायणा सेहस्स ॥ १७ ॥

शैक्षो रात्निकेन सार्द्धम् अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा प्रतिगृह्य तद्-रात्निकमनापृच्छ्य यस्मै-यस्मै इच्छति तस्मै-तस्मै प्रचुरं-प्रचुरं ददात्याशातना शैक्षस्य ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**–शिष्य **रायणिएण**–रत्नाकर के **सद्धिं**–साथ **असणं**–अशन **वा**–अथवा **पाणं**–पानी **वा**–अथवा **खादिमं**–खादिम **वा**–अथवा **साइमं**–स्वादिम **वा**–अथवा अन्य उपकरणादि **पडिगाहित्ता**–लेकर उपाश्रय में आया और तब **तं**–उस आहार को **रायणियं**–रत्नाकर को **अणापुच्छित्ता**–विना पूछे **जस्स जस्स**–जिस जिसको **इच्छइ**–चाहता है **तस्स तस्स**–उस उसको **खंधं खंधं**–प्रचुर प्रचुर **तं**–वह आहारादि **दलयति**–देता है तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना होती है ।

मूलार्थ—शिष्य रत्नाकर के साथ अशन, पानी, खादिम और स्वादिम को लेकर आश्रम में आवे और वहां रत्नाकर को विना पूछे यदि जिसको चाहता है प्रचुर आहार देता है तो उस (शिष्य) को आशातना लगती है ।

टीका—इस सूत्र में प्रकाश किया गया है कि जब शिष्य रत्नाकर के साथ अशन, पानी, खादिम और स्वादिम पदार्थों को लेकर उपाश्रय में आवे तो उसको

उचित है कि विना रत्नाकर की आज्ञा के किसी को कुछ न दे । यदि वह अपनी इच्छा से जिसको जितना चाहता है दे देता है तो उसको आशातना लगती है । किन्तु यदि कोई रोगी और तपस्वी आवश्यकता में हो तो उसको देने में आशातना नहीं होती, क्योंकि वहां रक्षा और योग्यता पाई जाती है ।

सारांश यह निकला कि अपवाद-मार्ग को छोड़कर उत्सर्ग-मार्ग के आश्रित होते हुए रत्नाकर को विना पूछे और विना उसकी आज्ञा प्राप्त किये कोई भी आहारादि पदार्थ किसी को न दे ।

अब सूत्रकार एक पात्र में भोजन से सम्बन्ध रखने वाली आशातना कहते हैं:—

सेहे असणं वा....पडिगाहित्ता रायणिएणं सद्धिं भुंजमाणे तत्थ सेहे खंधं खंधं, डागं डागं, उसढं उसढं, रसियं रसियं, मणुन्नं मणुन्नं, मणामं मणामं, निद्धं निद्धं, लुक्खं लुक्खं, आहारित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥१८॥

शैक्षोऽशनं वा....प्रतिगृह्य रात्निकेन सार्द्धं भुञ्जानस्तत्र शैक्षः प्रचुरं-प्रचुरं, डाकं-डाकं, उच्छ्रितमुच्छ्रितं, रसितं-रसितं, मनोज्ञं-मनोज्ञं, मन-आप्तं-मन-आप्तं, स्निग्धं-स्निग्धं, रुक्षं-रुक्षमाहारयिता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**-शिष्य **असणं वा**....अशन, पानी, खादिम और स्वादिम को **पडिगाहित्ता**—लेकर **रायणिएणं**—रत्नाकर के **सद्धिं**—साथ **भुञ्जमाणे**—भोगता हुआ **तत्थ**—वहां **सेहे**—शिष्य **खंधं खंधं**—प्रचुर २ **डागं डागं**—आम्लरस युक्त (विभिन्न प्रकार के शाक) **उसढं उसढं**—वर्ण और रस से युक्त **रसियं रसियं**—रस युक्त **मणुन्नं मणुन्नं**—मनोज्ञ आहार **मणामं मणामं**—मन का प्रिय भोजन **निद्धं निद्धं**—स्निग्ध आहार **लुक्खं लुक्खं**—रुक्ष २ लेकर **आहारित्ता**—आहार करता है तो **सेहस्स**—शिष्य को **आसायणा**—आशातना **भवइ**—होती है ।

मूलार्थ—शिष्य अशनादि लाकर रत्नाकर के साथ आहार करते हुए यदि प्रचुर २ आम्लरसयुक्त (विभिन्न प्रकार के शाक), रसादि गुणों से युक्त, सरस, मनोज्ञ, मन-चाहा, स्निग्ध या रूक्ष पदार्थों का शीघ्र २ आहार करने लगे तो उसको आशातना लगती है।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि यदि कभी शिष्य को रत्नाकर के साथ एक पात्र में भोजन करने का अवसर प्राप्त हो जाय तो उसको किस विधि से भोजन करना चाहिए और किस विधि से भोजन करने से उसको आशातना लगती है। जैसे—शिष्य भिक्षा से आहार लेकर उपाश्रय में वापिस आया। कोई कारण ऐसा होगया कि उसको रत्नाकर के साथ एक ही पात्र में भोजन करना पड़ा। भोजन करते हुए यदि वह (शिष्य) बड़े २ ग्रास करने लगे, शीघ्र २ खाने लगे या सुन्दर, सुदर्शनीय, मनोज्ञ, मन-इच्छित, घृतादि से स्निग्ध अथवा स्वादिष्ट रूक्ष (पापड़ आदि) पदार्थों को शीघ्र २ निकाल कर खाने लगे तो उसको आशातना लगती है। अतः ऐसा कदापि नहीं करना चाहिए। इससे एक तो रस-लोलुपता (अच्छे २ स्वादिष्ट पदार्थों की ओर रुचि) बढ़ती है, दूसरे विनय-भङ्ग होता है।

अथवा एक ही पात्र में भोजन नहीं करते, किन्तु आनीत पदार्थों में से शिष्य अपने मन के अनुकूल पदार्थों को अलग रख कर शेष रत्नाकर को दे तोभी उसको आशातना लगती है। यदि कभी शिष्य जितने पदार्थ लावे उन सबको अपने मन के अनुकूल जानकर थोड़े से रत्नाकर को देकर बाकी सब अपने लिए रख ले तोभी उसको आशातना लगेगी।

सूत्र में "डागं डागं" आदि का दो बार प्रयोग वीप्सा अर्थ में है।

'डाक' शब्द से राइ आदि शाक-पत्र (हरे शाक) का ग्रहण करना चाहिए। तथा "उसढ" शब्द से रस और सुगन्धि वाला भोजन जानना चाहिए। "रसित" शब्द से अम्लादि रसों से युक्त मधुर और स्वादिष्ट भोजन जानने चाहिएं। तथा जो भोजन मन को इष्ट या प्रिय हो उसको 'मनोज्ञ' कहते हैं। 'मणाम' (मन-आप्त) उसे कहते हैं जिसके लिए बार बार इच्छा बनी रहे और जो कभी स्मृति-पथ से न उतरे अर्थात् सदा चित्त को प्रसन्न करने वाले भोजन को "मणाम" भोजन कहते हैं। ऊपर कहे हुए पदार्थों को यदि शीघ्र २ खाने लगे तो शिष्य को आशातना लगती है।

भोजन करते हुए सदा ध्यान रखना चाहिए कि आहार संयम-वृत्ति के निर्वाह के लिए ही होता है न कि जिह्वा-लौल्य और शरीर की सुन्दरता बढ़ाने के लिए ।

अब सूत्रकार वचन से सम्बन्ध रखने वाली आशातना का वर्णन करते हैं:—

सेहे रायणियस्स वाहरमाणस्स अपडिसुणित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ १९ ॥

शैक्षो रात्निकस्य व्याहरतोऽप्रतिश्रोता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**—शिष्य **रायणियस्स**—रत्नाकर के **वाहरमाणस्स**—आमन्त्रित करने पर **अपडिसुणेत्ता**—वचन को सुनता ही नहीं तो **सेहस्स**—शिष्य को **आसायणा**—आशातना **भवइ**—होती है ।

मूलार्थ—रत्नाकर के आमन्त्रित करने पर यदि शिष्य ध्यान-पूर्वक नहीं सुनता है तो उसको आशातना लगती है ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि यदि रत्नाकर किसी शिष्य को बुलावे और वह उसकी बात को ध्यान से न सुने तो उसको आशातना लगती है । जैसे—रत्नाकर ने किसी कारण से शिष्य को बुलाया, शिष्य ने अपने मन में विचार किया कि यदि मैं प्रत्युत्तर देदूं तो सम्भवतः किसी कार्य में नियुक्त किया जाऊँ, इसलिए चुप रहना ही अच्छा है; क्योंकि दिन में प्रत्युत्तर न दूं तो गुरु जी समझ लेंगे कि कोलाहल के कारण न सुन सका और रात्रि में चुप रहने से विचार लेंगे कि सो रहा है । अतः मौन धारण ही अच्छा है इस प्रकार विचार करके वास्तव में मौन धारण कर ले तो उसको आशातना लगेगी ।

सिद्ध यह हुआ कि ऐसी छल-युक्त क्रियाएं कभी न करनी चाहिएं अपितु सदैव प्रसन्नतापूर्वक गुरु की आज्ञा पालन करनी चाहिए ।

वक्ष्यमाण सूत्र में सूत्रकार उक्त विषय की ही आशातना कहते हैं:—

सेहे रायणियस्स वाहरमाणस्स तत्थ गए चेव पडिसुणित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २० ॥

शैक्षो रात्निकस्य व्याहरतस्तत्रगत (स्थितः) एव प्रतिश्रोता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**–शिष्य **रायणियस्स**–रत्नाकर के **वाहरमाणस्स**–आमन्त्रित करने पर **तत्थ गए चेव**–वहां पर बैठा हुआ ही **पडिसुणित्ता**–वचन को सुनता है तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है ।

मूलार्थ—रत्नाकर के बुलाने पर शिष्य यदि अपने स्थान में बैठा हुआ ही उनके वाक्य को सुने तो उसको आशातना लगती है ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि जब गुरु शिष्य को आमन्त्रित करे तो उस (शिष्य) को उचित है कि अपने स्थान से उठकर गुरु के पास जावे और सत्कार-पूर्वक उनकी आज्ञा सुने न कि कार्य करने के भय से अपने स्थान पर बैठा हुआ सुनता रहे । यदि ऐसा करेगा तो उसको आशातना लगेगी । हाँ, कोई विशेष कारण हो जाय तो इस का अपवाद भी हो सकता है, किन्तु ध्यान रहे कि वह कारण भी गुरु को निवेदन करना पड़ेगा अन्यथा आशातना से नहीं बच सकता ।

वृत्तिकार ने भी लिखा है—"कायिक्यां गतो भाजन-हस्तो वा भुञ्जानो यदि न ब्रूते तदा न दोषः" ।

अब सूत्रकार उक्त विषय की ही आशातना का निरूपण करते हैं:—

सेहे रायणियस्स किंतिवत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २१ ॥

शैक्षो रात्निकस्य "किमिति" वक्ता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**–शिष्य **रायणियस्स**–रत्नाकर को **किंतिवत्ता**–"क्या कहते हैं" कहे तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है ।

मूलार्थ—शिष्य रत्नाकर के बुलाने पर "क्या कहते हैं" कहे तो उसको आशातना लगती है ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि यदि गुरु शिष्य को बुलावे तो उसको गुरु के वाक्य भक्ति और विनयपूर्वक सुनने चाहिएं । यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसको आशातना लगती है । जैसे—यदि किसी समय गुरु शिष्य को बुलावे तो शिष्य को अनवधानता से "क्या कहते हो" या "क्या कहता है" कदापि नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार कहने से एक तो विनय-भङ्ग होता है, दूसरे कहने वाले की अयोग्यता और असभ्यता प्रकट होती है । अतः बुलाने पर विनयपूर्वक गुरु के समीप जाकर ही उनके वाक्य ध्यान देकर सुनने चाहिएं, तथा उनकी आज्ञा का यथोचित रीति से पालन करना चाहिए, इसी में श्रेय है ।

अब सूत्रकार फिर उक्त विषय की ही आशातना कहते हैं:—

सेहे रायणियं तुमंति वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २२ ॥

शैक्षो रात्निकं "त्वं" इति वक्ता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**–शिष्य **रायणियं** रत्नाकर को **तुमंति** "तू" ऐसा **वत्ता**–कहकर बुलावे तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है ।

मूलार्थ—शिष्य रत्नाकर को यदि 'तू' कहे तो उसको आशातना लगती है ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि शिष्य जब कभी रत्नाकर या गुरु को आमन्त्रित करे तो बहुवचन से ही करे क्योंकि अपने से बड़ों का सदा आदर करना चाहिए, और आदर में सदा बहुवचन का ही प्रयोग होता है । यदि गुरु को कोई शिष्य एकवचन से आमन्त्रित करे तो उसको आशातना लगती है ।

अतः "कस्त्वं मम प्रेरणायाम्" (तू मुझको प्रेरणा करने वाला कौन होता है) इत्यादि असभ्यता-सूचक वाक्यों का प्रयोग कभी गुरु के लिए न करे, प्रत्युत आदरपूर्वक विनीत-वचनों से ही उनको बुलावे।

अब सूत्रकार फिर उक्त विषय की ही आशातना कहते हैं:—

सेहे रायणियं खद्धं खद्धं वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २३ ॥

शैक्षो रात्निकं प्रचुरं-प्रचुरं वक्ता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥२३॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**—शिष्य **रायणियं**—रत्नाकर को **खद्धं खद्धं**—अत्यन्त कठोर तथा प्रमाण से अधिक शब्दों से **वत्ता**—बुलावे तो **सेहस्स**—शिष्य को **आसायणा** आशातना **भवइ**—होती है।

मूलार्थ—शिष्य रत्नाकर को अत्यन्त कठोर तथा प्रमाण से अधिक वाक्यों से आमन्त्रित करे तो उसको आशातना लगती है।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि यदि शिष्य रत्नाकर को आमन्त्रित करना चाहे तो उसको उचित है कि बहुमान-पूर्वक अत्यन्त मृदु तथा प्रमाणोचित शब्दों से ही आमन्त्रित करे। यदि वह धृष्टता से कठोर और प्रमाण से अधिक शब्दों से आमन्त्रित करता है तो उसको आशातना लगती है।

सूत्र में दिये हुए "खद्धं खद्धं" का निम्नलिखित अर्थ है:—

"अत्यन्तं परुषेण बृहता स्वरेण प्रचुरं रात्निकं भाषमाणः" अर्थात् रात्निक को अत्यन्त कठोर और प्रमाण से अधिक शब्दों से ऊंचे स्वर में आमन्त्रित करने वाला।

'समवायाङ्ग सूत्र' में भी इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है:— "रत्नाकरं प्रति तत्समक्षं वा बृहता शब्देन बहुधा भाषमाणस्य" अर्थात् रत्नाकर के साथ बड़े बड़े शब्दों में तथा अधिक बोलने वाला।

अतः सिद्ध हुआ कि रत्नाकर को पूज्यार्ह तथा प्रेम-पूर्ण शब्दों से ही आमन्त्रित करना चाहिए।

अब सूत्रकार पुनः उक्त विषय की ही आशातना का निरूपण करते हैं:—

सेहे रायणियं तज्जाएणं तज्जाएणं पडिहणित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २४ ॥

शैक्षो रात्निकं तज्जातेन-तज्जातेन प्रतिहन्ता (प्रतिभाषिता) भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**–शिष्य **रायणियं**–रत्नाकर को **तज्जाएणं**–उसी के वचनों से **पडिहणित्ता**–प्रतिभाषण करे (उत्तर दे) तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है ।

मूलार्थ—शिष्य रत्नाकर के वचनों से ही उसका तिरस्कार करे तो शिष्य को आशातना लगती है ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि गुरु शिष्य को जो कुछ भी शिक्षा दे शिष्य उस (शिक्षा) को सादर ग्रहण करे, किन्तु गुरु के वाक्यों से ही उसका तिरस्कार न करे । जैसे—गुरु ने शिक्षा दी कि प्रत्येक साधु को ग्लान (थके हुए या दुःखित व्यक्ति) की सेवा करनी चाहिए तथा कभी आलस्य नहीं करना चाहिए या "तुम लोग स्वाध्याय क्यों नहीं करते" इस पर यदि कोई उद्धत शिष्य बोल उठे "गुरु जी महाराज ! आप स्वयं ग्लान की सेवा क्यों नहीं करते और स्वयं आलस्य क्यों करते हैं ?" या "आप ही स्वाध्याय क्यों नहीं करते ?" तो उसको आशातना लगती है ।

सूत्र में आए हुए "तज्जातेन" शब्द का तात्पर्य है कि गुरु के वचन से ही उसके पक्ष की अवहेलना करने के लिए तर्काभास करना जिससे उसका उपहास हो ।

अब सूत्रकार उक्त विषय की ही आशातना का निरूपण करते हैं:—

सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स इति एवं वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २५ ॥

शैक्षो रात्निकस्य कथां कथयतः 'इति' एवं वक्ता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**–शिष्य **रायणियस्स**–रत्नाकर के **कहं**–कथा **कहेमाणस्स** कहते हुए **इति**–अमुक पदार्थ का स्वरूप इस प्रकार कहो **एवं**–इस प्रकार **वत्ता**–कहे तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है ।

मूलार्थ—शिष्य रत्नाकर के कथा कहते हुए बीच ही में बोल उठे "अमुक पदार्थ का स्वरूप इस प्रकार कहिए" तो शिष्य को आशातना होती है ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि यदि गुरु कथा करते हुए किसी पदार्थ का स्वरूप संक्षेप में कहता हो और शिष्य बीच ही में बोल उठे कि आपको इस पदार्थ का स्वरूप इस तरह कहना चाहिए, क्योंकि इस पदार्थ का वास्तविक स्वरूप यही है जो कुछ मैं कहता हूँ, तो उसको (शिष्य को) आशातना लगती है, क्योंकि इससे उसका अभिप्राय जनता पर अपनी बुद्धि-मत्ता प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं । ध्यान रहे कि इस तरह की अन्य क्रियाओं के करने से भी शिष्य आशातना का भागी होता है, यह उपलक्षण से जानना चाहिए ।

अतः शिष्य को कोई भी ऐसा कार्य न करना चाहिए जिससे किसी प्रकार भी गुरु का अपमान हो, प्रत्युत गुरु के सामने सदा विनीत बने रहना चाहिए और उसका सदा बहुमान करना चाहिये ।

अब सूत्रकार फिर उक्त विषय की ही आशातना का निरूपण करते हैं:—

सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स नो सुमरसीति वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २६ ॥

शैक्षो रात्निकस्य कथां कथयतः "नो स्मरसि" इति वक्ता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**–शिष्य **रायणियस्स**–रत्नाकर के **कहं**–कथा **कहेमाणस्स**–कहते हुए **नो सुमरसि**–आप भूलते हैं, आप को स्मरण नहीं है **इति**–इस प्रकार

वत्ता–कहे तो **सेहस्स** शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है ।

मूलार्थ—शिष्य रत्नाकर के कथा कहते हुए "आप भूलते हैं, आपको स्मरण नहीं" इस प्रकार कहे तो शिष्य को आशातना लगती है ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि यदि रत्नाकर या गुरु कथा कहता हो और शिष्य बीच में कह बैठे कि आप विषय को भूल गए हैं वास्तव में यह विषय इस प्रकार है और उस विषय का स्वयं वर्णन करने लग जाय तो उस (शिष्य) को आशातना लगती है, क्योंकि जनता पर अपना उत्कर्ष प्रकाशित करने के लिए उसने गुरु का तिरस्कार किया, इससे उसका आत्मा अविनय-युक्त होने से दुर्लभ-बोधि भाव की उपार्जना करने लगेगा । अतः इस प्रकार गुरु का तिरस्कार कदापि नहीं करना चाहिए ।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि रत्नाकर सभा में अनुपयुक्त और प्रतिकूल भावों का वर्णन कर रहा है तो शिष्य को क्या करना चाहिए ? उत्तर में कहा जाता है कि ऐसी अवस्था में सभ्यता-पूर्वक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देख कर जैसा उचित समझे करे । यदि शिष्य को निश्चय हो जाय कि गुरु के कथन से जनता में मिथ्या-भाव फैल रहा है तथा इस वक्तव्य से बहुत से नर नारियों के अन्तःकरण से धर्म-वासना के नष्ट होने का भय है तो उसको उचित है निम्न-लिखित राजनीति के अनुसार कार्य करे । जैसे—राजनीति (नीतिवाक्यामृत) में लिखा है कि यदि राजा किसी से वार्तालाप कर रहा हो तो मन्त्रियों को उचित है कि बीच में कुछ न कहें, किन्तु यदि राजा के वार्तालाप से राज्य का नाश होता है या जनता में क्लेश (विरोध) उत्पन्न होने की या किसी बलवान् राजा के आक्रमण की सम्भावना हो तो मन्त्रियों को समयानुसार स्वयं भाषण करना चाहिए । नीतिकार ने इस विषय को दृष्टान्त द्वारा स्वयं स्पष्ट कर दिया है—"पीयूषमपिबतो बालस्य किन्न क्रियते कपोल-ताडनम्" अर्थात् यदि बालक स्तन पान न करे तो क्या माता उसके कपोलों को ताड़न नहीं करती, अर्थात् अवश्य ही करती है । लेकिन वह ताड़न केवल हित के ही लिए है । इसी नीति का अनुसरण करते हुए समय देख कर गुरु का विरोध करने से भी शिष्य को कोई दोष नहीं होता ।

किन्तु ध्यान रहे कि केवल धर्म-रक्षा के लिए ही ऐसा करना चाहिए,

अन्यथा नहीं। यदि रत्नाकर के साथ द्वेष-बुद्धि से कोई ऐसा करेगा तो उसको आशातना अवश्य लगेगी।

अब सूत्रकार उक्त विषय की ही आशातना का निरूपण करते हैं:—

सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स णो सुमणसे भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २७ ॥

शैक्षो रात्निकस्य कथां कथयतो नो सुमना भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**–शिष्य **रायणियस्स**–रत्नाकर के **कहं**–कथा **कहेमाणस्स**–कहते हुए **णो सुमणसे**–प्रसन्न होने के स्थान पर उपहत मन हो जाय (दत्त-चित्त होकर न सुने) तो उसको **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है।

मूलार्थ—शिष्य रत्नाकर के कथा करते हुए यदि उपहत-मन हो जाय तो उसको आशातना होती है।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि गुरु के वचनों को सुन कर शिष्य को सदा प्रसन्न-चित्त होना चाहिए; क्योंकि गुरु-वचन अमूल्य शिक्षाओं के भण्डार होते हैं और जीवन को पवित्र बनाने में सदा सहायक होते हैं। कहने का आशय यह निकला कि गुरु के वचन दत्त-चित्त होकर तथा प्रसन्नता-पूर्वक सुनने चाहिएं और गुरु के कथा करते हुए कभी निद्रा और आलस्य के वशीभूत नहीं होना चाहिए ना हीं उनका किसी प्रकार उपहास करना चाहिए।

यदि रत्नाकर के कथा करते हुए कोई शिष्य निद्रा और आलस्य के वशीभूत होकर मन की अप्रसन्नता प्रकट करे, चित्त में दुःखित हो, किसी प्रकार भी गुरु-वाक्यों का उपहास करे या गुरु-वाक्यों में अपने कुतर्कों से निरर्थक दोषारोपण करने लगे उसको अवश्य ही आशातना लगेगी।

अतः आशातना से बचने के लिए शिष्य को कभी भी ऊपर कही हुई क्रियाएं नहीं करनी चाहिएं। इसी से गुरु-भक्ति बनी रह सकती है और विनय-धर्म का भी पालन हो सकता है।

अब सूत्रकार फिर उक्त विषय की ही आशातना का निरूपण करते हैं:—

सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स परिसं भेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २८ ॥

शैक्षो रात्निकस्य कथां कथयतः परिषद्भेत्ता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**–शिष्य **रायणियस्स**–रत्नाकर के **कहं**–कथा **कहेमाणस्स**–कहते हुए **परिसं**–परिषत् (श्रोतृ-गण का) **भेत्ता**–भेदन करता है तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है ।

मूलार्थ—शिष्य रत्नाकर के कथा कहते हुए यदि परिषद् का भेदन करे तो उसको आशातना लगती है ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि यदि कहीं पर रत्नाकर धर्म-कथा कर रहा हो और धर्म-प्रचार से प्रभावित होकर जनता शान्ति-पूर्वक कथा श्रवण में दत्त-चित्त हो तो उस समय परिषद्-भङ्ग करने का प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिए । यदि कोई शिष्य "भिक्षा का समय होगया है, कथा समाप्त होनी चाहिए" या "आपको तो कथा से ही प्रेम है, यहां और साधु भूख से पीड़ित हो रहे हैं" इत्यादि वाक्य कहकर विघ्न उपस्थित करदे और श्रोता उठ कर चले जाएं, फलतः जिनको उस कथा से धर्म-लाभ होना था वे उससे वञ्चित रह जाएं तो उस शिष्य को आशातना लगेगी । तथा गुरु और शिष्य के इस वर्ताव से जनता में उनका उपहास होने लगेगा; विनय-धर्म का अपमान हो जाएगा; ज्ञान, दर्शन और चरित्र में हानि होने का भय होगा; आत्म-विराधना और संयम-विराधना के कारण उपस्थित हो जाएंगे तथा आत्मा ज्ञानावरणी-यादि कर्मों के बन्धन में फंस जाएगा । अतः परिषद्-भङ्ग कदापि नहीं करना चाहिए ।

अब सूत्रकार फिर उक्त विषय की ही आशातना का निरूपण करते हैं:—

सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स कहं अच्छिंदित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २९ ॥

शैक्षो रात्निकस्य कथां कथयतः कथामाच्छेत्ता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ २९ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**–शिष्य **रायणियस्स**–रत्नाकर के **कहं**–कथा **कहेमाणस्स** कहते हुए **कहं**–कथा **अच्छिदित्ता**–विच्छेद करे तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है ।

मूलार्थ—शिष्य रत्नाकर के कथा कहते हुए यदि कथा-विच्छेद करे तो उसको आशातना लगती है ।

टीका—यदि रत्नाकर कथा कर रहा हो और शिष्य बीच ही में कुछ विघ्न उपस्थित कर श्रोताओं की मनो-वृत्ति पलट दे तो शिष्य को आशातना लगती है । जैसे–रत्नाकर धर्म कथा कर रहा है और श्रोतृ-गण दत्त-चित्त होकर सुन रहे हैं, शिष्य बीच ही में आकर "उठो ! भिक्षा का समय होगया है, यह कथा सुनने का समय नहीं । अभी अपना २ काम करो, फिर भी कथा होगी" इत्यादि अनर्गल प्रलाप कर कथा-भङ्ग करदे और जब गुरु या रत्नाकर की एकत्रित की हुई जनता जाने लगे तो स्वयं कथा करनी प्रारम्भ करदे या कथा के बीच ही में गर्दभ, महिष आदि पशुओं के समान कोलाहल उत्पन्न कर दे अर्थात् ऐसा कोई भी कारण उपस्थित कर दे जिससे कथा-विच्छेद हो जाय तो शिष्य को आशातना लगती है ।

सारे कथन का आशय यह हुआ कि कथा-विच्छेद के लिये कभी भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे जनता के चित्त में धर्म की ओर अप्रवृत्ति का भाव उत्पन्न हो सकता है ।

अब सूत्रकार फिर उक्त विषय की ही आशातना का निरूपण करते हैं:—

सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स तीसे परिसाए अणुट्ठियाए अभिन्नाए अवुच्छिन्नाए अवोगडाए दोच्चंपि तच्चंपि तमेव कहं कहित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ३० ॥

शैक्षो रात्निकस्य कथां कथयतस्तस्यां परिषद्यनुत्थिताया-

मभिन्नायामव्युच्छिन्नायामव्याकृतायां द्वितीयं तृतीयं वारमपि तामेव कथां कथयिता भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**–शिष्य **रायणियस्स**–रत्नाकर के **कहं**–कथा **कहेमाणस्स**–कहते हुए **तीसे**–उस **परिसाए**–परिषद् के **अणुट्ठियाए**–उठने के पहिले **अभिन्नाए**–भिन्न होने के पहिले **अवुच्छिन्नाए**–व्यवच्छेद होने के पहिले **अव्वोगडाए**–बिखरने के पहिले **तमेव**–उसी **कहं**–कथा को **दोच्चंपि**–दो बार **तच्चंपि**–तीन बार विस्तार-पूर्वक **कहित्ता**–कहता है तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है ।

मूलार्थ—शिष्य रत्नाकर के कथा करते हुए एकत्रित हुई परिषद् के उठने के, भिन्न होने के, व्यवच्छेद होने के और बिखरने के पूर्व यदि उसी कथा को दो या तीन बार कहे तो शिष्य को आशातना लगती है ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि शिष्य को अपनी प्रतिभा का निरर्थक अपव्यय नहीं करना चाहिए । जैसे–जिस परिषद् में रत्नाकर कथा कर रहा है उसके उठने से, भिन्न होने से और बिखरने से पहिले यदि शिष्य उसी विषय को दो या तीन बार विस्तार-पूर्वक कहने लगे तो शिष्य को आशातना होती है, क्योंकि ऐसा करने से उसका अभिप्राय केवल रत्नाकर की लघुता और अपनी प्रतिभा की प्रशंसा का ही हो सकता है, अर्थात् वह जनता को यह दिखाना चाहता है कि गुरु की अपेक्षा शिष्य अधिक प्रतिभा-शाली है । किन्तु इस प्रकार अपनी प्रतिभा द्योतन के लिये ही यदि कथा की दो तीन बार आवृत्ति करे तो उसको आशातना लगती है और यदि गुरु ही विस्तार-पूर्वक वर्णन करने की आज्ञा प्रदान करे तो किसी प्रकार की आशातना नहीं होती है, क्योंकि आशातना का सम्बन्ध मनो-गत भावों से ही होता है । यदि कोई कार्य अहं-वृत्ति से किया जाएगा तो शिष्य को आशातना लगेगी और यदि अहं-वृत्ति को छोड़ हित-बुद्धि से किया जाएगा तो किसी प्रकार की आशातना नहीं होती ।

सारे कथन का निष्कर्ष यह निकला कि अहं-मन्यता के भावों को छोड़कर केवल विनय-धर्म और गुरु-भक्ति के आश्रित होकर ही प्रत्येक कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए । इससे आत्मा दोनों लोकों में यश का पात्र बन जाता है ।

अब सूत्रकार सङ्घट्टन विषय की आशातना का निरूपण करते हैं:—

सेहे रायणियस्स सिज्जा-संथारगं पाएणं संघट्टित्ता हत्थेण अणणुतावित्ता (अणणुवित्ता) गच्छइ आसायणा भवइ सेहस्स ॥ ३१ ॥

शैक्षो रात्निकस्य शय्यां-संस्तारकं पादेन संघट्य हस्तेनाननुताप्य (अननुज्ञाप्य) गच्छत्याशातना भवति शैक्षस्य ॥३१॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**–शिष्य **रायणियस्स**–रत्नाकर के **सिज्जा**–शय्या और **संथारगं**–संस्तारक (बिछौने) को **पाएणं**–पैर से **संघट्टित्ता**–संघट्ट (स्पर्श) कर **हत्थेण**–विना हाथ जोड़े और **अणणुतावित्ता**–विना दोष को स्वीकार किये अथवा **अणणुवित्ता**–विना क्षमापन के **गच्छइ**–जाता है तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है ।

मूलार्थ—शिष्य रत्नाकर के शय्या और संस्तारक को पैर से स्पर्श कर विना अपराध स्वीकार किये और विना हाथ जोड़ कर क्षमापन किये हुए चला जाय तो उसको आशातना लगती है ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि यदि शिष्य विना उपयोग के पैर से गुरु की शय्या और संस्तारक का स्पर्श करे तो उसको क्या करना चाहिए । जैसे—यदि कदाचित् शिष्य का गुरु की शय्या और संस्तारक से पाद-स्पर्श हो जाय तो उसको उचित है कि हाथ जोड़ कर गुरु से क्षमा प्रार्थना करे "हे भगवन् ! मेरा अपराध क्षमा कीजिए भविष्य में ऐसा अपराध नहीं करूंगा ।" यदि क्षमापन के विना ही वहां से चला जाय तो उसको विनय-भङ्ग से आशातना तो लगेगी ही, साथ ही देखने वालों के चित्त में उसके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जायगी । इसके अतिरिक्त समीप रहने वाले साधु-गण का भी उसके इस अविनय के अनुकरण से अविनयी होने का भय है ।

शिष्य को गुरु या रत्नाकर की महत्त्व-रक्षा का ध्यान सदैव रखना चाहिए । यदि वह गुरु के महत्त्व का किसी प्रकार भी तिरस्कार करेगा तो उसका गुरु से

प्राप्त धर्मोपदेश कभी सफल नहीं हो सकता । अतः गुरु की महत्ता का तिरस्कार कभी नहीं करना चाहिए ।

यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि शय्या और संस्तारक में क्या भेद है ? उत्तर में कहा जाता है कि शय्या सर्वाङ्गीण होती है और संस्तारक सार्द्ध-हस्त-द्वय-(ढाइ हाथ) मात्र होता है, अथवा जो नग्न भूमि पर बिछा हुआ होता है उसको शय्या और जो काष्ठ-पीठ (तख्त) पर बिछा होता है उसको संस्तारक कहते हैं । अथवा "शैय्यैव संस्तारकः- शय्या-संस्तारकः, शय्यायां वा संस्तारकः—शय्या-संस्तारकस्तम्" इत्यादि ।

सिद्धान्त यह निकला कि गुरु के किसी भी उपकरण से, विना उसकी आज्ञा के, उपयोग अथवा अनुपयोग पूर्वक पाद-स्पर्श होजाय तो शिष्य को अवश्य उससे क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिए ।

अब सूत्रकार गुरु के आसन पर अन्य क्रियाओं के करने से उत्पन्न होने वाली आशातना का निरूपण करते हैं:—

सेहे रायणियस्स सिज्जा-संथारए चिट्ठित्ता वा निसीइत्ता वा तुयट्टित्ता वा भवइ आसायणा सेहस्स ॥३२॥

शैक्षो रात्निकस्य शय्या-संस्तारके स्थाता वा निषीदिता वा त्वग्वर्तिता वा भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**–शिष्य **रायणियस्स**–रत्नाकर के **सिज्जा**–शय्या और **संथारए**–संस्तारक के ऊपर **चिट्ठित्ता**–खड़ा हो **वा**–अथवा **निसीइत्ता**–बैठे **वा**–अथवा **तुयट्टित्ता**–शयन करे या लेट कर पार्श्व-परिवर्तन करे तो **सेहस्स**–शिष्य को **आसायणा**–आशातना **भवइ**–होती है ।

मूलार्थ—शिष्य रत्नाकर के शय्या-संस्तारक पर यदि खड़ा हो, बैठे या शयन करे तो उसको आशातना लगती है ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि शिष्य को विना रत्नाकर की

आज्ञा के उसकी शय्या पर न खड़ा होना चाहिए, न बैठना चाहिए, नाहीं उस पर शयन करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से एक तो विनय-भङ्ग होता है, दूसरे जनता को उस (शिष्य) की असभ्यता का परिचय मिलता है। और जनता के हृदय से गुरु और शिष्य दोनों का मान उठ जाता है तथा धर्म और व्यक्ति दोनों की लघुता हो जाती है।

अतः विना रत्नाकर की आज्ञा प्राप्त किये उनके शय्या और आसन आदि पर 'बैठना' 'खड़ा होना' आदि क्रियाएं कभी नहीं करनी चाहिएं। हां, रत्नाकर के रोग आदि से पीड़ित होने पर उनकी आज्ञा से उनके आसन पर वैयावृत्य (सेवा) आदि करने के लिए यदि बैठा जाय तो आशातना नहीं होती। अतः गुरु-भक्ति करते हुए आत्म-कल्याण करना चाहिए।

अब सूत्रकार फिर उक्त विषय की ही आशातना का निरूपण करते हैं:—

सेहे रायणियस्स उच्चासणंसि वा समासणंसि वा चिट्ठित्ता वा निसीइत्ता वा तुयट्टित्ता वा भवइ आसा-यणा सेहस्स ॥ ३३ ॥

शैक्षो रात्निकस्योच्चासने वा समासने वा स्थाता वा निषीदिता वा त्वग्वर्तिता वा भवत्याशातना शैक्षस्य ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः—**सेहे**—शिष्य **रायणियस्स**—रत्नाकर के **उच्चासणंसि**—ऊंचे आसन पर **वा**—अथवा **समासणंसि**—समान आसन पर **चिट्ठित्ता वा**—खड़ा हो अथवा **निसीइत्ता**—बैठ जाय **वा**—अथवा **तुयट्टित्ता**—शयन करे तो **सेहस्स**—शिष्य को **आसायणा**—आशातना **भवइ**—होती है।

मूलार्थ—शिष्य यदि गुरु से ऊंचे आसन पर या गुरु के बराबरी के आसन पर खड़ा हो, बैठे अथवा शयन करे तो उसको आशातना लगती है।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि शिष्य को गुरु से ऊंचा तथा उन की बराबरी का आसन कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे विनय-भङ्ग और

स्वच्छन्दता की वृद्धि होती है । साथ ही अन्य शिष्यों के भी अविनयी होने का भय है, क्योंकि गुणों की अपेक्षा दोषों का शीघ्र विस्तार होता है । अतः शिष्य को कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे उसका अविनय प्रकट हो ।

गुरु से ऊंचे तथा गुरु के बराबरी के आसन पर बैठना आदि क्रियाएं करना निषिद्ध है, किन्तु रोग आदि विशेष कारण के उपस्थित होने पर समयानुसार गुरु की आज्ञा से ऊंचे तथा बराबरी के आसन पर बैठने से भी कोई दोष नहीं होता । यही इस में अपवाद है ।

'उत्सर्ग-मार्ग' सामान्य-वर्ती होता है और 'अपवाद-मार्ग' किसी विशेष कारण के उपस्थित होने पर 'उत्सर्ग-मार्ग' से अन्यथा चलने का नाम है । किन्तु उत्सर्ग-मार्ग से अन्यथा चलने के लिए श्री भगवान् और गुरु की आज्ञा लेना परम आवश्यक है ।

सारांश यह निकला कि विनीत बनने के लिए आशातनाओं का परित्याग अनिवार्य है । आशातनाओं से आत्म-विराधना और संयम-विराधना सहज ही में हो सकती है, अतः अपनी हित-कामना करने वाले व्यक्ति को इनका सर्वथा परित्याग करना चाहिए । इसके अतिरिक्त आशातनाओं के सेवन से मनुष्य का मान भी घट जाता है ।

अब सूत्रकार प्रस्तुत दशा का उपसंहार करते हुए कहते हैंः—

एयाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ त्तिबेमि ।

इति तइया दसा समत्ता ।

एताः खलु ताः स्थविरैर्भगवद्भिस्त्रयस्त्रिंशदाशातनाः प्रज्ञप्ता इति ब्रवीमि ।

इति तृतीया दशा समाप्ता ।

पदार्थान्वयः—एयाओ–यह ताओ–वे थेरेहिं–स्थविर भगवंतेहिं–भग-

वन्तों ने तेत्तीसं–तेतीस आसायणाओ–आशातनाएं पण्णत्ताओ–प्रतिपादन की हैं त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ । इति–इस प्रकार तइया–तीसरी दसा–दशा समत्ता–समाप्त हुई ।

मूलार्थ—स्थविर भगवन्तों ने यही पूर्वोक्त तेतीस आशातनाएं प्रतिपादन की हैं । इस प्रकार मैं कहता हूं ।

टीका—इस सूत्र में तीसरी दशा का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि यही तेतीस आशातनाएं स्थविर भगवन्तों ने प्रतिपादन की हैं ।

इस अध्ययन के पहिले सूत्र में वर्णन किया गया था कि स्थविर भगवन्तों ने तेतीस आशातनाएं प्रतिपादन की हैं; उस पर शिष्य ने प्रश्न किया था कि कौन सी तेतीस आशातनाएं स्थविर भगवन्तों ने प्रतिपादन की हैं ? गुरु ने "एताः खलु" इत्यादि से प्रारम्भ कर "इति ब्रवीमि" यहां तक उन आशातनाओं का विस्तृत वर्णन शिष्य को सुना दिया ।

यहां पर यह कह देना आवश्यक है कि आशातनाओं का ज्ञान होने पर इनका प्रत्याख्यान द्वारा प्रत्याख्यान भी किया जा सकता है, क्योंकि यह बात सुविदित है कि ज्ञान होने पर ही हेय, ज्ञेय और उपादेय रूप पदार्थों का बोध हो सकता है । इसलिए इन आशातनाओं का परिणाम भली भांति जानकर इनका परित्याग करना चाहिए ।

इस प्रकार श्री सुधर्मा स्वामी जी अपने शिष्य श्री जम्बू स्वामी के प्रति कहते हैं "हे जम्बू स्वामिन् ! जिस प्रकार मैंने श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी से इस दशा का अर्थ श्रवण किया है, उसी प्रकार तुमको सुना दिया है, किन्तु अपनी बुद्धि से मैंने कुछ भी नहीं कहा ।

तृतीया दशा समाप्ता ।

चतुर्थी दशा

तीसरी दशा में तेतीस आशातनाओं का वर्णन किया जा चुका है । अब सूत्रकार इस चौथी दशा में आचार-सम्पत् का विषय वर्णन करते हैं । पहली दशा में बीस असमाधि-स्थानों के, दूसरी दशा में इक्कीस शबल दोषों के और तीसरी दशा में तेतीस आशातनाओं के छोड़ने का उपदेश दिया गया है । इन सब के परित्याग से शिष्य 'गणी' पद के योग्य हो जाता है । इस चौथी दशा में पूर्व तीन दशाओं से सम्बन्ध रखते हुए शास्त्र-कार 'गणि-सम्पत्' का विषय वर्णन करते हैं ।

अब प्रश्न यह होता है कि 'गणि-सम्पत्' किसे कहते हैं ? उत्तर में कहा जाता है कि 'गणि-सम्पत्' यह 'गणी' और 'सम्पत्' दो पदों के मेल से बना हुआ है । उन में से 'गणी' गण शब्द से बनता है । साधुओं अथवा ज्ञानादि गुणों के समुदाय को 'गण' कहते हैं और उक्त गण के अधि-पति की 'गणी' संज्ञा होती है । उस 'गणी' की द्रव्य और भाव से जो कुछ भी सम्पत्ति हो उसको 'गणि-सम्पत्' कहते हैं अर्थात् गणी की लक्ष्मी (अलौकिक और अनुपम शक्ति) को 'गणि-सम्पत्' कहते हैं ।

यद्यपि 'गणि-सम्पत्' आठ प्रकार की वर्णन की गई है तथापि मुख्यतया गणी में—संग्रह और उपग्रह—दो गुण अवश्य होने चाहिएं, वस्त्र और पात्रादि का संग्रह करना और वस्त्र, पात्र और ज्ञानादि से शिष्यादि का उपग्रह (उपकार) करना ये दो मुख्य गुण हैं । इन दो गुणों के होने पर शेष सब गुण सहज म ही उत्पन्न हो सकते हैं । गणी को गुणों से पूर्ण अवश्य होना चाहिए, क्योंकि

बिना गुणों के वह गण की रक्षा नहीं कर सकता और गण-रक्षा ही उसका मुख्य कर्तव्य है ।

'सम्पत्' के—'द्रव्य-सम्पत्' और 'भाव-सम्पत्'–दो भेद हैं । शिष्य-समूह, जो उसके अधिकार में है, वह गणी की 'द्रव्य-सम्पत्' है और ज्ञानादि-गुण-संग्रह 'भाव-सम्पत्' कहलाती है । इन दोनों सम्पत्तियों से परिपूर्ण व्यक्ति ही वास्तव में 'गणी' पद को सुशोभित कर सकता है ।

इन दो भेदों के अतिरिक्त 'सम्पत्' के 'काल-सम्पत्' और 'क्षेत्र-सम्पत्'–दो और भेद भी होते हैं । इस प्रकार मिलाकर सब–द्रव्य, भाव, काल और क्षेत्र चार भेद हुए । यह चार प्रकार की सम्पत् लौकिक और लोकोत्तर दोनों पक्षों में मानी जाती है ।

गृहस्थी लोगों की 'द्रव्य-सम्पत्'–धन-धान्य आदि, 'क्षेत्र-सम्पत्'–विशाल क्षेत्र आदि, 'काल-सम्पत्'–समय का अनुकूल होना और 'भाव-सम्पत्' ज्ञानादि गुणों का होना है । इसी तरह लोकोत्तर-सम्पत् के विषय में भी जानना चाहिए ।

इस कथन से सिद्ध यह हुआ कि यदि गणी ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण होगा तभी वह गण की भली प्रकार से रक्षा करता हुआ स्वयं निर्वाण-पद की प्राप्ति कर सकता है और साथ ही अन्य आत्माओं को भी निर्वाण-पद के योग्य बना सकता है ।

प्रस्तुत दशा में गणि-सम्पत्–द्रव्य और भाव रूप–वर्णन की गई है । अब सूत्रकार निम्न-लिखित सूत्र से दशा का आरम्भ करते हैं:—

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठ-विहा गणि-संपया पण्णत्ता । कयरा खलु अट्ठ-विहा गणि-संपया पण्णत्ता ? इमा खलु अट्ठ-विहा गणि-संपया पण्णत्ता: तं जहा:—

श्रुतं मया, आयुष्मन् ! तेन भगवतैवमाख्यातम्, इह

खलु स्थविरैर्भगवद्भिरष्ट-विधा गणि-सम्पत् प्रज्ञप्ता । कतरा खल्वष्टविधा गणि-सम्पत् प्रज्ञप्ता ? इयं खल्वष्ट-विधा गणि-सम्पत् प्रज्ञप्ता । तद्यथा—

पदार्थान्वयः—**आउसं**–हे आयुष्मन् शिष्य ! **मे**–मैंने **सुयं**–सुना है **तेणं**–उस **भगवया**–भगवान् ने **एवं**–इस प्रकार **अक्खायं**–प्रतिपादन किया है **इह**–इस जिन-शासन में **खलु**–अवधारणार्थ में है **थेरेहिं**–स्थविर **भगवंतेहिं**–भगवन्तों ने **अट्ठ-विहा**–आठ प्रकार की **गणि-संपया**–गणि-सम्पत् **पण्णत्ता**–प्रतिपादन की है । शिष्य ने प्रश्न किया कि **कयरा**–कौन सी **खलु**–पूर्ववत् अवधारण अर्थ में है **अट्ठ-विहा**–आठ प्रकार की **गणि-संपया**–गणि-सम्पत् **पण्णत्ता**–प्रतिपादन की है ? गुरु ने उत्तर में कहा कि **इमा**–यह **खलु**–पूर्ववत् अवधारण अर्थ में है **अट्ठ-विहा**–आठ प्रकार की **गणि-संपया**–गणि-सम्पत् **पण्णत्ता**-प्रतिपादन की है । **तं जहा**–जैसेः–

मूलार्थ—हे आयुष्मन् शिष्य ! मैंने सुना है उस भगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है । इस जिन-शासन में स्थविर भगवन्तों ने आठ प्रकार की गणि-सम्पत् प्रतिपादन की है । शिष्य ने प्रश्न किया "हे भगवन् ! कौन सी आठ प्रकार की गणि-सम्पत् प्रतिपादन की है ?" गुरु ने उत्तर दिया "यह आठ प्रकार की गणि-सम्पत् प्रतिपादन की है" जैसेः—

टीका—इस सूत्र में सूत्रकार ने स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार श्रीभगवान् ने प्रतिपादन किया है और जिस प्रकार मैंने श्री जी के मुख से श्रवण किया है उसी प्रकार मैं कहता हूँ ।

इस कथन से श्रुत-ज्ञान की सम्यक्ता सिद्ध की गई है, क्योंकि मिथ्या-श्रुत सदैव आत्मा के मिथ्या-भावों को उत्तेजित करता रहता है और श्रुत-ज्ञान आत्मा के निज स्वरूप प्रकट करने में सहायक होता है । अतः श्रुत-ज्ञान प्राणि-मात्र के लिए उपादेय है ।

इस के अतिरिक्त यह भी स्पष्ट किया है कि आप्त-वाक्य ही सार्थक होता है और सर्वज्ञों के कथन को ही आप्त-वाक्य कहते हैं । यह सूत्र सर्वज्ञोक्त होने से सर्वथा मान्य और प्रमाण है । अतः इस सूत्र में कथन की हुई शिक्षा उभय-लोक में हितकारी है ।

वास्तव में आत्मिक-सम्पत् ही आत्मा की भाव-सम्पत् है और द्रव्य-सम्पत् क्षणिक और नश्वर (नाश होने वाली) है । भाव-सम्पत् सदैव आत्मा के साथ रहती है और आत्म-स्वरूप को प्रकट करने वाली होती है ।

प्रस्तुत दशा में भाव-सम्पत् का ही विशेषतया वर्णन किया गया है जिस का प्रथम सूत्र निम्न लिखित है—

१—आचार-(यार) संपया २—सुय-संपया ३—सरीर-संपया ४—वयण-संपया ५—वायणा-संपया ६—मइ-संपया ७—पओग-संपया ८—संगह-परिन्ना अट्ठमा ॥

१ आचार-सम्पत् २ श्रुत-सम्पत् ३ शरीर-सम्पत् ४ वचन-सम्पत् ५ वाचना-सम्पत् ६ मति-सम्पत् ७ प्रयोग-सम्पत् ८ संग्रह-परिज्ञाष्टमी ।

पदार्थान्वयः—**आचार-(यार) संपया**–आचार-सम्पत् **सुय-संपया**–श्रुत-संपत् **सरीर-संपया**–शरीर-सम्पत् **वयण-संपया**–वचन-सम्पत् **वायणा-संपया**–वाचना-सम्पत् **मइ-संपया**–मति-सम्पत् **पओग-संपया**–प्रयोग-सम्पत् **अट्ठमा**–आठवीं **संगह-परिन्ना**–संग्रह-परिज्ञा नाम वाली होती है ।

मूलार्थ—सम्पत्–आचार-सम्पत्, श्रुत-सम्पत् शरीर-सम्पत्, वचन-सम्पत्, वाचना-सम्पत्, मति-सम्पत्, प्रयोग-सम्पत्, और संग्रह-परिज्ञा भेदों से—आठ प्रकार की होती है ।

टीका—इस सूत्र में आठ सम्पदाओं का नाम-आख्यान किया गया है । इन की क्रमपूर्वक होने में ही सार्थकता है । जैसे–सब से प्रथम आचार-शुद्धि की आवश्यकता है । जिसका आचार शुद्ध है उसके प्रायः सभी व्यवहार शुद्ध होते हैं । अतः प्राणि-मात्र के लिए सदाचार, भोजन और जल के समान परम आवश्यक है । वास्तव में सब से बढ़कर आचार-रूपी सम्पत् ही ऐसी है जो सदैव आत्मा के सह-वर्तिनी होती है । आचार के अनन्तर श्रुत-सम्पत् है, क्योंकि सदाचार

का ही श्रुत प्रशंसनीय होता है । इसके अनन्तर शरीर-सम्पत् आती है, क्योंकि श्रुत-ज्ञान का द्रव्य-आधार केवल शरीर ही है । यदि शरीर नीरोग और भली प्रकार स्वस्थ हो तभी श्रुत-ज्ञान के प्रचार की सफलता हो सकती है । इसके अनन्तर वचन-सम्पत् है, क्योंकि श्रुत-ज्ञानी यदि मधुर-भाषी होगा तभी उसका श्रुत-ज्ञान चरितार्थ हो सकता है । पाँचवीं वाचना-सम्पत् है । वचन-सम्पत् के अनन्तर इस का होना परम आवश्यक है, क्योंकि स्वयं श्रुत-ज्ञानी होने पर भी यदि वह योग्यता पूर्वक श्रुत-ज्ञान का जनता में प्रचार नहीं कर सकता तो वह गणी नहीं कहलाया जा सकता है । छठी मति-सम्पत् है । इसका तात्पर्य यह है कि स्वयं अधिगत (प्राप्त) श्रुत-ज्ञान बुद्धिमत्ता से ही प्रदान करना चाहिए तभी सुनने वालों को उससे लाभ हो सकता है । सातवीं प्रयोग-सम्पत् है, अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देख कर ही किसी विवाद के लिए उद्यत होना चाहिए । आठवीं संग्रह-परिज्ञा-सम्पत् है, जिसका भाव यह है कि बुद्धि-पूर्वक गण का संग्रह (संगठन) करना चाहिए । संग्रह लोकोत्तर पक्ष के समान लौकिक व्यवहार में भी परम आवश्यक है क्योंकि संग्रह से प्रायः प्रत्येक कार्य सहज ही में हो सकता है ।

'सम्पत्' शब्द के तकार को निम्नलिखित सूत्र से आकार या यकार होजाता है–"स्त्रियामादविद्युतः" स्त्रियां वर्तमानस्य शब्दस्यान्त्यव्यञ्जनस्यात्वं भवति विद्युच्छब्दं वर्जयित्वा । लुगपवादः । सरित् । सरिआ । प्रतिपत् । पाडिवआ । संपत् । संपआ । बहुलाधिकारादीषत्स्पृष्टतरा 'य' श्रुतिरपि सरिया पाडिवया । संपया । अविद्युत् किम् विज्जू ॥ १५ ॥

संस्कृत भाषा में ऊपर कहे हुए शब्द हलन्त तथा अजन्त दोनों प्रकार के होते हैं । ❀

इस सूत्र में आठ सम्पदाओं का केवल नाम-निर्देश किया गया है । अब सूत्रकार प्रत्येक सम्पत् की उप-भेदों के सहित व्याख्या करते हैं । उन में सबसे प्रथम आचार-सम्पत् है इसलिए वक्ष्यमाण सूत्र में उसका ही विषय कहते हैं:—

से किं तं आचार-संपया ? आचार-संपया चउ-व्वि-

❀ प्रस्तुत दशा के वृत्तिकार ने भी वृत्ति में दोनों प्रकार के शब्दों का ग्रहण किया है ।

हा पण्णत्ता। तं जहा—संजम-धुव-जोग-जुत्ते यावि भवइ, असंपगहिय-अप्पा अणियत-वित्ती वुड्ढ-सीले यावि भवइ । सेतं आयार-संपया ॥ १ ॥

अथ का सा आचार-सम्पत् ? आचार-सम्पच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—संयम-ध्रुव-योग-युक्तश्चापि भवति, असंप्रगृहीतात्मा, अनियत-वृत्तिःवृद्ध-शीलश्चापि भवति । सैषाचार-सम्पत् ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—**से किं तं आचार-संपया ?**—शिष्य ने प्रश्न किया "हे भगवन् ! आचार-सम्पत् किसे कहते हैं ?" गुरु ने उत्तर दिया "हे शिष्य ! **आचार-संपया**—आचार-सम्पत् **चउ-व्विहा**—चार प्रकार की **पण्णत्ता**—प्रतिपादन की है ।" **तं जहा**—जैसे **संजम-धुव-जोगजुत्ते**—संयम क्रियाओं में जो ध्रुवयोग युक्त **भवइ**—है **अवि**—शब्द से अन्य क्रियाओं में भी जिस के योग ध्रुव हैं **य**—शब्द समुच्चय अर्थ में है । **असंपगहिय-अप्पा**—अहंकार न करने वाला **अणियत-वित्ती**—अप्रतिबद्ध होकर विहार करने वाला **वुड्ढ-सीले भवइ**—वृद्ध के जैसा स्वभाव धारण करने वाला '**अवि**' और '**य**' शब्द से प्रत्येक कार्य में चञ्चलता से रहित और गाम्भीर्य गुण धारण करने वाला **से तं**—यह वह **आचार-संपया**—आचार-सम्पत् है ।

मूलार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया "भगवन् ! आचार-सम्पत् किसे कहते हैं ?" गुरु ने उत्तर दिया "आचार-सम्पत् चार प्रकार की प्रतिपादन की गई है । जैसे—१—संयम क्रियाओं में ध्रुव-योग-युक्त होना २—अहङ्कार रहित होना ३—अप्रतिबद्ध होकर विहार करना ४—वृद्धों के जैसा स्वभाव धारण करना, यही चार प्रकार की आचार-सम्पत् होती है ।

टीका—इस सूत्र में गुरु शिष्य के परस्पर प्रश्न-उत्तर रूप से आचार-सम्पत् का वर्णन किया गया है । जैसे—शिष्य ने प्रश्न किया "हे भगवन् ! आचार-सम्पत् किसे कहते हैं ?" गुरु ने उत्तर दिया "हे शिष्य ! चरित्र की दृढ़ता का नाम 'आचार-सम्पत्' है । किन्तु उसके चार भेद होते हैं, जैसे—१—संयम क्रियाओं में ध्रुव-योग-युक्त होना अर्थात् जितनी भी संयम-क्रियाएं हैं उन में योगों की स्थिरता

का होना आवश्यक है क्योंकि तभी उन क्रियाओं का उचित रीति से पालन हो सकता है। २–गणी की उपाधि मिलने पर या संयम-क्रियाओं की प्रधानता पर अहंकार न करना अर्थात् सब के सामने सदा विनीत-भाव से रहना, इसी से आचार शुद्ध रह सकता है न कि मिथ्या-अभिमान से। ३–अप्रतिबद्ध-भाव से विचरण करना, क्योंकि अप्रतिबद्ध होकर विचरण करने वाले व्यक्ति का ही आचार दृढ़ रह सकता है। जो स्थिर-वास-सेवी होता है उस के आचार में प्रायः शिथिलता आ जाती है। अतः गणी को सदा अनियत-वृत्ति होना चाहिए। ४–यदि किसी कारण से छोटी अवस्था में ही 'गणी' पद की प्राप्ति हो जाय तो उस को अपना स्वभाव वृद्धों जैसा बनाना चाहिए, क्योंकि जब तक स्वभाव चञ्चल रहेगा तब तक आचार-सम्पत् में अतिचार आदि दोषों के होने की सम्भावना है। अतः स्वभाव में परिवर्तन अवश्य होना चाहिए, तभी आचार शुद्ध हो सकता है।

क्योंकि मनुष्य का जीवन वास्तव में आचार ही है अतः इस की रक्षा विशेष रूप से होनी चाहिए। यही आचार-सम्पत् है।

अब सूत्रकार श्रुत-सम्पत् के विषय में कहते हैं:—

से किं तं सुय-संपया ? सुय-संपया चउ-व्विहा पण्णत्ता तं जहा–बहु-सुय यावि भवइ, परिचय-सुय (त्ते) यावि भवइ, विचित्त-सुय यावि भवइ घोस-विसुद्धि-कारय यावि भवइ, सेत्तं सुय-सम्पया ॥ २ ॥

अथ का सा श्रुत-सम्पत् ? श्रुत-सम्पच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता तद्यथा–बहु-श्रुतश्चापि भवति, परिचित-श्रुतश्चापि भवति, विचित्र-श्रुतश्चापि भवति, घोषविशुद्धि-कारकश्चापि भवति। सैषा श्रुत-सम्पत्।

पदार्थान्वयः—**से किं तं**–शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन्! कौन सी **सुय-संपया**–श्रुत-सम्पत् है। गुरु उत्तर देते हैं—हे शिष्य! **सुय-संपया**–श्रुत-सम्पत्

चउ-व्विहा—चार प्रकार की **पण्णत्ता**—प्रतिपादन की गई है **तं जहा**—जैसे **बहु-सुय**—जो बहु-श्रुत **यावि भवइ**—हो तथा 'अपि' और 'च' शब्द से जितने श्रुत पढ़ सकता हो और उनका अध्ययन करने वाला हो **परिचय-सुय**—जो सब श्रुत जानने वाला **यावि भवइ**—होता है **विचित्त-सुय**—स्व-समय और पर-समय के सूत्रों के अधिगत होने से जिसके व्याख्यानादि में विचित्रता **यावि भवइ**—होती है। **घोष-विशुद्धि-कारय**—जो श्रुत-शुद्ध घोषों के द्वारा उच्चारण करने वाला **यावि भवइ**—होता है। 'अपि' और 'च' शब्द से सूत्र-सम्बन्धी सब विषय जान लेने चाहिएं **सेतं**—यह वह **सुय-संपया**—श्रुत-सम्पत् है।

मूलार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! श्रुत-सम्पत् कौनसी है ? गुरु ने उत्तर दिया कि श्रुत-सम्पत् चार प्रकार की होती है। जैसे—बहु-श्रुतता, परिचित-श्रुतता, विचित्र-श्रुतता और घोष-विशुद्धि-कारकता। यही श्रुत-सम्पत् है।

टीका—आचार-सम्पत् के अनन्तर अब सूत्रकार श्रुत-सम्पत् का विषय वर्णन करते हैं। आत्मा के श्रुत-ज्ञान से पूर्णतया अलङ्कृत होने का नाम श्रुत-सम्पत् है, अर्थात् बहु-श्रुतता का होना ही गणी की श्रुत-सम्पत् है। जिसने सब सूत्रों में से मुख्य ग्रन्थों का विचार-पूर्वक अध्ययन किया हो और उन ग्रन्थों में आए हुए पदार्थों के भली भांति निर्णय करने की शक्ति प्राप्त की हो तथा जो बहु-श्रुत में होने वाले गुणों का ठीक २ पालन कर सके उस को बहु-श्रुत या श्रुत-सम्पत्-धारी कहते हैं। जिस को अधीत (पढ़ा हुआ) शास्त्र अपने नाम के अक्षरों के समान कभी विस्मृत न हो, जिस का उच्चारण शुद्ध हो, जो श्रुत-शास्त्र के स्वाध्याय का अभ्यासी हो, अपने समय (मत) और पर (दूसरों के) समय (मत) का विवेचनात्मक आलोडन कर जिसने अपने ज्ञान में विचित्रता उत्पन्न कर दी हो जिससे व्याख्यानादि देते हुए दोनों मतों के गुण-दोष दिखाकर अपने मत का भली भांति परिपोष कर सके, वही श्रुत-सम्पत् का यथार्थ अधिकारी हो सकता है। अपने भावों का सुललित यमक-उपमा आदि अलङ्कारों से सम्यक्-अलङ्कृत भाषा में प्रकट करने का नाम श्रुति-वैचित्र्य है। इसी को श्रुत-ज्ञान की विचित्रता कहते हैं।

श्रुत-शास्त्र के उच्चारण के समय उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए और पाठ शुद्ध तथा स्वर-पूर्ण होना चाहिए। इसी का

नाम घोष-विशुद्धता है । यदि श्रुत घोष-विशुद्धि द्वारा उच्चारण नहीं किया जाएगा तो अर्थ-विशुद्धि भी नहीं हो सकती है । अतः सब से पहिले घोष-विशुद्धि अवश्य होनी चाहिए । जिन सूत्रों का पाठ षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, निषाद और धैवत में से जिस जिस में आता हो उसका उसी स्वर में गान करना चाहिए । तभी वह विशेष लाभ-प्रद और अधिक आनन्द-दायक होता है ।

अतः सिद्ध यह हुआ कि श्रुत-सम्पत् का वास्तविक अधिकारी वही है जिसने भेद और उपभेदों सहित श्रुत का सम्यक् अध्ययन और मनन किया हो । उक्त उपभेदों के सहित यही श्रुत-सम्पत् है । इस सूत्र में नाम और तद्वान् (नाम वाले) की अभिन्नता सिद्ध की गई है ।

श्रुत-सम्पत् के अनन्तर अब सूत्रकार शरीर-सम्पत् का विषय वर्णन करते हैं :–

से किं तं सरीर-संपया ? सरीर-संपया चउ-व्विहा पण्णत्ता, तं जहा–आरोह-परिणाह-संपन्ने यावि भवइ, अणोतप्प-सरीरे, थिर-संघयणे, बहु पडिपुण्णिदिय यावि भवइ । सेतं सरीर-संपया ॥ ३ ॥

अथ का सा शरीर-सम्पत् ? शरीर-सम्पच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा–आरोह-परिणाह-सम्पन्नश्चापि भवति, अनुत्त्रपशरीर, स्थिर-संहननः, बहु प्रतिपूर्णेन्द्रियश्चापि भवति । सैषा शरीर-सम्पत् ॥३॥

पदार्थान्वयः–**से किं तं**–शिष्यने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! कौनसी **सरीर-संपया**–शरीर-सम्पत् है ? गुरु ने उत्तर दिया **सरीर-संपया**–शरीर-सम्पत् **चउ-व्विहा**–चार प्रकार की **पण्णत्ता**–प्रतिपादन की है **तं जहा**–जैसे–**आरोह**–लम्बे **परिणाह**–चौड़े **सम्पन्ने**–शरीर वाला **भवइ**–है **अवि**–और **य**–शब्द से मानोपेत है । **अणोतप्प-सरीरे**–घृणास्पद शरीर न हो **थिर-संघयणे**–संगठन स्थिर हो **बहु**–प्रायः **पडिपुण्णिदिय**–प्रतिपूर्णेन्द्रिय **भवइ**–है । ‘अपि’ और ‘च’ शब्द से यावन्मात्र शरीर के शुभ गुणों का ग्रहण करना चाहिए । **सेतं**–यही **सरीर-सम्पया**–शरीर-सम्पत् है ।

मूलार्थ—शरीर-सम्पत् किसे कहते हैं ? शरीर-सम्पत् चार प्रकार की प्रतिपादन की गई है जैसे–शरीर की ऊंचाई और विस्तार (चौड़ाई) प्रमाण पूर्वक हो, शरीर लज्जास्पद न हो, शरीर का संगठन दृढ़ हो और प्रायः प्रतिपूर्णेन्द्रिय हो। यही शरीर-सम्पत् है।

टीका—इस सूत्र में शरीर-सम्पदा विषय का वर्णन किया गया है। जैसे–गणी का शरीर प्रमाण-पूर्वक दीर्घ (लम्बा) और विस्तीर्ण (चौड़ा) होना चाहिए, उसको लज्जायुक्त नहीं होना चाहिए, सुन्दर संगठित होना चाहिए तथा प्रायः प्रत्येक इन्द्रिय से परिपूर्ण होना चाहिए। सूत्र में आए हुए 'च' और 'अपि' शब्द का तात्पर्य है कि जितने भी शरीर के शुभ लक्षण हैं वे सब गणी के शरीर में अवश्य होने चाहिएं, क्योंकि सुन्दर संगठित शरीर वाला व्यक्ति यदि श्रुत-ज्ञान से परिपूर्ण हो तो उसका जनता पर एक अलौकिक ही प्रभाव पड़ता है। अतः सूत्रकार ने कहा कि शरीर में अङ्ग-भङ्गादि कोई दुर्गुण नहीं होने चाहिएं क्योंकि इससे जनता के चित्त में उसके प्रति स्वाभाविक घृणा उत्पन्न हो जाती है और अपने मन में भी स्वयं लज्जा उत्पन्न होती है। प्रायः शब्द से सूचित किया गया है कि प्रतिपूर्णेन्द्रिय होना आवश्यक है, क्योंकि जब प्रत्येक इन्द्रिय पूर्ण होगी और शुभ नाम-कर्म के अनुसार अङ्गोपाङ्ग यथास्थान होंगे तभी दर्शक का चित्त विस्मय और अनुराग से उसकी ओर आकर्षित होगा।

शरीर का प्रमाण-युक्त दीर्घ (लम्बा) और विस्तीर्ण (चौड़ा) होना इस लिए आवश्यक है कि प्रमाण से अधिक या कम लम्बाई और चौड़ाई होने से अन्य सब गुणों के रहने पर भी शरीर में चित्ताकर्षक सौन्दर्य नहीं आसकता।

प्रश्न यह होता है कि यदि 'गणी' पद प्राप्त करने के अनन्तर शरीर विकृत हो जाय तो क्या करना चाहिए ? उत्तर में कहा जाता है कि यह अपने अधिकार की बात नहीं, यह सब कर्माधीन है। छद्मस्थ के लिए ही प्रथम व्यवहार पक्ष है।

सूत्रों के पठन से निश्चय होता है कि भगवान् केशीकुमार श्रमण तथा अनाथी मुनि महाराज के शरीर-सौन्दर्य को देखकर महाराजा प्रदेशी तथा महाराजा श्रेणिक धर्म में तल्लीन हो गए थे।

शरीर-सम्पत् के अनन्तर सूत्रकार अब वचन-सम्पत् का विषय वर्णन करते हैं :—

से किं तं वयण-संपया ? वयण-संपया चउ-व्विहा पण्णत्ता, तं जहा—आदेय-वयणे यावि भवइ, महुर-वयणे यावि भवइ, अणिस्सिय-वयणे यावि भवइ, असंदिद्ध-वयणे यावि भवइ । सेत्तं वयण-संपया ॥ ४ ॥

अथ का सा वचन-सम्पत् ? वचन-सम्पच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—आदेय-वचनश्चापि भवति, मधुर-वचनश्चापि भवति, अनिश्रित-वचनश्चापि भवति, असंदिग्ध-वचनश्चापि भवति । सैषा वचन-सम्पत् ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**से किं तं**—कौन सी वह **वयण**—वचन **संपया**—सम्पदा है ? **वयण**—वचन **सम्पया**—सम्पदा **चउ-व्विहा**—चार प्रकार की **पण्णत्ता**—प्रतिपादन की हैं । **तं जहा**—जैसे जो **आदेय-वयणे यावि भवइ**—आदेय-वचन धारण करने वाला है जो **महुर**—मधुर **वयणे**—वचन बोलने वाला **भवइ**—है **अणिस्सिय**—जो निश्राय (प्रतिबंध) रहित **वयणे**—वचन बोलने वाला **भवइ**—है । 'अपि' और 'च' शब्द उत्तरोत्तर अपेक्षा या समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त हुए जान लेने चाहिएं । **सेतं**—यही **वयण**—वचन **सम्पया** सम्पदा है ।

मूलार्थ—वचन-सम्पत् किसे कहते हैं ? वचन-सम्पत् चार प्रकार की प्रतिपादन की गई है, जैसे—आदेय-वचन धारण करने वाला, मधुर-वचन बोलने वाला, निश्राय-रहित वचन उच्चारण करने वाला और सन्देह-रहित वचन बोलने वाला । यही वचन-सम्पत् है ।

टीका—इस सूत्र में वचन-सम्पत् का वर्णन किया गया है । गणी के पास वचन-सम्पत् का होना परम-आवश्यक है, क्योंकि वचन-सम्पत्ति के होने पर ही धर्म-प्रचार में सफलता हो सकती है । उसके चार भेद हैं जैसे—सर्व प्रथम गणी

को आदेय-वचन-रूप-गुण से युक्त होना चाहिए अर्थात् उसके वचन जनता के ग्रहण करने के योग्य हों । यदि जनता उसके वचनों को स्वीकार नहीं करती तो जान लेना चाहिए कि वह वचन-सम्पत् से वञ्चित है । अतः उसके मुख से सदा ऐसे वचन निकलने चाहिएं जिनको सब प्रमाण रूप से स्वीकार कर लें । दूसरे में गणी को मधुर वचन बोलने वाला होना चाहिए, किन्तु मधुर शब्द का कोकिल के समान श्रुति-प्रिय किन्तु निरर्थक वचनों से तात्पर्य नहीं है अपितु श्रुति-प्रिय होते हुए शब्द सार-गर्भित (अर्थ-पूर्ण) होने चाहिएं, क्योंकि निरर्थक शब्दों से, भले ही वे मधुर क्यों न हों, कोई कार्य सिद्ध नहीं होता । अतः सूत्रकार ने वर्णन किया है कि अर्थ-पूर्ण, क्षीराश्रवादि-लब्धि-सम्पन्न, दोष-रहित और गुण-युक्त वचन ही मधुर-वचन कहलाता है । ऊपर कहे हुए गुण-समुदाय युक्त होने पर भी क्रोध, मान, माया और लोभ के वशीभूत होकर उच्चारण किया हुआ वचन प्रशंसनीय नहीं होता । अतः सूत्रकार ने वर्णन किया है कि राग द्वेष-आदि के निश्रित (वशीभूत) होकर कभी वचन नहीं कहना चाहिए इन सब को दूर करके ही वचन बोलना उचित है; क्योंकि राग-द्वेष रहित निष्पक्ष वचन ही सर्व-मान्य होता है ।

किन्तु वचन वही बोलना चाहिए जो सन्देह रहित और वचन-गुणों से सुसंस्कृत हो—अर्थात् स्फुट हो, अक्षरों के उचित सन्निपात से युक्त हो, विभक्ति और वचन युक्त हो, परिपूर्ण और अभीष्ट अर्थ-प्रद हो । ऐसा वचन, बोला हुआ, स्वयमेव अपने गुणों को प्रकट कर देता है । इसी का नाम वचन-सम्पत् है ।

सम्पूर्ण कथन का सारांश यह निकला कि जो वचन आदेय, मधुर, निष्पक्ष, असंदिग्ध और स्फुट हो वही भव्य जनों के कल्याण करने में अपनी योग्यता रखता है ।

वचन-सम्पदा के अनन्तर अब सूत्रकार वाचना-सम्पत् का वर्णन करते हैं:—

से किं तं वायणा-संपया ? वायणा-संपया चउ-व्विहा पण्णत्ता, तं जहा—विजयं उद्दिसइ, विजयं वाएइ, परिनिव्वावियं वाएइ, अत्थ-निज्जावए यावि भवइ । सेतं वायणा-संपया ॥ ५ ॥

अथ का सा वाचना-सम्पत् ? वाचना-सम्पच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—विचयमुद्दिशति, विचयं वाचयति, परिनिर्वाप्य वाचयति, अर्थ-निर्यापकश्चापि भवति । सैषा वाचना-सम्पत् ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—**से किं तं वायणा-संपया**—हे भगवन् ! वाचना-सम्पत् कौनसी है ? **वायणा-संपया**—(हे शिष्य !) वाचना-सम्पत् **चउ-व्विहा**—चार प्रकार की **पएणत्ता**—प्रतिपादन की है **तं जहा**—जैसे **विजयं उद्दिसइ**—अध्ययन के लिए निश्चय उद्देश करता है **विजयं वाएइ**—निश्चित भाग का अध्यापन करता है **परिनिव्वावियं वाएइ**—जितना उपयुक्त है उतना ही पढ़ाता है **अत्थ-निज्जावए यावि भवइ** अर्थ की सङ्गति करता हुआ नय-प्रमाण-पूर्वक पढ़ाता है । **सेतं वायण-संपया**—यही वाचना-सम्पत् है ।

मूलार्थ—वाचना-सम्पत् किसे कहते हैं ? वाचना-सम्पत् चार प्रकार की प्रतिपादन की है । जैसे विचार कर पाठ्य विषय का उद्देश करना, विचार-पूर्वक अध्यापन करना, जितना उपयुक्त हो उतना ही पढ़ाना तथा अर्थ सङ्गति करते हुए नय-प्रमाण-पूर्वक अध्यापन करना । यही वाचना-सम्पत् है ।

टीका—इस सूत्र में वाचना-सम्पत् का विषय कथन किया गया है, अर्थात् पाठ्य-विषय निर्धारण और पाठन-शैली के विषय में गणी की योग्यता का परिचय दिया गया है । जैसे—जब शिष्यों को पढ़ाने का समय उपस्थित हो तो गणी को सब से पहिले शिष्यों की योग्यता का ज्ञान कर लेना चाहिए और जो शिष्य जिस शास्त्र या विद्या के योग्य हो उसको वही पढ़ाना चाहिए । यदि किसी अयोग्य शिष्य को अत्यन्त गूढ़ और रहस्य-पूर्ण शास्त्र पढ़ाया जाय तो शिष्य और शास्त्र की ठीक वही दशा होगी जो कच्चे घड़े में पानी भरने से घड़े और पानी की होती है अर्थात् शिष्य की तो उतनी आयु निरर्थक व्यतीत हुई और अबोध को सुनाने से शास्त्र का अपमान हुआ । सारांश यह निकला कि शिष्य की योग्यता देखकर ही उसके लिए पाठ्य-विषय निश्चित करना चाहिए ।

विचारपूर्वक विषय निश्चित करने मात्र से कार्य-साधन नहीं हो जाता

अपितु निश्चय के अनन्तर विचारपूर्वक ही उसको पढ़ाना भी चाहिए। इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि जितनी जिस शिष्य में धारणा शक्ति है, उसको उससे अधिक कभी न पढ़ावे, क्योंकि अधिक पढ़ाने से उसकी बुद्धि पर आवश्यकता से अधिक भार पड़ेगा और उससे वह जितना स्मरण रख सकता है उसको भी भूल जाएगा। इससे आत्म-विराधना और संयम-विराधना होंगी, अतः शक्ति के अनुसार ही शिष्य को पढ़ाना चाहिए।

चौथी वाचना-सम्पत् के विषय में अनेक मत भेद हैं। कोई कहते हैं कि इसका अर्थ यह है कि शिष्य जितने सूत्रों का अर्थ अवधारण कर सके उसको उतने ही सूत्र पढ़ाने चाहिएं। दूसरों के मत अनुसार इसके—अर्थ की परस्पर सङ्गति, प्रमाण और नय युक्त अर्थों का वर्णन करना तथा कारक, विभक्ति और समास आदि सहित सूत्र और अर्थ की संयोजना करना आदि अर्थ हैं; तथा अन्यों के मत से—एक अर्थ के अनेक पर्यायों का शिष्य को दिग्दर्शन कराना, विचित्र सूत्रों के द्वारा अर्थ का अध्यापन करना तथा ऐसी रीति से पढ़ाना जिससे शिष्य अनेक अर्थों का ज्ञान कर सके आदि २ अर्थ हैं। इन सब का तात्पर्य यही है कि शिष्य जिस प्रकार भी ज्ञान प्राप्त कर सके उसको ज्ञान कराना चाहिए। यही वाचना-सम्पत् है। इस प्रकार इस सम्पदा में पाठ्य-क्रम और गणी की पाठन योग्यता का विषय वर्णन किया गया है।

इस के अनन्तर सूत्रकार अब मति-सम्पत् का वर्णन करते हैं :—

से किं तं मइ-संपया ? मइ-संपया चउ-व्विहा पण्णत्ता, तं जहा—उग्गह-मइ-संपया, ईहा-मइ-संपया, अवाय-मइ-संपया, धारणा-मइ-संपया। से किं तं उग्गह-मइ-संपया ? उग्गह-मइ-संपया छ-व्विहा पण्णत्ता, तं जहा—खिप्पं उगिण्हेइ, बहु उगिण्हेइ, बहुविहं उगिण्हेइ, धुवं उगिण्हेइ, अणिस्सियं उगिण्हेइ, असंदिद्धं उगिण्हेइ।

से तं उग्गह-मइ-संपया । एवं ईहा-मइवि । एवं अवाय-मइवि । से किं तं धारणा-मइ-संपया ? धारणा-मइ-संपया छ-व्विहा पण्णत्ता, तं जहा—बहु धरेइ, बहुविहं धरेइ, पोराणं धरेइ, दुधरं धरेइ, अणिस्सियं धरेइ, असंदिद्धं धरेइ । से तं धारणा-मइ-संपया ॥ ६ ॥

अथ का सा मति-सम्पत् ? मति-सम्पच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—अवग्रह-मति-सम्पत्, ईहा-मति-सम्पत्, अवा (पा) य-मति-सम्पत्, धारणा-मति-सम्पत् ॥ अथ का सावग्रह-मति-सम्पत् ? अवग्रह-मति-सम्पत् षड्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—क्षिप्र-मवगृह्णाति, बह्ववगृह्णाति, बहुविधमवगृह्णाति, ध्रुवमवगृह्णाति, अनिश्रितमवगृह्णाति, असंदिग्धमवगृह्णाति । सेयमवग्रहमति-सम्पत् । एवमीहा-मतिरपि । एवमवाय-मतिरपि । अथ का सा धारणा-मति-सम्पत् ? धारणा-मति-सम्पत् षड्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—बहु धारयति, बहुविधं धारयति, पुरातनं धारयति, दुर्द्धरं धारयति, अनिश्रितं धारयति, असंदिग्धं धारयति । सेयं धारणा-मति-सम्पत् ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**से किं तं**—वह कौन सी **मइ-संपया**—मति-सम्पदा है ? गुरु कहते हैं **मइ-संपया**—मति-सम्पदा **चउ-व्विहा**—चार प्रकार की **पण्णत्ता**—प्रतिपादन की है **तं जहा**—जैसे **उग्गह-मइ-संपया**—सामान्य अवबोध रूप मति-सम्पदा **ईहा-मइ-संपया**—विशेष-अवबोध रूप ईहा-मति-सम्पदा **अवाय-मइ-संपया**—निश्चय रूप अवाय-मति-संपदा **धारणा-मइ-संपया**—धारणा रूप धारणा-मति-सम्पदा **से किं तं**—हे भगवन् ! कौन सी वह **उग्गह-मइ-संपया**—अवग्रह-मति-सम्पदा है ? गुरु कहते हैं **उग्गह-मइ-संपया**—अवग्रह-मति-सम्पदा **छ-व्विहा**—छः प्रकार की **पण्णत्ता**—प्रति-

पादन की है तं जहा–जैसे खिप्पं उगिएहेइ–शीघ्र ग्रहण करता है बहु उगिएहेइ–बहुत प्रश्नों को एक ही बार ग्रहण करता है बहु-विहं उगिएहेइ–अनेक प्रकार से ग्रहण करता है धुवं उगिएहेइ–निश्चल भाव से ग्रहण करता है अणिसियं उगिएहेइ–निश्राय रहित ग्रहण करता है असंदिद्धं–सन्देह रहित उगिएहेइ–ग्रहण करता है। सेतं–यही उग्गह-मइ-संपया–अवग्रह-मति-सम्पदा है एवं–इसी प्रकार ईहा-मइ-वि–ईहा-मति भी जाननी चाहिए एवं–और इसी प्रकार अवाय-मइ-वि–अवाय-मति के विषय में भी जानना चाहिए। से किं तं–कौनसी वह धारणा-मइ-संपया–धारणा-मति-सम्पदा है ? (गुरु कहते हैं) धारणा-मइ-संपया–धारणा-मति-सम्पदा छ-व्विहा–छः प्रकार की पएणत्ता–प्रतिपादन की है तं जहा–जैसे बहु धरेइ–बहुत धारण करता है बहु-विहं धरेइ–अनेक प्रकार से धारण करता है पोराणं–पुरानी बात को धरेइ–धारण करता है दुधरं धरेइ–भंगादि दुर्धर को धारण करता है अणिसियं धरेइ–अनिश्रित रूप से धारण करता है असंदिद्धं धरेइ–सन्देह रहित होकर धारण करता है सेतं–यही धारणा-मइ-संपया–धारणा-मति-सम्पत् है।

मूलार्थ—हे भगवन् ! मति-सम्पदा किसे कहते हैं ? हे शिष्य ! मति-सम्पदा चार प्रकार की प्रतिपादन की है। जैसे—अवग्रह-मति-सम्पदा, ईहा-मति-सम्पदा, अवाय-मति-सम्पदा और धारणा-मति-सम्पदा। हे भगवन् ! अवग्रह-मति-सम्पदा कौन सी है ? हे शिष्य ! अवग्रह-मति-सम्पदा छः प्रकार की प्रतिपादन की गई है, जैसे–प्रश्न आदि को शीघ्र ग्रहण करता है, बहुत ग्रहण करता है, अनेक प्रकार से ग्रहण करता है, निश्चित रूप से ग्रहण करता है, निश्राय रहित होकर ग्रहण करता है और सन्देह रहित होकर ग्रहण करता है। इसी प्रकार ईहा-मति और अवाय-मति के विषय में भी जानना चाहिए। धारणा-मति-सम्पदा किसे कहते हैं ? धारणा-मति-सम्पदा छः प्रकार की है। जैसे–बहुत धारण करता है, अनेक प्रकार से धारण करता है, पुरानी बात धारण करता है, कठिन से कठिन बात को धारण करता है, अनिश्रित रूप से धारण करता है और सन्देह रहित होकर धारण करता है। इसी का नाम धारणा-मति-सम्पदा है।

टीका—इस सूत्र में मति ज्ञान की सम्पदा का विषय वर्णन किया गया तिहै–"मननं मतिः, मत्याः सम्पदा—मति-सम्पदा" जो मनन किया जाय उसको म

कहते हैं और मति की सम्पदा मति-सम्पदा हुई। यह मति-सम्पदा चार प्रकार की वर्णन की गई है जैसे—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। विना किसी निर्देश के सामान्य रूप से जो ग्रहण किया जाता है उसको 'अवग्रह' कहते हैं। सामान्य रूप से ग्रहण किये हुए पदार्थ का जो विशिष्ट ज्ञान होता है उसको 'ईहा' कहते हैं। ईहा-विशिष्ट ज्ञान से जो पदार्थों का निश्चयात्मक ज्ञान होता है उसको 'अवाय' कहते हैं। पदार्थों के निश्चयात्मक ज्ञान का स्मरण रखना 'धारणा' कहलाती है। यही मति-ज्ञान का क्रम है। जैसे कोई किसी सुप्त (सोए हुए) व्यक्ति को जगाता है तो जगाने वाले के शब्द के, श्रोत्रेन्द्रिय को स्पर्श करते हुए, परमाणु अवग्रह रूप होते हैं; इस के अनन्तर जब शब्द श्रोत्रेन्द्रिय में प्रवेश करता है तो वही परमाणु विशिष्ट रूप होकर ईहा-मति कहलाते हैं; तब उसको (सोए हुए व्यक्ति को) ज्ञान होता है कि कोई मुझे जगा रहा है और धीरे २ निश्चय कर लेता है कि अमुक व्यक्ति मुझे जगा रहा है इसका नाम अवाय-मति ज्ञान है; निश्चय होने के अनन्तर वह धारणा करता है कि अमुक व्यक्ति अमुक कार्य के लिए मुझे जगा रहा है, इसी का नाम धारणा-मति-ज्ञान है। मति-ज्ञान निर्मल है, अतः उससे पदार्थों के स्वरूप का ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है।

अवग्रह-मति के छः भेद होते हैं। जैसे—शिष्य या वादी के कहने मात्र से उसके भावों का ज्ञान हो जाना; एक प्रश्न को सुनते ही उसकी सिद्धि के लिए पांच सात ग्रन्थों के प्रमाणों की स्मृति हो जानी अथवा एक ही बार अनेक ग्रन्थों का अवग्रह कर लेना; अनेक प्रकार से ग्रहण करना जैसे—एक ही समय लिखना, पढ़ना, शुद्धाशुद्ध का ध्यान रखना तथा साथ ही कथा भी सुनाते जाना आदि अनेक क्रियाओं का करना और साथ ही उनका इस प्रकार ध्यान रखना, जैसे एक वाद्य-शास्त्र जानने वाला अनेक वाद्यों (बाजों) का शब्द एकदम सुनकर भी प्रत्येक का पृथक् २ ज्ञान कर लेता है; जिस पदार्थ का ज्ञान हो जाय उसको निश्चल रूप से स्मरण रखना; जो कुछ भी पूछा जाय उस को हृदय पर अङ्कित कर लेना, जिससे स्मरण के लिए पुस्तकादि पर लिखने की आवश्यकता न हो और विना किसी प्रतिबन्ध के समय पर स्मरण हो जाय; जिस पदार्थ का बोध हो उस में सन्देह के स्थान का न रहना। यही अवग्रह-मति-ज्ञान के छः भेद हैं। इसी प्रकार ईहा और अवाय-मति-सम्पदाओं के भी छः २ भेद जान लेने चाहिएं।

जिस प्रकार इनके छः २ भेद प्रतिपादन किये गए हैं, उसी प्रकार धारणा-मति-सम्पदा के भी छः भेद होते हैं । जैसे—एक ही वस्तु के सुनने से बहुतों का धारण करना, अनेक प्रकार से धारण करना, प्राचीन बातों की स्मृति रखना, भांगा आदि कठिन संख्याओं का धारण करना, ग्रन्थ या किसी व्यक्ति की सहायता के विना ही धारण करना, संशय रहित होकर पदार्थों के स्वरूप को यथावत् धारण करना, यही धारणा-मति-सम्पदा के छः भेद हैं ।

जिस व्यक्ति को इस प्रकार विशद रूप से मति-ज्ञान हो जाय, वास्तव में वही महापुरुष पदार्थों के यथार्थ स्वरूप निर्णय करने में समर्थ हो सकता है । इसी का नाम मति-सम्पदा है ।

अब सूत्रकार इसके अनन्तर प्रयोग-सम्पदा का विषय कहते हैं:—

से किं तं पओग-मइ-संपया ? पओग-मइ-संपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—आयं विदाय वायं पउंजित्ता भवइ, परिसं विदाय वायं पउंज्जित्ता भवइ, खेत्तं विदाय वायं पउंज्जित्ता भवइ, वत्थु विदाय वायं पउंज्जित्ता भवइ । से तं पओग-मइ-संपया ॥ ७ ॥

अथ का सा प्रयोग-मति-सम्पत् ? प्रयोग-मति-सम्पच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—आत्मानं विज्ञाय वादं प्रयोक्ता भवति, परिषदं विज्ञाय वादं प्रयोक्ता भवति, क्षेत्रं विज्ञाय वादं प्रयोक्ता भवति, वस्तु विज्ञाय वादं प्रयोक्ता भवति । सेयं प्रयोग-मति-सम्पत् ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**से किं तं**—वह कौनसी **पओग-मइ-संपया**—प्रयोग-मति-सम्पदा है ? (गुरु कहते हैं) **पओग-मइ-संपया**—प्रयोग-मति-सम्पदा **चउव्विहा**—चार प्रकार की **पण्णत्ता**—प्रतिपादन की है **तं जहा**—जैसे **आयं**—आत्मा की समर्थता **विदाय**—ज्ञान कर **वायं**—वाद **पउंज्जित्ता**—करने वाला **भवइ**—है **परिसं**—परिषद् के भावों को **विदाय**-जानकर **वायं**—वादविवाद—**पउंज्जित्ता**—करने वाला **भवइ**—है **खेत्तं**—

क्षेत्र को **विदाय**–जानकर **वायं**–वादविवाद का **पउंज्जित्ता**–प्रयोग करने वाला **भवइ**–है **वत्थु**–पदार्थ या व्यक्ति विशेष को **विदाय**–जानकर **वायं**–वादविवाद के लिए **पउंज्जित्ता**–उद्यत **भवइ**–होता है। **सेतं**–यही **पओग-मइ-संपया**–प्रयोग-मति-सम्पदा है।

मूलार्थ—हे भगवन् ! प्रयोग-मति-सम्पदा किसे कहते हैं ? हे शिष्य ! प्रयोग-मति-सम्पदा चार प्रकार की वर्णन की गई है, जैसे–अपनी शक्ति को देखकर विवाद करे, परिषद् को देखकर विवाद करे, क्षेत्र को देखकर विवाद करे और पदार्थों के विषय को या पुरुष विशेष को देखकर विवाद करे । यही प्रयोग-मति-सम्पदा है ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि वाद में किस समय और कैसे प्रवृत्त होना चाहिए । जिस को इसका अच्छी तरह ज्ञान हो जायगा उसके अभीष्ट कार्य सहज ही में सिद्ध हो सकते हैं । जो इससे अपरिचित है वह कभी सफल-मनोरथ नहीं हो सकता । अतः वाद परिज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है । सब से पहिले अपनी शक्ति देखकर वाद या कथा करने के लिए उद्यत होना चाहिए । जैसे एक वैद्य रोग, निदान, औषध और उसका प्रयोग भली प्रकार जानकर यदि किसी रोगी की चिकित्सा के लिए प्रवृत्त होता है तो वह शीघ्र ही उस रोगी को आराम कर देता है, ठीक इसी प्रकार यदि गणी भी विषय में अपनी शक्ति देखकर वाद में प्रवृत्त होगा तो अवश्य ही उसमें सफलता प्राप्त करेगा ।

वाद में प्रवृत्त होने से पहिले इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जिस परिषद् में विवाद होने वाला है वह किस विचार की है और किस देवता को मानने वाली है । साथ ही यह भी अवश्य देखना चाहिए कि जिस पुरुष के साथ वाद होने वाला है वह कुछ जानता भी है या केवल विवादी और हठी ही है ।

क्षेत्र-विषयक विवाद में भी तभी प्रवृत्त होना चाहिए जब कि क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले सारे कारणों का भली भांति ज्ञान हो । जैसे–क्षेत्र में किस मात्रा में और किस प्रकार का भोजन मिल सकता है तथा इस में किस मात्रा में पानी मिलता है और यह सुखप्रद है या नहीं इत्यादि ।

विवाद में वस्तु परिज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है । वस्तु शब्द से यहां पुरुष विशेष का ग्रहण किया गया है । जैसे–विवाद से पूर्व यह अवश्य जान लेना

चाहिए कि जिस व्यक्ति के साथ विवाद होने वाला है वह कितने आगमों का जानने वाला है, कोई राजा या अमात्य तो नहीं, भद्र प्रकृति का है या क्रूर और कुटिल इत्यादि । इन सब बातों का तथा उसके भावों का अच्छी तरह पता लगाकर जो विवाद में प्रवृत्त होगा उसे अवश्य सफलता मिलेगी । यदि विना भावों का परिचय किये हुए व्याख्यान या विवाद प्रारम्भ किया जाय तो अन्य व्यक्ति उसके भावों से सहमत न होते हुए स्कन्दकाचार्य या पालक पुरोहित के समान क्रिया करने में स्वयं प्रवृत्त हो जाएंगे । अतः पूर्वोक्त सब विषयों को विचार कर ही धर्म-कथा या विवाद में प्रवृत्त होना चाहिए 'वस्तु' शब्द से पदार्थों का भी ग्रहण होता है । अतः जिस पदार्थ के निर्णय के लिए विवाद प्रारम्भ किया जाय उसका भी पूर्णतया बोध होना आवश्यक है । जो विना विषय-ज्ञान के विवाद में प्रवृत्ति करेगा, हठी लोग उसके जीवन तक पर आक्रमण कर सकते हैं; और किसी समय सम्भवतः उसको जीवन से हाथ धोने ही पड़ें । किन्तु ध्यान रहे कि धर्म के सामने जीवन का कोई मूल्य नहीं । यदि कोई व्यक्ति जीवन की धमकी देकर धर्म छोड़ने के लिए कहे तो धर्म के स्थान पर जीवन परित्याग ही अधिक श्रेयस्कर है । जैसे गज सुकुमारादि ने दृष्टान्त रूप में सामने रखा है ।

सारांश यह निकला कि प्रयोग-मति-सम्पदा का गणी को सदैव ध्यान रखना चाहिए ।

इसके अनन्तर सूत्रकार संग्रह-परिज्ञा नाम वाली आठवीं गणि-सम्पत् का विषय वर्णन करते हैं:—

से किं तं संग्गह-परिन्ना नामं संपया ? संग्गह-परिन्ना नामं संपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—वासा-वासेसु खेत्तं पडिलेहित्ता भवइ बहुजण-पाउग्गताए, बहुजण-पाउग्गताए पाडिहारिय पीढ-फलग-सेज्जा-संथारयं उगिण्हित्ता भवइ, कालेणं कालं समाणइत्ता भवइ, अहागुरु संपूएत्ता भवइ । सेतं संग्गह-परिन्ना नामं संपया ॥८॥

अथ का सा संग्रह-परिज्ञा नाम सम्पत्? संग्रह-परिज्ञा नाम सम्पच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—वर्षावासेषु क्षेत्रं प्रतिलेखयिता भवति बहुजन-प्रयोगितायै, बहुजन-प्रयोगितायै प्रातिहारिक-पीठ-फलक-शय्या-संस्तारकमवग्रहीता भवति, कालेन कालं समानेता भवति, यथागुरु संपूजयिता भवति। सेयं संग्रह-परिज्ञा नाम सम्पदा ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**से किं तं**—वह कौनसी **संग्गह-परिन्ना**—संग्रह-परिज्ञा **नामं**—नाम वाली **संपया**—सम्पदा है ? (गुरु कहते हैं) **संग्गह-परिन्ना**—संग्रह-परिज्ञा **नामं**—नाम वाली **संपया**—संपदा **चउव्विहा**—चार प्रकार की **पएणत्ता**—प्रतिपादन की गई है **तं जहा**—जैसे **बहुजण**—बहुत मुनियों के **पाउग्गत्ताए**—प्रयोग के लिए **वासा-वासेसु**—वर्षा ऋतु में **खेत्तं**—क्षेत्र **पडिलेहित्ता**—प्रतिलेखन करने वाला **भवइ**—है **बहुजण**—बहुत मुनियों के **पाउग्गत्ताए**—प्रयोग के लिए **पाडिहारिय**—लौटाए जाने वाले **पीढ-फलग**—पीठफलक (चौकी) **सेज्जा**—शय्या **संथारगं**—संस्तारक **उगिरिहत्ता**—अवग्रहण करने वाला **भवइ**—है **कालेन**—उचित समय पर **कालं**—क्रियानुष्ठानादि का **समाणइत्ता**—अनुष्ठान करने वाला **भवइ**—है **अहागुरु**—गुरुओं की उचित रीति से—**संपूएत्ता**—पूजा करने वाला **भवइ**—है । **सेतं**—यही **संग्गह-परिन्ना**—संग्रह-परिज्ञा **नामं**—नाम वाली **संपया**—संपदा है ।

मूलार्थ—हे भगवन् ! संग्रह-परिज्ञा नाम वाली सम्पदा कौनसी है ? हे शिष्य ! संग्रह-परिज्ञा नाम वाली सम्पदा चार प्रकार की वर्णन की गई है, जैसे—बहुत से मुनियों के, वर्षा ऋतु में, निवास के लिए स्थान देखना, बहुत से मुनियों के लिए प्रातिहारिक पीठफलक, शय्या और संस्तारक ग्रहण करना, उचित समय पर (समय के विभाग अनुसार) प्रत्येक कार्य करना और अपने से बड़ों का मान तथा पूजा करना । यही संग्रह-परिज्ञा नाम वाली सम्पदा है ।

टीका—इस सूत्र में संग्रह-परिज्ञा नाम वाली आठवीं सम्पदा का वर्णन किया गया है । जैसे—गणी का कर्तव्य है कि निम्नलिखित क्रियाओं से गण का

संग्रह (संगठन) करे, क्योंकि लौकिक व्यवहार में भी देखा जाता है कि जो जिसकी रक्षा कर सकता है वह उसके अधीन अवश्य ही हो जाता है, इसी प्रकार गण का अधिपति होने के लिए गणी को उसकी रक्षा का भार अपने ऊपर लेना ही चाहिए । अतः उसको योग्य है कि वह बहुत से मुनियों के वर्षाकाल में निवास के लिए क्षेत्रों का अवलोकन करे और बाल, दुर्बल, तपस्वी, योग-वाहक या रोगी मुनियों की सुविधाओं का विचार, क्षेत्र देखते समय, अवश्य रखे । जिस से उन्हें अन्न, पानी और औषध समयानुसार मिलते रहें । इसके अतिरिक्त जो शिष्य अध्ययन के इच्छुक हैं अथवा अध्ययन कर चुके हैं, उनके लिए भी उचित क्षेत्र होने चाहिएं, जिससे उनका चातुर्मास भी बिना किसी विघ्न के शान्ति-पूर्वक निभ सके । यदि उचित प्रबन्ध नहीं होगा तो, बहुत सम्भव है, वे लोग स्वच्छन्द-चारी बन बैठें ।

उचित क्षेत्र अवलोकन के पश्चात् बहुत से मुनियों के लिए, उपयोग के अनन्तर लौटाए जाने वाले, पीठफलक, शय्या और संस्तारक आदि का प्रबन्ध करना भी गणी का कर्तव्य है, क्योंकि वर्षा ऋतु में पीठफलक आदि की अत्यन्त आवश्यकता है । इस ऋतु में अनेक जीव उत्पन्न हो जाते हैं । उनकी हिंसा न हो जाय, इसलिए वस्त्रादि उपकरणों का स्वच्छ रहना परम आवश्यक है । यदि वे मलिन रहेंगे तो उन में भी जीवोत्पत्ति की सम्भावना है और उससे जीव-विराधना सहज में हो सकती है, जो उभय-लोक में अनिष्ट करने वाली है । अतः वर्षा ऋतु में उक्त उपकरणों का प्रबन्ध गणी को अवश्य करना चाहिए ।

गणी को अपने कर्तव्य से च्युत कभी नहीं होना चाहिए । जिस कार्य के लिए जो समय नियत किया गया है वह कार्य उसी समय होना चाहिए । जैसे—उपकरणोत्पादन, स्वाध्याय-विधान, भिक्षाटन, धर्मोपदेश और उपचार (सेवा) आदि सब कार्य अपने २ समय में ही समाप्त होजाने चाहिएं ।

गणी की उपाधि प्राप्त करने पर साधु को उन्मत्त नहीं होना चाहिए, प्रत्युत अहंकार का परित्याग कर गुरु—जिसने दीक्षित किया, जिससे श्रुताध्ययन किया, जिसके नाम से शिष्य प्रसिद्ध हुआ और जो दीक्षा में बड़ा है, रत्नाकर आदि—के आजाने पर अभ्युत्थानादि क्रियाओं से उनका स्वागत करना, आहार और वस्त्रादि

से उनकी सेवा करना तथा यथाविधि उनकी वन्दना आदि करना उसका परम कर्तव्य है। इसी को यथागुरु पूजा कहते हैं।

इस सूत्र के इस कथन का सारांश यह निकला कि उपाधि केवल आज्ञा रूप है, उसके प्राप्त होने पर भी विनय-धर्म का पालन परमावश्यक है। जिस प्रकार एक राजपुत्र राजा होने पर भी अपने माता पिता की नियम से वन्दना करता है इसी प्रकार गणी को भी करना चाहिए। हाँ, यदि किसी समय गणी किसी महासभा या महापुरुषों की मण्डली में बैठा हो और रत्नाकर पर दृष्टि पड़ जाय किन्तु वह (रत्नाकर) समीप न आवे तो वन्दना न करने पर भी अविनयादि के भाव उत्पन्न नहीं होंगे।

इस सूत्र में संगठन का विषय स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। इन्हीं नियमों के पालन से संगठन चिर-स्थायी रह सकता है। यही संग्रह-परिज्ञा नाम वाली आठवीं गणि-सम्पत् है।

अब सूत्रकार गणी का शिष्य के प्रति क्या कर्तव्य है, इसका वर्णन करते हैं:—

आयरिओ अंतेवासी इमाए चउव्विहाए विणय-पडिवत्तीए विणइत्ता भवइ निरणत्तं गच्छइ, तं जहा—आयार-विणएणं, सुय-विणएणं, विक्खेवणा-विणएणं, दोस-निग्घायण-विणएणं।

आचार्योऽन्तेवासिनमनया चतुर्विधया विनय-प्रतिपत्त्या विनेता भवति—निर्ऋणत्वं गच्छति। तद्यथा—आचार-विनयेन, श्रुत-विनयेन, विक्षेपणा-विनयेन, दोष-निर्घात-विनयेन।

पदार्थान्वयः—**आयरिओ**—आचार्य **अंतेवासी**—अपने शिष्यों को **इमाए**—इस **चउव्विहाए**—चार प्रकार की **विणय-पडिवत्तीए**—विनय-प्रतिपत्ति से **विणइत्ता**—शिक्षा देने वाला **भवइ**—होता है तो वह **निरणत्तं गच्छइ**—उऋण हो जाता है।

तं जहा—जैसे **आयार-विणएणं**—आचार-विनय से **सुय-विणएणं**—श्रुत-विनय से **विक्खेवणा-विणएणं**—विक्षेपणा-विनय से **दोस-निग्घायणा-विणएणं**—दोष-निर्घात-विनय से सिखाने वाला हो ।

मूलार्थ—आचार्य अपने शिष्यों को आचार, श्रुत, विक्षेपणा और दोष निर्घात चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति सिखाने से उऋण होजाता है ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि आचार्य का अपने शिष्यों के प्रति क्या कर्त्तव्य है । जिस प्रकार शिष्यों का आचार्य के प्रति विनय-पालन कर्त्तव्य है, उसी प्रकार आचार्य का भी उनके प्रति कोई कर्त्तव्य अवश्य होना चाहिए । इसी बात को स्फुट करते हुए बताया गया है कि यदि गणी शिष्यों को चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति से शिक्षित करे तो वह उनसे उऋण हो जाता है । इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जो गणी अपने शिष्यों को चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति से शिक्षित नहीं करता वह उनका ऋणी रहता है । और ऋणी व्यक्ति लौकिक व्यवहार के समान लोकोत्तर व्यवहार में भी निन्दा का पात्र होता है ।

अतः गणी का मुख्य कर्त्तव्य है कि अपने शिष्यों को आचार, श्रुत, विक्षेपणा और दोष-निर्घात विनय की शिक्षा प्रदान कर उनसे उऋण होजाय । गणी ही शिष्यों को आचार्य-पद के योग्य बना सकता है, अतः वह अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखते हुए हर एक प्रकार शिक्षा देकर उनको उसके योग्य बनावे । इसका प्रभाव दोनों लोकों में सुख-प्रद होता है ।

अब सूत्रकार आचार-विनय का विषय वर्णन करते हैं:—

से किं तं आयार-विणए ? आयार-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—संजम-सामायारी यावि भवइ, तव-सामायारी यावि भवइ, गण-सामायारी यावि भवइ, एकल्ल-विहार-सामायारी यावि भवइ । सेतं आयार-विणए ॥ १ ॥

अथ कोऽसावाचार-विनयः ? आचार-विनयश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—संयम-सामाचारी चापि भवति, तपःसामाचारी चापि भवति, गण-सामाचारी चापि भवति, एकाकि-विहार-सामाचारी चापि भवति । सोऽयमाचार-विनयः ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—**से किं तं**—वह कौनसा **आयार-विणए**—आचार-विनय है ? (गुरु कहते हैं) **आयार-विणए** आचार-विनय **चउव्विहे**—चार प्रकार का **पण्णत्ते**—प्रतिपादन किया गया है **तं जहा**—जैसे **संजम-सामायारी**—संयम की सामाचारी सिखाने वाला **भवइ**—है **तव-सामायारी भवइ**—तप कर्म की सामाचारी सिखाने वाला है **गण-सामायारी भवइ**—गण-सामाचारी सिखाने वाला है **एकल्ल-विहार**—एकाकि-विहार करने की **सामायारी**—सामाचारी सिखाने वाला **भवइ**—है। **सेतं**—यही **आयार-विणए**—आचार-विनय है । 'च' और 'अपि' शब्द से जितने भी उक्त सामाचारियों के मूल या उत्तर भेद हैं उन सबका सिखाने वाला हो ।

मूलार्थ—आचार-विनय किसे कहते हैं ? आचार-विनय के चार भेद वर्णन किये गये हैं, जैसे—संयम-सामाचारी, तप-सामाचारी, गण-सामाचारी और एकाकि-विहार-सामाचारी । (इन सबके सिखाने वाला आचार-विनय का यथार्थ अधिकारी होता है ।) यही आचार-विनय है ।

टीका—इस सूत्र में आचार-विनय का वर्णन किया गया है । गणी का मुख्य कर्त्तव्य है कि सब से पहिले शिष्यों को आचार-विनय में निपुण करे । आचार-विनय में निपुण होने पर शेष विनयों की प्राप्ति सुगमतया हो सकती है । आचार-विनय के सूत्रकार ने चार भेद प्रतिपादन किये हैं, जैसे—संयम-सामाचारी का बोध कराना इसका प्रथम भेद है । ज्ञानादि द्वारा निवृत्ति कराना संयम कहलाता है । वह पञ्चाश्रव—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, पञ्चेन्द्रिय, क्रोध, मान, माया, लोभ, मन, वचन और काय निरोध रूप १७ प्रकार का वर्णन किया गया है । स्वयं संयम करना, जो संयम से शिथिल हो रहे हैं उनको उसमें स्थिर करना और संयम के भेदों का ज्ञान करना और कराना ही संयम-सामाचारी कहलाती है । इसी प्रकार तप-सामाचारी के विषय में जानना चाहिए, अर्थात् जितने भी तप के भेद हैं

उनको स्वयं ग्रहण करना, जो व्यक्ति तप कर रहे हों उनको उत्साहित करना, जो तपकर्म में शिथिल हो रहे हों उनको उसमें स्थिर करना तथा तप के सम्पूर्ण बाह्य (बाहरी) और आभ्यन्तर (भीतरी) भेदों का जानना ही तप-सामाचारी होती है ।

गण की सारणा वारणादि द्वारा भली भांति रक्षा करना, गण में स्थित रोगी, बाल, वृद्ध और दुर्बल साधुओं की यथोचित व्यवस्था करना, अन्य गण के साथ उनके योग्य बर्ताव करना, और अपने गण में सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि करते रहना ही गण-सामाचारी है ।

एकाकि-विहार का साङ्गोपाङ्ग (भेद और उपभेदों के सहित) ज्ञान करना, उसकी विधि का ध्यान पूर्वक ग्रहण करना, स्वयं एकाकि-विहार की प्रतिज्ञा करनी, दूसरों को उसके लिए प्रोत्साहित करना तथा जिन साधुओं ने गणी की आज्ञानुसार इसकी प्रतिज्ञा धारण की हुई है उनपर दृष्टि रखना आदि इससे सम्बन्ध रखने वाली सब बातों का ध्यान रखना ही एकाकि-विहार-सामाचारी कहलाती है । गणी को उचित है कि शिष्यों को उक्त सामाचारियों का बोध कराता रहे ।

आचार-सम्पन्न व्यक्ति ही श्रुत के योग्य होता है, अतः अब सूत्रकार श्रुत-विनय के विषय में कहते हैं:—

से किं तं सुय-विणए ? सुय-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—सुत्तं वाएइ, अत्थं वाएइ, हियं वाएइ, निस्सेसं वाएइ । सेतं सुय-विणए ॥ २ ॥

अथ कोऽसौ श्रुत-विनयः ? श्रुत-विनयश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—सूत्रं वाचयति, अर्थं वाचयति, हितं वाचयति, निःशेषं वाचयति । सैषः श्रुतविनयः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—से किं तं—वह कौनसा सुय-विणए—श्रुत-विनय है ? (गुरु कहते) हैं सुय-विणए—श्रुत-विनय चउव्विहे—चार प्रकार का पण्णत्ते—प्रतिपादन किया है तं जहा—जैसे—सुत्तं वाएइ—सूत्र पढ़ाना अत्थं वाएइ—अर्थ पढ़ाना हितं

वाएइ—हित-वाचना प्रदान करना **निस्सेसं वाएइ**—निःशेष-वाचना प्रदान करना । **से तं**—यही **सुय-विणए**—श्रुत-विनय है ।

मूलार्थ—श्रुत-विनय किसे कहते हैं ? श्रुत-विनय चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—सूत्र का पढ़ाना, अर्थ का पढ़ाना, हित-वाचना का पढ़ाना तथा निःशेष-वाचना का पढ़ाना । इसी का नाम श्रुत-विनय है ।

टीका—इस सूत्र में प्रश्नोत्तर शैली से श्रुत-विनय के चार भेद प्रतिपादन किये हैं । उन में सब से पहला सूत्र का पढ़ना और पढ़ाना है, जिसका तात्पर्य्य यह है कि अङ्ग और अनङ्ग शास्त्र, औत्कालिक-श्रुत और कालिक-श्रुत सब को स्वयं घोषादि शुद्धि पूर्वक पढ़ना चाहिए और दूसरों को भी इसी प्रकार पढ़ाना चाहिए । इसी प्रकार अर्थ के विषय में भी जानना चाहिए । क्योंकि जब तक अर्थ-वाचना विधि पूर्वक नहीं की जाएगी तब तक सूत्र का मर्म नहीं जाना जा सकता ।

इसके अनन्तर हित-वाचना का विषय आता है । इसका तात्पर्य यह है कि जो जिस श्रुत के योग्य हो अर्थात् जिस श्रुत से जिसका आत्मा हित-साधन कर सके उसको वही श्रुत पढ़ाना चाहिए । यदि अध्ययन करने वाले की योग्यता के विना देखे ही उसको पढ़ा दिया जायगा तो उसकी आत्मा का अनिष्ट तो होगा ही, साथ ही श्रुत की भी हानि होगी । जिस प्रकार कच्चे घड़े में दूध आदि पदार्थ रखकर पदार्थ और घड़े दोनों से हाथ धोना पड़ता है, उसी प्रकार शिष्य और श्रुत के विषय में भी जानना चाहिए । अतः अध्यापन से पूर्व शिष्य की योग्यता और हिताहित अवश्य देख लेना चाहिए । हिताहित के विवेक से पढ़ाया हुआ श्रुत दोनों लोकों में हितकर होता है । व्याख्यान देते हुए भी ऐसा ही व्याख्यान देना चाहिए जिससे उपस्थित जनता को लाभ हो । शिष्य की योग्यता का परिचय करते हुए, उसकी बुद्धि और अवस्था का भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए ।

इसके अनन्तर निःशेष-वाचना का विषय है । निःशेष-वाचना में प्रमाण-नय, निक्षेप, उपोद्घात, प्रतिज्ञा और हेतु आदि पांच अवयवों द्वारा ही वाचना देनी चाहिए । साथ ही संहिता, पदच्छेद, पदार्थ, पद-विग्रह, चालना (शङ्का) और प्रसिद्धि (समाधान) आदि द्वारा अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए । जो शास्त्र प्रारम्भ किया हो, उसको समाप्त किये विना बीच ही में अन्य शास्त्र प्रारम्भ नहीं

करना चाहिए । विघ्नों के उपस्थित होने पर भी प्रारम्भ किये हुए शास्त्र की पूर्ति अवश्य करनी चाहिए ।

यही श्रुत-विनय है । इसके व्याख्यान से भली भांति सिद्ध होगया कि श्रुत-विनय का तात्पर्य पुस्तकों को लेकर ताले में बन्द कर देने से नहीं, नांही विना अर्थ-ज्ञान के मूलमात्र अध्ययन से है, अपितु मूल पाठ के अर्थ-ज्ञान-पूर्वक अध्ययन से है ।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'सूत्र' शब्द का क्या अर्थ है ? उत्तर में कहा जाता है कि जो अर्थों की सूचना करता है उसको सूत्र कहते हैं या सुप्तवत् अर्थ के विना जिसका भाव समझ में न आए उसका नाम सूत्र है तथा जो अर्थों को सीता है वही सूत्र है अथवा जो सूत्रवत् मार्ग-प्रदर्शक है वही सूत्र होता है । सूत्र में थोड़े से अक्षरों में बहुत अर्थ भरा होता है । अतः सूत्रों का अर्थ सहित विधि-पूर्वक अध्ययन करना चाहिए, जिससे वास्तविक श्रुत-ज्ञान की उपलब्धि हो ।

अब सूत्रकार विक्षेपणा-विनय का विषय वर्णन करते हैंः—

से किं तं विक्खेवणा-विणए ? विक्खेवणा-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—अदिट्ठ-धम्मं दिट्ठ-पुव्वगत्ताए विणएइत्ता भवइ, दिट्ठ-पुव्वगं साहम्मियत्ताए विणएइत्ता भवइ, चुय-धम्माओ धम्मे ठावइत्ता भवइ, तस्सेव धम्मस्स हियाए, सुहाए, खमाए, निस्सेसाए, अनुगामियत्ताए अब्भुट्ठेत्ता भवइ । सेतं विक्खेवणा-विणए ॥३॥

अथ कोऽसौ विक्षेपणा-विनयः ? विक्षेपणा-विनयश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—अदृष्ट-धर्मं दृष्ट-पूर्वकतया विनेता भवति, दृष्ट-पूर्वकं साधर्मिकतया विनेता भवति, च्युतं धर्माद् धर्मे स्थापयिता भवति, तस्यैव धर्मस्य हिताय, सुखाय, क्षमाय,

निःश्रेयसाय, अनुगामिकताया ऽभ्युत्थाता भवति । सोऽयं विक्षेपणा-विनयः ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**से किं तं**—वह कौनसा **विक्खेवणा-विणए**—विक्षेपणा विनय है ? (गुरु कहते हैं) **विक्खेवणा-विणए**—विक्षेपणा-विनय **चउव्विहे**—चार प्रकार का **पण्णत्ते**—प्रतिपादन किया है **तं जहा**—जैसे—**अदिट्ठ-धम्मं**—जिसने पहिले सम्यक्-दर्शन नहीं किया है उसको **दिट्ठ-पुव्व-गताए**—सम्यक् दर्शन में **विणएत्ता भवइ**—स्थापित करे किन्तु जो **दिट्ठ-पुव्वगं**—दृष्ट-पूर्वक है उसको **साहम्मियत्ता**—साधर्मिकता में **विणएइत्ता**—स्थापन करे अर्थात् उसको सहधर्म्मी बनावे । **चुय-धम्माओ**—धर्म से गिरते हुए को **धम्मे**—धर्म में **ठावइत्ता**—स्थापन करता **भवइ**—है । **तस्सेव**—उसी **धम्मस्स**—धर्म के **हियाए**—हित के लिए **सुहाए**—सुख के लिए **खमाए**—सामर्थ्य के लिए **निस्सेसाए**—कल्याण के लिए **अनुगामियत्ताए**—अनुगामिकता के लिए **अब्भुट्ठेत्ता** उद्यत **भवइ**—हो । **से तं**—यही **विक्खेवणा-विणए**—विक्षेपणा-विनय है ।

मूलार्थ—विक्षेपणा-विनय किसे कहते हैं ? विक्षेपणा-विनय चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—जिसने पहिले धर्म नहीं देखा उसको धर्म-मार्ग दिखाकर सम्यक्त्वी बनाना, सम्यक्त्वी को सर्व-वृत्ति बनाना, धर्म से गिरे हुए को धर्म में स्थिर करना, उसी धर्म के हित के लिए, सुख के लिए, सामर्थ्य के लिए, मोक्ष के लिए और अनुगामिकता के लिए उद्यत होना—यही विक्षेपणा-विनय है ।

टीका—इस सूत्र में विक्षेपणा-विनय का विषय प्रतिपादन किया गया है और वह भी पूर्व सूत्रों के समान प्रश्नोत्तर रूप में ही । शिष्य प्रश्न करता है—हे भगवन् ! विक्षेपणा-विनय किसे कहते हैं ? गुरु उत्तर देते हैं—हे शिष्य ! जब श्रोता का चित्त पर-समय पर किये जाने वाले आक्षेपों से क्षुब्ध होजाय उस समय उसको स्व-समय में स्थिर करना ही विक्षेपणा-विनय होता है ।

यह विक्षेपणा-विनय चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—जिन व्यक्तियों ने पहिले सम्यग्-दर्शन रूप धर्म को नहीं देखा उनको सम्यग्-दर्शन में स्थित करना, अर्थात् उनको सम्यग्-दर्शन रूप धर्म सिखाना । किन्तु इस बात का

ध्यान रहे कि जिस व्यक्ति को सम्यग्-दर्शन रूप धर्म सिखाना हो, उसके साथ इस प्रकार प्रेम और सभ्यता का व्यवहार करना चाहिए जैसे एक दृष्ट-पूर्व और पूर्व-परिचित अतिथि के साथ किया जाता है। यदि उसके साथ प्रेम पूर्वक सम्भाषण किया जायगा तो वह शीघ्र ही मिथ्या वासना का परित्याग कर सम्यग्-दर्शन में स्थित हो सकता है। जब वह सम्यग्-दर्शन युक्त होजाय तो उसको सर्व-वृत्तिरूप चारित्र शिक्षा देकर सहधर्मी बना लेना चाहिए। जो व्यक्ति धर्म से पतित हो रहे हों उनको धर्म में स्थिर करना चाहिए। इसके अनन्तर उस सम्यग्-दर्शन रूप धर्म में उसके हित के लिए, सुख के लिए, उसकी आत्मिक शक्ति प्रकट करने के लिए, मोक्ष के लिए, और भव २ में सुख भोग के लिए उद्यत होना चाहिए, क्योंकि जब इस तरह किया जायगा तभी अपना कल्याण और परोपकार हो सकता है। इसी का नाम विक्षेपणा-विनय है।

इसके अनन्तर सूत्रकार अब दोष-निर्घातन-विनय का विषय वर्णन करते हैं:—

से किं तं दोस-निग्घायणा-विणए ? दोस-निग्घायणा-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—कुद्धस्स कोह-विणएत्ता भवइ, दुट्ठस्स दोसं णिगिण्हित्ता भवइ, कंखियस्स कंखं छिंदित्ता भवइ, आया-सुप्पणिहिए यावि भवइ। सेतं दोस-निग्घायणा-विणए ॥ ४ ॥

अथ कोऽसौ दोष-निर्घातन-विनयः ? दोष-निर्घातन-विनयश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः तद्यथा—क्रुद्धस्य कोप-विनेता भवति, दुष्टस्य दोषं निग्रहीता भवति, काङ्क्षावतः काङ्क्षां छेत्ता भवति, आत्म-प्रणिहितश्चापि भवति। सोऽयं दोष-निर्घातन-विनयः ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**से किं तं**—वह कौनसा **दोस-निग्घायणा-विणए**—दोष-निर्घातन-विनय है ? वह **चउव्विहे**—चार प्रकार का **पण्णत्ते**—प्रतिपादन किया गया है **तं जहा**—जैसे—**कुद्धस्स**—क्रुद्ध व्यक्ति के **कोह-विणएत्ता भवइ**—क्रोध दूर करने वाला है **दुट्ठस्स**—दुष्ट के **दोस**—दोष को **णिगिण्हित्ता**—निग्रह करने वाला **भवइ**—है **कंखियस्स**—

काङ्क्षा वाले की **कंखं**–काङ्क्षा का **छिंदित्ता**–छेदन करने वाला **भवइ**–है और **आया**–अपनी आत्मा को **सुप्पणिहिए यावि भवइ**–अच्छे मार्ग पर लगाने वाला या भली प्रकार सुरक्षित रखने वाला है और जीवादि पदार्थों को अनुप्रेक्षा में स्थापित करने वाला है । **से तं**–यही **दोस-निग्घायणा-विणए**–दोष-निर्घातना-विनय है ।

मूलार्थ—दोष-निर्घातना-विनय किसे कहते हैं ? दोष-निर्घातना-विनय चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है । जैसे—क्रोधी का क्रोध दूर करना, दुष्ट के दोषों को हटाना, आकांक्षित की काङ्क्षा का छेदन करना और आत्मा को अच्छे मार्ग पर लगाना । यही दोष-निर्घातना-विनय है ।

टीका—इस सूत्र में दोष-निर्घातना विनय का विषय प्रतिपादन किया गया है । इस विनय का मुख्य उद्देश्य कषाय आदि दोषों का विनाश करना है । वह चार प्रकार का होता है । उन में पहला भेद क्रोधी के क्रोध को दूर करना है । यदि गण में कोई शिष्य क्रोध-शील है तो गणी का कर्तव्य है कि मीठे वचनों से समझा बुझाकर इस तरह उसका क्रोध शान्त करे जिस तरह वञ्जुल वृक्ष की छाया विष-विकार को दूर करती है । दूसरा भेद दुष्ट के दोष को दूर करना है । अर्थात् यदि किसी का चित्त कषायादि दोषों से दुष्ट होगया हो तो गणी को चाहिए कि उसको आचार और शील की शिक्षा देकर उसके दोष दूर करे । तीसरा भेद काङ्क्षा वाले व्यक्ति की काङ्क्षाओं का दूर करना है । जैसे—किसी को यदि भोजन, जल, वस्त्र, पात्र, विहार-यात्रा, विद्याध्ययन या अन्य पदार्थों की आकाङ्क्षा हो तो गणी को उचित उपायों से उसको दूर करना चाहिए । यदि सम्यक्त्व के विषय में आकाङ्क्षा दोष उत्पन्न होगया हो तो उसका भी निराकरण करना चाहिए और अपने आत्मा को उक्त दोषों से विमुक्त कर जीवादि पदार्थों की अनुप्रेक्षा में लगाना चाहिए, अर्थात् आत्मा को अपने वश में कर समाधि की ओर लगाना चाहिए । इसी का नाम दोष-निर्घातन-विनय है ।

इस प्रकार आचार्य द्वारा सुशिक्षित होकर शिष्य का भी कर्तव्य है कि वह आचार्य के प्रति विनय-शील बने ।

अब सूत्रकार इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं:—

तस्सेवं गुणजाइयस्स अंतेवासिस्स इमा चउ-व्विहा विणय-पडिवत्ती भवइ, तं जहा—उवगरण-उप्पाय-णया, साहिल्लया, वण्ण-संजलणया, भार-पच्चोरुहणया ।

तस्यैवं गुणजातीयस्यान्तेवासिन एषा चतुर्विधा विनय-प्रतिपत्तिर्भवति, तद्यथा—उपकरणोत्पादनता, सहायता, वर्ण-संज्वलनता, भार-प्रत्यवरोहणता ।

पदार्थान्वयः—**तस्स**—उस **गुणजाइयस्स**—गुणवान् **अंतेवासिस्स**—शिष्य की **एवं**—इस प्रकार **इमा**—ये **चउव्विहा**—चार प्रकार की **विणय-पडिवत्ती**—विनय-प्रतिपत्ति **भवइ**—होती है, अर्थात् गुरु-भक्ति होती है **तं जहा**—जैसे—**उवगरण**—उपकरण की **उप्पायणया**—उत्पादनता **साहिलया**—सहायता **वण्ण-संजलणया**—गुणानुवाद करना **भार-पच्चोरुहणया**—भार-निर्वाहकता ।

मूलार्थ—उस गुणवान् शिष्य की चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति वर्णन की गई है, जैसे—उपकरणोत्पादनता, सहायता, गुणानुवादकता, भार-प्रत्यव-रोहणता ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि जब गणी शिष्य को भली भांति विनय की शिक्षा प्रदान कर दे तो शिष्य का कर्तव्य है कि वह गणी के प्रति विनय-शील बने । गणी के प्रति विनय के चार भेद वर्णन किये गये हैं, जैसे—गण के लिए उपकरण उत्पन्न करना, निर्बलों की सहायता करना, गण या गणी के गुण प्रकट करना और गण के भार का निर्वाह करना ।

इन सबका सूत्रकार पृथक् व्याख्यान करेंगे किन्तु यहां यह जान लेना आवश्यक है कि इस सूत्र में विनय का अर्थ कर्तव्य-परायणता है और विनय-प्रति-पत्ति का अर्थ गुरु-भक्ति है । गुरु-भक्ति गुरु की आज्ञानुसार काम करने से होती है ।

अब सूत्रकार उपकरणोत्पादनता का विषय वर्णन करते हैं:—

से किं तं उवगरण-उप्पायणया ? उवगरण-उप्पा-

यणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—अणुप्पण्णाणं उवगरणाणं उप्पाइत्ता भवइ, पोराणाणं उवगरणाणं सारक्खित्ता संगोवित्ता भवइ, परित्तं जाणित्ता पच्चुद्धरित्ता भवइ, अहाविधि संविभइत्ता भवइ । सेत्तं उवगरण-उप्पायणया ॥ १ ॥

अथ काऽसाऽउपकरणोत्पादनता ? उपकरणोत्पादनता चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—अनुत्पन्नानामुपकरणानामुत्पादिता भवति, पुरातनानामुपकरणानां संरक्षिता, संगोपिता भवति, परीतं ज्ञात्वा प्रत्युद्धर्ता भवति, यथाविधि संविभक्ता भवति । सेयमुपकरणोत्पादनता ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—**से किं तं**—वह कौनसी **उवगरण-उप्पायणया**—उपकरण-उत्पादनता है ? **उवगरण-उप्पायणया**—उपकरण-उत्पादनता **चउव्विहा**—चार प्रकार की **पण्णत्ता**—प्रतिपादन की है, **तं जहा**—जैसे—**अणुप्पण्णाणं**—जो अनुत्पन्न **उवगरणाणं**—उपकरण हैं उनको **उप्पाइत्ता भवइ**—उत्पन्न करने वाला है, **पोराणाणं**—पुराने **उवगरणाणं**—उपकरणों का **सारक्खिता**—संरक्षण और **संगोवित्ता**—संगोपन करने वाला **भवइ**—है **परित्तं**—गिनती में आने वाले उपकरणों में (कमी) **जाणित्ता**—जानकर **पच्चुद्धरित्ता**—प्रत्युद्धार करने वाला **भवइ**—है **अहाविधि**—यथाविधि **संविभइत्ता**—विभाग करने वाला **भवइ**—है **सेत्तं**—यही **उवगरण**—उपकरण **उप्पायणया**—उत्पादनता है ।

मूलार्थ—उपकरण-उत्पादनता-विनय किसे कहते हैं ? उपकरण-उत्पादनता-विनय के चार भेद प्रतिपादन किये गये हैं, जैसे—अनुत्पन्न उपकरण उत्पन्न करना, पुरातन उपकरणों की रक्षा या संगोपना करना, जो उपकरण कम हों उनका उद्धार करना और यथाविधि उपकरणों का विभाग करना । यही उपकरण-उत्पादनता-विनय है ।

टीका—इस सूत्र में उपकरण-उत्पादनता का विषय वर्णन किया गया है। उपकरण उत्पादन करना शिष्यों का कर्तव्य है, क्योंकि यदि पात्रादि उपकरण गच्छ में न रहेंगे तो गणी गच्छ में वितीर्ण कहां से करेगा। शिष्यों की ही सहायता से गणी का कार्य निर्विघ्न चल सकता है। यदि गणी स्वयं इस भार को अपने ऊपर ले तो उसके स्वाध्यायादि में विघ्न पड़ेगा। दूसरे में जितने पुरातन उपकरण हैं, उनकी यथोचित रक्षा करना भी शिष्य का ही कर्तव्य है। जैसे—शीतकाल के उपयोगी वस्त्रों को शीतकाल की समाप्ति पर सुरक्षित स्थान पर रखना, जिससे दूसरे शीतकाल में फिर काम आ सकें, फटे हुए वस्त्रों को सीना और चतुर्मास में कम्बल आदि वस्त्रों को जीवोत्पत्ति से बचाना और उनको किसी ऐसे स्थान पर रखना जहां चोरों का भय न हो और उपकरणों की रक्षा उचित रीति से हो जाय इत्यादि।

जिस मुनि के पास अल्पोपधि है (उपकरण कम हो गये हैं) और उसको अन्य उपधि की आवश्यकता हो तो उसको अपने पास से उपधि दे देनी चाहिए। वस्त्र, जल, अन्न आदि का यथाविधि विभाग करना चाहिए। जैसे—रत्नाकर को रत्नाकर के योग्य और उपाधि-धारी मुनि को उसके योग्य ही वस्त्रादि प्रदान करने चाहिएं। इसी तरह जो अन्न जिसके योग्य हो वही उसको देना चाहिए।

सारांश यह निकला यदि सब कार्य इसी क्रम से ठीक चलेंगे तो विना किसी कष्ट के गण में संगठन हो जायगा, क्योंकि संग्रह का मूल कारण न्याय-पूर्वक रक्षा करना ही है।

इसके अनन्तर सूत्रकार अब सहायता-विनय का विषय वर्णन करते हैं:—

से किं तं साहिल्लया ? साहिल्लया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—अणुलोम-वइ-सहिते यावि भवइ, अणुलोम-काय-किरियत्ता, पडिरूव-काय-संफासणया, सव्वत्थेसु अपडिलोमया। सेतं साहिल्लया ॥ २ ॥

अथ केयं सहायता ? सहायता चतुर्विधा प्रज्ञप्ता,

तद्यथा–अनुलोम-वाक्-सहितश्चापि भवति, अनुलोम-काय-क्रियावान्, प्रतिरूप-काय-संस्पर्शनता, सर्वार्थेष्वप्रतिलोमता । सेयं सहायता ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**से किं तं**–वह कौनसी **साहिलया**–सहायता है ? (गुरु कहते हैं) **साहिलया**–सहायता-विनय **चउव्विहा**–चार प्रकार का **पएणत्ता**–प्रतिपादन किया है **तं जहा**–जैसे–**अणुलोम**–अनुकूल **वइ**–वचन **सहिते यावि**–तथा हितकारी वचन बोलने वाला **भवइ**–है **अणुलोम**–अनुकूल **काय-किरियत्ता**–काय-क्रिया करने वाला अर्थात् सेवा करने वाला **पडिरूवकाय**–प्रतिरूप काय से **संफासणया**–संस्पर्शनता अर्थात् जिस तरह दूसरे को सुख मिले उसी तरह उसकी सेवा करने वाला **सव्वत्थेसु**–गुरु आदि के सब कार्यों में **अपडिलोमया**–अकुटिलता । **सेतं**–यही **साहिलया**–सहायता-विनय है ।

मूलार्थ—सहायता-विनय कौनसा है ? सहायता-विनय चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे–अनुकूल काय से सेवा (गुरुभक्ति) करना, जिस प्रकार दूसरे को सुख पहुँचे उसी प्रकार उसकी सेवा करना, गुरु आदि के किसी कार्य में भी कुटिलता न करना । यही सहायता-विनय है ।

टीका—इस सूत्र में सहायता-विनय के विषय में कथन किया गया है । उसके चार भेद प्रतिपादन किये हैं; उनमें से पहला अनुकूल और हितकारी वचनों का बोलना है । अर्थात् पहिले गुरु के वचनों का सत्कार-पूर्वक श्रवण करना चाहिए और फिर अपने मुख से कहना चाहिए "जिस प्रकार पूज्य भगवान् प्रतिपादन करते हैं, यह विषय वास्तव में इसी प्रकार है" और साथ ही गुरु जो कुछ भी आज्ञा दें उसकी प्रेम पूर्वक पालना होनी चाहिए, दूसरा भेद काया द्वारा गुरु के अनुकूल उसकी सेवा करना है अर्थात् गुरु जिस अङ्ग की काया द्वारा सेवा करने की आज्ञा प्रदान करे उसी अङ्ग की उचित रूप से अनुकूलता के साथ सेवा करना । तथा जिस तरह दूसरों को साता (सुख) मिले उसी तरह उनके शरीर की सेवा करना ("प्रतिरूप-काय-संस्पर्शनता"–यथा सहते तथाङ्गोपाङ्गानि संवाहयति) । ऊपर कही हुई सहायताओं के अतिरिक्त शिष्य को गुरु आदि के सब कार्य अकुटि-

लता के साथ करने चाहिएं अर्थात् उनके किसी कार्य में भी कुटिलता का बर्ताव नहीं करना चाहिए, प्रत्युत गुरु जिस कार्य के लिए आज्ञा दे उस कार्य को प्रेम और भक्ति पूर्वक आज्ञा-प्रदान-काल में ही कर देना चाहिए। इसी का नाम सहायता-विनय है। "सहायस्य भावः सहायता" अर्थात् परोपकार बुद्धि से दूसरों के कार्य करने को ही सहायता कहते हैं।

अब सूत्रकार वर्ण-सञ्ज्वलनता का विषय वर्णन करते हैं:—

से किं तं वण्ण-संजलणया ? वण्ण-संजलणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—अहा-तच्चाणं वण्ण-वाई भवइ, अवण्णवाई पडिहणित्ता भवइ, वण्णवाई अणु-बूहित्ता भवइ, आय-वुड्ढसेवि यावि भवइ । सेतं वण्ण-संजलणया ॥ ३ ॥

अथ केयं वर्ण-सञ्ज्वलनता ? वर्ण-सञ्ज्वलनता चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—याथातथ्यं वर्णवादी भवति, अवर्णवादिनं प्रतिहन्ता भवति, वर्णवादिनमनुबृंहिता भवति, आत्म-वृद्ध-सेवकश्चापि भवति । सेयं वर्णसञ्ज्वलनता ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**से किं तं**—वह कौनसी **वण्ण-संजलणया**—वर्ण-संज्वलनता है ? (गुरु कहते हैं) **वण्ण-संजलणया**—वर्ण-सञ्ज्वलनता **चउव्विहा**—चार प्रकार की **पण्णत्ता**—प्रतिपादन की है **तं जहा**—जैसे—**अहातच्चाणं**—यथातथ्य **वण्णवाई**—वर्णवादी **भवइ**—हो, **अवण्णवाई**—अवर्णवादी को **पडिहणित्ता**—प्रतिहनन करने वाला **भवइ**—हो **वण्णवाई**—वर्णवादी के गुणों का **अणुबूहित्ता**-प्रकाश करने वाला **भवइ**—हो **आय**—अपने आत्मा से **वुड्ढसेवि यावि**—वृद्धों की सेवा करने वाला **भवइ**—हो **सेतं**—यही **वण्ण-संजलणया**—वर्ण-सञ्ज्वलनता है।

मूलार्थ—वर्ण-सञ्ज्वलनता किसे कहते हैं ? वर्ण-सञ्ज्वलनता चार प्रकार की प्रतिपादन की गई है, जैसे—यथातथ्य गुणों के बोलने वाला अवर्णवादी को

निरुत्तर करने वाला, वर्णवादी को धन्यवाद देने वाला और अपने आत्मा से वृद्धों की सेवा करने वाला । इसी का नाम वर्ण-सञ्ज्वलनता है ।

टीका—इस सूत्र में वर्ण-सञ्ज्वलनता नाम विनय का वर्णन किया गया है । 'वर्ण' पद 'वर्ण' धातु से निष्पन्न होता (बनता) है, उसका अर्थ वचन विस्तार करना है । इस स्थान पर 'वर्ण-सञ्ज्वलनता' इस सम्पूर्ण पद का अर्थ गुणानुवाद अर्थात् यशोगान करना है । इसके चार भेद प्रतिपादन किये गये हैं । जैसे—शिष्य को सदा आचार्य तथा गण का यथातथ्य गुणानुवाद करना चाहिए और जो आचार्य आदि की निन्दा करे उसका प्रतिहनन करना चाहिए अर्थात् उचित प्रत्युत्तर देकर उसको निरुत्तर करना चाहिए । और उसको युक्तियों से ऐसा शिक्षित करना चाहिए कि भविष्य में वह ऐसे दुष्ट कार्य करने का साहस तक न कर सके । जो व्यक्ति गण या आचार्य आदि का यशोगान करे उसको धन्यवाद देकर उत्साहित करना चाहिए और जनता को उसकी योग्यता का परिचय देना चाहिए । इसके साथ ही अपने आत्मा द्वारा वृद्धों की सेवा करनी चाहिए । यदि वृद्ध समीप हों तो उनकी यथोचित सेवा भक्ति करनी चाहिए और यदि दूर बैठे हों तो भी उनकी अङ्ग-चेष्टा करने पर वहीं उनकी सेवा में उपस्थित होना चाहिए ।

इस सूत्र से प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा लेनी चाहिए कि वास्तव में जो गुण विद्यमान हों उन्हीं का वर्णन करना चाहिए, अविद्यमान गुणों का नहीं । किन्तु जो आचार्य आदि और गण की किसी प्रकार भी निन्दा करे उसको शिक्षित अवश्य करना चाहिए ।

इसके अनन्तर सूत्रकार भार-प्रत्यवरोहणता-विनय का वर्णन करते हैं:—

से किं तं भार-पच्चोरुहणया ? भार-पच्चोरुहणया चउ-व्विहा पण्णत्ता, तं जहा—असंगहिय-परिजण-संगहित्ता भवइ, सेहं आयार-गोयर-संगाहित्ता भवइ, साहम्मियस्स गिलायमाणस्स अहाथामं वेयावच्चे अब्भुट्ठित्ता भवइ, साहम्मियाणं अधिगरणंसि उप्पण्णंसि तत्थ अणिसित्तो-

वसिए वसित्तो अपक्खग्गाहिय मज्झत्थ-भावभूते सम्मं ववहरमाणे तस्स अधिगरणस्स खमावणाए विउसमणत्ताए सयासमियं अब्भुट्टित्ता भवइ, कहं च (नु) साहम्मिया, अप्पसद्दा, अप्पझंझा, अप्पकलहा, अप्पकसाया, अप्पतुमंतुमा, संजम-बहुला, संवर-बहुला, समाहि-बहुला, अप्पमत्ता, संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणाणं एवं च णं विहरेज्जा। सेत्तं भार-पच्चोरुहणया ॥ ४ ॥

एसा खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता त्ति बेमि ।

इति चउत्था दसा समत्ता ।

अथ का सा भारप्रत्यवरोहणता? भारप्रत्यवरोहणता चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—असंग्रहीत-परिजन-संग्रहीता भवति, शैक्षमाचारगोचरे संग्राहयिता भवति, साधर्मिकस्य ग्लायतो यथाबलं वैय्यावृत्याऽअभ्युत्थाता भवति, साधर्मिकाणामधिकरणे उत्पन्ने तत्रानिश्रितोपश्रोता वसन्नपक्षग्राही, मध्यस्थ-भाव-भूतः, सम्यग्-व्यवहरंस्तस्याधिकरणस्य क्षमापनाय, उपशमनाय सदासमितमभ्युत्थाता भवति, कथन्नु साधर्मिकाः अल्पशब्दाः, अल्पझञ्झाः, अल्पकषायाः, अल्पकलहाः, अल्पतुमंतुमाः (त्वं-त्वमित्यादिना कलहकर्तारः), संयम-बहुलाः, संवर-बहुलाः, समाधि-बहुलाः, अप्रमत्ताः, संयमेन तपसात्मानं

भावयन्तो विहरेयुः (इत्यत्र प्रयत्नशीलो भवेत्)। सेयं भार-प्रत्यवरोहणता ॥ ४ ॥

एषा खलु सा स्थविरैर्भगवद्भिरष्टविधा गणिसम्पदा प्रज्ञप्तेति ब्रवीमि ।

इति चतुर्थी दशा समाप्ता ।

पदार्थान्वयः—से किं तं—वह कौनसी **भार-पच्चोरुहणया**—भार-प्रत्यवरोहणता (विनय) है ? (गुरु कहते हैं) **भार-पच्चोरुहणया**—भार-प्रत्यवरोहणता (विनय) **चउव्विहा**—चार प्रकार की **पएणत्ता**—प्रतिपादन की है **तं जहा**—जैसे **असंगहिय-परिजण-संगहित्ता**—असंग्रहीत-परिजन शिष्यादि का संग्रह करने वाला **भवइ**-हो **सेहं**—शैक्ष को **आयार**—आचार और **गोयर**—गोचर विधि **संगाहित्ता**—सिखाने वाला **भवइ**—हो **साहम्मियस्स**—सहधर्मी के **गिलायमाणस्स**—रुग्ण होने पर **अहाथामं**—यथाशक्ति **वेयावच्चे**—सेवा के लिए **अब्भुट्ठित्ता**—तत्पर **भवइ**—हो **साहम्मियाणं**—सहधर्मियों के परस्पर **अधिगरणंसि**—क्लेश (झगड़ा) **उप्पएणंसि**—उत्पन्न होने पर **तत्थ**—वहां **अणिसित्तोवसिए**—राग और द्वेष रहित होकर **वसित्तो**—वसता हुआ **अपक्खग्गहिय**—किसी के पक्ष विशेष को ग्रहण न करते हुए **मझत्थ**—मध्यस्थ का **भाव-भूते**—भाव रखते हुए **सम्मं**—सम्यक् **ववहरमाणे**—व्यवहार पालन करता हुआ **तस्स**—उस **अधिगरणस्स**—क्लेश के **खमावणाए**—क्षमापन के लिए **विउसमणत्ताए**—उपशम करने के लिए **सयासमियं**—हर समय **अब्भुट्ठित्ता**—उद्यत **भवइ**—हो **कहं नु ?**—किस प्रकार ऐसा करें ? (गुरु कहते हैं) कलह शान्त होजाने से **साहम्मिया**—सहधर्मी साधु **अप्पसद्दा**—विपरीत शब्द नहीं करेंगे **अप्पझंझा**—अशुभ शब्द नहीं बोलेंगे **अप्पकलहा**—कलह नहीं करेंगे **अप्पकसाया**—क्रोधादि कषाय नहीं करेंगे **अप्पतुमं-तुमा**—परस्पर 'तू' 'तू' शब्द नहीं कहेंगे और उनके **संजम-बहुला**—संयम बहुत होगा **संवर-बहुला**—संवर बहुत होगा **समाहि-बहुला**—समाधि बहुत होगी और **अप्प-मत्ता**—अप्रमत्त होकर **संजमेण**—संयम और **तवसा**—तप से **अप्पाणं**—अपने आत्मा की **भावेमाणाणं**—भावना करते हुए **एवं च**—इस प्रकार **विहरेज्जा**—विचरेंगे **णं**—

वाक्यालङ्कार अर्थ में है । **सेतं**–यही **भार-पच्चोरुहणया**–भार-प्रत्यवरोहणता (विनय) है । **एसा**--यह **खलु**–निश्चय से **थेरेहिं** स्थविर **भगवन्तेहिं**–भगवन्तों ने **सा**–वह **अट्ठ-विहा**–आठ प्रकार की **गणि-संपया**–गणि-संपदा **पण्णत्ता**–प्रतिपादन की है **त्तिबेमि**–इस प्रकार मैं कहता हूं **इति**–इस प्रकार **चउत्था**–चतुर्थी **दसा**–दशा **समत्ता**–समाप्त ।

मूलार्थ—भार-प्रत्यवरोहणता किसे कहते हैं ? भार-प्रत्यवरोहणता चार प्रकार की प्रतिपादन की गई है, जैसे–निराधार शिष्य आदि का संग्रह करना, नूतन दीक्षित शिष्य को आचार और गोचर विधि सिखाना, सहधर्मी के रोगी होने पर उसकी यथाशक्ति सेवा करना और सहधर्मियों में परस्पर कलह उपस्थित होजाने पर, राग और द्वेष का परित्याग करते हुए, किसी पक्ष विशेष को ग्रहण न करते हुए, मध्यस्थ-भाव अवलम्बन करे और सम्यग् व्यवहार का पालन करते हुए, उस कलह के क्षमापन और उपशमन के लिए सदैव उद्यत रहे, क्योंकि ऐसा करने से सहधर्मियों में अल्प शब्द होंगे, अल्प झञ्झा (व्याकुलता और कलह उत्पन्न करने वाले शब्द) होगी, अल्प कलह और अल्प कषाय होंगे तथा अल्प 'तू' 'तू' होगी, इन सबके अल्प होने पर संयम, संवर और समाधि की वृद्धि होगी और इससे सह-धर्मी अप्रमत्त होकर संयम और तप के द्वारा अपने आत्मा की भावना करते हुए विचरण करेंगे । यही भार-प्रत्यवरोहणता-विनय है । यही वह स्थविर भगवन्तों ने आठ प्रकार की गणि-सम्पदा प्रतिपादन की है, इस प्रकार मैं कहता हूं ।

टीका—इस सूत्र में भार-प्रत्यवरोहणता-विनय का वर्णन करते हुए, साथ ही साथ, प्रस्तुत दशा का उपसंहार भी किया गया है । जिस प्रकार एक राजा अपना सम्पूर्ण राज्य भार मन्त्रि-गण के ऊपर छोड़ कर स्वयं राज्य-सुख का अनुभव करता है ठीक उसी प्रकार गणी भी गण-रक्षा का सम्पूर्ण भार शिष्य-गण को सौंपकर अपने आप निश्चिन्त होकर आत्म-समाधि के सुख में लीन हो जाता है । यह भार चार प्रकार का होता है । उनमें सबसे पहला असंग्रहीत शिष्यादि का संग्रह करना है, अर्थात् यदि किसी शिष्य को क्रोधादि दुर्गुणों के कारण शिष्य-गण ने पृथक् कर दिया हो, या किसी शिष्य के संरक्षक, गुरु आदि का देहान्त हो गया हो अथवा किसी अन्य विशेष कारण से वह गृहस्थ बनना चाहता हो तो उसको जिस तरह हो सके समझा बुझा कर अपने पास रखना चाहिये । किञ्च–जो साधु नूतन दीक्षित हों उनको ज्ञाना-

चारादि आचार-विधि और भिक्षाचरी तथा प्रत्युपेक्षणा विधि प्रेम-पूर्वक सिखानी चाहिए। जो सहधर्मी साधु रुग्ण हो गया हो उसकी यथाशक्ति उचित सेवा करनी चाहिए। यदि कभी सहधर्मियों में परस्पर कलह उत्पन्न हो जाय तो 'अनिश्रितोपश्रोता' अर्थात् राग द्वेष का परित्याग कर, निश्रिता (आहार या उपधि की इच्छा), कुलिङ्गी तथा उपाश्रा आदि भावों से रहित होकर, केवल मध्यस्थ-भाव का अवलम्बन करते हुए सम्यक् सूत्र व्यवहारादि के अनुसार उस कलह के क्षमापन और उपशमन के लिए सदैव उद्यत रहना चाहिए। इससे कलह की शान्ति होगी और गण में निरर्थक कोलाहल नहीं होगा, जिससे शिष्य-समुदाय का पठन, पाठन और समाधि आदि निर्विघ्न हो सकेंगे, साथ ही क्रोधादि की शान्ति से गण में शान्ति भङ्ग करने वाले 'तू' 'तू' आदि शब्द भी नहीं होंगे। कलह के मिट जाने से संयम और संवर में वृद्धि होगी तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्बन्धी समाधियां भी उत्पन्न होने लगेंगी। साधुगण अप्रमत्त होकर संयम और तप से अपनी आत्मा की भावना करते हुए अर्थात् निज स्वरूप का दर्शन करते हुए विचरण करेंगे। इसी का नाम भारप्रत्यवरोहणता विनय है।

इस प्रकार स्थविर भगवन्तों ने आठ प्रकार की गण-सम्पदा का वर्णन किया है। यह आठ प्रकार की सम्पदा प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपादेय है। इस दशा के पाठ से गणी और शिष्यगण को अपना २ कर्तव्य भली भांति ज्ञात हो जाता है।

क्योंकि वास्तव में भाव-सम्पदा ही आत्म-स्वरूप के प्रकट करने में सामर्थ्य रखती है, अतः प्रत्येक प्राणी को उचित है कि वह भाव-संपदा द्वारा अपने आत्मा को अलङ्कृत करता हुआ मोक्षार्थी बने।

इस प्रकार श्री सुधर्म्मा स्वामी जी अपने सुशिष्य श्री जम्बू स्वामी जी से कहते हैं "हे जम्बू स्वामिन्! जिस प्रकार मैंने श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी जी से इस दशा का अर्थ श्रवण किया है उसी प्रकार मैंने तुमको सुना दिया है किन्तु अपनी बुद्धि से मैंने कुछ भी नहीं कहा है।"

चतुर्थी दशा समाप्ता।

पञ्चमी दशा

चौथी दशा में गणि-सम्पदा का वर्णन किया गया है । गणि-सम्पत्ति से परिपूर्ण गणी समाधि-सम्पन्न हो जाता है, किन्तु जब तक उसको चित्त-समाधि का भली भांति ज्ञान नहीं होगा, तब तक वह उचित रीति से समाधि में प्रविष्ट नहीं हो सकता, अतः चौथी दशा से सम्बन्ध रखते हुए, सूत्रकार, इस पांचवीं दशा में चित्त-समाधि का ही वर्णन करते हैं ।

जिसके द्वारा चित मोक्ष-मार्ग या धर्म-ध्यान आदि में स्थिर रहे उसको चित्त-समाधि कहते हैं । वह—द्रव्य-चित्त-समाधि और भाव-चित्त-समाधि—दो प्रकार की होती है । किसी व्यक्ति की इच्छा सांसारिक उपभोग्य पदार्थों के उपभोग करने की हो, यदि उसको उनकी प्राप्ति हो जाय और उससे चित्त समाधि प्राप्त करे तो उसको द्रव्य-समाधि कहते हैं और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र में चित्त लगाकर उपयोग-पूर्वक पदार्थों का स्वरूप अनुभव करने का नाम भाव-चित्त-समाधि है । अकुशल चित्त के निरोध करने पर और कुशल चित्त के प्रकट होने पर चित्त को अनायास ही समाधि उत्पन्न हो जाती है ।

पञ्च शब्दादि विषयों में साम्य-भाव रखना तथा द्रव्यों का परस्पर साम्य-भाव से एकमय होना ही द्रव्य-समाधि होती है । जिस प्रकार दूध में यदि शक्कर प्रमाण युक्त ही मिलाई जाय तो विशेष रुचिकर हो सकती है और यदि अधिक या न्यून रहेगी तो कभी भी सन्तोष-जनक नहीं हो सकती इसी प्रकार द्रव्य यदि परस्पर उचित प्रमाण में सम्मिलित होंगे तभी द्रव्य-समाधि हो सकती है अन्यथा

नहीं। इसी तरह जिस क्षेत्र को प्राप्त कर चित्त, समाधि में लग जाय उसको क्षेत्र-समाधि और जिस काल में चित्त को समाधि उत्पन्न हो उसको काल-समाधि कहते हैं। भाव-समाधि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप होती है। जिस समय उक्त चारों में चित्त एकाग्र वृत्ति से लग जाय उस समय भाव-समाधि की उत्पत्ति होती है। किन्तु यह सब क्षेत्र आदि की विशुद्धि से ही होती है। यदि क्षेत्र आदि शुद्ध होंगे तो चित्त अनायास ही समाधि की ओर ढल जायगा।

इस प्रस्तुत दशा में भाव-चित्त-समाधि का ही वर्णन किया गया है। उसका पहला सूत्र निम्न-लिखित है:—

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं, इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस चित्त-समाहि-ठाणा पण्णत्ता। कयरा खलु ताइं थेरेहिं भगवंतेहिं दस चित्त-समाहि-ठाणा पण्णत्ता? इमाइं खलु ताइं थेरेहिं भगवंतेहिं दस चित्त-समाहि-ठाणा पण्णत्ता, तं जहा:—

श्रुतं मयायुष्मन्! तेन भगवतैवमाख्यातं, इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्दश चित्त-समाधि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि, कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिर्दश चित्त-समाधि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि? इमानि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिर्दश चित्त-समाधि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा:—

पदार्थान्वयः—**आउसं**—हे आयुष्मन् शिष्य! **मे**—मैंने **सुयं**—सुना है **तेणं**—उस **भगवया**—भगवान् ने **एवं**—इस प्रकार **अक्खायं**—प्रतिपादन किया है **इह**—इस जिन-शासन में **खलु**—निश्चय से **थेरेहिं**—स्थविर **भगवंतेहिं**—भगवंतो ने **दस**—दश **चित्त-समाहि**—चित्त-समाधि के **ठाणा**—स्थान **पण्णत्ता**—प्रतिपादन किये हैं। (शिष्य ने प्रश्न किया) **कयरा**—कौन से **खलु**—निश्चय से **ताइं**—वे **थेरेहिं**—स्थविर **भगवंतेहिं**—भग-

वन्तों ने **दस**—दश **चित्त-समाहि**—चित्त-समाधि के **ठाणा**—स्थान **पराणत्ता**—प्रतिपादन किए हैं ? (गुरु उत्तर में कहते हैं) **इमाइं**—ये **खलु**—निश्चय से **ताइं**—वे **थेरेहिं**—स्थविर **भगवंतेहिं**—भगवन्तों ने **दस**—दश **चित्त-समाहि**—चित्त-समाधि के **ठाणा**—स्थान **पराणत्ता**—प्रतिपादन किये हैं **तं जहा**—जैसेः—

मूलार्थ—हे आयुष्मन् शिष्य ! मैंने सुना है उस भगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है, इस जिन-शासन या लोक में स्थविर भगवन्तों ने दश चित्त-समाधि के स्थान प्रतिपादन किये हैं, शिष्य ने प्रश्न किया—कौन से दश चित्त-समाधि-स्थान स्थविर भगवन्तों ने प्रतिपादन किये हैं ? गुरु उत्तर में कहते हैं—स्थविर भगवन्तों ने ये दश चित्त-समाधि-स्थान प्रतिपादन किये हैं। जैसेः—

टीका—इस दशा का आरम्भ भी, पूर्वोक्त चार दशाओं के समान, सूत्रकार ने गुरु शिष्य के परस्पर प्रश्नोत्तर रूप में ही किया है, क्योंकि यह शैली इतनी रुचिकर है कि इससे अपने सिद्धान्तों की पुष्टि और जनता को ज्ञान-लाभ विना किसी विशेष प्रयास के ही हो जाता है। यह श्रुत-ज्ञान के बोध कराने का सहज से सहज मार्ग है।

अब सूत्रकार प्रस्तुत विषय का वर्णन करते हुए कहते हैंः—

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे नगरे होत्था, एत्थं नगर-वण्णओ भाणियव्वो तस्स णं वाणियगामस्स नगरस्स बहिया उत्तर-पुरच्छिमे दिसीभाए दूतिपलासए णामं चेइए होत्था, चेइए वण्णओ भाणियव्वो। जियसत्तु राया तस्स धारणी नामं देवी। एवं सव्वं समोसरणं भाणियव्वं। जाव पुढवी-सिलापट्टए सामी समोसढे परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ परिसा पडिगया।

तस्मिन् काले तस्मिन्समये वाणिज्यग्रामो नगरो बभूव।

अत्र नगर-वर्णनं भणितव्यम्। तस्य वाणिज्यग्राम-नगरस्य बहिरुत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे दूतिपलाशकं नाम चैत्यमभूत्। चैत्य-वर्णनं भणितव्यम्। जितशत्रू राजा तस्य धारणी नाम्नी देवी। एवं सर्वं समवशरणं (च) भणितव्यम्। यावत्पृथिवी-शिला-पट्टके स्वामी समवसृतः परिषन्निर्गता। धर्मः कथितः परिषत्प्रतिगता।

पदार्थान्वयः—**तेणं कालेणं**—उस काल और **तेणं समएणं**—उस समय में **वाणियगामे नगरे होत्था**—वाणिजग्राम नगर था **एत्थं**—यहां पर **नगर-वण्णओ**—नगर का वर्णन **भाणियव्वो**—कहना चाहिए **तस्स णं**—उस **वाणियगामस्स नगरस्स**—वाणिजग्राम नगर के **बहिया**—बाहिर **उत्तर-पुरच्छिमे**—उत्तर-पूर्व **दिसी-भाए**—दिग्भाग में **दूति-पलासए**—दूतिपलाशक **णामं**—नाम वाला **चेइए**—व्यन्तरायतन **होत्था**—था **चेइए**—चैत्य का **वण्णओ**—वर्णन **भाणियव्वो**—कहना चाहिए **जियसत्तु राया**—जितशत्रु राजा और **तस्स**—उसकी **धारणी**—धारणी **नामं**—नाम वाली **देवी**—देवी थी **एवं**—इस प्रकार **सव्वं**—सब **समोसरणं**—समवसरण **भाणियव्वं**—कहना चाहिए **जाव**—यावत् **पुढवी-सिलापट्टए**—पृथिवी-शिलापट्टक पर **सामी**—भगवान् **समोसढे**—विराजमान हुए तब नगर की **परिसा**—परिषत् **निग्गया**—भगवान् के पास गई **धम्मो**—भगवान् ने धर्म **कहिओ**—कथन किया अर्थात् धर्मोपदेश दिया तब **परिसा**—परिषत् धर्मकथा सुनकर **पडिगया**—नगर की ओर चली गई।

मूलार्थ—उस काल और उस समय में वाणिजग्राम नगर बसता था। उस नगर के बाहर ईशान कोण में दूतिपलाशक नाम वाला एक उद्यान था। वहां जितशत्रु नाम का राजा राज्य करता था। उसकी धारणी नाम वाली देवी थी। भगवान् उस चैत्य (उद्यान) में एक पृथिवी के शिलापट्ट पर विराजमान हो गये। वहां नगर की परिषद् (श्री भगवान् के मुखारविन्द से कथा श्रवण करने के लिए) उपस्थित हुई। तब श्री भगवान् ने उस परिषद् को धर्मोपदेश किया और (उससे प्रसन्न होकर जनता भगवान् का यशोगान करती हुई) नगर को वापिस चली गई।

टीका—यह सूत्र उपोद्घात रूप है। इस उपोद्घात का विस्तृत वर्णन

औपपातिक सूत्र के आरम्भ में किया गया है । वहां इस (उपोद्घात) को पांच अंशों में विभक्त कर दिया गया है । जैसे—नगर वर्णन, नगर के बाहर के चैत्य (यक्षायतन और उद्यान) का वर्णन, राजा और रानी का वर्णन, श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के चैत्य में विराजमान होने का वर्णन और राजा के श्री श्रमण भगवान् से धर्मोपदेश सुनने का वर्णन । किञ्च इन सब के अतिरिक्त राजा की गमन यात्रा का वर्णन अत्यन्त समारोह और महोत्सव के साथ किया गया है । साथ ही प्रसङ्गवशात् राजा की दिनचर्या और उसके विविध व्यायाम और व्यायाम-शाला तथा स्नानादि क्रियाओं का भी दिग्दर्शन कराया गया है । श्री भगवान् कृत धर्मोपदेश का भी सुचारू रूप से वर्णन किया गया है । जो इस विषय से विशेष आकर्षित हों या इसकी जिज्ञासा रखते हों उनको उक्त विषयों का औपपातिक सूत्र से ही ज्ञान करना चाहिए । यहां पर तो केवल संक्षेप रूप में ही इसका वर्णन किया गया है, जैसे—चतुर्थ आरक के अन्तिम भाग में एक अति मनोहर और नागरिक गुणों से युक्त बाणिजग्राम नाम नगर था । उसके बाहिर ईशान कोण में एक अति मनोहर दूतिपलाशक उद्यान था । उसमें एक दूतिपलाशक नाम वाले यक्ष का मन्दिर था । वह उस समय जगद्-विख्यात हो रहा था । अनेक यात्री लोग वहां आते थे और प्रत्यक्ष फल पाते थे । उसके समीप ही एक बड़ा भारी वृक्ष-समूह था, जिसके मध्य में एक अशोक वृक्ष के नीचे एक पार्थिव शिलापट्टक था, वह वहां सिंहासन रूप में विद्यमान था । उस नगरी में एक न्यायशील, धर्म परायण और सम्पूर्ण राज-गुणों से युक्त जितशत्रु नाम राजा राज्य करता था । उसकी पतिव्रता और सर्व-गुण-सम्पन्न धारणी नाम की रानी थी । एक समय श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी देश में धर्म प्रचार करते हुए उस बाणिजग्राम नगर में पहुंचे । वहां नगर के बाहर दूतिपलाश चैत्य (उद्यान) के पूर्वोक्त अशोक वृक्ष वाले पृथिवी-शिला-पट्टक पर साधु-सङ्घ के साथ विराजमान हुए । महाराजा जितशत्रु और अन्य नगर निवासी श्री भगवान् के आगमन का शुभ समाचार पाकर बड़े उत्सव के साथ, भगवान् के दर्शन करने के लिए तथा उनके श्रीमुख से धर्मामृत पान करने के लिए, उनकी सेवा में उपस्थित हुए । श्री भगवान् ने प्रेम से उनको धर्मामृत पान कराया, उससे आनन्दित होकर जनता उनके यशोगान में तन्मयी होगई और सर्ववृत्ति तथा देशव्यापी धर्म को ग्रहण कर नगर को वापिस चली गई । यही सम्पूर्ण उपोद्घात का सारांश है ।

इस सूत्र में 'काल' और 'समय' दो शब्द ऐसे हैं जो प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु यहां इनके अर्थ में परस्पर अन्तर है । 'काल' शब्द से यहां 'अवसर्प्पिणी' काल के चतुर्थ विभाग का बोध होता है और 'समय' शब्द से श्री भगवान् महावीर स्वामी के समकालीन नगर आदि का ।

'कालेणं' और 'समएणं' में हेतुभूत में तृतीया है "तेन कालेन–अवसर्प्पिणी चतुर्थारकलक्षणेन हेतुभूतेन । तेन समयेन–तद्विशेषभूतेन हेतुना बणिग्ग्रामो नगरो होत्था–अभवदासीदित्यर्थः" इस तृतीया का संस्कृत में–'तस्मिन् काले तस्मिन् समये'–सप्तम्यन्त अनुवाद किया गया है । इसमें भी दोष नहीं है, क्योंकि आर्ष प्राकृत में प्रायः सप्तमी विभक्ति के अर्थ में तृतीया विभक्ति आ ही जाती है । अथवा 'णं' को वाक्यालङ्कार अर्थ में मानकर और 'तकार में विद्यमान' एकार को "करेमि" "भंते" आदि में विद्यमान एकार के समान आगम रूप मानकर 'ए' शब्द भी सप्तम्यर्थ को प्रतिपादन कर सकता है, अतः "तेणं कालेणं" "तेणं समएणं" का "तस्मिन्काले तस्मिन्समये" अनुवाद उचित ही है । इसका ज्ञान प्राकृत व्याकरण से भली प्रकार हो सकता है ।

यहां पर तो तात्पर्य केवल इतने से है कि दूतिपलाशक चैत्य में श्री भगवान् का धर्मोपदेश हुआ और परिषद् उसको सुनकर प्रसन्नचित्त हुई ।

इसके अनन्तर क्या हुआ इसका वर्णन सूत्रकार वक्ष्यमाण सूत्र में स्वयं करते हैं:—

अज्जो ! इति समणे भगवं महावीरे समणा निग्गंथाय निग्गंथीओ आमंतित्ता एवं वयासी "इह खलु अज्जो ! निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा इरिया-समियाणं भासा-समियाणं एसणा-समियाणं आयाण-भंड-मत्त-निक्खेवणा-समियाणं उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-पारिठावणिया-समियाणं मण-समियाणं वाय-समियाणं काय-समियाणं ।"

"आर्याः !" इति श्रमणो भगवान् महावीरः श्रमणान् निर्ग्रन्थान् निर्ग्रन्थ्यश्चामन्त्र्यैवमवादीत्, "इह (जिन-प्रवचने) खल्वार्याः ! निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा, ईर्या-समितानां, भाषा-समितानाम्, एषणा-समितानाम्, आदान-भांड-मात्र-निक्षेपणा-समितानाम्, उच्चार-प्रश्रवण-खेल-(निष्ठीवन)-श्लेष्म-मल-परिष्ठापना-समितानां, मनःसमितानां, वाक्समितानां, काय-समितानाम्—"

पदार्थान्वयः—**अज्जो इति**—हे आर्यो ! **समणे**—श्रमण **भगवं**—भगवान् **महावीरे**—महावीर स्वामी **समणा**—श्रमण **निग्गंत्था**—निर्ग्रन्थों को **य**—और **निग्गंत्थीओ**—निर्ग्रन्थियों को **आमंतित्ता**—आमन्त्रित कर **एवं**—इस प्रकार **वयासी**—कहने लगे **इह**—इस जिन-शासन में या लोक में **खलु**—निश्चय से **अज्जो**—हे आर्यो ! **निग्गंत्थाणं**—निर्ग्रन्थों को **वा**—अथवा **निग्गंत्थीणं**—निर्ग्रन्थियों को **इरिया-समियाणं**—ईर्या-समिति वाले **भासा-समियाणं**—भाषा-समिति वाले **एसणा-समियाणं**—एषणा-समिति वाले **आयाण**—आदान (ग्रहण करना) **भंड**—भण्डोपकरण **मत्त**—पात्र विशेष **निक्खेवणा**—निक्षेपणा **समियाणं**—समिति वाले **उच्चार**—पुरीष **पासवण**—प्रश्रवण **खेल**—मुख का मल **सिंघाण**—नाक का मल **जल्ल**—प्रस्वेद का मल **परिठावणिया**—इन सबकी परिष्ठापना **समियाणं**—समिति वाले **मण-समियाणं**—मन-समिति वाले **वाय-समियाणं**—वचन-समिति वाले **काय-समियाणं**—काय-समिति वाले ।

मूलार्थ—हे आर्यो ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी श्रमण निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को आमन्त्रित कर कहने लगे "हे आर्यो ! निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को, जो ईर्या-समिति वाले, भाषा-समिति वाले, एषणा-समिति वाले, आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षेपणा-समिति वाले, उच्चार-प्रश्रवण-थूक-नाक का मल, प्रस्वेद-मल की परिष्ठापना-समिति वाले, मन-समिति वाले, वाक्समिति वाले तथा काय-समिति वाले—

टीका—अब प्रस्तुत दशा के विषय की ओर प्रमुख होते हुए सूत्रकार कहते

हैं कि जब धर्मोपदेश हो चुका तब श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी स्वयं श्रमण निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को आमन्त्रित कर कहने लगे "हे आर्यो ! जिन्होंने बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह छोड़ दिया है, जो परिषहों के सहने वाले हैं, प्रमाणपूर्वक भूमि देखकर गमन करने वाले हैं, ४२ दोषों का परित्याग कर भिक्षा लेने वाले अर्थात् एषणा गवेषणा द्वारा ही भिक्षा ग्रहण करने वाले हैं, सावद्य (दोष-युक्त) वाणी को छोड़ कर निरवद्य (निर्दोष) और मधुर वाणी बोलने वाले हैं, भाण्डोपकरण तथा वस्त्रादि को ग्रहण और निक्षेप (रखने) करने वाले हैं, पुरीष, प्रश्रवण और मुख, नाक तथा प्रस्वेद मल की यत्नपूर्वक परिष्ठापना करने वाले हैं और—(दूसरे सूत्र के साथ अन्वय है) ।

इस सूत्रमें सम्पूर्ण षष्ठ्यन्त विशेषणों का सम्बन्ध कुशल-मन-प्रवर्तक और कुशल-वाक् बोलने वाले मुनिवरों से ही है । उक्त गुणों से युक्त व्यक्ति ही समाधि का पात्र होता है ।

वक्ष्यमाण सूत्र का पूर्व सूत्र से ही अन्वय है :—

मण-गुत्तीणं वाय-गुत्तीणं काय-गुत्तीणं गुत्तिंदियाणं गुत्त-बंभयारीणं आयट्ठीणं आय-हियाणं आय-जोइणं आय-परक्कमाणं पक्खिय-पोसहिएसु समाहि-पत्ताणं झियायमाणाणं इमाइं दस चित्त-समाहि-ठाणाइं असमुप्पण्ण-पुव्वाइं समुप्पज्जेज्जा, तं जहा :—

मनोगुप्तानां, वाग्गुप्तानां, काय-गुप्तानां, गुप्तेन्द्रियाणां, गुप्तब्रह्मचारिणाम्, आत्मार्थिनाम्, आत्म-हितानाम्, आत्म-द्युतीनाम्, आत्मपराक्रमाणां, पाक्षिक-पौषधयोः समाधि-प्राप्तानां, (धर्मध्यानादि) ध्यायमानानामिमानि दश चित्त-समाधि-स्थानान्यसमुत्पन्नपूर्वाणि समुत्पद्यन्ते, तद्यथा :—

पदार्थान्वयः—मण-गुत्तीणं—मनोगुप्ति वाले वाय-गुत्तीणं—वचन-गुप्ति

वाले **गुत्तिंदियाणं**–इन्द्रिय गुप्त करने वाले **गुत्त-बंभयारीणं**–ब्रह्मचर्य की गुप्ति वाले **आयट्ठीणं**–आत्मार्थी **आय-हियाणं**–आत्मा का हित करने वाले **आय-जोइणं**–आत्मा के योगों को वश में करने वाले अथवा आत्म-ज्योति से कर्म-बन्धनों का नाश करने वाले **आय-परक्कमाणं**–आत्मा के लिए पराक्रम करने वाले **पक्खिय-पोसहिएसु**–पक्ष के अन्त में पौषध व्रत करने से **समाहि-पत्ताणं**–समाधि प्राप्त करने वाले **झियाय-माणाणं**–धर्म ध्यानादि शुभ ध्यान करने वाले मुनियों को **इमाई**–ये **दस**–दश **चित्त-समाहि-ठाणाइ**–चित्त-समाधि के स्थान **असमुप्पण्ण-पुव्वाई**–जो पूर्व अनुत्पन्न हैं वे **समुपज्जेज्जा**–समुत्पन्न हो जाते हैं। **तं जहा**–जैसे—

मूलार्थ—मनोगुप्ति वाले, वचन-गुप्ति वाले, काय-गुप्ति वाले तथा गुप्त-न्द्रिय, गुप्त-ब्रह्मचारी, आत्मार्थी, आत्मा का हित करने वाले, आत्मा के योगों को वश करने वाले, आत्मा के लिये पराक्रम करने वाले, पाक्षिक-पौषध (व्रत) करने वाले, ज्ञानादि की समाधि प्राप्त करने वाले और धर्मादि शुभ ध्यानों का ध्यान करने वाले मुनियों को ये पूर्व अनुत्पन्न दश चित्त-समाधि के स्थान उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे :—

टीका—इस सूत्र का पूर्व सूत्र से अन्वय है और इसमें उक्त उपोद्घात का उपसंहार किया गया है। जैसे–मनोगुप्ति वाले, वचन-गुप्ति वाले, काय-गुप्ति वाले, कच्छप के समान इन्द्रियों को वश में करने वाले नौ प्रकार से ब्रह्मचर्य की गुप्ति धारण करने वाले, दीर्घ काल से पार होने के लिए अर्थात् संसार-चक्र से आत्मा को पार करने के लिए कर्म-कलङ्क का परित्याग कर अपने स्वरूप में प्रविष्ट होने वाले, हिंसा और कषायों को छोड़कर आत्मा का हित करने वाले, कर्म रूपी इन्धन को जलाने के लिए आत्म-ज्योति धारण करने वाले, आत्मा की विशुद्धि के लिए पराक्रम करने वाले, अर्थात् स्वार्थ बुद्धि का त्याग कर निर्जरा के लिए ही पराक्रम करने वाले, पाक्षिक पौषध करने वाले, ज्ञान, दर्शन और चरित्र की समाधि प्राप्त करने वाले और समाधि के मूल कारण आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म-ध्यानादि से आत्मा की विशुद्धि करने वाले व्यक्तियों को पूर्व अनुत्पन्न निम्न लिखित दश चित्त-समाधि-स्थान उत्पन्न हो जाते हैं।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'समिति' और गुप्ति में परस्पर क्या

अन्तर है ? उत्तर में कहा जाता है कि योगों में योग्यता पूर्वक प्रवृत्ति का नाम समिति है और सर्वथा योगों का निरोध करना गुप्ति कहलाती है। जैसे मनः-समिति का तात्पर्य अकुशल मन की निवृत्ति और कुशल की प्रवृत्ति होता है, किन्तु मनोगुप्ति का अर्थ कुशल और अकुशल दोनों प्रकार के मन का तथा सत्य-मनोयोग, असत्य-मनोयोग, मिश्र-मनोयोग और व्यवहार-मनोयोग—चार प्रकार के मनोयोगों का निरोध करना है। इसी प्रकार वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति के विषय में भी जानना चाहिए।

"आय-जोइणं" इस शब्द में "णं" को पृथक् कर वाक्यालङ्कार अर्थ में माना जाय तो अवशिष्ट का 'आत्म-योगी' संस्कृतानुवाद होगा, जिसका अर्थ अध्यात्म-योग-वृत्ति करने वाले तथा "आत्तायोगी" मन, वचन और काय को वश करने वाले होता है। यदि 'आत्मायोगी' इस प्रकार पाठ परिवर्तन किया जाय तो संयम व्यापार में श्रेष्ठ योगों को धारण करने वाले—यह अर्थ भी हो सकता है।

सूत्र में आये हुए "पाक्षिक-पौषध" का निम्नलिखित तात्पर्य है "पक्षे भवः पाक्षिकः पौषधः । पक्षशब्देन पक्षसमाप्तिरिह विवक्षिता, पदैकदेशेऽपि पदस्य (पदसमुदायस्य च) उपचारात् । तेन पक्षपरिपूरकस्य पञ्चदनमित्यर्थः । पौषधः—उपवासकरणम् । अथवा पौषधः-चतुर्दश्यष्टम्यौ—पाक्षिकः पौषध इति पाक्षिक-पौषधस्तस्मिन् ।" अर्थात् पाक्षिक दिनों में उपवासादि करने वाले। उपलक्षण से श्रावकादि के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

अब सूत्रकार दश चित्त-समाधि-स्थानों का नामाख्यान करते हैं:—

धम्म-चिंता वा से असमुप्पण्ण-पुव्वा, समुप्पज्जेज्जा सव्वं धम्मं जाणित्तए; सुमिण-दंसणे वा से असमुप्पण्ण-पुव्वे समुप्पज्जेज्जा अहातच्चं सुमिणं पासित्तए, सण्णि-जाइ-सरणेणं सण्णि-ण्णाणं वा से असमुप्पण्ण-पुव्वे समुप्पज्जेज्जा अप्पणो पोराणियं जाइ सुमरित्तए; देव-दंसणे वा से असमुप्पण्ण-पुव्वे समुप्पज्जेज्जा दिव्वं

देविड्ढिं दिव्वं देव-जुइं दिव्वं देवाणुभावं पासित्तए; ओहि-णाणे वा से असमुप्पण्ण-पुव्वे समुप्पज्जेज्जा ओहिणा लोगं जाणित्तए ।

धर्म-चिन्ता वा तस्यासमुत्पन्नपूर्वा समुत्पद्येत, सर्वं धर्मं ज्ञातुम्; स्वप्न-दर्शनं वा तस्यासमुत्पन्नपूर्वं समुत्पद्येत यथातथ्यं स्वप्नं द्रष्टुम्; संज्ञि-जाति-स्मरणेन संज्ञि-ज्ञानं वा तस्यासमुत्पन्नपूर्वं समुत्पद्येत स्वकीयां पौराणिकीं जातिं स्मर्तुम्; देव-दर्शनं वा तस्यासमुत्पन्नपूर्वं समुत्पद्येत दिव्यां देवर्द्धिं दिव्यां देव-द्युतिं दिव्यं देवानुभावं द्रष्टुम्; अवधि-ज्ञानं वा तस्यासमुत्पन्नपूर्वं समुत्पद्येत अवधिना लोकं ज्ञातुम् ।

पदार्थान्वयः—**धम्म-चिंता**—धर्म की चिंता (अनुप्रेक्षा या भावना) **असमुप्पराग-पुव्वा**—जो पहले अनुत्पन्न है यदि **से**—उसको **समुप्पज्जेज्जा**—हो जाय तो वह कल्याण-भागी साधु **सव्वं**—सब तरह के **धम्मं**—धर्म को **जाणित्तए**—जान लेता है । **वा**—समुच्चय या विकल्प अर्थ में है । **सुमिण-दंसणे**—स्वप्न-दर्शन **से**—जो उसको **असमुप्पण्ण-पुव्वे**—पहले उत्पन्न नहीं हुआ यदि **समुप्पज्जेज्जा**—उत्पन्न होजाय तो वह **अहातच्चं**—यथातथ्य **सुमिणं**—स्वप्न को **पासित्तए**—देखता है (देख कर समाधि प्राप्त करता है) **सण्णि**—संज्ञा वाला अथवा **जाइ-सरणेणं**—जाति स्मरण से **से**—उसको **सण्णि-णाणं**—संज्ञि-ज्ञान **असमुप्पण्ण-पुव्वे**—पूर्व उत्पन्न नहीं हुआ है यदि **समुप्पज्जेज्जा**—उत्पन्न होजाय तो **अप्पणो**—अपनी **पोराणियं**—पुरानी (पिछली) **जाइ**—जाति **सुमरित्तए**—स्मरण करता हुआ समाधि प्राप्त करता है । **देव-दंसणे**—देव-दर्शन **से**—उसको **असमुप्पण्ण-पुव्वे**—पूर्व उत्पन्न नहीं हुआ यदि **समुप्पज्जेज्जा**—उत्पन्न हो जाय तो **दिव्वं**—प्रधान **देविड्ढिं**—देवर्द्धि **दिव्वं**—प्रधान **देव-जुइं**—देव-द्युति **दिव्वं**—प्रधान **देवाणुभावं**—देवानुभाव को **पासित्तए**—देखकर चित्त को समाधि आजाती है । **ओहि-णाणे**—अवधि-ज्ञान **से**—उसको **असमुप्पण्ण-पुव्वे**—पहले उत्पन्न नहीं हुआ

यदि **समुप्पज्जेज्जा**–उत्पन्न होजाय तो वह **ओहिणा**–अवधि-ज्ञान से **लोगं**–लोक को **जाणित्तए**–जानकर चित्त-समाधि की प्राप्ति करता है ।

मूलार्थ—जिसके चित्त में पहले से धर्म की भावना नहीं है उसको यदि धर्म-भावना होजाय तो वह सब धर्म जान सकता है (इससे चित्त को समाधि आ जाती है) । यथार्थ स्वप्न पूर्व असमुत्पन्न है यदि उत्पन्न होजाय तो चित्त को समाधि आ जाती है । संज्ञि-ज्ञान-जाति-स्मरण जो उसको पहले उत्पन्न नहीं हुआ, यदि उत्पन्न हो जाय तो उसके द्वारा अपनी पुरानी जाति का स्मरण करता हुआ समाधि प्राप्त कर सकता है । साम्य-भाव से देव-दर्शन पूर्व असमुत्पन्न है यदि हो जाय तो देवों की प्रधान देवर्द्धि, देव-द्युति और प्रधान देवानुभाव को देखता हुआ समाधि प्राप्त कर सकता है । अवधि-ज्ञान पूर्व असमुत्पन्न है यदि उत्पन्न होजाय तो उससे लोक के स्वरूप को देखता हुआ चित्त समाधि प्राप्त कर सकता है ।

टीका—इस सूत्र में व्यवहार नय के आश्रित होते हुए भाव-समाधि के स्थान वर्णन किये गये हैं । सब समाधियों का मूल कारण ज्ञान-समाधि है, अतः सूत्रकार ने सब से पहले उसीका वर्णन किया है । इस अनादि और अनन्त संसार-चक्र में प्रत्येक प्राणी को अनन्त बार जन्म और मरण के फेर में आना पड़ा है और प्रत्येक जन्म में निरर्थक चिन्ताओं के वश में आकर पवित्र जीवन को व्यर्थ खोना पड़ा है । मनुष्य संसार में आकर काम-चिन्ता, भोग-चिन्ता, गृह-चिन्ता, व्यापार-चिन्ता, पुत्र-चिन्ता, स्त्री-चिन्ता, धन-चिन्ता, धान्य-चिन्ता, सम्बन्धि-चिन्ता, देश-चिन्ता, विदेश-चिन्ता, विवाह-चिन्ता, रोग-चिन्ता, वाद-प्रतिवाद-चिन्ता और मित्र-चिन्ता आदि अनेक चिन्ताओं से आक्रान्त हो जाता है, किन्तु धर्म-चिन्ता की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता । अतः सूत्रकार कहते हैं कि यदि पूर्वकाल में धर्म की भावना न हो और वर्तमान काल में उसकी ओर प्रवृत्ति होजाय तो मनुष्य उस धर्म-चिन्ता के द्वारा श्रुत और चारित्र रूप धर्म को भली भांति जान सकता है ।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उस धर्म शब्द का क्या अर्थ है जिसकी चिन्तना से समाधि की प्राप्ति होती है ? उत्तर में कहा जाता है कि जिससे पदार्थों का वास्तविक स्वरूप जाना जाय उसको धर्म कहते हैं । उसके ज्ञान से ही आत्मा

जिस अलौकिक आनन्द को प्राप्त करता है; उसीका नाम भाव-समाधि है। वह (धर्म) ग्राम, नगर, राष्ट्र, आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है। सब से पहले प्रत्येक पदार्थ के उत्पाद, (उत्पत्ति) व्यय और ध्रौव्य रूप धर्म का ज्ञान कर लेना चाहिए। तदनन्तर उसको हेय, ज्ञेय और उपादेय रूप में परिणत करना चाहिए और चित्त में अनुभव करना चाहिए कि सर्वज्ञोक्त कथन—पूर्वापर अविरुद्ध होने के, पदार्थों का भली भांति बोधक होने के तथा अनुपम होने के कारण—सर्वमान्य है। यदि इन सब भावों का ध्यान रखते हुए धर्म-चिन्तना की जायगी तो आत्मा अवश्य ही आत्म-समाधि प्राप्त करेगा और साथ ही जीव और निर्जीव आदि के भावों को ठीक २ जानकर उपयोग-पूर्वक श्रुत-धर्म के द्वारा अपना और दूसरों का कल्याण कर सकता है। धर्म-ज्ञान ही आत्म-समाधि का मूल कारण है और वह विना धर्म-चिन्ता के नहीं हो सकता, अतः सिद्ध हुआ कि वास्तव में धर्म-चिन्ता ही आत्म-समाधि का मूल कारण है।

(वा) शब्द यहां विकल्पार्थ में जानना चाहिए।

यदि धर्म-चिन्ता करते हुए कोई साधु निद्रावस्था को प्राप्त हो जाय और निद्रा में उसको ज्ञानान्तर-दर्शन अर्थात् स्वप्न-दर्शन हो, और उस स्वप्न में यदि वह पूर्व अननुभूत (जिसका पहिले दर्शन या ज्ञान नहीं हुआ) अलौकिक आनन्द देने वाले मोक्ष का अनुभव करे और फलतः वह दर्शन यथार्थ फल देने वाला हो तो चित्त को समाधि की प्राप्ति हो जाती है। सारांश यह निकला कि यथार्थ स्वप्न-दर्शन से चित्त समाधि प्राप्त करता है, किन्तु ध्यान रहे कि यदि वह श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के दश स्वप्नों के समान मोक्ष रूप ही हो तभी भाव-समाधि आ सकती है यदि स्वप्न द्वारा सांसारिक पदार्थों की उपलब्धि होकर चित्त को समाधि प्राप्त हो तो वह भाव-समाधि नहीं; अपितु द्रव्य-समाधि है। अतः धर्म-चिन्ता द्वारा यथार्थ स्वप्न-दर्शन भी चित्त-समाधि का एक मुख्य कारण है।

कहीं २ "सुजाणं" ऐसा पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ यह होता है कि सुगति का देखना और सुज्ञान का होना समाधि का मुख्य कारण है।

इसी के आधार पर लोगों ने 'इलहाम' की कल्पना की ऐसा प्रतीत होता है, वास्तव में वह यथार्थ स्वप्न ही है।

जिसको निःसन्देह रूप से ठीक २ संज्ञि-ज्ञान अर्थात् जाति-स्मरण ज्ञान हो जाता है, वह उस ज्ञान की सहायता से अपने पुरातन जन्मों का स्मरण कर लेता है और उस स्मरण से चित्त में एक अलौकिक आनन्द की उत्पत्ति होती है। हेतु-वाद, दृष्टि-वाद और दीर्घ-कालिक-वाद में से दीर्घ-कालिक-वाद ही जाति-स्मरण ज्ञान का मूल कारण है। जिस आत्मा में मन का प्रादुर्भाव होता है वही ईहापोह द्वारा पूर्व-जाति का स्मरण कर सकता है। इससे उसका चित्त शान्त और प्रसन्न हो जाता है और वह वैराग्य ग्रहण कर अपने आत्मा के कल्याण में लग जाता है।

यदि जाति-स्मरण ज्ञान के अनन्तर उसको किसी समय शान्ति पूर्वक देव-दर्शन हो जाय, जिससे वह देवर्द्धि, देव-द्युति, देवानुभाव और वैक्रिय करणादि पूर्णशक्तियों से युक्त प्रधान देवों की ज्योति का दर्शन कर सके, तो उसका चित्त समाधि प्राप्त करता है, क्योंकि यदि शास्त्रों से श्रवण किये हुए देव-स्वरूप का समाधि में साक्षात् रूप से दर्शन हो जायगा तो चित्त स्वयं ही समाधि की ओर ढल जायगा।

इसी के आधार बहुत से वादि कल्पना करते हैं कि समाधि में श्री भगवान् के दर्शन होते हैं, किन्तु वह वास्तव में देव-दर्शन ही होता है ध्यान रहे कि देव-दर्शन शान्तरूप और द्युति-सम्पन्न ही होता है।

जिस आत्मा को समाधि का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसको अवधि-ज्ञान भी होजाता है और उससे वह सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों को हस्तामलकवत् देखने लग जाता है जिससे उसकी आत्मा को एक अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है और वह फिर समाधिस्थ होजाता है।

ऊपर कहे हुए सारे फल एक धर्म-चिन्ता (अनुप्रेक्षा) पर ही निर्धारित हैं अतः प्राणी मात्र को सबसे पहिले धर्म-चिन्ता अवश्य करनी चाहिए।

अब सूत्रकार अवशिष्ट पांच समाधियों का विषय वर्णन करते हैं:—

ओहि-दंसणे वा से असमुप्पण्ण-पुव्वे समुप्पज्जेज्जा ओहिणा लोयं पासित्तए, मण-पज्जव-णाणे वा से असमुप्पण्ण-पुव्वे समुप्पज्जेज्जा अंतो मणुस्स क्खित्तेसु

अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु सण्णिणं पंचिंदियाणं पज्जत्त-गाणं मणो-गए भावे जाणित्तए, केवल-णाणे वा से असमुप्पण्ण-पुव्वे समुप्पज्जेज्जा केवल-कप्पं लोयालोयं जाणित्तए, केवल-दंसणे वा से असमुप्पण्ण-पुव्वे समुप्प-ज्जेज्जा केवल-कप्पं लोयालोयं पासित्तए, केवल-मरणे वा से असमुप्पण्ण-पुव्वे समुप्पज्जेज्जा सव्व-दुक्ख-पहा-णाए ॥ १० ॥

अवधि-दर्शनं वा तस्यासमुत्पन्न-पूर्वं समुत्पद्येत, अव-धिना लोकं द्रष्टुम्; मनः-पर्यव-ज्ञानं वा तस्यासमुत्पन्न-पूर्वं समुत्पद्येत, अन्तो मनुष्य-क्षेत्रेष्वर्द्ध-तृतीय-द्वीप-समुद्रेषु संज्ञिनां पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तकानां मनोगतान् भावान् ज्ञातुम्; केवल-ज्ञानं वा तस्यासमुत्पन्न-पूर्वं समुत्पद्येत, केवल-कल्पं लोकालोकं ज्ञातुम्; केवल-दर्शनं वा तस्यासमुत्पन्न-पूर्वं समुत्पद्येत, केवल-कल्पं लोकालोकं द्रष्टुम्; केवल-मरणं वा तस्यासमुत्पन्न-पूर्वं समुत्पद्येत, सर्व-दुःख-प्रहाणाय ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**ओहि-दंसणे**—अवधि-दर्शन से—उसको **असमुप्पण्ण-पुव्वे**—असमुत्पन्न-पूर्व **समुप्पज्जेज्जा**—उत्पन्न होजाय तो **ओहिणा**—अवधि-दर्शन द्वारा **लोयं पासित्तए**—लोक को देखता है । **मण-पज्जव-णाणे**—मनःपर्यव-ज्ञान से—उसको **असमुप्पण्ण-पुव्वे**—पूर्व अनुत्पन्न **समुप्पज्जेज्जा**—उत्पन्न हो जाय तो वह **मणुस्स क्खितेसु**—मनुष्य क्षेत्र के **अंतो**—भीतर **अड्ढाइज्जेसु**—अढ़ाई **दीव-समुद्देसु**—द्वीप-समुद्रों में **सण्णिणं**—संज्ञी **पंचिंदियाणं**—पञ्चेन्द्रियों और **पज्जत्तगाणं**—पर्याप्ति-पूर्ण जीवों के **मणो-गए भावे**—मनोगत भावों को **जाणित्तए**—जान लेता है । **केवल-णाणे**—केवल ज्ञान से—उसको **असमुप्पण्ण-पुव्वे**—पूर्व-अनुत्पन्न यदि—**समुप्पज्जेज्जा**—उत्पन्न होजाय तो

केवल-कप्पं—सम्पूर्ण **लोयालोयं**—लोकालोक को **पासित्तए**—देखता है **केवल-मरणे**—केवल-ज्ञान-युक्त मृत्यु **से**—उसको **असमुप्पएण-पुव्वे**—पूर्व-अनुत्पन्न यदि **समुप्पज्जेज्जा**—उत्पन्न हो जाय तो आत्मा **सव्व-दुःख**—सब दुःखों से रहित होजाता है । केवलि भगवान् की मृत्यु किस लिए है ? सब दुःखों के **पहाणाय**-नाश करने के लिए । यह दशवां पूर्ण समाधि स्थान है ।

मूलार्थ—पूर्व-अनुत्पन्न अवधि-दर्शन के उत्पन्न हो जाने पर अवधि-दर्शन द्वारा लोक को देखता है । पूर्व-अनुत्पन्न मनः-पर्यव-ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर मनुष्य लोक के भीतर अढ़ाई द्वीप समुद्रों में संज्ञी, पंचेन्द्रिय-पर्याप्त जीवों के मन के भावों को जान लेता है । पूर्व-अनुत्पन्न केवल-ज्ञान के उत्पन्न होजाने पर सम्पूर्ण लोकालोक को जान लेता है । पूर्व-अनुत्पन्न केवल-दर्शन उत्पन्न हो जाने पर उसके द्वारा सम्पूर्ण लोकालोक को देखता है । पूर्व-अनुत्पन्न केवल-ज्ञान-युक्त मृत्यु हो जाने पर सब दुःखों से छूट जाता है ।

टीका—इस सूत्र में शेष पांच समाधियों का वर्णन किया गया है । जैसे—जब आत्मा में सामान्य रूप से देखने वाला अवधि-दर्शन उत्पन्न होजाता है तब आत्मा उसकी सहायता से सांसारिक सब मूर्त पदार्थों को सामान्य रूप से देखने लगता है, और जब आत्मा मनः-पर्यव-ज्ञान से युक्त होता है तब वह मनुष्य लोक के भीतर अढ़ाई द्वीप समुद्रों के मध्य में रहने वाले मन-संज्ञा-युक्त पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्त जीवों के मनोगत भावों को जानता है, इससे आत्मा में एक प्रकार का अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है, उसीका नाम समाधि है । जिस आत्मा को पहले केवल-ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, यदि उत्पन्न हो जाय तो वह केवल-ज्ञान द्वारा लोकालोक को देखता है, इससे आत्मा को पूर्ण समाधि आजाती है । यदि इस आत्मा को केवल-दर्शन, जो पहले कभी उत्पन्न नहीं हुआ, उत्पन्न हो जाय तो वह उस दर्शन के द्वारा लोकालोक को देखता है, इससे उसको पूर्ण समाधि उत्पन्न हो जाती है । अनन्त बार जन्म-मरण के बन्धन में आने से आत्मा दुःखों से विमुक्त नहीं हो सका, यदि केवल-ज्ञान-युक्त मृत्यु होजाय तो आत्मा सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है, इससे पूर्णानन्द पद की प्राप्ति हो सकती है और इससे उच्च सादि अनन्त पद की उपलब्धि भी होती है । यही दसवां समाधि-स्थान है । यही

सर्वोत्तम भी है । किन्तु इन दशों स्थानों के ध्यान पूर्वक अवलोकन से भली भांति सिद्ध होता है कि धर्म-चिन्ता करने से ही मोक्ष-पद की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि शेष सब स्थान उसीके अनन्तर हो सकते हैं, अतः आत्म-समाधि प्राप्त करने के लिए प्रत्येक प्राणी को धर्म-चिन्ता करनी चाहिए ।

अब सूत्रकार उक्त समाधि-स्थानों का पद्यों में वर्णन करते हुए कहते हैं :—

ओयं चित्तं समादाय झाणं समुप्पज्जइ ।
धम्मे ठिओ अविमणो निव्वाणमभिगच्छइ ॥ १ ॥

ओजश्चित्तं समादाय ध्यानं समुत्पद्यते ।
धर्मे स्थितोऽविमना निर्वाणमभिगच्छति ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—**ओयं**—निर्मल (राग-द्वेष-रहित) **चित्तं**—चित्त को **समादाय**—ग्रहण कर **झाणं**—धर्म-ध्यानादि **समुप्पज्जइ**—उपार्जन करता है **धम्मे**—धर्म में **ठिओ**—स्थित होकर **अविमणो**—शङ्का-रहित **निव्वाणं**—निर्वाण-पद को **अभिगच्छइ**—प्राप्त करता है ।

मूलार्थ—राग और द्वेष से रहित चित्त धारण करने से आत्मा धर्म-ध्यानादि की प्राप्ति करता है और शङ्का-रहित धर्म में स्थित हुआ निर्वाण-पद की प्राप्ति करता है ।

टीका—गद्य में संक्षेप रूप से दश समाधि-स्थानों का वर्णन कर अब सूत्रकार पद्यों से उनका विस्तृत वर्णन करते हैं । इस सूत्र में प्रथम स्थान का वर्णन किया गया है । जिसके चित्त में राग-द्वेष नहीं तथा जिसका चित्त कषाय और कालुष्य के परिणाम के अभाव से निर्मल और स्वच्छ है, वही आत्मा ध्यान की प्राप्ति कर सकता है तथा सर्व-वृत्ति-रूप और देश-वृत्ति-रूप धर्म में असन्दिग्ध भाव से स्थित होकर निर्वाण-पद की प्राप्ति कर लेता है । अतः समाधि के लिए ओजः—राग द्वेष रहित चित्त से ही प्रवृत्त होना चाहिए ।

अब सूत्रकार जाति-स्मरण-ज्ञान के विषय में कहते हैं :—

ण इमं चित्तं समादाय भुज्जो लोयंसि जायइ ।
अप्पणो उत्तमं ठाणं सन्नि-णाणेण जाणइ ॥ २ ॥

नेदं चित्तं समादाय भूयो लोके जायते ।
आत्मन उत्तमं स्थानं संज्ञि-ज्ञानेन जानाति ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**इमं**–इस प्रकार **चित्तं**–चित्त को **समादाय**–धारण कर वह **भुज्जो**–पुनः पुनः **लोयंसि**–लोक में **ण जायइ**–उत्पन्न नहीं होता किन्तु **अप्पणो**–अपने **उत्तमं**–उत्तम **ठाणं**–स्थान को **सन्नि-णाणेण**–संज्ञि-ज्ञान से **जाणइ**–जानता है।

मूलार्थ—इस प्रकार के चित्त को धारण कर आत्मा पुनः-पुनः लोक में उत्पन्न नहीं होता और अपने उत्तम स्थान को संज्ञि-ज्ञान से जान लेता है ।

टीका—जाति-स्मरण-रूप चित्त को धारण कर फिर आत्मा त्रस और स्थावर लोक में उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उक्त ज्ञान की सहायता से एक तो वह अपने पूर्व जन्मों को–जो संज्ञिरूप में हो चुके हैं–जानता है और दूसरे में अपना कर्तृत्व-भाव तथा भोग-कृत्व-भाव भी भली प्रकार जान लेता है ।

आत्मा का उत्तम स्थान समाधि है, जिसके द्वारा वह शिव-गति प्राप्त कर सकता है । सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र भी आत्मा का उत्तम स्थान है । इससे आत्मा निर्वाण-पद प्राप्त कर सकता है और जाति-स्मरण ज्ञान से उत्तम स्थान जान सकता है । अथवा संयम के असंख्यात स्थानों में से विशुद्ध स्थान ही उत्तम स्थान हैं उनको ज्ञान द्वारा जान लेता है ।

अब सूत्रकार यथार्थ स्वप्न के विषय में कहते हैं :—

अहातच्चं तु सुमिणं खिप्पं पासेति संवुडे ।
सव्वं वा ओहं तरति दुक्ख-दोय विमुच्चइ ॥ ३ ॥

यथातथ्यं तु स्वप्नं क्षिप्रं पश्यति संवृतः ।
सर्वं वौघं तरति दुःख-द्वयेन विमुच्यते ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**अहातच्चं**–यथातथ्य **सुमिणं**–स्वप्न को **संवुडे**–संवृतात्मा **पासइ**–देखता है । वह **सव्वं**–सब प्रकार से **ओहं**–संसार रूपी समुद्र को **खिप्पं**–शीघ्र ही **तरति**–पार करता है और **दुक्ख-दोय**–दो प्रकार के दुःखों से **विमुच्चइ**–छूट जाता है **तु**–शब्द शीघ्र फल प्राप्ति का बोधक है और **वा**–विकल्पार्थक ।

मूलार्थ—संवृतात्मा यथातथ्य स्वप्न को देखकर शीघ्र ही सब प्रकार से संसार-रूपी समुद्र से पार हो जाता है और साथ ही शारीरिक और मानसिक दुःखों से भी छूट जाता है ।

टीका—इस सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि यथार्थ स्वप्न किसको आता है और उसका क्या परिणाम होता है ? जैसे संयत (इन्द्रिय और मन की दुष्प्रवृत्तियों को हर प्रकार से रोकने वाला) आत्मा ही यथार्थ स्वप्न देखता है और उसका फल भी उसको शीघ्र ही मिल जाता है । स्वप्न-दर्शन के प्रताप से वह आत्मा, व्यवहार नय के अनुसार, सब प्रकार से संसार-रूपी समुद्र से पार हो जाता है और साथ ही शारीरिक तथा मानसिक साता और असाता (दुःखादुःख) या आठ प्रकार के कर्म-बन्धन से छूट जाता है ।

प्रश्न हो सकता है कि क्या स्वप्न के फल से आत्मा को मोक्ष की उपलब्धि हो सकती है ? उत्तर में कहा जाता है कि सूत्रोक्त कथन व्यवहार नय के ही अनुसार किया गया है, जैसे—जिस ने अत्यन्त कठिन तप से अपनी आत्मा को शुद्ध किया है वही इस प्रकार के स्वप्नों को देखता है जिनका फल अन्तिम निर्वाण-पद की प्राप्ति हो । यथार्थ स्वप्न देखने से उसको समाधि आ जाती है । यही सिद्ध करने के लिए यहां पर कहा गया है कि यथार्थ स्वप्न देखने के माहात्म्य से आत्मा सब दुःखों से तथा घोर संसार-सागर से तर जाता है । श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी भी दश स्वप्नों के दर्शन से संसार-रूपी समुद्र से पार हुए थे । किन्तु ध्यान रहे कि इस प्रकार के स्वप्न संवृत या संयत आत्माओं को ही आ सकते हैं ।

अब सूत्रकार देव-दर्शन के विषय में कहते हैं :—

पंताइं भयमाणस्स विवित्तं सयणासणं ।
अप्पाहारस्स दंतस्स देवा दंसति ताइणो ॥ ४ ॥

प्रान्तानि भजमानस्य विविक्तं शयनासनम् ।
अल्पाहारस्य दान्तस्य देवा दृश्यन्ते तायिनः ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**पंताइं**–अन्त प्रान्त आहार को **भयमाणस्स**–सेवन करने वाले **विवित्तं**–स्त्री, पशु और पंडक रहित **सयणासणं**–शयन और आसन के सेवन करने वाले और **अप्पाहारस्स**–अल्पाहारी और **दंतस्स**–इन्द्रियों को दमन करने वाले **ताइणो**–षट्काय के जीवों की रक्षा करने वाले को **देवा**–देव **दंसेति**–दर्शन देते हैं ।

मूलार्थ—अल्प (कम मात्रा में) आहार करने वाले, अन्त-प्रान्त (साधारण) भोजन करने वाले, स्त्री, पशु, पंडक (नपुंसक) से रहित शय्या और आसन ग्रहण करने वाले, इन्द्रियों के दमन करने वाले तथा षट्काय जीवों की रक्षा करने वाले आत्मा को देव-दर्शन होता है ।

टीका—इस सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि जो साधु नीरस और पुराने धान्य का आहार करने वाला है तथा अल्पाहार करने वाला है, पांच इन्द्रिय और मन का निरोध करने वाला है, स्त्री, पशु और पण्डक रहित शय्या और आसन सेवन करने वाला है और षट्काय जीवों की रक्षा करने वाला है, उसी को देव-दर्शन हो सकते हैं । शान्त-चित्त, मेधावी तथा गाम्भीर्यादि और पूर्वोक्त सब गुणों से युक्त मुनि को देव-शक्ति अपनी ऋद्धि और तप तथा संयम के शुभ फल दिखाती है । उनके सामने देवता नृत्य आदि क्रियाएं करते हैं । इससे चित में समाधि आती है और प्रसन्नता होती है, क्योंकि देवों का जैसा वर्णन शास्त्रों से श्रवण किया जाता है वैसा ही यदि आंखों के सामने आ जाय तो चित्त अनायास ही उनकी ओर झुक कर समाधि प्राप्त करेगा । अतः सिद्ध हुआ कि देव-दर्शन की इच्छा करने वाले व्यक्ति को सब से पहिले पूर्वोक्त सब गुण धारण करने चाहिएं, क्योंकि यह सर्व-सम्मत है कि साधनों के होने पर ही साध्य की प्राप्ति हो सकती है । इस समाधि के प्रकरण से ही बहुत से लोगों ने भगवद्-दर्शन और ईश्वर-दर्शन की भी कल्पना की है किन्तु वह वास्तव में देव-दर्शन ही होता है ।

संस्कृतानुवाद में प्रकरण को देखकर दूसरे पाद का अनुवाद 'विविक्त-

शयनासनस्य' होता तो अच्छा था किन्तु हमने उसका यहां पर केवल अक्षरानुवाद ही कर दिया है । इसी प्रकार अन्यत्र जहां कहीं ऐसा हो गया हो पाठकों को स्वयं देख लेना चाहिए ।

अब सूत्रकार अवधि-ज्ञान का विषय वर्णन करते हैं :—

सव्व-काम-विरत्तस्स खमणो भय-भेरवं ।
तओ से ओही भवइ संजयस्स तवस्सिणो ॥ ५ ॥

सर्व-काम-विरक्तस्य क्षमणस्य भय-भैरवे ।
ततस्तस्यावधिर्भवति संयतस्य तपस्विनः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—**सव्व**–सर्व **काम**–भोग-इच्छा से **विरत्तस्स**–निवृत्ति करने वाले **भय**–भयोत्पादक **भेरवं**–भयावह परिषहों (अकस्मात् आ पड़ने वाली विपत्ति, भूख प्यास आदि) के **खमणो**–सहन करने वाले **तओ**–तदनु **संजयस्स**–निरन्तर संयम करने वाले और **तवस्सिणो**–तप करने वाले **से**–उस मुनि को **ओही**–अवधि-ज्ञान **भवइ**–उत्पन्न हो जाता है ।

मूलार्थ—सम्पूर्ण इन्द्रिय सुख की इच्छाओं से विरत, भयङ्कर से भयङ्कर कष्टों के सहन करने वाले, निरन्तर यत्न और संयम के पालन करने वाले और तप करने वाले मुनि को अवधि-ज्ञान हो जाता है ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि इस लोक और परलोक से सम्बन्ध करने वाले जिस व्यक्ति ने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द सम्बन्धी पांच काम-भोगों की अभिलाषा छोड़ दी हो, जो भयङ्कर से भयङ्कर कष्टों को सहन करने वाला अर्थात् देव-कृत उपसर्ग (आपत्ति) आदि का सहन करने वाला हो, सम्पूर्ण सत्रह भेद सहित संयम-क्रियाओं का पालन करने वाला हो, बारह प्रकार के तप का साधन करने वाला हो और निरन्तर यत्न-शील हो उसी को अवधि-ज्ञान होता है । इस अवधि-ज्ञान के द्वारा वह समग्र लौकिक मूर्त पदार्थों को देखता है और उससे उसके चित्त में शान्त-रसमयी समाधि का सञ्चार होता है । किन्तु यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि उक्त-गुण-सम्पन्न व्यक्ति को

ही अवधि-ज्ञान और उसकी सहायता से पैदा होने वाली समाधि की प्राप्ति हो सकती है, अतः उक्त गुणों के सञ्चय के लिए पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए ।

अब सूत्रकार अवधि-दर्शन का विषय वर्णन करते हैं :—

तवसा अवहट्टुलेस्सस्स दंसणं परिसुज्झइ ।
उड्ढं अहे तिरियं च सव्वमणुपस्सति ॥ ६ ॥

तपसापहृत-लेश्यस्य दर्शनं परिशुद्धयति ।
ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च सर्वमनुपश्यति ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**तवसा**—तप से **अवहट्टु-लेस्सस्स**—जिसने कृष्णादि अशुभ लेश्याओं को नाश या दूर किया हो उसका **दंसणं**—अवधि-दर्शन **परिसुज्झइ**—शुद्ध (निर्मल) हो जाता है और फिर वह **उड्ढं**—ऊर्ध्व-लोक **अहे**—अधोलोक **च**—और **तिरियं**—तिर्यक्-लोक में रहने वाले जीवादि पदार्थों को **सव्वं**—सब प्रकार से **अणुपस्सति**—देखता है ।

मूलार्थ—जिसने अशुभ लेश्याओं को तप से दूर किया है उसका अवधि-दर्शन निर्मल हो जाता है और फिर वह ऊर्ध्व-लोक, अधो-लोक और तिर्यक्-लोक में रहने वाले जीवादि पदार्थों को सब तरह से देखने लगता है ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि जिस व्यक्ति ने कृष्णादि अशुभ लेश्याओं को आत्म-प्रदेशों से दूर कर तप द्वारा उनकी शुद्धि की हो उसके आत्मा का अवधि-दर्शन निर्मल होजाता है और उस दर्शन की सहायता से वह ऊर्ध्व लोक, अधोलोक और तिर्यक् लोक में रहने वाले जीवादि पदार्थों के स्वरूप को सब तरह से देखने लग जाता है, क्योंकि जिस आत्मा से अवधि-दर्शनावरणीय कर्म दूर हो जाता है उसका 'दर्शन' स्वभावतः निर्मल हो जाता है ।

इस सूत्र से भली भांति ज्ञात होता है कि अशुभ लेश्याओं को दूर करने और तप द्वारा आत्म-शुद्धि करने से ही आत्मा निर्मल होता है ।

अब सूत्रकार मनःपर्यव-ज्ञान का विषय वर्णन करते हैं :—

सुसमाहिएलेस्सस्स अवितक्कस्स भिक्खुणो ।
सव्वतो विप्पमुक्कस्स आया जाणाइ पज्जवे ॥ ७ ॥

सुसमाहित-लेश्यस्य अवितर्कस्य भिक्षोः ।
सर्वतो विप्रमुक्तस्य आत्मा जानाति पर्यवान् ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**सुसमाहिए-लेस्सस्स**—जो भली प्रकार स्थापित शुभ लेश्याओं को धारण करने वाला है, **अवितक्कस्स**—फल की इच्छा नहीं करता, **भिक्खुणो**—भिक्षाचरी द्वारा निर्वाह करता है और **सव्वतो**—सब प्रकार से **विप्पमुक्कस्स**—बन्धनों से मुक्त है वह **आया**—आत्मा **पज्जवे**—मन के पर्यवों को **जाणइ**—जानता है ।

मूलार्थ—शुभ लेश्याओं को धारण करने वाला, निश्चल-चित्त, भिक्षा-चरी से निर्वाह करने वाला और सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त आत्मा मन के पर्यवों (उत्तरोत्तर अवस्था अथवा रूपान्तर) को जान सकता है । अर्थात् उसी को मनः-पर्यव-ज्ञान हो सकता है ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि जिस आत्मा के भावों में तेजः, पद्म और शुक्ल लेश्याएं विद्यमान हैं, जिस आत्मा में निश्चल और दृढ़ विश्वास है, जो सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त है और जो भिक्षाचरी से निर्वाह करने वाला है उसीको मनः-पर्यव-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, जिससे वह मन के पर्यायों का ज्ञान कर सकता है । इससे इसका भी स्पष्ट ज्ञान होता है कि जिस आत्मा के अन्तःकरण में शुभ (तेजः, पद्म और शुक्ल) लेश्याएं वर्तमान हों उसीको सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप सम्बन्धी समाधि उत्पन्न हो सकती है । जिस आत्मा में पूर्वोक्त समाधि का उदय होता है उसीको मनः-पर्यव-ज्ञान समाधि का लाभ हो सकता है ।

यह जिज्ञासा हो सकती है कि "अवितर्क" शब्द का अर्थ क्या है ? समाधान में कहा जाता है कि 'तर्क' मीमांसा (विचारणा—संशय) को कहते हैं । जिसके चित्त में संशय के दूर होजाने से दृढ़ विश्वास हो गया हो अथवा जिसके चित्त से ऐह-लौकिक (इस लोक से सम्बन्ध रखने वाली) और पार-लौकिक (पर-लोक से

सम्बन्ध रखने वाली) वासनाएं नष्ट हो गई हों अर्थात् जिस आत्मा को उभय-लोक-सम्बन्धी सुखों की इच्छा नहीं उसी को 'अवितर्क' कहते हैं । अथवा शुक्ल-ध्यान के द्वितीय चरण का नाम 'अवितर्क' है। उस ध्यान के करने वाला साधु 'अवितर्क' कहलाता है । 'अर्ध-मागधी-कोष' में इसका अर्थ निम्न-लिखित व्युत्पत्ति से किया गया है :—

"अवितर्क–न विद्यते वितर्कोऽश्रद्धानक्रियाफलं देहरूपो यस्य भिक्षोः सोऽवितर्कः" अर्थात् कुतर्क-रहित साधु 'अवितर्क' कहलाता है ।

अब सूत्रकार केवल-ज्ञान का विषय वर्णन करते हैं :—

जया से णाणावरणं सव्वं होइ खयं गयं ।
तओ लोगमलोगं च जिणो जाणति केवली ॥ ८ ॥

यदा तस्य ज्ञानावरणं सर्वं भवति क्षयं गतम् ।
ततो लोकमलोकञ्च जिनो जानाति केवली ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**जया**–जिस समय **से**–उस मुनि का **णाणावरणं**–ज्ञानावरणीय कर्म **सव्वं**–सब प्रकार **खयं गयं**–क्षय-गत **होइ**–होता है **तओ**–उस समय **लोगं**–लोक **च**–और **अलोगं**–अलोक को **जिणो**–जिन भगवान् **केवली**–केवली होकर **जाणति**–जानता है ।

मूलार्थ—जिस समय मुनि का ज्ञानावरणीय कर्म सब प्रकार से क्षय-गत (नष्ट) हो जाता है, उस समय वह मुनि जिन भगवान् या केवली होकर लोक और अलोक को जानता है ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि जिस पूर्वोक्त-गुण-सम्पन्न मुनि के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चारों घातक कर्म क्षय-गत हो जाते हैं, वह जिन भगवान् हो जाता है तथा केवल ज्ञान धारण करने के कारण उसकी 'केवली' संज्ञा हो जाती है, तब वह अपने ज्ञान से लोक और अलोक दोनों को जानने वाला होता है । अर्थात् सब कर्मों के क्षय होने के कारण वह सर्वज्ञ होकर सम्पूर्ण मूर्त और अमूर्त पदार्थों को जानने लगता है । इसके अतिरिक्त

वह केवल-ज्ञान की समाधि में निमग्न हो जाता है और वह समाधि अच्युत होती है।

अब सूत्रकार केवल-दर्शन का विषय कहते हैं :—

जया से दरसणावरणं सव्वं होइ खयं गयं ।
तओ लोगमलोगं च जिणो पासति केवली ॥ ९ ॥

यदा तस्य दर्शनावरणं सर्वं भवति क्षयं गतम् ।
ततो लोकमलोकञ्च जिनः पश्यति केवली ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—**जया**–जिस समय **से**–उस मुनि के **दरसणावरणं**–दर्शनावरणीय कर्म **सव्वं**–सब प्रकार से **खयं गयं**–क्षय-गत **होइ**–होते हैं **तओ**–उस समय वह मुनि **जिणो**–जिन भगवान् और **केवली**–केवल ज्ञान के उत्पन्न होने से **लोगं**–लोक **च**–और **अलोगं**–अलोक को **पासति**–देखने लगता है ।

मूलार्थ—जिस मुनि के दर्शनावरणीय कर्म सब प्रकार नष्ट हो जाते हैं उस समय वह जिन और केवली होकर लोक और अलोक को देखने वाला हो जाता है ।

टीका—इस सूत्र में सर्व-दर्शी का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जब गुण-सम्पन्न मुनि के दर्शनावरणीय कर्म सब प्रकार से नष्ट होजाते हैं तब वह मुनि जिन भगवान् हो जाता है और केवल-दर्शन की सहायता से लोक और अलोक को हस्तामलक के समान देखता है । ज्ञान और दर्शन में केवल इतना ही अन्तर है कि दर्शन सामान्यावबोध रूप होता है और ज्ञान विशिष्ट अवबोध रूप । दोनों की प्राप्ति होने पर आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है । फलतः वह सम्पूर्ण मूर्त और अमूर्त पदार्थों को जानने और देखने के योग्य हो जाता है और उससे वह पूर्ण समाधि प्राप्त करता है ।

अब सूत्रकार फिर उक्त विषय का ही विवरण करते हैं :—

पडिमाए विसुद्धाए मोहणिज्जं खयं गयं ।
असेसं लोगमलोगं च पासेति सुसमाहिए ॥ १० ॥

प्रतिमायां विशुद्धायां मोहनीये क्षयं गते ।
अशेषं लोकमलोकञ्च पश्यति सुसमाहितः ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**पडिमाए**–प्रतिज्ञा के **विसुद्धाए**–शुद्ध आराधन किये जाने पर **मोहणिज्जं**–मोहनीय कर्म के **खयं गयं**–क्षय होने पर **सुसमाहिए**–सुसमाहितात्मा **असेसं**–सम्पूर्ण **लोगं**–लोक च–और **अलोगं**–अलोक को **पासेति**–देखता है ।

मूलार्थ—प्रतिज्ञा के शुद्ध आराधन किये जाने पर और मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर सु-समाधिस्थ आत्मा सम्पूर्ण लोक और अलोक को देखता है ।

टीका—इस सूत्र में मोहनीय कर्म के क्षय होने से उत्पन्न होने वाले सर्व-दर्शन का वर्णन किया गया है । जैसे–जिस मुनि ने साधु की मासिकी आदि बारह प्रतिज्ञाओं का ठीक २ पालन किया हो और साधु वेष में रहकर अपने सब नियमों का भी दृढ़ रहा हो अथवा प्रतिज्ञात पञ्च-महाव्रतों का निरतिचार-पूर्वक आसेवन करता रहा हो, उसके मोहनीय कर्म सर्वथा क्षय हो जाते हैं और उससे वह चारित्र-समाधि-युक्त होता हुआ सम्पूर्ण लोक और अलोक को देखता है; क्योंकि मोहनीय कर्म का उदय भी सर्व-दर्शी होने में रुकावट पैदा करता है । जब उसका सर्वथा क्षय हो जाएगा तो आत्मा अवश्य ही सर्व-दर्शी हो जाएगा किन्तु ध्यान रहे कि सर्व-दर्शी बनने के लिए शुद्ध अध्यवसायों से साधु की बारह प्रतिज्ञाएं और पञ्च-महाव्रतों का निरतिचार पालन करना चाहिए ।

सूत्रकार पुनः उक्त विषय का ही विवरण करते हैं :—

जहा मत्थय सूइए हंताए हम्मइ तले ।
एवं कम्माणि हम्मंति मोहणिज्जे खयं गए ॥ ११ ॥

यथा मस्तके सूच्याः हते हन्यते तलः ।
एवं कर्माणि हन्यन्ते मोहनीये क्षयं गते ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**–जैसे **मत्थय**–मस्तक में **सूइए**–सूची (सुई) से **हंताए**–छेद किये जाने पर **तले**–ताल-वृक्ष **हम्मइ**–गिर पड़ता है **एवं**–इसी प्रकार

मोहणिज्जे–मोहनीय कर्म के खयं गए–क्षय होजाने पर कम्माणि–शेष कर्म भी हम्मंति–नष्ट हो जाते हैं ।

मूलार्थ—जिस प्रकार ताल-वृक्ष अग्र भाग के किसी तीक्ष्ण शस्त्र से छेदन किये जाने पर नीचे गिर पड़ता है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर शेष सब कर्म भी नष्ट हो जाते हैं ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि एक मोहनीय कर्म के नाश होजाने पर शेष सब कर्म नष्ट हो जाते हैं । उक्त विषय को उपमा द्वारा पुष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार एक ताल-वृक्ष केवल अग्र-भाग के सूची सदृश तीक्ष्ण शस्त्र से छेदन किये जाने से सारे का सारा नष्ट हो जाता है इसी प्रकार प्रमुख मोहनीय कर्म के क्षय होने पर शेष ज्ञानावरणीय और अन्तराय आदि घातक कर्म भी नष्ट हो जाते हैं ।

श्लोक के पूर्वार्द्ध का कोई यह अर्थ करना चाहें कि सूची के समान पत्तों के छिन्न होजाने पर ताल-वृक्ष वृक्षत्व ही छोड़ देता है तो ठीक प्रतीत नहीं होता । दिखाना तो केवल इतना ही है कि ताल-वृक्ष के मुख्य भाग के किसी शस्त्रादि से काटे जाने पर वृक्ष नष्ट ही हो जाता है, तभी उपमा भी घट सकती है ।

जिस प्रकार मनुष्य के मस्तक के कट जाने पर शेष सब अङ्ग आत्मा और प्राण-वायु से शून्य हो जाते हैं, वृक्ष की जड़ कट जाने पर शेष सम्पूर्ण वृक्ष नीचे गिर जाता है, इसी प्रकार मोहनीय (अज्ञानता) कर्म के क्षय होजाने पर शेष सब कर्मों का तत्काल ही नाश हो जाता है । सूची शब्द यहां सुई के समान तीक्ष्ण शस्त्र का वाचक है ।

सूत्रकार पुनः उक्त विषय का ही वर्णन करते हैं :—

सेणावतिंमि निहते जहा सेणा पणस्सति ।
एवं कम्माणि णस्संति मोहणिज्जे खयं गए ॥१२॥

सेनापतौ निहते यथा सेना प्रणश्यति ।
एवं कर्म्माणि नश्यन्ति मोहनीये क्षयं गते ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**–जैसे **सेणावतिंमि**–सेनापति के **निहते**–मारे जाने पर **सेणा**–सेना **पणस्सति**–नाश होजाती है **एवं**–इसी प्रकार **मोहणिज्जे**–मोहनीय कर्म के **खयं गए**–नाश होने पर **कम्माणि**–शेष सब कर्म **णस्संति**–नाश हो जाते हैं।

मूलार्थ—जैसे सेनापति के मारे जाने पर सारी सेना भाग जाती है इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर शेष सब कर्मों का नाश हो जाता है।

टीका—इस सूत्र में भी पूर्वोक्त विषय पूर्व-सूत्रोक्त रीति से अर्थात् उपमा द्वारा ही प्रतिपादन किया गया है। जैसे—संग्राम में सेनापति के मारे जाने पर जिस प्रकार शेष सेना युद्ध क्षेत्र से नष्ट हो जाती है अर्थात् युद्ध छोड़कर भाग जाती है इसी प्रकार मोहनीय कर्म के नाश होजाने पर शेष कर्म-समूह भी नाश हो जाता है।

इन दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि सब कर्मों में मोहनीय कर्म ही प्रधान है, जिसके नाश होजाने पर शेष कर्म सुगमतया नाश हो जाते हैं। अतः सबसे पहले इसीके नाश करने का उपाय करना चाहिए।

सूत्रकार पुनः उक्त विषय का ही वर्णन करते हैं :—

धूम-हीणो जहा अग्गी खीयति से निरिंधणे।
एवं कम्माणि खीयंति मोहणिज्जे खयं गए॥ १३॥

धूम-हीनो यथाग्निः क्षीयतेऽसौ निरिन्धनः।
एवं कर्माणि क्षीयन्ते मोहनीये क्षयं गते॥ १३॥

पदार्थान्वयः—**जहा**–जैसे **से**–वह (प्रसिद्धि दिखाने के लिए यहां इसका प्रयोग किया गया है इससे लोक-प्रसिद्ध अग्नि यह अर्थ निकलता है) **अग्गी**–अग्नि **निरिंधणे**–इन्धन के अभाव में **धूम-हीणो**–धूम रहित होकर **खीयति**–क्षय को प्राप्त हो जाती है **एवं**–इसी प्रकार **मोहणिज्जे**–मोहनीय कर्म के **खयं गए**–क्षय हो जाने पर **कम्माणि**–शेष सब कर्म **खीयंति**–नाश हो जाते हैं।

मूलार्थ—जैसे धूम रहित अग्नि इन्धन के अभाव से क्षय हो जाती है इसी प्रकार मोहनीय कर्म के नाश होने पर शेष सब कर्म भी नाश हो जाते हैं।

टीका—पूर्वोक्त सूत्रों के समान इस सूत्र में भी पूर्वोक्त विषय उपमा से

ही प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार धूम-रहित अग्नि इन्धन के अभाव से अपने आप क्षय हो जाती है इसी प्रकार केवल एक मोहनीय कर्म के नाश होने पर शेष सब कर्म अनायास ही नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि सब कर्मों में मोहनीय कर्म ही प्रमुख है और प्रमुख के नाश होने पर गौण की सत्ता नहीं रह सकती।

"इन्धयति दीपयति अग्निमिति–इन्धनः–काष्ठ-तृणादिकम्" अर्थात् जो अग्नि को प्रचण्ड करता है उसको इन्धन कहते हैं, जब इन्धन अग्नि में न डाला जायगा तो वह स्वतः शान्त हो जायगी, इसी प्रकार मोहनीय कर्म के उत्पादक कारणों को छोड़ने से वह भी स्वतः नाश हो जायगा।

सूत्रकार पुनः उक्त विषय का ही विवरण करते हैं :—

सुक्क-मूले जहा रुक्खे सिंचमाणे ण रोहति ।
एवं कम्मा ण रोहंति मोहणिज्जे खयं गए ॥ १४ ॥

शुष्क-मूलो यथा वृक्षः सिच्यमानो न रोहति ।
एवं कर्माणि न रोहन्ति मोहनीये क्षयं गते ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**–जैसे **सुक्क-मूले**–शुष्क-मूल **रुक्खे**–वृक्ष **सिंचमाणे**–जल से सिञ्चन किए जाने पर भी **ण रोहति**–पुनः अङ्कुरित नहीं होता **एवं**–इसी प्रकार **मोहणिज्जे**–मोहनीह कर्म के **खयं गए**–क्षय होजाने पर **कम्मा**–शेष सब कर्म भी **ण रोहंति**–उत्पन्न नहीं होते।

मूलार्थ—जैसे शुष्क वृक्ष जल से सिञ्चन किये जाने पर अङ्कुरित नहीं होता इसी प्रकार मोहनीय कर्म के नष्ट होने पर अन्य कर्म भी उत्पन्न नहीं होते।

टीका—इस सूत्र में भी सूत्रकार ने उपमा का ही आश्रय लिया है। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ सूख जाने पर जल-सिञ्चन से भी वह पुनः अंकुरित नहीं होता इसी प्रकार मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय होने पर अन्य कर्म उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि संसार में जन्म-मरण-संतति मोहनीय कर्म द्वारा ही होती है, जब मूल का ही नाश हो जायगा तो भव-रूपी अंकुर कभी भी उत्पन्न न हो सकेंगे,

अतः सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शनादि मोहनीय कर्म के नाशक कारणों का सदैव आराधन करना चाहिए ।

सूत्रकार पुनः उक्त विषय का ही विवरण करते हैं:—

जहा दड्ढाणं बीयाणं न जायंति पुण अंकुरा ।
कम्म-बीयेसु दड्ढेसु न जायंति भवंकुरा ॥१५॥

यथा दग्धानां बीजानां न जायन्ते पुनरङ्कुराः ।
कर्म-बीजेषु दग्धेषु न जायन्ते भवाङ्कुराः ॥१५॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे **दड्ढाणं**-जले हुए **बीयाणं**—बीजों से **पुण**—फिर **अंकुरा**—अंकुर **न जायन्ति**—उत्पन्न नहीं होते इसी प्रकार **कम्म-बीएसु**—कर्म-रूपी बीजों के **दड्ढेसु**—जल जाने पर **भवंकुरा**—भवरूपी अंकुर **न जायंति**—उत्पन्न नहीं होते ।

मूलार्थ—जैसे दग्ध बीजों से अङ्कुर उत्पन्न नहीं होते इसी प्रकार कर्म-बीजों के दग्ध होजाने पर जन्म-मरण-रूपी अङ्कुर नहीं हो सकते ।

टीका—इस सूत्र में भी उपमा द्वारा प्रतिपादन किया गया है कि मुक्त आत्माओं का पुनर्जन्म नहीं होता । जिस प्रकार दग्ध बीजों से अंकुर नहीं होते इसी प्रकार कर्म-रूपी बीजों के दग्ध होने पर भी जन्म-मरण-सम्बन्धी अङ्कुर उत्पन्न नहीं हो सकते । मोक्ष किसी कर्म विशेष का फल नहीं प्रत्युत कर्म-क्षय की ही मोक्ष संज्ञा होती है । कर्म ही एक कारण है जिससे आत्मा को पुनः-पुनः संसार-चक्र में आना पड़ता है । यदि इस मूल कारण (कर्म) को जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया जायगा तो आत्मा निज स्वरूप में प्रविष्ट होकर निःसन्देह निर्वाण-पद की प्राप्ति कर सकेगा । अतः सांसारिक सुख, दुःख, भय, चिंता आदि से छुटकारा पाने के लिए कर्म-बीजों के नाश के लिये सदैव प्रयत्न-शील होना चाहिए ।

इस सूत्र में—'दग्धेभ्यः बीजेभ्यः' पञ्चमी के स्थान पर 'दग्धानां बीजानां' षष्ठी का प्रयोग भी इस बात को सिद्ध करता है कि आत्मा स्वयं संसार-चक्र में फँसा हुआ नहीं है किन्तु कर्मों के फेर में आकर वह यहां फँस जाता है ।

अब सूत्रकार अन्तिम समाधि का विषय वर्णन करते हैं :—

चिच्चा औरालियं बोंदिं नाम-गोयं च केवली ।
आउयं वेयणिज्जं च छित्ता भवति नीरए ॥१६॥

त्यक्त्वौदारिकं बोंदिं नाम-गोत्रं च केवली ।
आयुष्कं वेदनीयं च छित्त्वा भवति नीरजः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**औरालियं**–औदारिक **बोंदिं**–शरीर को **च**–और **नाम-गोयं**–नाम-गोत्र कर्म को **चिच्चा**–छोड़कर **आउयं**–आयुष्कर्म **च**–और **वेयणिज्जं**–वेदनीय कर्म को **छित्ता**–छेदन कर **केवली**–केवली भगवान् **नीरए**-कर्म-रज से रहित **भवति**–होता है ।

मूलार्थ—औदारिक शरीर को त्याग कर तथा नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्मों का छेदन कर केवली भगवान् कर्म-रज से सर्वथा रहित हो जाता है ।

टीका—इस सूत्र में अन्तिम, दशवीं, समाधि का वर्णन किया गया है । जैसे—जब अन्त्य समय आता है उस समय केवली भगवान् औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरों को तथा नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्मों को अपने आत्म-प्रदेशों से पृथक् कर, फलतः कर्म-रज से रहित होकर मोक्ष प्राप्त करता है और उससे फिर सादि अनन्त पद की प्राप्ति हो जाती है और वह पवित्रात्मा तब सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, अजर, अमर, नित्य, शाश्वत आदि अनेक नामों से विभूषित होता है ।

किन्तु ध्यान रहे कि यह दश प्रकार की समाधि केवल धर्म-चिन्ता के ऊपर ही निर्भर है, अतः समाधि-इच्छुक व्यक्ति को सब से पहिले धर्म-चिन्ता ही करनी चाहिए । धर्म-चिन्ता या अनुप्रेक्षा ही एक प्रकार से मोक्ष-द्वार है । इसके द्वारा आत्मा अनादि काल के अनादि कर्म-बन्धन से छूटकर निर्वाण-पद प्राप्त करता है ।

अब सूत्रकार उक्त विषय का उपसंहार करते हुए प्रस्तुत दशा की समाप्ति करते हैं :—

एवं अभिसमागम्म चित्तमादाय आउसो ।
सेणि-सुद्धिमुवागम्म आया सुद्धिमुवागई ॥१७॥
त्ति बेमि ।

इति पंचमा दसा समत्ता ।

एवमभिसमागम्य चित्तमादाय, आयुष्मन् !
श्रेणि-शुद्धिमुपागम्य आत्मा शुद्धिमुपागच्छति ॥ १७ ॥
इति ब्रवीमि ।

इति पञ्चमी दशा समाप्ता ।

पदार्थान्वयः—**आउसो**–हे आयुष्मन् शिष्य ! **एवं**–इस प्रकार **अभिसमागम्म**–जानकर **चित्तं**–(राग और द्वेष से रहित) अन्तःकरण को **आदाय**–धारण कर **सेणि-सुद्धिं**–ज्ञान और दर्शन की शुद्ध श्रेणि को **उवागम्म**–प्राप्त कर **आया**–आत्मा **सुद्धिं**–शुद्धि **उपागई**–प्राप्त कर लेता है । **त्ति बेमि**–इस प्रकार मैं कहता हूं । **इति**–इस प्रकार **पंचमा**–पांचवीं **दसा**–दशा **समत्ता**–समाप्त हुई ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् शिष्य ! इस प्रकार (समाधि के भेदों को) जान कर, राग और द्वेष से रहित चित्त को धारण कर और शुद्ध श्रेणि को प्राप्त कर आत्मा शुद्धि को प्राप्त करता है अर्थात् मोक्ष-पद को प्राप्त कर लेता है ।

टीका—इस सूत्र में प्रस्तुत दशा की समाप्ति की गई है । उपसंहार में शिष्य को आमन्त्रित करते हुए कहा गया है "हे आयुष्मन् शिष्य ! राग और द्वेष से रहित चित्त को धारण करके आत्म-शुद्धि करनी चाहिए, क्योंकि आत्म-शुद्धि के प्रमुख बाधक राग और द्वेष ही हैं । यदि ये दोनों अन्तःकरण से निकल जायंगे तो आत्मा स्वयमेव शुद्ध हो जायगा । इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त दश प्रकार के समाधि-स्थानों को भली भांति जानकर और इनके स्वरूप को ज्ञान द्वारा देखकर ज्ञान, दर्शन और चरित्र द्वारा आत्म-शुद्धि करनी चाहिए" ।

'चित्त' शब्द ज्ञानार्थक भी है, अतः शुद्ध चित्त अर्थात् ज्ञान द्वारा आत्म-शुद्धि करनी चाहिए।

सूत्र में बताया गया है कि शुद्ध श्रेणि प्राप्त कर आत्मा शुद्धि को प्राप्त होता है। श्रेणि दो प्रकार की वर्णन की गई है, द्रव्य-श्रेणि और भाव-श्रेणि। इनमें द्रव्य-श्रेणि प्रासादादि के आरोहण के लिए बनी हुई सीढ़ियों की पङ्क्ति के लिए कहते हैं। भाव-श्रेणि पुनः दो प्रकार की होती है, विशुद्ध भाव-श्रेणि और अविशुद्ध भाव-श्रेणि। अविशुद्ध भाव-श्रेणि के द्वारा आत्मा संसार-चक्र में भ्रमण करता है और विशुद्ध-भाव-श्रेणि से मोक्ष की ओर जाता है। अतः विशुद्ध भाव-श्रेणि ही कर्म-मल को हटाने में समर्थ हो सकती है। सूत्र में भी कहा गया है "अकडेवर सेणि मुसिया" इत्यादि। अतः यह सिद्ध हुआ कि शुद्ध श्रेणि ही कर्म-मल को दूर कर सकती है और उससे शुद्ध होकर आत्मा मोक्ष-पद की प्राप्ति करता है।

सम्पूर्ण सूत्र का निष्कर्ष यह निकला कि सब से पहिले दश समाधि-स्थानों के स्वरूप भली प्रकार जान लेने चाहिएं, फिर उनसे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की शुद्धि कर श्रेणि-शुद्धि की सहायता से आत्म-शुद्धि प्राप्त करे। शुद्धि प्राप्त करने पर आत्मा मोक्ष-पद की प्राप्ति करता है।

इस प्रकार श्री सुधर्मा स्वामी जी अपने शिष्य जम्बू स्वामी जी से कहते हैं "हे शिष्य ! जिस प्रकार मैंने इस दशा का अर्थ श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के मुखारविन्द से श्रवण किया था उसी प्रकार तुम्हारे प्रति कहा है, किन्तु मैंने अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहा"।

पञ्चमी दशा समाप्ता।

षष्ठी दशा

पांचवीं दशा में दश समाधियों का वर्णन किया गया है । संसार में समाधि प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है । साधु-वृत्ति से समाधि प्राप्त करना अति उत्तम है, किन्तु यह सम्भव नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति साधु-वृत्ति से ही समाधि प्राप्त कर सके । संसार में अधिक संख्या ऐसे व्यक्तियों की है जो साधनाभाव से साधु-वृत्ति ग्रहण नहीं कर सकते, अतः उनको उचित है कि वे श्रावक-वृत्ति से उसकी (समाधि की) प्राप्ति करें । इस छठी दशा में पांचवीं दशा से सम्बन्ध रखते हुए सूत्रकार श्रावक की एकादश प्रतिमाओं (प्रतिज्ञाओं) का वर्णन करते हैं । यही इसका विषय भी है ।

इन प्रतिमाओं को उपासक-प्रतिमा भी कहते हैं । साधुओं के समीप जो धर्म-श्रवण की इच्छा से बैठे उसको उपासक कहते हैं, जैसे–"उप–समीपम् आस्ते–निषीदति धर्मश्रवणेच्छया साधूनामिति—उपासकः" उपासक—द्रव्य, तदर्थ, मोह और भाव भेद से चार प्रकार के होते हैं । इन के लक्षण निम्न-लिखित है :—

१. **द्रव्योपासक**—उसको कहते हैं जिसका शरीर उपासक होने के योग्य हो, जिसने उपासक-भाव के आयुष्कर्म का बन्ध कर लिया हो तथा जिसके नाम-गोत्रादि कर्म उपासक-भाव के सम्मुख आगये हों ।

२. **तदर्थोपासक**—उसको कहते हैं जो किसी पदार्थ के मिलने की इच्छा रखता हो । वह इच्छा सचित्त, अचित्त और मिश्रित पदार्थों के भेद से तीन प्रकार की होती है । सचित्त पदार्थ भी द्विपद और चतुष्पद भेद से दो प्रकार के होते हैं ।

पुत्र, मित्र, भार्या और दास आदि के लिए जो इच्छा होती है, उसको 'द्विपद' कहते हैं और गो आदि पशुओं की इच्छा 'चतुष्पद' इच्छा कहलाती है। सारांश यह निकला कि जो व्यक्ति पुत्र, मित्र, धन, धान्य और गो आदि सांसारिक पदार्थ और जीवों की उत्कट इच्छा रखते हुए उनकी प्राप्ति के लिए उपासना करे उसको तदर्थोपासक कहते हैं।

३. **मोहोपासक**—उसे कहते हैं जो अपनी काम-वासनाओं को तृप्त करने के लिए युवा युवति और युवति युवा की उपासना करते हैं, परस्पर अन्ध-भाव से एक दूसरे की आज्ञा पालन करते हैं और एक दूसरे के न मिलने पर मोहवश प्राण तक न्योछावर कर देते हैं। ३६३ पाखंड मत मोहोपासक हैं। ऐसे व्यक्ति मोहनीय कर्म के उदय से सत्य पदार्थ को तो देख ही नहीं सकते, अतः मिथ्या-दर्शन को ही अपना सिद्धान्त बनाकर तल्लीन हो जाते हैं। इसी सिद्धान्त की उपासना को वे सब कुछ मान बैठते हैं। यही उनका स्वर्ग है यही उनका अपवर्ग (मोक्ष) है।

४. **भावोपासक**—उसको कहते हैं जो सम्यग् दृष्टि और शुभ परिमाणों से ज्ञान, दर्शन और चरित्रधारी श्रमण की उपासना करता है। श्रमण की उपासना केवल गुणों के लिए की जाती है, जिस प्रकार गाय की उपासना दूध के लिए। भावोपासक को ही श्रमणोपासक और श्रावक भी कहते हैं। जो धर्म को सुनता है और सुनाता है उसको श्रावक कहते हैं, जैसे—"शृणोति श्रावयति वा श्रावकः"।

यहां प्रश्न यह उठता है कि यदि सुनने और सुनाने वाले को श्रावक कहते हैं तो गणधर तथा अन्य साधु भी श्रावक ही हैं, क्योंकि वे भी श्री भगवान् के मुख से शब्दों को सुनते हैं और अपने शिष्य और जनता को धर्मोपदेश सुनाते हैं, अथवा सारा संसार ही श्रावक हो सकता है क्योंकि इसमें प्रत्येक व्यक्ति सदैव कुछ न कुछ सुनता और सुनाता ही रहता है। उत्तर में कहा जाता है कि ठीक है यदि 'श्रावक' शब्द का सामान्य यौगिक अर्थ लिया जाय तो वह गृहस्थों के समान गणधर और अन्य साधुओं के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है, किन्तु यहां यह शब्द योग-रूढ है जो केवल धर्म सुनने और सुनाने वाले गृहस्थों के लिए ही प्रयुक्त होता है। जैसे 'गौ' शब्द—"गच्छति-इति गौ" इस व्युत्पत्ति से गमन-शील

प्राणिमात्र के लिए प्रयुक्त हो सकता है, किन्तु गौ व्यक्ति विशेष में योग-रूढ़ होने के कारण उसीको बताता है ।

शास्त्र में धर्म—अनागार और गृहस्थ दो प्रकार का प्रतिपादन किया है । उनमें से गृहस्थ के लिए ही श्रावक शब्द का प्रयोग किया गया है । एक वास्तविक श्रावक प्रायः सदा धर्म-श्रवण का इच्छुक रहता है । अनागार-धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति 'केवली' पद की प्राप्ति कर सकता है ।

यद्यपि साधु भी वास्तव में धर्म-श्रवण करने से श्रावक कहलाया जा सकता है किन्तु उसका श्रवण कृत्स्न (परिपूर्ण) होता है और गृहस्थ का श्रुत अकृत्स्न (अपरिपूर्ण) अतः दोनों श्रुत-धारियों में परस्पर भेद दिखाने के लिए गृहस्थ श्रुत-धारी के लिए श्रावक शब्द रूढ़ कर दिया गया है । 'भगवती-सूत्र' के निम्न-लिखित पाठ से तो स्पष्ट ही हो जाता है कि व्यवहार नय के अनुसार श्रावक और उपासक शब्द केवल गृहस्थों के लिए ही आते हैं---"केवली का श्रावक या केवली की श्राविका, केवली का उपासक या केवली की उपासिका, साधु का श्रावक या साधु की श्राविका, साधु का उपासक या साधु की उपासिका ।" जो केवली भगवान् तथा अन्य भावितात्मा मुनिवरों की भक्ति में तत्पर है तथा सदैव धर्म-श्रवण का इच्छुक है उसीको श्रावक कहते हैं ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि श्रावक और उपासक में परस्पर क्या भेद है ? उत्तर में कहा जाता है कि श्रावक शब्द अवृत्ति-सम्यक्-दृष्टि के लिए तथा उपासक शब्द देश-वृत्ति के लिए सूत्रों में प्रयुक्त हुआ है, जैसे 'उपासक-दशाङ्ग-सूत्र' के आनन्दादि गृहस्थ अधिकार में गृहस्थ के बारह व्रतों के धारण करने पर कहा गया है "समणोवासय जाए" (श्रमणोपासको जातः) अर्थात् श्रमणोपासक हुआ न तु श्रावक । किन्तु जहां श्रावक शब्द का वर्णन है वहां "दंसण-सावए (दर्शन-श्रावकः)" यह सूत्र है अर्थात् सम्यग्-दर्शन धारण करने वाला व्यक्ति दर्शन-श्रावक होता है । यही दोनों का परस्पर भेद है ।

यह जिज्ञासा हो सकती है कि प्रतिमा शब्द का क्या अर्थ है, उत्तर में कहा जाता है "रजोहरण-मुखपोतिकादि-द्रव्यलिङ्ग-धारित्वंप्रतिमात्वम् ।" यह प्रतिमा द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार की होती है । साधुओं के समान रजो-

हरण, मुखपोतिका (मुख पर बंधी हुई पट्टी) आदि धारण करना द्रव्य-प्रतिमा होती है और साधु के गुणों को धारण करना भाव-प्रतिमा कहलाती है । प्रतिमा का अर्थ सादृश्य होता है, अतः साधु के सदृश लिङ्ग और गुण धारण करना ही उपासक प्रतिमा होती है । प्रस्तुत दशा में द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है । सादृश्य-रूप अर्थ को लक्ष्य कर ही यहां 'उपासक-प्रतिमा' का प्रयोग किया गया है । इस दशा में उपासक की प्रतिमाओं के पढ़ने से प्रत्येक व्यक्ति सहज ही में जान सकेगा कि उपासक और श्रमण में परस्पर क्या भेद है । दोनों का परस्पर केवल गुणों में ही भेद है ।

प्रतिमा शब्द का अर्थ अभिग्रह अर्थात् प्रतिज्ञा भी है । जिस प्रकार की प्रतिज्ञा जिस प्रतिमा में होगी उसका यथा-स्थान वर्णन किया जाएगा । यह सब स्याद्वाद के अनुसार वर्णन किया गया है, जो उभय-लोक में हितकारी है । इसी को जैन वान-प्रस्थ भी कहते हैं ।

श्रावक और उपासक दोनों शब्द बौद्धमत में भी पाए जाते हैं । वहां श्रावक साधु के लिए और उपासक गृहस्थ के लिए प्रयुक्त किया गया है ।

अब सूत्रकार दशा का आरम्भ करते हुए कहते हैं :—

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं, इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासग-पडिमाओ पण्णत्ताओ, कयरा खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासग-पडिमाओ पण्णत्ताओ ? इमाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासग-पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा :—

श्रुतं मया, आयुष्मन् ! तेन भगवतैवमाख्यातम्, इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिरेकादशोपासक-प्रतिमाः प्रज्ञप्ताः, कतराः खलु ताः स्थविरैर्भगवद्भिरेकादशोपासक-प्रतिमाः प्रज्ञप्ताः ? इमाः खलु ताः स्थविरैर्भगवद्भिरेकादशोपासक-प्रतिमाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा :—

पदार्थान्वयः—**आउसं**–हे आयुष्मन् शिष्य ! **मे**–मैंने **सुयं**–सुना है **तेणं**–उस **भगवया**–भगवान् ने **एवं**–इस प्रकार **अक्खायं**–प्रतिपादन किया है **इह**–इस जिन-शासन में **खलु**–निश्चय से **थेरेहिं**–स्थविर **भगवंतेहिं**–भगवन्तों ने **एक्कारस**–एकादश **उवासग**–उपासक की **पडिमाओ**–प्रतिमाएं **पण्णत्ताओ**–प्रतिपादन की हैं। (शिष्य ने प्रश्न किया "हे भगवन् !) **कयरा**–कौनसी **ताओ**–वे **थेरेहिं**–स्थविर **भगवंतेहिं**–भगवन्तों ने **एक्कारस**–एकादश **उवासग**–उपासक की **पडिमाओ**–प्रतिमाएं **पण्णत्ताओ**–प्रतिपादन की हैं ?" (गुरु उत्तर देते हैं) **इमाओ**–ये **खलु**–निश्चय से **ताओ**–वे **थेरेहिं**–स्थविर **भगवंतेहिं**–भगवन्तों ने **एक्कारस**–एकादश **उवासग**–उपासकों की **पडिमाओ**–प्रतिमाएं **पण्णत्ताओ**–प्रतिपादन की हैं **तं जहा**–जैसे :—

मूलार्थ—हे आयुष्मन् शिष्य ! मैंने सुना है उस भगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है, इस जिन-शासन में स्थविर भगवन्तों ने एकादश उपासक-प्रतिमाएं प्रतिपादन की हैं। शिष्य ने प्रश्न किया हे भगवन् ! कौनसी वे स्थविर भगवन्तों ने एकादश उपासक-प्रतिमाएं प्रतिपादन की हैं ? गुरु उत्तर देते हैं कि वक्ष्यमाण एकादश उपासक-प्रतिमाएं स्थविर भगवन्तों ने प्रतिपादन की हैं, जैसे :—

टीका—इस सूत्र में पूर्वोक्त दशाओं के प्रारम्भिक सूत्रों के समान श्री सुधर्म्मा और उनके शिष्य श्री जम्बू स्वामी के प्रश्नोत्तर रूप में प्रदिपादन किया गया है कि उपासक की एकादश प्रतिमाएं होती हैं। शेष वर्णन पूर्ववत् ही है।

ये एकादश प्रतिमाएं उपासकों को समाधि की ओर ले जाती हैं, अतः सर्वथा ग्रहण करने के योग्य हैं। इनके द्वारा जैन वानप्रस्थ की क्रियाएं भली भांति साधन की जा सकती हैं।

अब सूत्रकार दशा का विषय आरम्भ करते हुए सबसे पहिले दर्शन-प्रतिमा का विषय वर्णन करते हैं, क्योंकि इसके होने से शेष प्रतिमाएं सहज में ही साधन की जा सकती हैं :—

अकिरिय-वाइ यावि भवइ, नाहिय-वाइ, नाहिय-पण्णे, नाहिय-दिट्ठी, णो सम्मवाइ, णो णितिया-वाइ, ण

संति परलोगवाइ, णत्थि इहलोए, णत्थि परलोए, णत्थि माया, णत्थि पिया, णत्थि अरिहंता, णत्थि चक्कवट्टी, णत्थि बलदेवा, णत्थि वसुदेवा, णत्थि णिरया, णत्थि णेरइया, णत्थि सुक्कड-दुक्कडाणं फल-विति-विसेसो, णो सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवंति, णो दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवंति, अफले कल्लाण-पावए, णो पच्चायंति जीवा, णत्थि णिरय, णत्थि सिद्धि, से एवं-वादी एवं-पण्णे एवं-दिट्ठी एवं-छंद-राग-मती-णिविट्ठे यावि भवइ ।

अक्रिय-वादी चापि भवति, नास्तिक-वादी, नास्तिक-प्रज्ञः, नास्तिक-दृष्टिः, नो सम्यग्-वादी, नो नित्य-वादी, नास्ति परलोकवादी, नास्ति इहलोकः, नास्ति परलोकः, नास्ति माता, नास्ति पिता, न सन्ति अर्हन्तः, नास्ति चक्रवर्ती, न सन्ति बल-देवाः, न सन्ति वासुदेवाः, न सन्ति निरयाः, न सन्ति नैर-यिकाः, नास्ति सुकृत-दुष्कृतानां फल-वृत्ति-विशेषः, नो सुचीर्णानि कर्माणि सुचीर्ण-फलानि भवन्ति, नो दुश्चीर्णानि कर्माणि दुश्चीर्ण-फलानि भवन्ति, अफले कल्याण-पापके, नो प्रत्यायान्ति जीवाः, नास्ति निरयः, नास्ति सिद्धिः, स एवंवादी, एवं-प्रज्ञः, एवं-दृष्टिः, एवं-छंद-राग-मति-निविष्टश्चापि भवति ।

पदार्थान्वयः—**अकिरिय-वाइ**—जीवादि पदार्थों के अस्तित्व का अपलाप करने वाला **यावि भवइ**—जो है **नाहिय-वाइ**—नास्तिक-वादी **नाहिय-पण्णे**—नास्तिक

बुद्धि वाला, **नाहिय-दिट्ठी**–नास्तिक-दृष्टि वाला **नो सम्मवाइ**–जो सम्यग्-वादी नहीं है **णो णितिया-वाइ**–जो एकान्ततया पदार्थों की स्थिरता स्थापित नहीं करता **ण संति परलोकवाइ**–जो पर-लोक नहीं मानता, वह कहता है **णत्थि इहलोए**–इह-लोक नहीं है **णत्थि परलोए**–पर-लोक नहीं है **णत्थि माया**–माता नहीं है **णत्थि पिया**–पिता नहीं है **णत्थि अरिहंता**–अरिहन्त नहीं हैं **णत्थि चक्कवट्टी**–चक्रवर्ती नहीं है **णत्थि बलदेवा**–बलदेव नहीं हैं **णत्थि वासुदेवा**–वासुदेव नहीं है **णत्थि णिरया**–नरक नहीं हैं **णत्थि णेरइया**–नारकी नहीं हैं **सुक्कड-दुक्कडाणं**–सुकृत और दुष्कृत कर्मों के **फल-विति-विसेसो**–फल-वृत्ति-विशेष **णत्थि**–नहीं है । **सुचिण्णा कम्मा**–शुभ कर्म **सुचिण्णा फला**–शुभ फल वाले **णो भवंति**–नहीं होते **दुचिण्णा कम्मा**–दुष्ट कर्म **दुचिण्णा फला**–दुष्ट फल वाले **णो भवंति**–नहीं होते और **कल्लाण-पावए**–कल्याण-कर्म और पाप-कर्म **अफले**–फल रहित हैं **णो पच्चायंति जीवा**-जीव परलोक में उत्पन्न नहीं होते **णत्थि णिरय**–नरक नहीं है **णत्थि सिद्धि**–मोक्ष नहीं है (और इनके मध्य में भी कोई स्थान नहीं है) **से** वह **एवं**–इस प्रकार **वाइ**–कहने वाला है **एवं**–इस प्रकार **पण्णे**–बुद्धि वाला है **एवं-दिट्ठी**–इस प्रकार की दृष्टि वाला है **एवं**–इस प्रकार उसका **छंद**–अभिप्राय और **राग**–राग विषय उसकी **मती**–मति **णिविट्ठे यावि भवइ**–स्थापन की हुई होती है ।

मूलार्थ—जो जीवादि पदार्थों के अस्तित्व का अपलाप करता है, नास्तिक मत, बुद्धि और दृष्टि वाला है, सम्यग्-वादी नहीं है, एकान्ततया पदार्थों की स्थिरता का विरोधी है, इहलोक और परलोक नहीं मानता, वह कहता है कि यह लोक नहीं, परलोक नहीं, माता नहीं पिता नहीं, अरिहन्त नहीं हैं, चक्रवर्ती नहीं है, बलदेव नहीं है, वासुदेव नहीं है, नारकीय नहीं है, सुकृत और दुष्कृत कर्मों का फल नहीं है, शुभ कर्मों के शुभ और दुष्ट कर्मों के दुष्ट फल नहीं होते, कल्याण और पाप का कोई फल नहीं होता, आत्मा परलोक में जाकर उत्पन्न नहीं होता, नरक से लेकर मोक्ष पर्य्यन्त कोई स्थान नहीं है, वह ऐसा कहता है, इस प्रकार उसकी प्रज्ञा और दृष्टि है, इस प्रकार उसने अपने अभिप्रायों को राग में स्थापन किया हुआ है अर्थात् उसकी मति उक्त विषयों में स्थित है ।

टीका—इस सूत्र में मिथ्या-दर्शन का दिग्दर्शन कराया गया है, क्योंकि

विना मिथ्या-दर्शन का ज्ञान किये उपासक सम्यग्-दर्शन की सिद्धि नहीं कर सकता । सम्यग्-दर्शन से पूर्व मिथ्या-दर्शन का बोध आवश्यक है अतः उसका यहां सब से पहिले वर्णन करना उचित और न्याय-सङ्गत है । मिथ्या-दर्शन सम्यग्-दर्शन का बिलकुल प्रतिपक्षी है इसकी सहायता से सम्यग्-दर्शन का बोध अनायास ही हो सकता है । मिथ्या-दर्शन के आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक दो भेद होते हैं । दुराग्रह से या हठ-पूर्वक मिथ्या-दर्शन पर दृढ़ रहना आभिग्रहिक मिथ्या-दर्शन होता है और अनाभिग्रहिक संज्ञी और असंज्ञी जीवों के सामान्य मिथ्या-दर्शन को कहते हैं । सूत्रकार इस प्रकार उसका वर्णन करते हैं :—

क्रिया-वाद आस्तिक-वाद का नाम है । यह सम्यग्-दर्शन है । इसके विरुद्ध अक्रिया-वाद—जीवादि पदार्थों का अपलाप करना—नास्तिक-वाद है । यह मिथ्या-दर्शन होता है । अक्रिया-वाद में भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के व्यक्ति होते हैं, किन्तु क्रिया (आस्तिक) वाद में केवल भव्य आत्मा ही होते हैं । उन्हीं में कोई २ शुक्ल पाक्षिक भी होते हैं, क्योंकि वे उत्कृष्ट-अर्द्ध-पुद्गलवर्त के भीतर ही सिद्ध गति प्राप्त करेंगे । किन्तु ऐसे व्यक्ति भी दीर्घकाल तक संसारी होने के कारण कुछ समय के लिए अक्रिया-वाद में प्रविष्ट हो जाते हैं । उस समय वे लोग अपना सिद्धान्त बना लेते हैं कि आत्मा वास्तव में कोई पदार्थ नहीं है । पञ्चभूतों के अतिरिक्त कोई भी दिव्य शक्ति संसार में नहीं है, अतः लोक अथवा परलोक की कोई सत्ता ही नहीं है ।

पुण्य, पाप, इह-लोक और पर-लोक पर उनका विश्वास ही नहीं होता, जैसे—"नास्ति परलोके मतिर्यस्य इति नास्तिकः" नास्तिक शब्द की व्युत्पत्ति से भी ज्ञात होता है । अर्थात् जिसकी मति पर-लोक में नहीं होती, उसको नास्तिक कहते हैं । उसकी सब इन्द्रियां नास्तिक-वाद की ओर ही झुक जाती हैं । वह मोक्ष तक को कुछ नहीं समझता । उसके लिए न माता है, न पिता है । वह अर्हन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, नरक, नारकी तथा सुकृत और दुष्कृत के फल को भी नहीं मानता, क्योंकि वह अपना मन्तव्य बना लेता है कि पञ्चभूतों के अतिरिक्त और कोई पदार्थ है ही नहीं । वह कर्ता और भोक्ता कुछ नहीं मानता, अतः पाप और पुण्य का फल-विशेष भी उसके लिए नहीं है, फलतः उसको उस फल की

प्राप्ति भी नहीं हो सकती । उसके लिए न तप, संयम और ब्रह्मचर्य आदि शुभ कर्मों का कोई फल है, नाहीं हिंसादि दुष्कृत्यों का । वह मानता है कि मृत्यु के अनन्तर आत्मा परलोक में उत्पन्न नहीं होता और नाहीं नरक से लेकर मोक्ष पर्य्यन्त कोई स्थान विशेष हैं । उसके मत से कोई न्याय-शील राजा ही नहीं ।

इस नास्तिक-वाद में अपनी मति स्थिर कर वह ऊपर कहे हुए अपने सिद्धान्तों में मग्न रहता है । इसीको पूर्ण कदाग्रही कहते हैं । अब सूत्रकार कहते हैं कि उसकी यह बुद्धि हितकारी नहीं है प्रत्युत पापमयी है । यहां इनके वर्णन करने का तात्पर्य केवल इतना है कि उपासक जब आस्तिक-वाद में प्रविष्ट हो तो उसको नास्तिक-वाद का भी भली भांति ज्ञान होना चाहिए । साथ ही नास्तिक-वाद के मानने से इहलोक और परलोक में क्या फल होता है इसका भी ज्ञान करना आवश्यक है । नास्तिक-वादी आभिग्राहिक मिथ्यात्व के कारण पूर्ण कदाग्रही होता है ।

इस सूत्र में कई जगह 'अत्थि' एकवचन के स्थान बहुवचन और 'संति' बहुवचन के स्थान पर एकवचन दिया गया है । प्राकृत होने से यह दोषाधायक नहीं है, क्योंकि प्राकृत में प्रायः वचन-व्यत्यय हो ही जाता है ।

अब निम्न-लिखित सूत्र में सूत्रकार वर्णन करते हैं कि आत्मा मिथ्या-दृष्टि होकर किस प्रकार पांच आस्रवों में प्रवृत्ति करता है :—

से भवति महिच्छे, महारंभे, महा-परिग्गहे, अहम्मिए, अहम्माणुए, अहम्म-सेवी, अहम्मिट्ठे, अहम्म-क्खाइ, अहम्म-रागी, अहम्म-पलोई, अहम्म-जीवी, अहम्म-पलज्जणे, अहम्म-सील-समुदायारे अहम्मे णं चेव वित्ति-कप्पेमाणे विहरइ ।

स भवति महेच्छः, महारम्भः, महापरिग्रहः, अधार्मिकः, अधर्मानुगः, अधर्म-सेवी, अधर्मिष्ठः, अधर्म-ख्यातिः, अधर्म-

रागी, अधर्म-प्रलोकी, अधर्म-जीवी, अधर्म-प्रजनकः, अधर्म-शील-समुदाचारोऽधर्मेण चैव वृत्तिं कल्पयन् विहरति ।

पदार्थान्वयः—स—वह नास्तिक **महिच्छे**—अति लालसा वाला **महारंभे**—महान् (कार्य) आरम्भ करने वाला **महा-परिग्गहे**—अधिक परिग्रह वाला **अहम्मिए**—अधार्मिक क्रियाओं का करने वाला **अहम्माणुए**—अधर्म का अनुगामी (मानने माला) **अहम्म-सेवी**—अधर्म सेवन करने वाला **अहम्मिट्ठे**—जिस को अधर्म इष्ट (प्रिय) हो **अहम्म-क्खाई**—अधर्म में प्रसिद्ध **अहम्म-रागी**—अधर्म में अनुराग रखने वाला **अहम्म-पलोई**—अधर्म देखने वाला **अहम्म-जीवी**—अधर्म से जीवन-यात्रा करने वाला **अहम्म-पलज्जणे**—अधर्म उत्पन्न करने वाला **अहम्म-सील-समुदायारे**—अधार्मिक शील और समुदाचार धारण करने वाला **भवति**—होता है **च**—और फिर **अहम्मे णं एव**—अधर्म से ही **वित्ति-कप्पेमाणे**—आजीवन करता हुआ **विहरइ**—विचरता है ।

मूलार्थ—वह नास्तिक, अति लालसा वाला, महान् (कार्य) आरम्भ करने वाला, अधिक परिग्रह (धन-धान्य-भूमि आदि) वाला, अधार्मिक, अधर्मानुगामी, अधर्म-सेवी, अधर्मिष्ट, अधर्म में प्रसिद्धि वाला, अधर्म-अनुरागी, अधर्म देखने वाला, अधर्म से आजीविका करने वाला, अधर्म के लिए पुरुषार्थ करने वाला और अधार्मिक शील-समुदाचार वाला होता है और अधर्म से ही आजीवन करता हुआ विचरता है ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि जो व्यक्ति नास्तिक हो जाता है उसकी स्थिति डामाडोल हो जाती है । वह राज्यादि प्राप्ति की बड़ी २ इच्छाएं करने लगता है । उसकी तृष्णाएं दिन-प्रति-दिन बढ़ने लगती हैं । हिंसा आदि बड़े २ अनर्थों के करने से भी वह नहीं हिचकता है, प्रत्युत उनमें अधिक प्रवृत्ति करता है । धन-धान्यादि महापरिग्रह होने से उसकी वासनाएं बढ़ने लगती हैं, फिर वह कट्टर अधार्मिक होकर प्रत्येक स्थान पर अधर्म का अनुमोदन करता हुआ, फलतः अधर्म का अनुगामी हो जाता है । श्रुत और चारित्र धर्म का सर्वथा त्याग कर अधर्म को ही अपना इष्ट (प्रिय) बना लेता है और निरन्तर उसकी सेवा करने में लगा रहता है । वह अधर्म को ही देखता है और उसीके राग आलापने लगता है । वह अधर्म को ही अपना आचार व्यवहार और सब कुछ

समझता है और उसीसे अपनी आजीविका करता हुआ विचरण करता है । उसकी वृत्ति धर्म की निन्दा कर लोगों पर अपना प्रभाव जमाने की हो जाती है ।

सूत्र में दिये हुए "अधर्म-प्रजनक" इस समस्त पद का निम्नलिखित अर्थ है :—

" अधर्मं प्रकर्षेण जनयति लोकानामपीति—अधर्म-प्रजनकः । क्वचिद् "अधम्म-पलज्जणे" इति पाठोऽपि दृश्यते तत्राधर्म-प्रायेषु कर्मसु प्रकर्षेण रज्यते—आसजति इति अधर्म-प्ररञ्जनः । 'रलयोरैक्यमिति' रकारस्य स्थाने लकारोऽत्र विहितः ।" 'अधर्म-प्रजनक' का अर्थ लोक में अधर्म उत्पन्न करना हुआ ।

अतः सिद्धान्त यह निकला कि नास्तिक अपने जीवन को पाप-मय बनाता है । वह सदाचार को दूर कर कदाचार में लग जाता है ।

इसके अनन्तर नास्तिक की क्या दशा होती है इसका वर्णन निम्नलिखित सूत्र में करते हैं :—

"हण, छिंद, भिंद," विकत्तए, लोहिय-पाणी, चंडा, रुद्दा, खुद्दा, असमिक्खियकारी, साहस्सिया, उक्कंचण, वंचण, माई, नियडि, कूडमाई, साइ-संपओग-बहुला, दुस्सीला, दुप्परिचया, दुचरिया, दुरणुणेया, दुव्वया, दुप्पडियाणंदा, निस्सीले, निव्वए, निग्गुणे, निम्मेरे, निपच्चक्खाण-पोसहोववासे, असाहु ।

"जहि, छिन्धि, भिन्धि" विकर्तकः, लोहित-पाणिः, चण्डः, रुद्रः, क्षुद्रः, असमीक्षितकारी, साहसिकः, उत्कञ्चनः, वञ्चनः, मायी, निकृतिः, कूटमायी, साति-संप्रयोग-बहुलः, दुश्शीलः दुष्परिचयः, दुश्चर्यः, दुरनुनेयः, दुर्व्रतः, दुष्प्रत्यानन्दः, निश्शीलः, निर्व्रतः, निर्गुणः, निर्मर्यादः, निष्प्रत्याख्यान-पोषधोपवासः, असाधुः (स नरः पापकारित्वात्) ।

पदार्थान्वयः—"हण–हनन करो छिंद–छेदन करो भिंद–भेदन करो" (लोगों को कहता हुआ नास्तिक) **विकत्तए**–अङ्गोपाङ्ग काटने वाला **लोहिय-पाणी**–रुधिर से जिसके हाथ लिप्त हैं, **चंडा**-जो चण्ड है **रुद्दा**–रुद्र है **खुद्दा**–क्षुद्र-बुद्धि है **असमिक्खियकारी**–विना विचारे काम करता है **साहस्सिया**–साहसिक है **उक्कंचण**–घूस लेने वाला है **वंचण**–छली है **माई**–माया करने वाला है **नियडि**–निकृति (गूढ़ कपट) वाला है **साइ-संपओग-बहुला**–उक्त क्रियाओं को अत्यधिक प्रयोग में लाने वाला है **दुस्सीला**–दुश्शील है **दुप्परिचया**–दुष्ट संगति करने वाला है **दुचरिया**–जिसकी दिनचर्या दुष्ट है **दुरणुणेया**–दुष्टों का अनुगामी है **दुव्वया**–दुष्ट व्रत वाला है **दुप्पडियानंदा**–दुष्ट कार्यों के करने और सुनने से प्रसन्न होने वाला होता है **निस्सीले**–निःशील है **निग्गुणे**–क्षमा आदि गुणों से रहित है **निम्मेरे**–मर्यादा-रहित है **निपच्चक्खाण-पोसहोववासे**–जो प्रत्याख्यान नहीं करता और जो कभी पौषध या उपवास भी नहीं करता है **असाहु**–असाधु है ।

मूलार्थ—नास्तिक लोगों के प्रति कहता फिरता है "जीवों का हनन करो, छेदन करो और भेदन करो" और स्वयं वह (जीवों को) काटने वाला होता है, उसके हाथ रुधिर (लहू) से लिप्त होते हैं । वह चण्ड, रौद्र और क्षुद्र है, विना विचारे काम करता है, साहसिक बना फिरता है, लोगों से उत्कोच (घूस) लेता है, उनको ठगता है । वह मायावी है, गूढ़ कपट रचता है, कूट माया जाल बिछाता है और माया को अत्यधिकतया प्रयोग में लाता है, दुश्शील है, दुष्ट संगति करता है, दुश्चर्य है, दुष्टों का अनुगामी होता है, दुष्ट व्रत धारण करता है, कृतघ्न है, निश्शील है, निर्गुण है, मर्यादा से बाहर हो जाता है । वह किसी तरह का त्याग नहीं कर सकता अर्थात् पौषध या उपवास कभी नहीं करता और असाधु है ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि नास्तिक-पन का जीवन पर क्या असर पड़ता है । जब एक व्यक्ति नास्तिक-सिद्धान्तों का अनुयायी हो जाता है तो सब से पहले उसके चित्त से दया का भाव उड़ जाता है और वह हिंसा को अपना लक्ष्य बनाकर लोगों से कहता फिरता है कि जिस तरह से भी हो सके जीवों को मारो ! अस्त्रादि से काटो ! उनका छेदन करो ! भेदन करो ! स्वयं इन विचारों पर

दृढ़ होकर अपने दास, दासी और पशु-वर्ग से ऐसा ही वर्ताव करता है। उसके हाथ प्राणि-वर्ग के बध से सदैव रुधिर में लिप्त रहते हैं। उसकी प्रकृति स्वभावतः क्रोध-शील हो जाती है। उसका प्रत्येक कार्य निर्दयता-पूर्ण होता है। वह क्षुद्र-बुद्धि हो जाता है। पाप कर्म करने में उसका साहस बढ़ता जाता है। लोक और परलोक वह कुछ नहीं मानता, अतः विना विचारे ही जो कुछ चाहता है कर बैठता है। वह लोगों से उत्कोच (घूस, रिश्वत) लेता है। उसके लिए छल करना महान् गुण है, इसीलिए वह प्रत्येक व्यक्ति से छल करता फिरता है। निर्गुणों की प्रशंसा और ख्याति करना वह अपना गुण समझता है। वह मायावी है, गूढ़ कपट रचता है, कूट माया जाल बिछाता है। औरों के गले काटता फिरता है और ऊपर कही हुई क्रियाओं के करने में सदा प्रोत्साहित रहता है। वह स्वभावतः दुष्ट हो जाता है और दुष्टों की संगति करता है। अहम्मन्यता उसमें इतनी आजाती है कि वह दूसरों के सदुपदेश को भी नहीं मानता। क्रोध का त्याग करना उसके लिए असम्भव है। वह दुराचार आसेवन करता है, मांस भक्षणादि दुष्ट ही व्रतों को धारण करता है। वह हिंसक यज्ञों का अनुयायी बन हिंसा में दत्त-चित्त होता है। उसका स्वभाव इतना दुष्ट हो जाता है कि वह किसी प्रकार भी प्रसन्न नहीं किया जा सकता है। दूसरे के किये हुए उप-कारों को वह मानता ही नहीं। दुराचार को देखने तथा सुनने से उसका चित्त हर्ष से प्रफुल्लित हो जाता है और सदाचार के वार्तालाप से उसका चित्त उतना ही दुःखी होता है। वह व्यभिचारी, निश्शील और ब्रह्मचर्य का उपहास करने वाला होता है। क्षमादि गुण उसको छूने तक नहीं पाते। किसी भी कुल मर्यादा के तोड़ने में वह नहीं हिचकता। उदाहरणार्थ यदि उसके कुल में मांस भक्षण, सुरापान तथा पर-दारा सेवन का निषेध है तो वह उस पूर्वजों की मर्यादा को तोड़कर उन कुकर्मों में ही अपनी प्रवृत्ति करता है। वह अष्टमी आदि पर्व-दिनों में त्याग और पोषधोपवास नहीं करता। वह असाधु है।

यह सब नास्तिकत्व का ही प्रभाव है कि स्वभावतः निर्मल और पवित्र आत्मा भी पाप-कर्म में तल्लीन हो जाता है। जो व्यक्ति लोक और परलोक ही नहीं मानता उसका पाप में तल्लीन होना अनिवार्य है।

सिद्धान्त यह निकला कि जीवन को पवित्र बनाने के लिए आस्तिक-वाद

अवश्य स्वीकार करना चाहिए, इसी से आत्मा न्याय-शील और मोक्षाधिकारी हो सकता है।

अब सूत्रकार नास्तिक-वाद के स्वीकार करने से उत्पन्न होने वाली अन्य पाप-क्रियाओं का वर्णन करते हैं :—

सव्वाओ पाणाइ-वायाओ अप्पडिविरया जाव-जीवाए, जाव सव्वाओ परिग्गहाओ, एवं जाव सव्वाओ कोहाओ, सव्वाओ माणाओ, सव्वाओ मायाओ, सव्वाओ लोभाओ, पेज्जाओ, दोसाओ, कलहाओ, अब्भक्खाणाओ, पिसुण्ण-पर-परि-वायाओ, अरति-रति-माया-मोसाओ, मिच्छा-दंसण-सल्लाओ अप्पडिविरया जाव-जीवाए ।

सर्वस्मात् प्राणातिपातादप्रतिविरता यावज्जीवं, यावत्सर्वस्मात्परिग्रहात्, एवं यावत्सर्वस्मात् क्रोधात्, सर्वस्मात् मानात्, सर्वस्या मायायाः, सर्वस्मात् लोभात्, प्रेम्णः, द्वेषात्, कलहात्, अभ्याख्यानात्, पैशुन्य-पर-परिवादाभ्याम्, अरति-रति-माया-मृषाभ्यः, मिथ्या-दर्शन-शल्यादप्रतिविरता यावज्जीवम् ।

पदार्थान्वयः—**सव्वाओ**—सब प्रकार के **पाणाइ-वायाओ**—प्राणातिपात (जीव-हिंसा) से **जाव-जीवाए**—जीवन पर्यन्त **अप्पडिविरया**—अप्रतिविरत हैं (अर्थात् सब तरह की जीव-हिंसा में लगे हुए हैं) **जाव**—यावत् **सव्वाओ**—सब प्रकार के **परिग्गहाओ**—परिग्रह से भी अप्रतिविरत हैं **एवं**—इसी प्रकार **जाव**—यावत् **सव्वाओ**—सब प्रकार के **कोहाओ**—क्रोध से **सव्वाओ**—सब प्रकार के **माणाओ**—मान से

सव्वाओ—सब प्रकार की **मायाओ**—माया से **सव्वाओ**—सब प्रकार के **लोभाओ**—लोभ से **पेज्जाओ**—प्रेम से **दोसाओ**—द्वेष से **कलहाओ**—कलह से **अब्भक्खाणाओ**—अभ्याख्यान (सामने सामने मिथ्या-दोषारोपण) से **पिसुण्ण-पर-परिवायाओ**—चुगली और पर-परिवाद (दूसरों की निन्दा) से **अरति**—चिन्ता **रति**—प्रसन्नता **माया-मोसाओ**—माया और मृषा से **मिच्छा-दंसण-सल्लाओ**—मिथ्यादर्शन-शल्य से **जाव-जीवाए**—जीवन भर **अपडिविरया**—अप्रतिविरत हैं ।

मूलार्थ—नास्तिक-वाद स्वीकार करने वाला जीवन भर प्राणातिपात और परिग्रह से निवृत्ति नहीं कर सकता । इसी प्रकार यावज्जीवन सब प्रकार के क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पिशुनता, पर-परिवाद, अरति, रति, माया, मृषा और मिथ्यादर्शन से भी निवृत्ति नहीं कर सकता ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि नास्तिक आत्मा १८ पापों से निवृत्ति नहीं कर सकता है । वह (१) प्राणातिपात (सब प्रकार की जीव-हिंसा) से निवृत्ति नहीं करता । सब प्रकार की कहने से तात्पर्य यह है कि जो लौकिक व्यवहार में भी निन्दनीय हैं उन हिंसाओं तक से निवृत्ति नहीं करता। उदाहरणार्थ बाल-घात, स्त्री-घात, विश्वास-घात, ऋषि-घात, ब्राह्मण-घात और गो-घात तक करने से नहीं हिचकता । इसी प्रकार अन्य पापों का भी ऊहापोह से ज्ञान कर लेना चाहिए । यहां हम साधारणतया उनका अर्थ दे देते हैं :—

२—मृषावाद=कूट साक्षी आदि मृषावाद ।

३—अदत्तादान=चोरी ।

४—मैथुन=मैथुन क्रियाएं, परदारा का सेवन आदि ।

५—परिग्रह=ममत्व भाव ।

६—क्रोध=क्रोध ।

७—मान=अहंकार ।

८—माया=छल, कपट ।

९—लोभ=लोभ ।

१०—राग=काम रागादि ।

११—द्वेष=द्वेष ।

१२—कलह=परस्पर भेद-भाव ।

१३—अभ्याख्यान=दूसरों को कलङ्कित करना ।

१४—पिशुनता=चुगली करना ।

१५—पर-परिवाद=लोगों के पीछे उनका अपवाद करना ।

१६—रति-अरति=पदार्थों के मिलने पर प्रसन्नता और न मिलने पर अप्र-

सन्नता।

१७—माया-मृषा=छल-पूर्वक असत्य भाषण करना। जैसे—वेष-भूषा बदल कर अन्य व्यक्तियों को ठगना और मृगादि के लिए असत्य भाषण करना—आदि आदि।

१८—मिथ्या-दर्शन-शल्य=पदार्थों के स्वरूप को अयथार्थता से वर्णन करना तथा सत् पदार्थों को छिपाना और असत् (जिनकी सत्ता नहीं) पदार्थों को उद्भावित करना, जैसे आत्मा को अकर्ता और ईश्वर को कर्ता मानना।

सिद्धान्त यह निकला कि नास्तिक सिद्धान्तों को ग्रहण करने से ही आत्मा जीवन पर्यन्त ऊपर कहे हुए पापों से निवृत्ति नहीं कर सकता।

अब सूत्रकार उक्त विषय का ही वर्णन करते हैं:—

सव्वाओ कसाय-दंतकट्ठ-ण्हाण-मद्दण-विलेवण-सद्द-फरिस-रस-रूव-गंध-मल्लाऽलंकाराओ अप्पडिविरया जाव-जीवाए, सव्वाओ सगड-रह-जाण-जुग-गिल्लि-थिल्लिए-सीया-संदमाणिया-सयणासण-जाण-वाहण-भोयण-पवित्थर-विधीतो अप्पडिविरया जाव-जीवाए।

सर्वेभ्यः कषाय-दन्तकाष्ठ-स्नान-मर्दन-विलेपन-शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्ध-माल्यालङ्कारेभ्योऽप्रतिविरता यावज्जीवम्, सर्वस्मात् शकट-रथ-यान-युग-गिल्लि-थिल्लि-शिविका-स्यन्दनिका-शयनासन-यान-वाहन-भोजन-प्रविष्टर-विधितोऽप्रतिविरता यावज्जीवम्।

पदार्थान्वयः—**सव्वाओ**—सब प्रकार के **कषाय**—रक्त वस्त्रादि **दंतकट्ठ**—दन्तधावन (दातुन) **ण्हाण**—स्नान **मद्दण**—मर्दन **विलेवण**—विलेपन **सद्द**—शब्द **फरिस**—स्पर्श **रस**—रस **रूव**—रूप **गंध**—सुगन्धादि पदार्थ **मल्लाऽलंकाराओ**—माला या अलङ्कारों से **जाव-जीवाए**—यावज्जीवन **अप्पडिविरया**—निवृत्ति नहीं की। **सव्वाओ**—

सब प्रकार के **सगड**–शकट **रह**–रथ **जाण**–यान **जुग**–युग (जिसको पुरुष उठाते हैं) **गल्लिए**–हाथी का हौदा **थिल्लिए**–यान विशेष **सीया**–शिविका **संदमाणिया**–स्यन्द-मानिका (पालकी विशेष) **सयणासण**–शय्या और आसन **जाण**–शकटादि **वाहण**–बलीवर्दादि **भोयण**–भोजन **पवित्थर**–प्रविष्टर–घर सम्बन्धी उपकरण **विधीतो**–विधि से **जाव-जीवाए**–यावज्जीवन **अप्पडिविरया**–निवृत्ति नहीं की।

मूलार्थ—नास्तिक-मतानुयायी सब प्रकार के कषाय रङ्ग के वस्त्र, दन्त-धावन, स्नान, मर्दन, विलेपन, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, माला और अलङ्कारों से यावज्जीवन निवृत्ति नहीं कर सकते और सब प्रकार की शकट, रथ, यान, युग, गिल्ली, थिल्ली, शिविका, स्यन्दमानिका, शयनासन, यान, वाहन, भोजन और घर के उपकरण सम्बन्धी विधि से भी यावज्जीवन निवृत्ति नहीं कर सकते।

टीका—इस सूत्र में सूत्रकार कहते हैं कि नास्तिक आत्मा विषय-जन्य तथा मन में विकार उत्पन्न करने वाले पांच पदार्थों—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श से जीवन भर निवृत्ति नहीं कर सकता है, नाहीं लाल वस्त्र, दन्त-धावन, स्नान, मर्दन और विलेपनादि क्रियाओं से निवृत्ति कर सकता है। विलेपन चन्दनादि का होता है।

वह नास्तिक जीवन भर शकट, रथ, युग्म, हाथी की अम्बारी, गिल्ली, थिल्ली, शिविका, स्यन्दमानिका, शय्या और आसन, शकटादि यान, बलीवर्दादि वाहन, भोजन और घर सम्बन्धी उपकरणों से भी निवृत्ति नहीं कर सकता।

एक छोटी सी शङ्का यहां यह उपस्थित हो सकती है कि लौकिक व्यवहार में मर्दन के अनन्तर स्नान-क्रिया देखने में आती है, सूत्रकार ने स्नान के पश्चात् मर्दन शब्द क्यों कहा ? उत्तर में कहा जाता है कि यद्यपि मर्दन के अनन्तर ही स्नान करने की प्रथा प्रचलित है तथापि कभी २ शरीर को स्निग्ध रखने के लिए स्नान के अनन्तर भी मर्दन किया जाता है, जैसे वर्तमान काल में नव-युवक प्रायः स्नान के अनन्तर ही बालों में तैल आदि लगाते हैं।

शकट बैलगाड़ी को कहते हैं। दो पुरुषों से उठाये जाने वाले यान या आकाशयान को युग्म कहते हैं। ऊंट का पल्लण अथवा दो पुरुषों की उठाई हुई

पालकी का नाम गिल्ली होता है, इसीको थिल्ली भी कहते हैं, किन्तु दो घोड़े या खच्चरों की गाड़ी को भी थिल्ली कह सकते हैं। घोड़े के उपकरण के लिए भी थिल्ली शब्द का प्रयोग होता है। शिविका एक कूटाकार यान विशेष होता है। स्यन्द-मानिका पुरुष प्रमाण ऊंचा एक यान होता है। उपलक्षण से अन्य जल और स्थल के यान विशेषों का ग्रहण करना चाहिए।

सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह निकला कि जो व्यक्ति नास्तिक मत स्वीकार कर लेता है वह विषयानन्दी होजाता है और फिर उसके चित्त में निवृत्ति के भावों की उत्पत्ति होती ही नहीं।

पुनः सूत्रकार उक्त विषय का ही वर्णन करते हैं :—

असमिक्खियकारी, सव्वाओ आस-हत्थि-गो-महि-साओ, गवेलय-दास-दासी-कम्मकर-पोरुस्साओ अप्प-डिविरया जाव-जीवाए, सव्वाओ कय-विक्कय-मासद्ध-मासरूपग-संववहाराओ अप्पडिविरया जाव-जीवाए। सव्वाओ हिरण्ण-सुवण्ण-धण-धन्न-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवालाओ अप्पडिविरया जाव-जीवाए। सव्वाओ कूडतुला-कूडमाणाओ अप्पडिविरया जाव-जीवाए। सव्वाओ आरंभ-समारंभाओ अप्पडिविरया जाव-जीवाए। सव्वाओ पयण-पयावणाओ अप्पडिविरया जाव-जीवाए। सव्वाओ करण-करावणाओ अप्पडिविरया जाव-जीवाए। सव्वाओ कुट्टण-पिट्टणाओ तज्जण-ताल-णाओ, वह-बंध-परिकिलेसाओ, अप्पडिविरया; जाव जेयावणे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्म कज्ज-

न्ति पर-पाण-परियावण-कडा कज्जंति ततो वि य अप्प-डिविरया जाव-जीवाए ।

असमीक्षितकारिणः सर्वेभ्योऽश्व-हस्ति-गो-महिषेभ्यो गवेलक-दास-दासि-कर्मकर-पौरुषेभ्योऽप्रतिविरता यावज्जीवम् । सर्वस्मात् क्रय-विक्रय-माषार्द्ध-माषरूपक-संव्यवहारादप्रतिविरता यावज्जीवम् । सर्वेभ्यो हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-मणि-मौक्तिक-शङ्ख-शिल-प्रबालेभ्योऽप्रतिविरता यावज्जीवम् । सर्वाभ्यां कूट-तुलाकूटमानाभ्यामप्रतिविरता यवाज्जीवम् । सर्वाभ्यामारम्भस-मारम्भाभ्यामप्रतिविरता यावज्जीवम् । सर्वाभ्यां पचन-पाचना-भ्यामप्रतिविरता यावज्जीवम् । सर्वाभ्यां करण-कारणाभ्याम-प्रतिविरता यावज्जीवम् । सर्वाभ्यां कुट्टन-पिट्टनाभ्यां, तर्जन-ताडनाभ्यां, परिक्लेशाच्चाप्रतिविरता यावज्जीवम् । यानि चान्यानि तथा-प्रकाराणि सावद्यानि अबोधिकानि कर्माणि क्रियन्ते, परप्रा-ण परितापन-कराणि च क्रियन्ते, ततोऽप्यप्रतिविरता यावज्जीवम् ।

पदार्थान्वयः—असमिक्खियकारी—विना विचारे काम करने वाले और सव्वाओ—सब प्रकार के आस—घोड़ा हत्थि—हाथी गो—गौ महिसाओ—भैंस गवेलग—अजा और मेष दासी—दासी दास—दास कम्मकर—कर्मकर पोरुस्साओ—पुरुष-समूह से जाव-जीवाए—यावज्जीवन अप्पडिविरया—निवृत्ति नहीं की सव्वाओ—सब प्रकार के कय—माल खरीदना विक्कय—बेचना मासद्ध-मासरूवग—माषार्द्ध और माष रूपक संववहाराओ—संव्यवहार से जाव-जीवाए—जीवन पर्य्यन्त अप्पडिविरया—निवृत्ति नहीं की सव्वाओ—सब प्रकार के हिरएण—हिरण्य सुवएण—सुवर्ण धण—धन धन्न—धान्य मणि—मणि मोत्तिय—मौक्तिक संख-शंख सिल—शिल और प्पवालाओ—प्रवाल (मूंगा) से अप्पडिविरया—निवृत्ति नहीं की जाव-जीवाए—सम्पूर्ण जीवन में सव्वाओ—सब प्रकार के कूडतुला—कूट तोल कूडमाणाओ—कूट माप से अप्पडिविरया—निवृत्ति

नहीं की **जाव-जीवाए**–जीवन पर्य्यन्त **सव्वाओ**–सब प्रकार **आरंभ-समारंभाओ**–आरम्भ और समारम्भ से **अप्पडिविरया**–निवृत्ति नहीं की **जाव-जीवाए**–यावज्जीवन **सव्वाओ**–सब प्रकार के **पयण**–अन्नादि स्वयं पकाना और **पयावणाओ**–अन्य लोगों से पकवाना इनसे **अप्पडिविरया**–निवृत्ति नहीं की **जाव-जीवाए**–यावज्जीवन **सव्वाओ**–सब प्रकार के **करण**–करने और **करावणाओ**–कराने से **अप्पडिविरया**–निवृत्ति नहीं की **जाव-जीवाए**–जीवन पर्यन्त **सव्वाओ**–सब प्रकार के **कुट्टण**–कुट्टण **पिट्टण**–पिट्टन **तज्जण**–तर्जन और **तालणाओ**–ताड़न तथा **वह**–वध और **बंध**–बन्धन **परिकिलेसाओ**–सब प्रकार के क्लेश से **अप्पडिविरया**–निवृत्ति नहीं की **जाव-जीवाए**–जीवन पर्य्यन्त **जेयावणे**–इन से भी अन्य **तहप्पगारा**–इस प्रकार के **सावज्जा**–निन्दनीय कर्म **अबोहिया**–अबोध उत्पन्न करने वाले **कम्म**–कर्म **कज्जंति**–किये जाते हैं **पर-पाण**–दूसरे के प्राणों को **परियावण-कडा**–परितापन करने वाले कर्म **कज्जंति**–किये जाते हैं **तता वि य**–उनसे भी **अप्पडिविरया**–निवृत्ति नहीं की **जाव-जीवाए**–जीवन-पर्यन्त ।

मूलार्थ—नास्तिक-मतानुयायी विना विचारे काम करने वाले होते हैं । वे जीवन भर अश्व, हस्ति, गौ, महिष, अजा, मेष, दास, दासी, कर्मकर और पुरुष-समूह से निवृत्ति नहीं कर सकते; सब प्रकार के क्रय, विक्रय, माषार्द्ध या माषरूपक संव्यवहार से निवृत्ति नहीं कर सकते; सब प्रकार के हिरण्य सुवर्ण, धन, धान्य, मणि, मौक्तिक, शंख, शिल, प्रवाल से भी निवृत्ति नहीं कर सकते; सब प्रकार के कूट-तोल, कूट-माप, आरम्भ, समारम्भ, पचन, पाचन, करना, कराना, कूटना, पीटना, तर्जना, ताड़ना, पकड़ना, मारना आदि कार्यों से भी निवृत्ति नहीं कर सकते । इनके अतिरिक्त अन्य जो निन्दनीय, अबोध-उत्पादक और दूसरे जीवों के प्राण को दुःख पहुंचाने वाले जितने भी कर्म किये जाते हैं, उनसे भी निवृत्ति नहीं कर सकते ।

टीका—इस सूत्र में भी पूर्व सूत्रों के समान नास्तिक के अवगुणों का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि नास्तिक विना अनुभव और विचार के काम करने वाला होता है जिसका परिणाम इस लोक और परलोक में दुःखप्रद होता है । वह अश्व, हस्ति, गो, महिष, गवेलक (बकरी, भेड़), दास, दासी, कर्मकर और

पुरुष-समूह से जीवन भर निवृत्ति नहीं कर सकता, अर्थात् उसका आत्मा त्याग मार्ग में प्रवृत्त होता ही नहीं। उसकी प्रवृत्ति सदा भोग की ओर ही होती है। वह माषक या अर्द्ध-माषक, रूपक और कार्षापण आदि से जो लोग व्यापार करते हैं उससे भी निवृत्ति नहीं कर सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि तोला, मासा, कार्षापण, मुद्रा, सिक्का, रुपया आदि जितने भी सांसारिक व्यवहार के साधन हैं उन्ही में नास्तिक सदा मग्न रहता है। उसके ध्यान में सदा हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, मणि, मौक्तिक, शङ्ख, शिल, प्रबाल आदि ही चक्कर लगाते रहते हैं। उनसे निवृत्त होना उसके लिए प्रायः असम्भव होता है। वह सदा कपट से तोलता है कपट से नापता है। उसके लिए उसमें कोई दोष ही नहीं। उसके चित्त में सदैव अनेक प्रकार के संकल्प, विकल्प उठते रहते हैं। वह कभी आरम्भ-समारम्भ (कृषि-कर्म) के झगड़े में ही निमग्न रहता है, कभी परिताप करता है। सारांश यह निकला कि इन सब से निवृत्त न होने के कारण उसका चित्त कभी शान्त नहीं रह सकता। वह स्वयं हिंसा करता है और लोगों को हिंसा का उपदेश करता है, स्वयं पकाता है और दूसरों से पकवाता है। इसके अतिरिक्त कूटना, पीटना, तर्जन, ताडन, बध, बन्ध और अनेक प्रकार के क्लेश सदा उसके पीछे पड़े ही रहते हैं। इनसे निवृत्त होना उसके लिए असम्भव है। दूसरे प्राणियों को पीड़ा पहुंचाने वाले, अबोध उत्पन्न करने वाले तथा ग्राम-घात आदि क्रूर कर्मों से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह जिन सिद्धान्तों का अनुयायी है उनमें आत्मा कोई पदार्थ ही नहीं माना गया है। नास्तिक सिद्धान्तों को स्वीकार करने से ऊपर वर्णन की गई सब क्रियाएं विविध प्रकार से की जाती हैं।

अब सूत्रकार अन्य अधार्मिक क्रियाओं का विषय वर्णन करते हैं :—

से जहा-नामए केइ पुरिसे कलम-मसूर-तिल-मूंग-मास-निप्फाव-कुलत्थ-आलिसिंदग-जवजवा एवमाइएहिं अयत्ते कूरे मिच्छा दंड पउंज्जइ। एवामेव तह-प्पगारे पुरिस-जाए तित्तिर-वट्टग-लावय-कपोत-कपिंजल-मिय-महिस-वराह-गाह-गोह-कुम्म-सरिसवादिएहिं अय-

त्ते कूरे मिच्छा-दण्डं पउंजइ ।

अथ यथा-नामकः कश्चन पुरुषः कलम-मसूर-तिल-मुद्ग-माष-निष्पाव-कुलत्थालिसिंदक-यवयवा इत्येवमादिष्वयत्नः क्रूरो मिथ्या-दण्डं प्रयुञ्जति । एवमेव तथा-प्रकारः पुरुष-जातस्तित्तिर-वर्तक-लावक-कपोत-कपिञ्जल-मृग-महिष-वराह-ग्राह-गोधा-कूर्म्म-सरीसृपादिष्वयत्नः क्रूरो मिथ्या-दण्डं प्रयुञ्जति ।

पदार्थान्वयः—से-अथ जहा-जैसे नामए-नाम सम्भावना अर्थ में है केइ-कोई पुरिसे-पुरुष कलम-शाली विशेष मसूर-मसूर तिल-तिल मूंग-मूंग मास-माष (उड़द) निष्फाव-धान्य विशेष कुलत्थ-कुलत्थ आलिसिंदग-आलिसिंदक (धान्य विशेष) जवजवा-जवार एवमाइएहिं-इत्यादि अनेक प्रकार के धान्यों के विषय में अयत्ते-अयत्न-शील कूरे-क्रूर कर्म करने वाला मिच्छादंड-मिथ्यादण्ड का पउंजइ-प्रयोग करता है । एवामेव-इसी प्रकार तहप्पगारे-इसी प्रकार के पुरिस-जाए-पुरुष-जात तित्तिर-तित्तिर वट्टग-वटेर (एक जाति का पक्षी) लावय-लावा (एक पक्षी) कपोत-कबूतर कपिंजल-कपिञ्जल (जीव विशेष) विय-मृग महिस-महिष वराह-शूकर गाह-ग्राह (जीव विशेष) गोह-गोधा कुम्म-कच्छुवा सरिसवादि-एहिं-सर्पादि जीवों के विषय में अयत्ते-अयत्नशील कूरे-क्रूर (निर्दयी) मिच्छा-दण्डं-मिथ्या दण्ड का पउंजइ-प्रयोग करता है ।

मूलार्थ—जैसे कोई पुरुष कलम, मसूर, तिल, मूंग, माष, निष्फाव, कुलत्थ, आलिसिंदक और जवार आदि धान्यों के विषय में अयत्न-शील हो क्रूरता से मिथ्या-दण्ड का प्रयोग करता है । इसी प्रकार कोई पुरुष विशेष तित्तिर, वटेरा, लावा, कबूतर, कपिञ्जल, मृग, महिष (भैंस), वराह (शूकर), ग्राह, गोधा, कछुआ और सर्पादि जीवों के विषय में अयत्न-शील हो क्रूरता से मिथ्या-दण्ड का प्रयोग करता है ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि नास्तिक आत्माएं त्रस प्राणियों के साथ सदा धान्य आदि के समान निर्दयता का व्यवहार करते हैं । वे

जैसे वनस्पति तथा धान्य आदि को परिपक्क होने से पूर्व ही निर्दयता-पूर्वक मसल डालते हैं, इसी प्रकार सब तरह के जल-चर, स्थल-चर और खे-चर जीवों के प्रति भी उनके चित्त में दया का भाव नहीं होता। वनस्पति और धान्य के समान ही वे सर्वथा निरपराधी जीवों का क्रूरता से छेदन-भेदन करते हैं और उससे जरा भी नहीं झिझकते, क्योंकि नित्य हिंसावृत्ति में लिप्त रहने के कारण उनके चित्त में दया लेश-मात्र भी अवशिष्ट नहीं रहती। रक्षा का भाव तो उनके चित्त से सर्वथा उड़ ही जाता है।

प्रतिदिन हिंसा करना उनको इतना साधारण प्रतीत होता है जैसे धर्मानु-यायियों को अपने इष्ट देव का भजन। वे जैसे धान्यादि को काटते हैं, कूटते हैं, पीसते हैं तथा पकाते हैं इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय त्रसों के साथ भी उनका व्यवहार होता है। उनका अनुकरण कर उनके कुटुम्बी जन भी प्रायः इसी वृत्ति का अनु-सरण करने लगते हैं, कहा भी है "यथा राजा तथा प्रजा" जिस रास्ते पर राजा चलता है उसी पर प्रजा के लोग चलने लगते हैं।

'कलम' शाली विशेष का नाम है। 'मसूर' वृत्ताकार एक धान्य विशेष होता है। 'निष्पाव' वल्ला का नाम है। 'कुलत्थ' चपलाकार होता है, सौराष्ट्रादि देश में इसको 'चपटिका' के नाम से पुकारा जाता है। 'अलिसिंदक' चपलका धान्य विशेष को कहते हैं।

अब सूत्रकार पुनः इसी विषय में कहते हैं :—

जावि य से बाहिरिया परिसा भवति, तं जहा—दासेति वा पेसेति वा भितएति वा भाइल्लेति वा कम्म-करेति वा भोगपुरिसेति वा तेसिंपि य णं अण्णय-रगंसि अहा-लहुयंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं वत्तेति, तं जहा :—

यापि च तस्य बाह्या परिषद्भवति, तद्यथा—दास इति वा प्रेष्य इति वा भृतक इति वा भागिक इति वा कर्मकर इति

वा भोग-पुरुष इति वा तेषामप्यन्यतरस्मिन् यथा-लघुकेऽपराधे स्वयमेव गुरुकं दण्डं वर्तयति, तद्यथा :—

पदार्थान्वयः—य-और जावि-जो से-उसकी बाहिरिया-बाहिर की परिसा-परिषद् भवति-होती है तं जहा-जैसे दासेति वा-दासी-पुत्र अथवा पेसेति-प्रेष्य वा-अथवा भितएति-वैतनिक पुरुष वा-अथवा भाइल्लेति-व्यापार आदि में समान भाग वाला (हिस्सेदार) कम्मकरेति वा-अथवा काम करने वाला वा-अथवा भोगपुरिसेति-भोग-पुरुष तेसिंपि-उनके अण्णयरगंसि-किसी अहा-लहुयंसि-छोटे से अवराहंसि-अपराध होने पर सयमेव-अपने आप ही गुरुयं दंडं-भारी दण्ड वत्तेति-देता है तं जहा-जैसे :—

मूलार्थ—जो उसकी बाहिर की परिषद् होती है, जैसे-दास, प्रेष्य, भृतक, भागिक, कर्मकर और भोग-पुरुष आदि, उनके किसी छोटे से अपराध हो जाने पर अपने आप ही उनको भारी दण्ड देता है । जैसे :—

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि नास्तिक का अपनी बाहिरी परिषद् (परिजन) के साथ कैसा न्याय-हीन व्यवहार होता है । बाह्य परिषद्—दासी-पुत्र, प्रेष्य (जो इधर उधर कार्य के लिए भेजा जाता है), वैतनिक भृत्य, समानांश-भागी (हिस्सेदार), कर्म-कर और भोग-पुरुष आदि (उससे सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों की संज्ञा है) के छोटे से अपराध पर अपने आप गुरुतर दण्ड देता है, यह उसका सर्वथा अन्याय है ।

न्याय तो वास्तव में वही होता है जिससे अपराध के अनुसार दण्ड विधान किया जाय अर्थात् छोटे अपराध पर छोटा और बड़े अपराध पर बड़ा दण्ड दिया जाय । यदि क्रोध के आवेश में किसी छोटे से अपराध पर बड़े दण्ड की आज्ञा दी जाय तो वह सर्वथा अन्याय है और न्याय का गला घोटना है ।

किन्तु नास्तिक न्याय और अन्याय का विचार तो करता ही नहीं, जिसको चाहता है भारी से भारी दण्ड दे बैठता है ।

उस गुरु-दण्ड का स्वरूप सूत्रकार वक्ष्यमाण सूत्र में वर्णन करते हैं :—

इमं दंडेह, इमं मुंडेह, इमं तज्जेह, इमं तालेह,

इमं अंदुय-बंधणं करेह, इमं नियल-बंधणं करेह, इमं हडि-बंधणं करेह, इमं चारग-बंधणं करेह, इमं नियल-जुयल-संकोडिय-मोडियं करेह, इमं हत्थ-छिन्नयं करेह, इमं पाय-छिन्नयं करेह, इमं कण्ण-छिन्नयं करेह, इमं नक्क-छिन्नयं करेह, इमं उट्ठ-छिन्नयं करेह, इमं सीस-छिन्नयं करेह, इमं मुख-छिन्नयं करेह, इमं वेय-छिन्नयं करेह, इमं हिय-उप्पाडियं करेह, एवं नयण-वसण-दसण-वदण-जिब्भ-उप्पाडियं करेह, इमं उलंबियं करेह, इमं घासियं, इमं घोलियं, इमं सूलाकायतयं, इमं सूलाभिन्नं, इमं खार-वत्तियं करेह, इमं दब्भ-वत्तियं करेह, इमं सीह-पुच्छयं करेह, इमं बसभ-पुच्छयं करेह, इमं दवग्गि-दड्ढयं करेह, इमं काकणी-मंस-खावियं करेह, इमं भत्त-पाण-निरुद्धयं करेह, जावज्जीव-बंधणं करेह, इमं अन्नतरेणं असुभ-कुमारेणं मारेह ।

इमं दण्डयत, इमं मुण्डयत, इमं तर्जयत, इमं ताडयत, अस्यान्दुक-बन्धनं कुरुत, अस्य निगड-बन्धनं कुरुत, अस्य हठ-बन्धनं कुरुत, अस्य चारक-बन्धनं कुरुत, इमं निगड-युगल-सङ्कुटित-मोटितं कुरुत, इमं हस्त-छिन्नकं कुरुत, इमं पाद-छिन्नकं कुरुत, इमं कर्ण-छिन्नकं कुरुत, इमं नासिका-छिन्नकं कुरुत, इममोष्ठ-छिन्नकं कुरुत, इमं शीर्ष-छिन्नकं कुरुत, इमं

मुख-छिन्नकं कुरुत, इमं वेद-छिन्नकं कुरुत, इममुत्पाटित-हृदयं कुरुत, एवमुत्पाटित-नयन-वृषण-दशन-वदन-जिह्वं कुरुत, इममुल्लम्बितं कुरुत, इमं घर्षितम्, इमं घोलितम्, इमं शूलायितम्, इमं शूलाभिन्नम्, इमं क्षार-वर्तितं कुरुत, इमं दर्भ-वर्तितं कुरुत, इमं सिंह-पुच्छितं कुरुत, इमं वृषभ-पुच्छितं कुरुत, इमं दावाग्नि-दग्धकं कुरुत, इमं काकिणी-मांस-खादितं कुरुत, इमं भक्त-पान-निरुद्धकं कुरुत, अस्य यावज्जीव-बन्धनं कुरुत, इममन्येतरेणाशुभेन कुमारेण मारयत ।

पदार्थान्वयः—**इमं**—इसको **दंडेह**—दण्ड दो **इमं**—इसको **मुंडेह**—मुण्डित करो **इमं**—इसको **तज्जेह**—तर्जित करो **इमं**—इसको **तालेह**—मारो **इमं**—इसको **अंदुय-बंधणं करेह**—जंजीरों से बांधो **इमं**—इसका **नियल-बंधणं करेह**—बेड़ी से बन्धन करो **इमं**—इसका **हडि-बंधणं करेह**—काष्ठ से बन्धन करो **इमं**—इसका **चारग-बंधणं करेह**—कारागृह में बन्धन करो **इमं**—इसको **नियल**—बेड़ी **जुयल**—सांकल से **संकोडिय**—संकुचित कर **मोडियं करेह**—मोड़ डालो **इमं**—इसके **हत्थ-छिन्नयं करेह**—हाथ छेदन कर डालो **इमं**—इसके **पाय-छिन्नयं करेह**—पाद छेदन कर डालो **इमं**—इसके **कण्ण-छिन्नयं करेह**—कान छेदन कर डालो **इमं**—इसका **नक्क-छिन्नयं करेह**—नाक काट डालो **इमं**—इसके **उट्ठ-छिन्नयं करेह**—ओष्ठ-छेदन करो **इमं**—इसका **सीस**—शिर **छिन्नयं**—छिन्न **करेह**—करो **इमं**—इसका **मुख-छिन्नयं करेह**—मुख छेदन करो **इमं**—इसकी **वेय-छिन्नयं करेह**—जननेन्द्रिय का छेदन करो **इमं**—इसका **हिय-उप्पाडियं**—हृदय उत्पाटन **करेह**—करो **एवं**—इसी प्रकार **नयण**—नेत्र **वसन**—वृषण **दंसण**—दाँत **वयण**—वदन **मुख**—मुख **जिब्भ**—जिह्वा **उप्पाडियं**—उत्पाटन **करेह**—करो **इमं**—इसको **उलंबियं करेह**—वृक्ष आदि से लटका दो **इमं**—इसको **घासियं**—भूमि आदि पर रगड़ो **इमं**—इसको **घोलियं**—दधिवत् मथन **करेह**—करो **इमं**—इसको **सूलाकायतयं**—शूली पर चढ़ा दो **इमं**—इसके **सूलाभिन्नं**—शूली से टुकड़े २ कर डालो **इमं**—इसके (शरीर पर शस्त्र आदि से व्रण—घाव कर) **खार-वत्तियं करेह**—नमक (सज्जी आदि का) सिञ्चन करो **इमं**—इसको **दब्भ-वत्तियं करेह**—कुशा आदि तीक्ष्ण घास से काटो **इमं**—

इसको **सीह-पुच्छयं करेह**–सिंह की पूंछ से बांध दो **इमं**–इसको **वसभ-पुच्छयं करेह**–वृषभ की पूंछ से बांध दो **इमं**–इसको **दवग्गि-दद्धयं करेह**–दावाग्नि में जला दो **इमं**–इसको **काकिणी-मंस-खावियं करेह**–इसके मांस के कौड़ी के समान टुकड़े बना कर खिलाने का प्रबन्ध करो **इमं**–इसका **भत्त-पाण**–भोजन और जल का **निरुद्धयं करेह**–निरोध करो **इमं**–इसको **जावज्जीव**–जीवन पर्यन्त **बंधणं करेह**–बन्धन करो **इमं**–इसको **अन्नतरेणं**–किसी और **असुभेण**–अशुभ **कुमारेणं**–कुमृत्यु से **मारेह**–मार डालो । इस प्रकार अन्याय-पूर्ण व्यवहार नास्तिक का अपनी बाहिरी परिषत् से होता है ।

मूलार्थ—इसको दण्डित और मुण्डित करो । इसका तिरस्कार करो । इसको मारो । इसको बेड़ी, जन्जीर और सांकल आदि से काष्ठादि पर बांध दो । इसके अङ्ग २ को संकुचित कर मोड़ डालो । इसके हाथ, पैर, नाक, ओष्ठ, शिर, मुख और जननेन्द्रिय का छेदन करो । इसके हृदय, नेत्र, दांत, वदन, जिह्वा और वृषणों का उत्पाटन करो । इसको वृक्ष से लटका दो, भूमि पर रगड़ो । इसके अधोद्वार से शूली प्रवेश कर मुंह से बाहर निकाल दो । इसके शूल से टुकड़े २ कर डालो । इसके घावों पर नमक छिड़को । इसको कुशा आदि तीक्ष्ण घास से काटो । इसको सिंह या वृषभ की पूंछ से बांध दो । इसको दावाग्नि से जला दो । इसके मांस के कौड़ी के समान टुकड़े बना कर इसीको खिलाने का प्रबन्ध करो । इसका भोजन और जल रोक दो । इसको यावज्जीवन बन्धन में रखो । इसको किसी और अशुभ कुमृत्यु से मार डालो ।

टीका—इस सूत्र में नास्तिक के अपनी बाहिरी परिषद् के प्रति जैसा अन्याय-पूर्ण व्यवहार होता है उसका वर्णन किया है । यदि कोई नास्तिक ग्राम आदि का अध्यक्ष हो और उसके दास आदि से छोटे से छोटा अपराध भी हो जाय तो वह क्रोध से परिपूर्ण होकर उसके लिए निम्न-लिखित कठोर से कठोर दण्ड विधान करता है, जैसे :—

इसका सर्वस्व हरण कर लो । इसके शिर के बालों का मुण्डन कर दो । इसका तिरस्कार करो, इसको कोड़े आदि से मारो, इसको बेड़ी या सांकल से बांधो । इसको लकड़ी के खूंटे से बांध दो । इसको कारागार में डालो । निगड़ आदि

बन्धनों से इसके अङ्गों को संकुचित कर मोड़ डालो। जब इसके अङ्ग २ जकड़ दिये जाएँगे तो यह अपनी होश में आजाएगा। इसके हाथ, पैर, नाक, कान, शिर, ओष्ठ और मुख का छेदन करो। इसकी जननेन्द्रिय काट डालो। इसका हृदय छेदन करो। इसी तरह इसके नेत्र, वृषण, दन्त, वदन और जिह्वा उखाड़ डालो। इसको रस्सी से बांध कर कूप में या वृक्ष और पर्वत से लटकादो। इसके अधोद्वार से शूल प्रक्षेप कर मुख-द्वार से बाहर निकालो। इसकी कुक्षा आदि त्रिशूल से भेदन करो। इसके शरीर पर शस्त्र आदि से घाव कर नमक सिञ्चन करो। इसको कर्तनी से चीर दो और विदारित करो। इसको सिंह-पुच्छित करो— इसका अर्थ वृत्तिकार इस प्रकार करते हैं :—

"जब सिंह सिंहनी से मैथुन करता है, उस समय मैथुन समाप्त होने पर सिंह की जननेन्द्रिय योनि से बाहर निकलते समय कट जाती है, इसी प्रकार इसके लिङ्ग का भी छेदन करो"। किन्तु अर्द्ध-मागधी कोष में लिखा है "गर्दन के पिछले भाग की चमड़ी उधेड़ कर सिंह के पूंछ के आकार से उसको लटकाना तथा सिंह के पूंछ के आकार की चमड़ी उधेड़ना यह एक प्रकार की शिक्षा है इत्यादि"। तथा उसको वानरवत् सिंह की पूंछ से बांध देना अथवा वृषभ की पूंछ से बांध देना, क्योंकि सिंह या वृषभ की पूंछ से बंधा हुआ व्यक्ति अत्यन्त विडम्बना का पात्र होता है। उपलक्षण से हस्ति आदि की पूंछ से बांध दो इत्यादि जान लेना चाहिए।

इसको दावाग्नि (**वन की अग्नि**) में जला दो। इसके मांस के कौड़ी के समान टुकड़े कर इसीको खिलादो। इसके अन्न और पानी का निरोध करदो। इसको आयु-पर्यन्त बन्धन में रखो। इसको किसी और कुमृत्यु से मार डालो, इत्यादि अनेक प्रकार के घृणित और कठोर दण्ड वह अपनी बाहिरी परिषद् के लिए विधान करता है। न्याय तो वह जानता ही नहीं।

संसार में प्रत्येक व्यक्ति को न्याय के मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए, अन्याय के मार्ग का नहीं। नास्तिक सिद्धान्तों पर चलने से आत्मा न्याय-मार्ग को भूल अन्याय-शील बन जाता है। अतः नास्तिक-सिद्धान्तों का सर्वथा बहिष्कार करना चाहिए।

इस सूत्र में कुछ एक स्थानों पर षष्ठी के स्थान पर भी 'इमं' द्वितीया

का प्रयोग हुआ है यह दोषाधायक नहीं, क्योंकि प्राकृत में प्रायः ऐसा विभक्ति व्यत्यय हो ही जाता है।

अब सूत्रकार वर्णन करते हैं कि नास्तिक का आभ्यन्तरी परिषद् के साथ कैसा बर्ताव होता है :—

जाविय सा अब्भिंतरिया परिसा भवति, तं जहा— मायाति वा पियाति वा भायाति वा भगणिति वा भज्जाति वा धूयाति वा सुण्हाति वा तेसिंपि य णं अण्णयरंसि अहा-लहुयंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं वत्तेति, तं जहा :—

यापि च साभ्यन्तरी परिषद्भवति, तद्यथा—मातेति वा पितेति वा भ्रातेति वा भगिनीति वा भार्येति वा दुहितेति वा स्नुषेति वा तेषामपि च न्वन्यतरस्मिन् यथा-लघुकेऽपराधे स्वय-मेव गुरुकं दण्डं वर्तयति, तद्यथा :—

पदार्थान्वयः—**जाविय**—और जो **सा**—वह **अब्भिंतरिया**—आभ्यन्तरी (भीतरी) **परिसा**—परिषद् **भवति**—होती है **तं जहा**—जैसे **मायाति**—माता **वा**—अथवा **पियाति**—पिता **वा**—अथवा **भायाति**—भ्राता **वा**—अथवा **भगणिति**—भगिनी **वा**—अथवा **भज्जाति**—भार्या **वा**—अथवा **धूयाति**—दुहिता (कन्या) **सुण्हाति**—पुत्र-वधू यहां सर्वत्र "ति" इति शब्द पद की समाप्ति के अर्थ में है "वा" शब्द समूह वाचक है **तेसिंपि य**—उनको भी **अण्णयरंसि**—किसी **अहा लहुयंसि**—छोटे से **अवराहंसि**—अपराध पर **सयमेव**—अपने आप ही **गरुयं**—भारी **दंडं**—दण्ड **वत्तेति**—देता है, **तं जहा**—जैसे—**णं**—शब्द वाक्यालङ्कार में है।

मूलार्थ—उसकी (नास्तिक की) जो आभ्यन्तरी परिषद् होती है, जैसे—माता, पिता, भ्राता, भगिनी, भार्या, पुत्री और पुत्र-वधू—इनके किसी छोटे से अपराध होने पर भी स्वयं भारी दण्ड देता है। जैसे :—

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि नास्तिक आभ्यन्तरी परिषद् के सदस्यों—माता, पिता, भ्राता, भगिनी, भार्या, पुत्री और पुत्र-वधू के किसी छोटे से अपराध हो जाने पर भी उनको स्वयं भारी से भारी दण्ड देता है।

अब दण्ड का स्वरूप वर्णन करते हैं:—

सीतोदग-वियडंसि कायं बोलित्ता भवति, उसिणोदय-वियडेण कायं सिंचित्ता भवति, अगणि-काएण कायं उड्डहित्ता भवति, जोत्तेण वा वेत्तेण वा नेत्तेण वा कसेण वा छिवाडीए वा लयाए वा पासाइं उद्दालित्ता भवति, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुएण वा कवालेण वा कायं आउट्टित्ता भवति, तहप्पगारे पुरिस-जाए संवसमाणे दुम्मणा भवंति, तहप्पगारे पुरिस-जाए विप्पवसमाणे सुमणा भवंति।

शीत-विकटोदको कायं बूडिता भवति, उष्ण-विकटोदकेन कायं सिञ्चिता भवति, अग्नि-कायेन कायमुद्दग्धा भवति, योक्त्रेण वा वेत्रेण वा नेत्रेण वा कशेन वा लघु-कशेन (छिवाडीए) वा लतया वा पार्श्वान्युद्दालयिता भवति, दण्डेन वा अस्थ्ना वा मुष्टया वा लेष्टुकेन वा कपालेन वा कायं आकुट्टिता भवति, तथा-प्रकारे पुरुष-जाते संवसति दुर्मनसो भवन्ति, तथा-प्रकारे पुरुष-जाते विप्रवसति सुमनसो भवन्ति।

पदार्थान्वयः—सीतोदग-वियडंसि—शीत और विशाल जल में कायं—शरीर को बोलित्ता—डुबाने वाला भवति—होता है उसिणोदय-वियडेण—उष्ण और विशाल जल से कायं—शरीर को सिंचित्ता—सिञ्चन कराने वाला भवति—होता है अगणि-

काएण–अग्नि-काय द्वारा **कायं**–शरीर को **उड्डहित्ता**–जलाने वाला **भवति**–होता है **वा**–अथवा **जोत्तेण**–योक्त्र से **वा**–अथवा **वेत्तेण**–वेत से **नेत्तेण**–नेत्र से **वा**–अथवा **कसेण**–चाबुक से **वा**–अथवा **छिवाडीए**–लघु चाबुक से **वा**–अथवा **लयाए**–लता से **पासाइं**–पार्श्व भागों की **उद्दालित्ता**–चमड़ी उतारने वाला **भवति**–होता है । **वा**–अथवा **दंडेण**–दण्ड से **वा**–अथवा **अट्ठीण**–अस्थियों से **वा**–अथवा **मुट्ठीण**–मुष्टि से **वा**–अथवा **लेलुएण**–कङ्कड़ों (छोटे २ पत्थरों) से **वा**–अथवा **कवालेण**–कपाल (घड़े आदि के ठीकरे) से **कायं**–शरीर को **आउट्टित्ता**–जान कर पीड़ा कराने वाला **भवति**–होता है **तहप्पगारे**–इस प्रकार के **पुरिस-जाए**–पुरुष-जात के **संवसमाणे**–समीप वसते हुए **दुम्मणा भवंति**–दुर्मन होते हैं **तहप्पगारे**–इस प्रकार के **पुरिस-जाए**–पुरुष-जात के **विप्पवसमाणे**–दूर रहने पर **सुमणा भवंति**–प्रसन्न चित्त होते हैं ।

मूलार्थ—**नास्तिक कहता है कि इनको शीतल जल में डुबा दो, इनके शरीर पर उष्ण जल का सिञ्चन करो, इनको अग्निकाय से जला दो, इनके पार्श्व भागों की योक्त्र से, वेत से, नेत्राकार शस्त्र विशेष से, चाबुक से, लघु चाबुक से चमड़ी उधेड़ डालो, अथवा दण्ड से, कूर्पर (कोहिनी) से, मुष्टि से, ठीकरों से इनके शरीर को पीड़ित करो । इस प्रकार के पुरुष के समीप रहने पर लोग दुःखित होते हैं, किन्तु इस प्रकार के पुरुष के पृथक् होने पर प्रसन्न-चित्त होते हैं ।**

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि नास्तिक आभ्यन्तरी परिषद् के छोटे से छोटे अपराध भी निम्न-लिखित कठोर से कठोर दण्ड देने के लिए प्रस्तुत रहता है । जैसे–शीतकाल में वह आज्ञा देता है कि अपराधी को अत्यन्त शीत और विशाल जल में डुबा दो और ग्रीष्म ऋतु में वह कहता है कि इसके शरीर पर अत्यन्त उष्ण जल का सिञ्चन करो अथवा तप्त-लोह-गोल से इसके शरीर को दग्ध करो। अग्निकाय से इसको जला दो। योक्त्र से, वेत से, लता से, नेत्र (जलवेण्ड) से, कशा से, लघुकशा (छोटे चाबुक) से इसके पार्श्व भागों की चमड़ी उधेड़ डालो (पार्श्व-त्वगादीनामपनाययिता भवति) तथा लकुट (लकड़ी) से, कूर्पर (कोहनी) से, मुष्टि से, लेष्टु (पत्थर) से, अथवा कपाल (ठीकरे) से इसके शरीर को अत्यन्त पीड़ित करो (आस्फोटयति-अत्यन्तं कुट्टयतीत्यर्थः) इसको कूटो, मारो ।

अब सूत्रकार कहते हैं कि ऐसे पुरुष के पास जो कोई रहता है वह दुर्मन (दुःखित-चित्त) होकर ही रहता है और जब वह उनसे पृथक् हो जाता है तो प्रसन्न चित्त होकर रहता है। कुटुम्बी जन उससे पृथक् रहने पर इतना प्रसन्न होते हैं जितना मार्जार (बिल्ली) के दूर होने पर मूषक ।

इस कथन से भली भांति सिद्ध किया गया है कि अपराधी को दण्ड देने का निषेध नहीं है किन्तु दण्ड विधान अपराध को देखकर न्याय से ही होना चाहिए, अर्थात् छोटे अपराध का छोटा और बड़े अपराध का बड़ा ही दण्ड होना न्याय है। नास्तिक यह नहीं देखता। वह छोटे बड़े सब अपराधों का एक समान कठोर ही दण्ड देता है।

अब सूत्रकार उक्त विषय का ही वर्णन करते हैं :—

तहप्पगारे पुरिस-जाए दंडमासी, दंड-गरुए, दंड-पुरेक्खडे अहिए अस्सिं लोयंसि अहिए परंसि लोयंसि। ते दुक्खेति सोयंति एवं झुरंति तिप्पंति पिट्टेइ परितप्पन्ति। ते दुक्खण-सोयण-झुरण-तिप्पण-पिट्टण-परितप्पण-वह-बंध-परिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति।

तथाप्रकारः पुरुष-जातो दण्डाभृषी, दण्ड-गुरुकः, दण्ड-पुरस्कृतः, अहितोऽस्मिन् लोकेऽहितः परस्मिन् लोके। ते दुःखयन्ति, शोचयन्ति, एवं झुरयन्ति, तेपयन्ति, पीडयन्ति, परितापयन्ति, ते दुःखन-शोचन-झुरण-तेपन-पीडन-परितापन-वध-बन्ध-परिक्लेशादप्रतिविरता भवन्ति।

पदार्थान्वयः—**तहप्पगारे**—इस प्रकार का **पुरिस-जाए**—पुरुष-जात **दंड-मासी**—सदा दण्ड के लिए तत्पर **दण्ड-गरुए**—भारी दण्ड देने वाला **दंड-पुरेक्खडे**—प्रत्येक बात में दण्ड को आगे किये रहता है। **अस्सिं लोयंसि**—इस लोक में **अहिए**—

अहितकारी है और **परंसि लोगंसि**–पर-लोक में **अहिए**–अहित रूप है **ते**–वे पुरुष **दुक्खेति**–अन्य लोगों को दुःखों से पीड़ित करते हैं **सोयंति**–दूसरों को शोक उत्पन्न कराते हैं । **एवं**–इसी प्रकार **झुरंति**–झुराते हैं **तिप्पंति**–रुलाते हैं **पिट्टेइ**–पीड़ा पहुंचाते हैं **परितप्पंति**–परितापना दिखाते हैं **ते**–वे दुष्टात्मा **दुक्खण**–दूसरों को दुःख पहुंचाने से **सोयण**–शोक उत्पन्न करने से **झुरण**–झुराने से **तिप्पण**–रुलाने से **पिट्टण**–पीड़ा पहुंचाने से **परितप्पण**–परिताप उत्पन्न करने से वह–वध **बंध**–बन्धन से **परिकिलेसाओ**–परिक्लेश से **अप्पडिविरया**–अप्रतिविरत **भवंति**–होते हैं ।

मूलार्थ—इस प्रकार का पुरुष सदा दण्ड के लिए तत्पर रहता है । छोटे से अपराध पर भी भारी दण्ड देता है । सदा दण्ड को ही आगे किये रहता है । वह इस लोक और पर-लोक में अहितकारी है । वह नास्तिक दूसरे जीवों को दुःखित करता है, उनको शोक उत्पन्न करता है, इसी प्रकार झुराता है, रुलाता है, पीड़ा पहुंचाता है और परितापना करता है । वह पुरुष दूसरों को दुःखित करने से, शोक पैदा करने से, झुरण से, रुलाने से, पीड़ा पहुंचाने से, परितापना से, वध और बन्धरूप परिक्लेशों से अप्रतिनिवृत्त होता है ।

टीका—इस सूत्र में भी सूत्रकार पूर्व-वर्णित हृदय-हीन नास्तिकों के व्यवहार का ही वर्णन करते हैं, जैसे–नास्तिक दण्डामृषी होते हैं अर्थात् विना दण्ड के किसी को नहीं छोड़ते । इस विषय में वृत्तिकार लिखते हैं :—"तथाप्रकारः पुरुषो दण्डामृषी–दण्डेनामृषति, कृतापराधं सहनं न करोति–इति दण्डामृषी । कृतापराधं दण्डेन विना न मुञ्चतीत्यर्थः" । किन्तु अर्धमागधी कोष में दंडपासि (पु०) दण्डपार्शिवन्, इस प्रकार पाठान्तर कर "थोड़े से अपराध के लिए भारी दण्ड देने वाला" यह अर्थ किया है । ये दोनों अर्थ युक्ति-संगत हैं । नास्तिक दण्ड को ही गुरु मान कर बात २ में दण्ड देने के लिए प्रस्तुत रहता है । यद्यपि ऐसे पुरुष उस समय अपनी दुष्टता से प्रसन्न रहते हैं, किन्तु उनका इस प्रकार अन्याय-पूर्ण व्यवहार इस लोक और पर-लोक में दुःख रूप ही होता है । जब वह अपने परिजन के साथ ही अन्याय-पूर्ण व्यवहार करता है तो अन्य जीवों के विषय में तो कहना क्या है । वे दूसरे जीवों को दुखाते हैं, उनको शोक उत्पन्न करते हैं, उनके शरीर का अपचय कराते हैं, उनको रुलाते हैं, पीड़ा पहुंचाते है, परितापना उत्पन्न करते

हैं, वे उक्त क्रियाओं से कभी निवृत्त नहीं होते । उनका आत्मा सदैव अन्य जीवों को हानि पहुंचाने में ही लगा रहता है ।

'तिप्र क्षरणे' धातु से "तिप्पंति" प्रयोग बना हुआ है । इसका अर्थ है—"तिप्र क्षरणे इति वचनात् तेपयन्ति अश्रुक्षरणादि-शोककारणोत्पादनेन" आंखों से अश्रु-विमोचन कराना इत्यादि ।

अब सूत्रकार उक्त विषय का ही वर्णन करते हैं :—

एवामेव ते इत्थि-काम-भोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववण्णा जाव वासाइं चउ-पंचमा-छ-दस-माणि वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्ता काम-भोगाइं पसेवित्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता बहुयं पावाइं कम्माइं उसन्नं संभार-कडेण कम्मुणा से जहा-नामए अय-गोले इवा सेल-गोले इवा उदयंसि पक्खित्ते समाणे उदग-तलमइवत्तित्ता अहे धरणी-तले पइठाणे भवति एवामेव तहप्पगारे पुरिस-जाए वज्ज-बहुले धूत-बहुले पंक-बहुले वेर-बहुले दंभ-नियडि-साइ-बहुले आसा-यणा-बहुले अयस-बहुले अप्पत्तिय-बहुले उस्सणं तस्स-पाण-घाती कालमासे काल-किच्चा धरणी-तलमइवत्तित्ता अहे नरग-धरणी-तले पइठाणे भवति ।

एवमेव ते स्त्री-काम-भोगेषु मूर्च्छिता गृद्धा अध्युपपन्ना यावद्वर्षाणि चत्वारि, पञ्च, षड्, दश वाल्पतरं वाभूयस्तरं वा कालं भुक्त्वा काम-भोगान्, प्रसेव्य वैरायतनानि, सञ्चित्य बहूनि

पापानि कर्माणि, प्रायः सम्भार-कृतेन कर्मणा स यथा-नामकः अयोगोलक इव शैल-गोलक इव उदके प्रक्षिप्तः सन् उदक-तलमतिवर्त्य अधो धरणीतले प्रतीष्ठो भवति, एवमेव तथा-प्रकारः पुरुष-जातोऽवद्य-बहुलः, धूत-बहुलः, पङ्क-बहुलः, वैर-बहुलः, दम्भ-निकृति-साति-बहुलः, आशातना-बहुलः, अयशो-बहुलोऽप्रतीति-बहुलः प्रायेण त्रस-प्राण-घाती काल-मासे कालं-कृत्वा धरणीतलमतिवर्त्याधो नरक-धरणी-तले प्रतीष्ठो भवति ।

पदार्थान्वयः—**एवामेव**—इसी प्रकार **ते**—वे पुरुष **इत्थि-काम-भोगेहिं**—स्त्री-काम-भोगों में **मुच्छिया**—मूर्च्छित हैं **गिद्धा**—लंपट हैं **गढिया**—गर्धित हैं **अज्झोववण्णा**—परम आसक्त हैं **जाव**—यावत् **चउ**—चार **पंचमा**—पांच **छ**—छः **दसमाणि वा**—अथवा दश **वासाइं**—वर्ष पर्यन्त **वा**—अथवा **अप्पतरो**—अल्पकाल पर्यन्त **वा**—अथवा **भुज्जतरो**—प्रभूत काल पर्यन्त **काम-भोगाइं**—काम भोगों को **भुंजित्ता**—भोग कर और **वेरायतणाइं**—वैर भाव के स्थानों को **पसेवित्ता**—सेवन कर **बहुयं**—बहुत **पावाइं**—पाप **कम्माइं**—कर्म **संचिणित्ता**—सञ्चय कर **उसन्नं**—प्रायः **संभार-कडेण कम्मुणा**—उस कर्म के भार से प्रेरित किया हुआ **से**—वह **जहानामए**—यथानाम वाला **अयगोले इवा**—लोह-पिण्ड अथवा **सेल-गोले इवा**—पत्थर का गोला **उदयंसि**—जल में **पक्खित्ते समाणे**—प्रक्षिप्त किया हुआ **उदगतलमइवत्तित्ता**—जल के तल को अतिक्रम करके **अहे**—नीचे **धरणीतले**—धरती के तल पर **पइठाणे**—प्रतिष्ठित **भवति**—होता है **एवामेव**—इसी प्रकार **तहप्पगारे**—इस प्रकार का **पुरिस-जाए**—पुरुष-जात-**वज्ज-बहुले**—पाप कर्म से परिपुष्ट **धूत-बहुले**—प्राचीन कर्मों से बंधा हुआ अर्थात् जिसके पुरातन कर्म बहुत हैं **पंक-बहुले**—पापरूपी कीचड़ से आवेष्टित **वेर-बहुले**—अधिक वैर करने वाला **दंभ**—छल **नियडि**—अति-छल **साइ**—साति **बहुले**—जिसमें बहुत हैं **आसायणा-बहुले**—आशातनाएं बहुत हैं **अयस-बहुले**—अयश बहुत हैं **अप्पत्तिय-बहुले**—अप्रतीति बहुत है **उस्सण्णं**—प्रायः **तस्स-पाण-घाती**—त्रस प्राणियों का घात करने वाला **कालमासे**—अवसर पर **काल-किच्चा**—काल करके **धरणी-तलमइवत्तित्ता**—धरणी तल को अतिक्रम कर **अहे**—नीचे **नरग**—नरक में **धरणी-तले**—भूमि के तल पर **पइठाणे**—प्रतिष्ठित **भवति**—होता है ।

मूलार्थ—इसी प्रकार वे पुरुष स्त्री-सम्बन्धी काम भोगों के लिये मूर्च्छित, गृद्ध, अतिगृद्ध और आसक्त रहते हैं। यावत् चार, पांच, छः, दश वर्ष पर्यन्त अथवा इससे कुछ न्यून या अधिक समय तक काम भोगों को भोग कर और वैर भाव का सञ्चय कर अनेक पाप कर्मों का उपार्जन करते हुए प्रायः भारी कर्मों की प्रेरणा से जैसे लोहे या पत्थर का गोला जल में प्रक्षिप्त किया हुआ उदक-तल को अतिक्रम करके भूमि पर जा बैठता है, इसी प्रकार वज्रवत् कर्मों से भारी हुआ, पूर्व जन्म के कर्मों से बंधा हुआ, बहुत सारे पाप कर्मों के उदय से, अधिक वैर-भाव से, अप्रतीति की अधिकता से, पाप रूपी कर्दम के बहुत होने से, दम्भ, छल, आशातना और अयश की अधिकता से, त्रस प्राणियों के घात से, काल के प्रभाव से काल द्वारा भूमि तल को अतिक्रम करके नीचे नरक तल पर जा बैठता है।

टीका—इस सूत्र में नास्तिक सिद्धान्त के अनुयायी के कर्म और उसके फल का वर्णन किया गया है। जैसे—वह नास्तिक स्त्री-सम्बन्धी काम-भोगों में मूर्च्छित रहता है, उनमें विशेष आकाङ्क्षा रखता है, उनके मोह रूपी तन्तुओं से बंधा होता है और उसीमें सदा आसक्त रहता है। इसी प्रकार विविध भोगों में न्यून या अधिक समय तक निमग्न वह जिस प्रकार जल में प्रक्षिप्त लोहे का या पत्थर का गोला जल को अतिक्रम कर भूमि-तल पर जा ठहरता है उसी प्रकार वज्र-समान कर्मों से भारी हुआ, पूर्व-जन्म के कर्मों से आवेष्टित होकर, पाप-कर्मों के उदय से, प्रभूत वैर भाव होने से, अप्रतीति की अधिकता से, प्रभूत (अत्यन्त अधिक) छल और विश्वास-घात से, साति अर्थात् गुणहीनता की अधिकता से, अयश-वृद्धि से, त्रस-प्राणियों का घातक होने के कारण समय आने पर काल करके भूमि-तल को अति-क्रम कर सीधे रत्नप्रभादि नरकों में पहुंचता है अर्थात् अपने अशुभ कर्म भोगने के लिए उनको नरक में जन्म लेना पड़ता है।

उक्त कथन का सारांश यह निकला कि जिस प्रकार लोहे या पत्थर का गोला भारी होने के कारण सीधे भूमितल पर ही पहुंचता है, इसी प्रकार अशुभ कर्मों के भार से नास्तिक नरक में जाकर ही आश्रय पाता है, क्योंकि मृत्यु के अनन्तर प्रत्येक जीव अपने कर्मों के अनुसार ही स्वर्ग या नरक लोक को जाता है। उसको कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है।

इस सूत्र में पाप-कर्मों के फल का दिग्-दर्शन कराया है। "कालमास" शब्द से दिन रात्रि तथा मुहूर्त आदि का भी बोध कर लेना चाहिए। यह भी ध्यान में रखना उचित है कि किया हुआ पाप-कर्म पुनः कर्ता को स्वयं ही फल के अनुसार कर्म करने में प्रेरित करने लग जाता है।

अब सूत्रकार नरक का वर्णन करते हैं:—

ते णं नरगा अंतोवट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्प-संठाण-संठिआ, निच्चंधकार-तमसा ववगय-गह-चंद-सूर-णक्खत्त-जोइस-प्पहा, मेद-वसा-मंस-रुहिर-पूय-पडल-चिक्खल-लित्ताणुलेवणतला, असुइविसा, परम-दुब्भिगंधा, काउय-अगणि-वण्णाभा, कक्खड-फासा, दुर-हियासा, असुभा नरगा, असुभा नरयेसु वेयणा, नो चेव णं नरए नेरइया निद्दायंति वा पयलायंति वा सुतिं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलब्भंति, ते णं तत्थ उज्जलं विउलं पगाढं कक्कसं कडुयं चंडं दुक्खं दुग्गं तिक्खं तिव्वं दुक्खहियासं नरएसु नेरइया नरय-वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति।

ते नु नरका अन्तोवृत्ताः, बहिश्चतरस्राः, अधःक्षुरप्र-संस्थान-संस्थिताः, नित्यान्धकारतमसो व्यपगत-ग्रह-चन्द्र-सूर्य-नक्षत्र-ज्योतिः-प्रभाः, मेदो-वसा-मांस-रुधिर-पूत-पटल-कर्दम-(चिक्खल)-लेपानुलिप्ततलाः, अशुचि-विश्राः, परम-दुरभिगन्धाः, कृष्णाग्नि-वर्णाभाः, कर्कश-स्पर्शाः, दुरधि-सह्याः, अशुभा नरकाः,

अशुभा नरकेषु वेदना नो चैव नु नरकेषु नैरयिका निद्रायन्ते वा प्रचलायन्ते वा स्मृतिं वा रतिं वा धृतिं वा मतिं वोपलभन्ते ते नु तत्रोज्ज्वलं विपुलं प्रगाढं कर्कशं कटुकं चण्डं रुद्रं दुर्गं तीक्ष्णं तीव्रं दुरधिसह्यं नरकेषु नैरयिका नरक-वेदनं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति ।

पदार्थान्वयः—**ते**—वे **नरगा**—नरक-स्थान **अंतो**—भीतर से **वट्टा**—गोलाकार और **बाहिं**—बाहिर **चउरंसा**—चतुष्कोण हैं **अहे**—नीचे **खुरप्प**—क्षुर (उस्तरा) आदि तीक्ष्ण शस्त्रों के **संठाण**—संस्थान से **संठिया**—संस्थित हैं **निच्चंधकार**—सदा अन्धकार और **तमसा**—तम के कारण **ववगय**—दूर हो गई है **गह**—ग्रह **चंद**—चन्द्र **सूर**—सूर्य **णक्खत्त**—नक्षत्रों की **जोइस-प्पहा**—ज्योति की प्रभा (जिनसे), (परमाधार्मियों ने दुःख देने के लिए वैक्रियमयी) **मेद**—मेद **वसा**—वसा **मंस**—मांस **रुहिर**—रुधिर और **पूय**—विकृत रुधिर (पीप) का **पडल**—समूह **चिक्खल्ल**—कीचड़ से **लित्ताणुलेवणतला**—भूमि का तल लिप्त किया होता है **असुइविसा**—मल-मूत्रादि से लिप्त अथवा बीभत्स (परम) उत्कट **दुब्भिगंधा**—दुर्गन्ध से भरे हुए हैं **काउय**—कपोत वर्ण वाली या कृष्ण **अगणि-वण्णाभा**—अग्नि के समान प्रभायुक्त भूमि है तथा **कक्खड-फासा**—कर्कश स्पर्श **दुरहियासा**—दुःख से सहन किया जाता है **असुभा नरगा**—नरक अशुभ हैं **असुभा नरएसु वेयणा**—और नरक की वेदना भी अशुभ ही है **नो** नहीं **च**—पुनः **एव**—अवधारणार्थक है **णं**—वाक्यालङ्कार में **नरए**—नरक में **नेरइया**—नारकी **निद्दायंति**—निद्रा लेते हैं **वा**—अथवा **पयलायंति**—प्रचला नाम वाली निद्रा लेते हैं **वा**—अथवा **सुतिं**—स्मृति **वा**—अथवा **रतिं**—रति **वा**—अथवा **धितिं**—धृति **वा**—अथवा **मतिं**—बुद्धि की **उवलभंति**—प्राप्ति करते हैं **ते**—वे **तत्थ**—वहां **उज्जलं**—उज्वल **विउलं**—विपुल **पगाढं**—अत्यन्त गाढ **कक्कसं**—कर्कश **कडुयं**—कटुक **चंडं**—चण्ड **रुद्दं**—रुद्र **दुक्खं**—दुःख रूप **तिक्खं**—तीक्ष्ण **तिव्वं**—तीव्र **दुक्खहियासं**—जो दुःख पूर्वक सहन की जाती हैं **नरएसु**—नरकों में **नेरइया**—नारकी **नरयं-वेयणं**—नरक की वेदना को **पच्चणुभवमाणा**—अनुभव करते हुए **विहरंति**—विचरते हैं **णं**—सर्वत्र वाक्यालङ्कार में है ।

मूलार्थ—वे नरक-स्थान भीतर से गोलाकार और बाहिर से चतुष्कोण हैं । नीचे क्षुर के समान संस्थान से स्थित हैं । वहां सदैव तम और अन्धकार ही रहता है । सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्रों की ज्योति की प्रभा उनसे दूर हो गई है । उन नरकों का भूमि-तल मेद, वसा, मांस, रुधिर और विकृत रुधिर समूह के कीचड़ से लिप्त रहता है । वे अशुचि और कुथित हैं । वहां उत्कट दुर्गन्ध आती है और कृष्णाग्नि के समान प्रभा है । कर्कश स्पर्श दुःख से सहन किया जाता है । नरक अशुभ हैं । उनकी वेदनाएं भी अशुभ ही हैं । नरक में नारकियों को निद्रा तथा प्रचला नाम निद्रा नहीं आती, नाहीं उनको स्मृति, रति, धृति और मति उपलब्ध होती है । वे नारकी नरक में उज्ज्वल, विपुल, प्रगाढ़, कर्कश, कटुक, चण्ड, रौद्र, दुःख-मय, तीक्ष्ण, तीव्र और दुःसह्य वेदना का अनुभव करते हुए विचरते हैं ।

टीका—इस सूत्र में नरक और नरक के दुःखों का दिग्दर्शन कराया गया है, जैसे—नरक का भीतरी भाग गोलाकार और बहिर्भाग चतुष्कोण है । नरकों की भूमि क्षुर के समान तीक्ष्ण है । वहां ज्योतिश्चक्र के न होने से निरन्तर अन्धकार रहता है । परमाधर्मी देव नारकियों को दुःख देने के लिए अनेक अनिष्ट पदार्थों को वैक्रिय (विकुर्वणा) करते हैं, जैसे—मेद (चरबी), वसा, मांस, रुधिर और पूत आदि की विकुर्वणा कर उनसे भूमि-तल का लेप किया होता है । कुथित पदार्थों की उत्कट गन्ध से सब नरक व्याप्त रहते हैं । कृष्णाग्नि की प्रभा के समान वहां के सब पदार्थ तप्त रहते हैं । नारकी जीव सदैव दुःसह वेदना का अनुभव करते हैं । उनकी निद्रा, प्रचला (बैठे २ निद्रा लेना), स्मृति, रति, बुद्धि, धृति आदि सब नष्ट हो जाती हैं । इससे वे सदैव उज्ज्वल, निर्मल, विपुल, प्रगाढ़, कर्कश, कटुक, चण्ड, रौद्र, रूक्ष, दुर्गम, अति दुःखद और तीव्र वेदना का अनुभव करते हुए विचरते हैं । तात्पर्य यह है कि नरक में निमेष-मात्र के लिए भी सुख नहीं होता । सदैव उत्कट से उत्कट दुःख का अनुभव वहां करना पड़ता है । यह सब दुःख पूर्व-जन्म के उन बुरे कर्मों का फल होता है, जिनको आत्मा नास्तिक मत का अनुयायी होकर करता था ।

अब सूत्रकार उक्त विषय को ही दृष्टान्त द्वारा परिपुष्ट करते हैं :—

से जहा-नामए रुक्खे सिया, पव्वयग्गे जाए मूल-छिन्ने अग्गे गरुए, जओ निन्नं, जओ दुग्गं, जओ विसमं, तओ पवडंति, एवामेव तहप्पगारे पुरिस-जाए गब्भाओ गब्भं जम्माओ जम्मं माराओ मारं दुक्खाओ दुक्खं दाहिण-गामि-नेरइए कण्ह-पक्खिए आगमेस्साणं दुल्लभ-बोहिए यावि भवति। से तं अकिरिया-वाइ यावि भवइ ।

अथ यथा नामको वृक्षः स्यात्, पर्वताग्रे जातश्छिन्नमूलोऽग्रे गुरुको यतो निम्नं, यतो दुर्गं, यतो विषमं, ततः पतति, एवमेव तथा-प्रकारः पुरुष-जातो गर्भाद् गर्भं जन्मनो जन्म मारान्(मृत्योः) मारं दुःखाद् दुःखं दक्षिण-गामि-नैरयिकः कृष्ण-पाक्षिक आगमिष्यति काले दुर्लभ-बोधी चापि भवति । अथासावक्रिय-वादी चापि भवति ।

पदार्थान्वयः—**से**—अथ **जहा-नामए**—यथा-नामक **रुक्खे सिया**—वृक्ष **पव्वयग्गे जाए**—पर्वत की चोटी पर उत्पन्न हुआ **मूल-छिन्ने**—मूल (जड़) के छेदन किये जाने पर और **अग्गे गरुए**—अग्रभाग के भारी होने से **जओ**—जहां **निन्नं**—निम्न स्थान है **जओ**—जहां **दुग्गं**—दुर्गम स्थान है **जओ**—जहां **विसमं**—विषम स्थान है **तओ**—वहीं **पवडंति**—गिर जाता है **एवामेव**—इसी प्रकार **तहप्पगारे**—उस प्रकार का **पुरिस-जाए**—पुरुष जात **गब्भाओ**—गर्भ से **गब्भं**—गर्भ **जम्माओ**—जन्म से **जम्मं**—जन्म **माराओ**—मृत्यु से **मारं**—मृत्यु **दुक्खाओ**—दुःख से **दुक्खं**—दुःख **दाहिण-गामि-नेरइए**—दक्षिण-गामी नारकी **कण्ह-पक्खिए**—कृष्ण पाक्षिक **आगमेसाणं**—भविष्य में **दुल्लभ-बोहिए**—दुर्लभ-बोधी **भवति**—होता है **य**—च और **अवि**—अपि शब्द परस्पर समुच्चय अर्थ में हैं **से तं**—यही **अकिरिया-वाइ यावि भवति**—अक्रिया-वादी होता है ।

मूलार्थ—जैसे पर्वत की चोटी पर उत्पन्न हुआ वृक्ष मूल के काटे जाने

पर अग्र भाग के भारी होने से जहां निम्न, विषम और दुर्गम स्थान होता है वहीं गिरता है, ठीक इसी प्रकार नास्तिक पुरुष भी गर्भ से गर्भ, मृत्यु से मृत्यु, जन्म से जन्म और दुःख से दुःख में (गिरता है)। दक्षिण-गामी नारकी, कृष्ण-पाक्षिक और आगामी काल में दुर्लभ-बोधी होता है। इसी को अक्रियावादी भी कहते हैं (यही अक्रिया-वाद का फल है)।

टीका—इस सूत्र में अक्रिया-वाद का फल तथा उसका उपसंहार किया गया है। जैसे—पर्वत की चोटी पर उत्पन्न हुआ एक वृक्ष—जिसका अग्र भाग स्थूल और मूल तनु हो—मूल के कटने या टूट जाने पर निम्न स्थान की ओर ही गिरता है, ठीक इसी प्रकार क्रूर कर्म करने वाला नास्तिक अपने दुष्कर्मों के भार से नरक की ओर ही जाता है। इसके अनन्तर रङ्ग-भूमि के नट के समान अनेक रूप परिवर्तन करता है। उसको अनन्त काल तक चारों गतियों और नाना योनियों में परिभ्रमण करना पड़ता है। वह संसार-चक्र से छुटकारा नहीं पाता, इसीलिए सूत्रकार ने उसको 'कृष्ण पाक्षिक' कहा है।

कृष्ण पाक्षिक यथार्थ में उसीको कहते हैं जो अर्द्ध-पुद्गल-परावर्त से अधिक संसार-चक्र में परिभ्रमण करे और जिसका संसार-चक्र अर्द्ध-पुद्गल-परावर्त से न्यून हो उसको शुक्ल-पाक्षिक कहते हैं।

नास्तिक को केवल संसार-चक्र में ही भ्रमण नहीं करना पड़ता, अपितु अनेक प्रकार के दुःख भोगने के लिए दक्षिण-गामी नारकी भी बनना पड़ता है। उत्तर दिशा के नरकों की अपेक्षा दक्षिण दिशा के नरक अत्यन्त दुःख-प्रद हैं। वहां नारकी दुःख भोगने के साथ २ दुर्लभ-बोधि-भाव के कर्मों की उपार्जना भी करता है, अर्थात् किसी शुभ कर्म के उदय से यदि उसको मनुष्य योनि मिल भी जाय तो उसको धर्म-प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ होती है, अतः वह भविष्य में दुर्लभ-बोधी होता है। उसके पूर्व-जन्म के अशुभ कर्म उसको मोक्ष-मार्ग की ओर जाने से रोकते हैं और फलतः वह उससे पराङ्मुख ही रहता है। इसीका नाम अक्रिया-वाद है।

इस नास्तिक या अक्रिया-वाद के व्याख्यान से सूत्रकार का आशय इतना ही है कि उपासक को सदैव ध्यान रहे कि नास्तिक मत को मानने वाले की पूर्वोक्त दशा होती है, अतः अपनी कल्याण-कामना करने वाले व्यक्ति को इस नास्तिक-वाद

का सर्वथा परित्याग करना चाहिए । क्योंकि इसमें अन्याय-शीलता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं और उसका परिणाम उभय-लोक में भयङ्कर है ।

अब सूत्रकार आस्तिक-वाद का विषय कहते हैं :—

से किं तं किरिया-वाई यावि भवति ? तं जहा—आहिया-वाई, आहिय-पन्ने, आहिय-दिट्ठी, सम्मा-वाई, निया-वाई, संति परलोग-वादी, अत्थि इह-लोगे, अत्थि परलोगे, अत्थि माया, अत्थि पिया, अत्थि अरिहंता, अत्थि चक्कवट्टी, अत्थि बलदेवा, अत्थि वासुदेवा, अत्थि सुक्कड-दुक्कडाणं कम्माणं फल-वित्ति-विसेसे, सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवंति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवंति, सफले कल्लाण-पावए, पच्चायंति जीवा, अत्थि नेरइया, जाव अत्थि देवा, अत्थि सिद्धी, से एवं-वादी, एवं-पन्ने, एवं-दिट्ठी-छंद-राग-मति-निविट्ठे आवि भवति । से भवइ महिच्छे, जाव उत्तर-गामिए नेरइए, सुक्क-पक्खिए, आगमेस्साणं सुलभ-बोहिए यावि भवइ । से तं किरिया-वादी ।

अथ कोऽसौ क्रिया-वादी चापि भवति ? तद्यथा—आस्तिक-वादी, आस्तिक-प्रज्ञः, आस्तिक-दृष्टिः, सम्यग्-वादी, नित्य-वादी, अस्ति परलोक-वादी, अस्ति इह-लोकः, अस्ति पर-लोकः, अस्ति माता, अस्ति पिता, सन्ति अर्हन्तः, अस्ति चक्र-वर्ती, सन्ति बलदेवाः, सन्ति वासुदेवाः, अस्ति सुकृत-दुष्कृत-कर्मणां फल-वृत्ति-विशेषः, सुचीर्णानि कर्माणि सुचीर्ण-फलानि

भवन्ति, दुश्चीर्णानि कर्माणि दुश्चीर्ण-फलानि भवन्ति, सफले कल्याण-पापके, प्रत्यायन्ति जीवाः, सन्ति नैरयिकाः, सन्ति देवाः, अस्ति सिद्धिः, सोऽयमेवं-वादी, एवं-प्रज्ञः, एवं-दृष्टि-छन्द-राग-मति-निविष्टश्चापि भवति । स च भवति महेच्छो याव-दुत्तर-गामि-नैरयिकः, शुक्ल-पाक्षिकः, आगमिष्यति काले सुलभ-बोधी चापि भवति । सोऽयं क्रिया-वादी ।

पदार्थान्वयः—**से किं तं**—वह कौनसा **किरिया-वाई**—क्रिया-वादी **भवति**—होता है। (गुरु कहते हैं) **तं जहा**—जैसे **आहिया-वाई**—वह आस्तिक-वादी है **आहिय-पन्ने**—आस्तिक-प्रज्ञ है **आहिय-दिट्ठी**—आस्तिक-दृष्टि है **सम्मा-वाई**—सम्यग्-वादी है **निया-वाई**—मोक्ष-वादी है **संति परलोग-वाई**—परलोक मानने वाला है और फिर कहता है कि **अत्थि पर-लोगे**—परलोक भी है **अत्थि इह-लोगे**—यह लोक भी है **अत्थि माया**—माता है **अत्थि पिया**—पिता है **अत्थि अरिहंता**—अर्हन्त हैं **अत्थि चक्क-वट्टी**—चक्रवर्ती है **अत्थि बलदेवा**—बलदेव हैं **अत्थि वासुदेवा**—वासुदेव है **सुक्कड**—सुकृत और **दुक्कडाणं**—दुष्कृत **कम्माणं**—कर्मों का **फल-वित्ति-विसेसे**—फल-वृत्ति विशेष **अत्थि**—है **सुचिण्णा कम्मा**—शुभ कर्मों के **सुचिण्णा**—शुभ ही **फला**—फल **भवंति**—होते हैं **दुचिण्णा कम्मा**—दुष्कर्मों का **दुचिण्णा**—बुरे **फला**—फल **भवंति**—होते हैं **कल्लाण**—कल्याण या **पावए**—पाप का **सफले**—अपना २ फल होता है उसीके अनुसार **पच्चा-यंति जीवा**—परलोक में जीव उत्पन्न होते हैं **नेरइया**—नारकी जीव **अत्थि**—हैं **जाव**—यावत् **देवा**—देव **अत्थि**—हैं **सिद्धी**—मोक्ष **अत्थि**—है **से**—वह **एवं**—इस प्रकार **वादी**—बोलता है **एवं**—इस प्रकार उसकी **पन्ने**—प्रज्ञा है **एवं**—इस प्रकार उसकी **दिट्ठी**—दृष्टि है **छंद-राग-मति**—स्वच्छन्द राग में मति **निविट्ठे आवि**—निविष्ट की हुई **भवति**—है **से**—वह **महिच्छे**—उच्च इच्छाओं वाला **भवइ**—होता है **जाव**—यावत् **उत्तर-गामिए**—उत्तर दिशा के **नेरइए**—नरकों का अनुगामी होता है (अर्थात् किसी दुष्कर्म से यदि उसको नरक में जाना हो तो वह उत्तर दिशा के नरकों में जाता है।) **सुक्क-पक्खिए**—शुक्ल-पाक्षिक **आगमेस्साणं**—आने वाले समय में **सुलभ-बोहिए**—सुलभ बोधिक कर्म के उपा-र्जन करने वाला **भवइ**—होता है **यावि**—'च' और 'अपि' शब्द परस्पर अपेक्षा या

समुच्चय अर्थ में जान लेने चाहिएं से तं–यही **किरिया-वादी**–क्रिया-वादी होता है ।

मूलार्थ—क्रिया-वादी कौन है ? गुरु उत्तर देते हैं कि जो आस्तिक-वादी है, आस्तिक-प्रज्ञ है, आस्तिक-दृष्टि है, सम्यग्-वादी है, मोक्ष-वादी है और परलोक-वादी है तथा जो यह मानता है कि यह लोक है, परलोक है, माता है, पिता है, अर्हन्त हैं, चक्रवर्ती हैं, बलदेव हैं, वासुदेव हैं, सुकृत और दुष्कृत कर्मों का फल वृत्ति विशेष है, शुभ कर्मों के शुभ फल होते हैं, अशुभ कर्मों के अशुभ फल होते हैं, जीव अपने पाप और पुण्य कर्मों के साथ ही परलोक में उत्पन्न होते हैं, यावत् नैरयिक जीव हैं, देव हैं, मोक्ष है, उसको क्रियावादी कहते हैं । वह उक्त सब बातों का समर्थन करता है । इस प्रकार उसकी प्रज्ञा होती है, इस प्रकार उसकी दृष्टि है । स्वच्छन्द राग में उसकी बुद्धि विनिविष्ट होती है । वह उत्कट इच्छाओं वाला होता है । वह उत्तरगामी नैरयिक होता है । उसको शुक्ल-पाक्षिक कहते हैं और आगामी काल में वह सुलभ-बोधी हो जाता है । इसी को क्रिया-वादी कहते हैं ।

टीका—इस सूत्र में क्रिया-वाद का विषय वर्णन किया गया है । क्रिया-वाद आस्तिक-वाद को कहते हैं । उसको मानने वाला क्रिया-वादी या आस्तिक-वादी कहलाता है । आस्तिक-वादी उसको कहते हैं जो इस बात को मानता है कि जीवादि पदार्थ मृत्यु के अनन्तर पर-लोक जाते हैं, जैसे–"अस्ति परलोक-यायी जीवादि पदार्थ इति वदितुं शीलमस्येति–आस्तिक-वादी" यह आस्तिक-प्रज्ञ भी होता है, जैसे–"अस्ति प्रज्ञा-विचारणा बुद्धि-विकल्पो यस्य स आस्तिक-प्रज्ञः" अर्थात् जिसकी आस्तिक-भाव में प्रज्ञा या बुद्धि की विचारणा है । इसी प्रकार वह आस्तिक-दृष्टि भी होता है । आस्तिक आत्मा सम्यग्-वादी होता है अर्थात् पदार्थों का स्वरूप सम्यक्तया जान लेता है और सम्यग्-वादी होने पर वह मोक्ष-मार्ग की ओर प्रयत्न-शील होता है, अतः वह मोक्ष-वादी भी हो जाता है । वह पदार्थों के स्वरूप को द्रव्य-गुण-पर्याय-वत् मानता है, वह नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देव-लोक को मानता है । वह मानता है कि मनुष्य-लोक की अपेक्षा यह लोक और मनुष्य-गति के विना पर-लोक होता है । वह जो पदार्थ जिस रूप में विद्यमान है उसको उसी रूप में मानता है, अर्थात् माता, पिता, अर्हन्त, चक्रवर्ती आदि को तदुचित रूप में स्वीकार करता है । वह मानता है कि सुकृत कर्मों का अच्छा फल होता है और दुष्कृत कर्मों का

दुःखद फल होता है, क्योंकि आत्मा का अस्तित्व भाव उसके किये हुए कर्मों के साथ है। वे कर्म पाप या पुण्य रूप होते हैं। उनके वशीभूत आत्मा को परलोक में अपने कर्मों के अनुसार सुख या दुःख का अनुभव करना पड़ता है। कर्म-कलह से निर्मुक्त होने पर आत्मा को मोक्ष होता है और वह निर्वाण-पद की प्राप्ति करता है। जो व्यक्ति आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है वह स्वर्ग, नरक, तिर्यक्, पुण्य, पाप, संवर और निर्जरा आदि पदार्थों को सहज ही में स्वीकार कर सकता है।

आत्मा की अस्तित्व-सिद्धि और नास्तिक-मत का खण्डन जैन-न्याय ग्रन्थों में विस्तृत रूप से किया गया है। जिज्ञासुओं को उन ग्रन्थों का अवलोकन अवश्य करना चाहिए। उनमें प्रौढ़ युक्तियों द्वारा नास्तिक-मत का खण्डन किया गया है। अतः आस्तिक जिन पदार्थों की वास्तविक सत्ता देखता है उन्हीं में 'अस्तित्व-भाव' स्वीकार करता है और जो पदार्थ खर-विषाण-वत् कोई सत्ता ही नहीं रखते उनमें 'नास्तित्व-भाव' मानता है। इसीलिए उसको सम्यग्वादी कहा गया है। सम्यग्वाद में पदार्थों की नित्यता और अनित्यता द्रव्य और पर्याय, सम्यग् नीति से मानी जाती है, जैसे द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के विषय में भी जानना चाहिए।

यदि क्रियावादी सम्यग्वाद को स्वीकार कर सम्यग्-नीति से पदार्थों का ज्ञान करता हुआ भी सम्यक् चरित्र में प्रविष्ट न होकर नास्तिकों के समान क्रूर कर्म करने लगे और उनके समान अपना आचरण बना ले तो मृत्यु के अनन्तर उसको भी नरक में जाना पड़ता है। किन्तु वह उत्तर दिशा के नारकियों में उत्पन्न होता है और उसको शुक्लपाक्षिक नारकी कहते हैं। वह आगामी काल में सुलभबोधी कर्मों का उपार्जन करता है, अर्थात् उसको जन्मान्तर में सम्यग्वाद की प्राप्ति सुगमतया हो सकती है, क्योंकि जितने भी क्रिया-वादी आत्माएं हैं वे शुक्ल पाक्षिक होकर मोक्ष-गामी हो सकते हैं। यह क्रियावाद स्वीकार करने का ही फल है कि आत्मा शुक्ल पाक्षिक बनकर सुलभ-बोधी बन जाता है।

सिद्ध यह हुआ कि आत्मा सम्यग्वाद के द्वारा अपना कल्याण कर सकता है। यदि आत्मा आस्तिक-वाद स्वीकार कर भी ले और सम्यक्-चरित्र ग्रहण न करे तब भी वह भव-भ्रमण से निवृत्ति नहीं कर सकता। अतः सम्यग्-ज्ञान सम्यग्-दर्शन

और सम्यक् चारित्र द्वारा ही निर्वाण-पद की प्राप्ति कर सकता है, अन्यथा नहीं ।

इस सूत्र में "अत्थि (अस्ति)" क्रिया-पद "संति (सन्ति)" क्रिया-पद के स्थान पर प्रयुक्त किया गया है और "आगमेस्साणं" इस पद में "लृटः सद्वा" इस सूत्र से भविष्यदर्थ में लृट् से शानच् प्रत्यय किया गया है ।

अब सूत्रकार उपासक की पहली प्रतिमा का विषय वर्णन करते हैं :—

सव्व-धम्म-रुई यावि भवति । तस्स णं बहुइं सील-वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं नो सम्मं पट्ठविय-पुव्वाइं भवंति । एवं दंसण-पढमा उवासग-पडिमा ॥ १ ॥

सर्व-धर्म-रुचिश्चापि भवति । तस्य नु बहवः शीलव्रत-गुण-विरमण-प्रत्याख्यान-पौषधोपवासाः नो सम्यक् प्रस्थापितपूर्वा भवन्ति । एवं दर्शन-प्रथमोपासक-प्रतिमा ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—**सव्व-धम्म-रुई यावि**—सर्व-धर्म में रुचि **भवति**—होती है **तस्स**—उसके **बहुइं**—बहुत **सीलवय**—अनुव्रत **गुण**—गुणव्रत **वेरमण**—निवृत्तिरूप सामायिक व्रत **पच्चक्खाण** प्रत्याख्यान देशावकाशिक व्रत **पोसहोववासाइं**—पौषधोपवास व्रत **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से **नो पट्ठविय-पुव्वाइं**—पहिले आत्मा में स्थापित नहीं किये होते हैं । **एवं**—इस प्रकार **पढमा**—पहली **उवासग**—उपासक की **दंसण**—दर्शन **पडिमा**—प्रतिमा **भवति**—होती है **णं**—वाक्यालङ्कार के लिए है ।

मूलार्थ—प्रथम दर्शन-प्रतिमा में सर्व-धर्म-विषयक रुचि होती है । किन्तु उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास सम्यक्-तया आत्मा में स्थापन नहीं किये होते । इस प्रकार उपासक की पहली दर्शन-प्रतिमा होती है ।

टीका—इस सूत्र में उपासक की दर्शन-प्रतिमा का विषय वर्णन किया गया है । सांसारिक कर्मों से निवृत्त होकर और अपने सम्बन्धियों के समक्ष पुत्रादि उत्तरा-

धिकारी को अपना सर्वस्व समर्पण कर श्रावक स्वयं पौषध-शाला में प्रविष्ट हो जावे। वहां उसको अपना नवीन जीवन धार्मिक क्रियाओं में ही व्यतीत करना चाहिए। उपासक की दर्शन-प्रतिमा (प्रतिज्ञा) का आराधन करने के लिए उसको माध्यस्थ भाव का अवलम्बन कर प्रत्येक के सिद्धान्तों पर विचार करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म-मार्ग में प्रविष्ट होने के लिए श्रावक को सबसे पहले 'साम्यवाद' ग्रहण करना परम आवश्यक है और 'साम्य-वाद' ग्रहण करने से पूर्व उसको प्रत्येक वाद पर विचार करना उचित है। इस संसार-चक्र में यद्यपि अनेक वाद हैं तथापि उनमें नास्तिक-वाद और आस्तिक-वाद दो ही प्रधान हैं। अन्य वाद जैसे—चारवाकवाद, पांचभौतिक तच्छरीर और तज्जीववाद, ईश्वरवाद, प्रकृतिवाद, नियतिवाद, कर्मवाद, पुरुषार्थवाद, कालवाद, स्वभाववाद, योगवाद, भोगवाद, कर्तृवाद, अकर्तृवाद, नित्यवाद, अनित्यवाद, आत्मवाद, सत्यवाद, असत्यवाद, क्षणिकवाद, अक्षणिकवाद, फलवाद, अफलवाद इत्यादि सब उक्त दो वादों के अन्तर्गत ही हो जाते हैं। श्रावक को इन वादों पर अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से विचार करना चाहिए और फिर साम्यवाद के आश्रित होकर सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र की आराधना करनी चाहिए। किन्तु उपासक की पहली प्रतिमा में सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-ज्ञान पर ही विचार किया जाता है। जैसे :—

'पढमं उवासग-पडिमं पडिवन्ने समणोवासए सव्व-धम्म-रुई यावि भवति।'
(प्रथमामुपासक-प्रतिमां प्रतिपन्नः श्रवणोपासकः सर्व-धर्म-रुचिश्चापि भवति।)

इस सूत्र का वास्तव में तात्पर्य यह है कि जब श्रमणोपासक उपासक की पहली प्रतिमा को ग्रहण कर लेता है तब वह सब पदार्थों के धर्मों को भली प्रकार जान सकता है, क्योंकि जब तक किसी को जीवाजीव का ही अच्छी तरह बोध नहीं हुआ तब तक वह चारित्र से सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओं का पालन किस प्रकार कर सकता है। अतः पदार्थों के स्वरूप को नय और प्रमाण पूर्वक अवश्य जान लेना चाहिए। यदि उसमें भी हृदय के कपट के कारण शङ्काएँ उत्पन्न होने लगें तो भगवान् के वचनों की यथार्थता में विश्वास कर निःशङ्क भाव से चित्त-वृत्ति को स्थिर कर लेना उचित है। साथ ही छः प्रकार के द्रव्यों के धर्मों को भी भली भांति जान लेना चाहिए। श्रावक को उन सबका ज्ञान करना

चाहिए। उसको श्रुत और चारित्र धर्म की ओर रुचि करनी चाहिए। किन्तु ध्यान रहे कि जिस प्रकार श्रुत-धर्म और अर्थ-धर्म दो पृथक् धर्म प्रतिपादन किये हैं इसी प्रकार चारित्र-धर्म भी देश-चारित्र-धर्म और सर्व-चारित्र-धर्म दो प्रकार का होता है। उसको क्षान्ति आदि श्रमण-धर्म की ओर भी रुचि करनी चाहिए, क्योंकि सूत्र में लिखा है कि जितने भी धर्म हैं, जैसे—ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदि दश प्रकार के धर्म हैं—उन सब के जानने की रुचि होनी चाहिए। जब वह सब धर्मों को भली भांति जान लेगा तो उसकी रुचि धार्मिक कार्यों में अच्छी तरह हो सकती है। इसीलिए सूत्रकार ने आहिय(आस्तिक)-वादी कहा है—"जीवादिपदार्थः सार्थोऽस्तीति मतिरस्येत्यास्तिकः" अर्थात् जो जीवादि पदार्थों में अस्तित्व की मति रखता है उसीको आस्तिक कहते हैं। जो आस्तिक है वह 'आस्तिक-भाव' प्रत्येक को समझा सकता है और उसकी व्याख्या कर सकता है, अतः उसको उपदेश देने का भी अधिकार है। उसका आत्मा धर्म-राग में रङ्ग जाता है और फिर वह देवादि की सहायता भी नहीं चाहता, क्योंकि वह उपशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता—इन पांच प्रकार के सम्यग्-वाद के लक्षणों से युक्त होता है। अतः आस्तिक्य-भाव के होने से ही पहली प्रतिमा दर्शन-प्रतिमा कहलाती है। जो व्यक्ति आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है वह मोक्षादि पदार्थों का अस्तित्व सहज ही में स्वीकार कर सकता है। पहले सूत्र में कहा गया है कि आस्तिक-वादी आस्तिक-प्रज्ञ होता है "आस्तिक्ये—सकलपदार्थास्तित्वे प्रज्ञा—विचारणा सदर्थपर्यालोचनरूपा यस्य स आस्तिक्य-प्रज्ञः" अर्थात् सकल पदार्थों के सदर्थ विचारने में जिसकी बुद्धि है उसको आस्तिक्य-प्रज्ञ कहते हैं।

पहली अर्थात् दर्शन-प्रतिमा में आत्मा आस्तिक भाव में स्थित हो जाता है किन्तु वह शील-ब्रह्मचर्य आदि दूसरे व्रतों—अनुव्रतादि पांच—में प्रविष्ट नहीं होता। तात्पर्य यह है कि वह शील-व्रत, पांच अनुव्रत, सात शिक्षा या गुण-व्रत—जो शील-व्रतों की रक्षा करने वाले हैं—विरमण रूप सामयिक व्रत, प्रत्याख्यान रूप देशावकाशिक व्रत और पर्व दिनों में पौषधोपवास व्रत आदि व्रतों को ग्रहण नहीं करता। ऊपर कही हुई व्रतों की व्याख्या चूर्णीकार इस प्रकार करते हैं "शीलानि सामयिक-देशावकाशिक-पौषधतिथि-संविभागाख्यानि इति, व्रतानि—पञ्चाणुव्रतानि, गुणाइं—त्रीणि गुणव्रतानि, पोसहोववासाइं ति—पोषं वृद्धिं धर्मस्य धत्ते धारयतीति वा पौषधः—अष्टमी-चतुर्दशी

पूर्णिमामावास्यादिपर्वदिनानुष्ठेयो व्रतविशेषस्तत्रोपवासः पौषधोपवासः ।" अर्थात् पर्व के दिनों में पौषधोपवास करना । वह व्रत चार प्रकार का वर्णन किया गया है । आहार-पौषध, शरीर-पौषध, सत्कार-पौषध और ब्रह्मचर्य-पौषध ।

कहने का तात्पर्य यह है कि पहली प्रतिमा में आत्मा सम्यग्-दर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई भी नियम धारण नहीं करता, नांही वह आत्मा उक्त गुणों में प्रविष्ट होता है । वह श्रावक के द्वादश व्रतों को सम्यकूतया पालन नहीं करता । किन्तु सम्यक्त्व का निरतिचार-पूर्वक पालन करता है, अर्थात् सम्यग्-दर्शन का पालन विधि पूर्वक करता है । इस प्रतिमा वाला अवृत्ति-सम्यग्दृष्टि होता है । वह सम्यग्-दर्शन से विभूषित होने के कारण शुक्ल-पाक्षिक होता है । इस प्रतिमा का काल-मान एक मास है । इस प्रकार पहली दर्शन-प्रतिमा का वर्णन किया गया है ।

अब सूत्रकार इसके अनन्तर दूसरी प्रतिमा का विषय वर्णन करते हैं :—

अहावरा दोच्चा उवासग-पडिमा, सव्व-धम्म-रुई यावि भवति । तस्स णं बहुइं सीलवय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइं भवंति । से णं सामाइयं देसावगासियं नो सम्मं अणुपालित्ता भवति । दोच्चा उवासग-पडिमा ॥ २ ॥

अथापरा द्वितीयोपासक-प्रतिमा, सर्व-धर्म-रुचिश्चापि भवति । तस्य नु बहवः शीलव्रत-गुण-विरमण-प्रत्याख्यान-पौषधोपवासाः सम्यक् प्रस्थापिता भवन्ति । स नु सामायिकं देशावकाशिकं नो सम्यगनुपालयिता भवति । द्वितीयोपासक-प्रतिमा ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**अहावरा**—इसके अनन्तर **दोच्चा**—दूसरी **उवासग-पडिमा**—उपासक-प्रतिमा है । **सव्व-धम्म-रुई यावि**—सर्व-धर्म में रुचि **भवति**—होती है ।

तस्स—वह बहुइं—बहुत सीलवय—शील-व्रत गुण—गुण-व्रत वेरमण—विरमण-व्रत पच्च-क्खाण—प्रत्याख्यान-व्रत और पोसहोववासाइं—पौषधोपवास को सम्मं—सम्यक् प्रकार पट्ठवियाइं भवंति—आत्मा में स्थापन करता है से—अथ सामाइयं—सामायिक और देसावगासियं—देशावकाशिक-व्रत सम्मं—सम्यक् प्रकार अणुपालित्ता—अनुपालन करने वाला नो भवति—नहीं होता । दोच्चा—यह दूसरी उवासग-पडिमा—उपासक-प्रतिमा है ।

मूलार्थ—द्वितीय उपासक-प्रतिमा में सब प्रकार के धर्म की रुचि होती है, बहुत से शील-व्रत, गुण-व्रत, विरमण-व्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास धारण किये जाते हैं । किन्तु सामायिक-व्रत और देशावकाशिक-व्रत की सम्यक्तया पालना नहीं होती । यही द्वितीयोपासक-प्रतिमा है ।

टीका—इस सूत्र में उपासक की दूसरी प्रतिमा का वर्णन किया गया है । जिस व्यक्ति की आत्मा सम्यग्-दर्शन से युक्त हो जाती है वह फिर चारित्र-शुद्धि की ओर झुकता है और उससे कर्म-क्षय करने का प्रयत्न करता है । क्योंकि चरित्रा-वरणीय सर्वथा नाश नहीं हो सकते, अतः वह सर्व-वृत्ति-रूप धर्म तो ग्रहण नहीं कर सकता किन्तु अपनी आत्मा के कल्याण के लिए देश-व्रत के धारण करने की अत्यन्त उत्कट इच्छा करता है और उनको धारण करने का निश्चय भी कर लेता है । वह अपनी इच्छा से ही पांच शील-व्रतों—अहिंसा अर्थात् स्थूल-प्राणातिपात-विरमण, स्थूल-मृषा-वाद-विरमण, स्थूल-अदत्तादान, स्वदारा-सन्तोष और स्थूल-परिग्रह-विरमण अर्थात् इच्छा-प्रमाण व्रतों को धारण कर लेता है । इन व्रतों के साथ साथ वह दिग्, भोग, परिभोग और अनर्थादण्ड-विरमण इन तीन गुण-व्रतों को भी धारण करता है, क्योंकि ये तीनों उपर्युक्त शील-व्रतों के लिए गुणकारी हैं । फिर वह सामायिक देशाव-काशिक, पौषध तथा अतिथि-संविभाग—इन चारों व्रतों का विधि पूर्वक पालन करने लगता है । इन शिक्षा-व्रतों को धारण करने से आत्मा में एक अलौकिक समाधि का सञ्चार होता है । उसके आत्मा में उस समय—"बहवः शीलव्रत-गुणव्रत-विरमण-पौषधोपवासाः सम्यक् प्रस्थापिताः—स्वात्मनि निवेशिता भवन्ति" श्रावक के १२ व्रत ही आत्मा में सम्यक्तया निवेशित होते हैं ।

इस प्रतिमा में आत्मा यद्यपि श्रावक के बारह व्रतों की सम्यक्तया आरा-धना के योग्य बन जाता है तब भी वह सामायिक और देशावकाशिक (दिशाओं

का परिमाण) व्रतों की काय द्वारा यथाकाल सम्यग् आराधना नहीं कर सकता। इस प्रतिमा के लिए दो मास समय अर्थात् एक मास पहली प्रतिमा का और एक मास इस प्रतिमा का निर्धारित किया गया है।

अब सूत्रकार तीसरी उपासक-प्रतिमा का विषय कहते हैं :—

अहावरा तच्चा उवासग-पडिमा। सव्व-धम्म-रुई यावि भवति। तस्स णं बहुइं सीलवय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइं भवंति। से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवति। से णं चउद्दसि-अट्ठमि-उदिट्ठ-पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववासं नो सम्मं अणुपालित्ता भवति। तच्चा उवासग-पडिमा ॥ ३ ॥

अथापरां तृतीयोपासक-प्रतिमा। सर्व-धर्म-रुचिश्चापि भवति। तस्य नु बहवः शीलव्रत-गुण-विरमण-प्रत्याख्यान-पौषधोपवासाः सम्यक् प्रस्थापिता भवन्ति। स च सामायिकं देशावकाशिकं सम्यगनुपालयिता भवति। स च चतुर्दश्यष्टम्युदिष्ट-पौर्णमासीषु प्रतिपूर्णं पौषधोपवासं नो सम्यगनुपालयिता भवति। तृतीयोपासक-प्रतिमा ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**अहावरा**—इसके अनन्तर **तच्चा**—तीसरी **उवासग-पडिमा**—उपासक-प्रतिमा कहते हैं। **सव्व-धम्म**—सर्व-धर्म-विषयक **रुई**—रुचि **भवति**—होती है **य**—और फिर **तस्स**—उसके **बहुइं**—बहुत **सीलवय**—शील-व्रत **गुण**—गुण-व्रत **वेरमण**—विरमण-व्रत **पच्चक्खाण**—प्रत्याख्यान **पोसहोववासाइं**—पौषधोपवास **सम्मं**—सम्यक्तया आत्मा में **पट्ठवियाइं**—स्थापित किये हुए **भवंति**—हैं। किन्तु **से**—वह **सामाइयं**—सामायिक और **देसावगासियं**—देशावकाशिक व्रत को भी **सम्मं**—सम्यक्तया

अणुपालित्ता–अनुपालन करता **भवति**–है, किन्तु **से**–वह **चउदसि**–चतुर्दशी **अट्ठमि**–अष्टमी **उदिट्ठ**–अमावास्या और **पुरणमासिणीसु**–पौर्णमासी के दिन **पडिपुरणं**–प्रतिपूर्ण **पोसहोववासं**–पौषधोपवास को **सम्मं**–सम्यक्तया **अणुपालित्ता**–अनुपालन करने वाला **नो भवति**–नहीं होता। यही **तच्चा**–तृतीया **उवासग**–उपासक **पडिमा**–प्रतिमा है।

मूलार्थ—अब तीसरी उपासक-प्रतिमा कहते हैं। इस प्रतिमा वाले को सर्व-धर्म-विषयक रुचि होती है। उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास व्रत अपने आत्मा में स्थापित किये होते हैं। वह सामायिक और देशावकाशिक व्रतों की आराधना उचित रीति से करता है। किन्तु चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या और पौर्णमासी आदि पर्व-दिनों में पौष-धोपवास-व्रत की सम्यग् आराधना नहीं कर सकता। यही तीसरी उपासक-प्रतिमा है।

टीका—इस सूत्र में तीसरी प्रतिमा का विषय कथन किया गया है। इस प्रतिमा में पूर्वोक्त गुण अच्छी प्रकार पालन किये जाते हैं। इसमें सामायिक और देशावकाशिक व्रत भी उचित रीति से अनुष्ठित होते हैं अर्थात् काल के काल (ठीक समय पर) इनकी सम्यक्तया आराधना की जाती है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सामायिक और देशावकाशिक का अर्थ क्या है? उत्तर में कहा जाता है कि जिसके करने से राग और द्वेष शान्त हों तथा आत्मा को ज्ञान, दर्शन और चारित्र का लाभ हो उसी का नाम सामा-यिक व्रत है। सावद्य योग का दो करण और तीन योग से त्याग किया जाता है। सामायिक का पवित्र समय स्वाध्याय और धर्म-ध्यानादि में ही व्यतीत करना चाहिए। छठे दिग्व्रत में दिशाओं के प्रमाण के लिए नियत समय में कुछ न्यूनता करना ही देशावकाशिक-व्रत कहलाता है।

तीसरी प्रतिमा वाला उपासक यद्यपि सामायिक और देशावकाशिक व्रतों की आराधना करता है किन्तु वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या और पौर्णमासी आदि पर्वों में सम्यक्तया पौषध-व्रत की आराधना नहीं कर सकता।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पौषध-व्रत किसे कहते हैं? उत्तर में

कहा जाता है कि जिन नियमों और धर्म-क्रियाओं के करने से धर्म-ध्यान में विशेष वृद्धि हो उनका नाम ही पौषध-व्रत है। पौषध-व्रत चार प्रकार का होता है। जैसे :—

१ आहार-पौषध—एक देश या सर्व आहार के त्यागने से धर्म-ध्यान और संयम में समय व्यतीत करना।

२ शरीर-पौषध—शरीर के ऊपरी ममत्व का परित्याग करना और शरीर का सत्कार न करना।

३ व्यापार-पौषध—व्यापार का परित्याग करना।

४ ब्रह्मचर्य-पौषध—कुशलानुष्ठान द्वारा समय व्यतीत करना, क्योंकि "ब्रह्म-वेदा ब्रह्मतपो ब्रह्मज्ञानं च शाश्वतम्" इत्यादि कथन में ब्रह्मचर्य से कुशलानुष्ठान करना ही सिद्ध है किन्तु इस स्थान पर उस पौषध व्रत का अधिकार जानना चाहिये जो पौषध शाला में प्रविष्ट होकर अकेले ही आठ प्रहर तक उपवासक-व्रत से युक्त ११वें व्रत के अनुसार पौषध किया जाता है उसमें आठों प्रहर धर्म-ध्यान और समाधि में व्यतीत किये जाते हैं।

तीसरी प्रतिमा वाला उपासक पर्वादि दिनों में सम्यक्तया पौषध व्रत की की आराधना नहीं करता, किन्तु दोनों समय सामायिक व्रत की आराधना अच्छी तरह से करता है। यहां पर यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि सामायिक प्रातः और सायंकाल के लिए ही विहित हैं, त्रिसन्ध्य के लिए नहीं अर्थात् मध्याह्न काल में इसका करना आवश्यक नहीं। इस तीसरी प्रतिमा के लिए तीन मास नियत हैं।

अब सूत्रकार चौथी प्रतिज्ञा का विषय वर्णन करते हैं :—

अहावरा चउत्थी उवासग-पडिमा। सव्व-धम्म-रुई यावि भवति। तस्स णं बहुइं सीलवय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइं भवंति। से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवति। से णं चउद्दसि-अट्ठमि-उद्दिट्ठ-पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालित्ता भवति। से णं एग-राइयं

उवासग-पडिमं नो सम्मं अणुपालित्ता भवति । चउत्थी उवासग-पडिमा ॥ ४ ॥

अथापरा चतुर्थ्युपासक-प्रतिमा । सर्व-धर्म-रुचिश्चापि भवति। तस्य नु बहवः शीलव्रत-गुण-विरमण-प्रत्याख्यान-पौषधोपवासाः सम्यक् प्रस्थापिताः भवन्ति । स च सामायिकं देशावकाशिकं सम्यगनुपालयिता भवति । स च चतुर्दश्यष्टम्युदिष्ट-पौर्णमासीषु प्रतिपूर्णं पौषधं सम्यगनुपालयिता भवति । स न्वेकरात्रिकीमुपासक-प्रतिमां नो सम्यगनुपालयिता भवति । चतुर्थ्युपासक-प्रतिमा ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**अहावरा**—इसके अनन्तर **चउत्थी**—चतुर्थी **उवासग**—उपासक **पडिमा**—प्रतिमा प्रतिपादन की है । जैसे—**सव्व-धम्म**—सर्व-धर्म-विषयक **रुई**—रुचि **यावि भवति**—होती है । **तस्स**—उसके **बहुई**—बहुत से **सीलवय**—शील-व्रत **गुण**—गुण-व्रत **वेरमण**—विरमण-व्रत **पच्चक्खाण**—प्रत्याख्यान और **पोसहोववासाइं**—पौषधोपवास आत्मा में **सम्मं**—भली भाँति **पट्ठवियाइं**—प्रस्थापित किये **भवंति**—होते हैं **णं**—और **से**—वह **सामाइयं**—सामायिक और **देसावगासियं**—देशावकाशिक व्रत की **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से **अणुपालित्ता**—अनुपालना करने वाला **भवति**—होता है । **से णं**—और वह फिर **चउद्दसि**—चतुर्दशी **अट्ठमि**—अष्टमी **उदिट्ठ**—अमावास्या और **पुण्णमासिणीसु**—पौर्णमासी आदि पर्व दिनों में **पडिपुण्णं**—प्रतिपूर्ण **पोसहं**—पौषध-व्रत को **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से **अणुपालित्ता**—अनुपालन करने वाला **भवति**—होता है । किन्तु **से**—वह **एगराइयं**—एक रात्रि की **उवासग-पडिमं**—उपासक-प्रतिमा को **सम्मं**—अच्छी प्रकार से **अणुपालित्ता**—अनुपालन करने वाला **नो भवति**—नहीं होता है । यही **चउत्थी**—चौथी **उवासग-पडिमा**—उपासक-प्रतिमा है ।

मूलार्थ—अब चौथी उपासक-प्रतिमा कहते हैं । इस प्रतिमा वाले को सर्व-धर्म-विषयक रुचि होती है । उसके बहुत से शील, गुण, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास व्रत अपने आत्मा में स्थापित किये होते हैं । वह सामायिक

और देशावकाशिक व्रतों की आराधना उचित रीति से करता है, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या और पौर्णमासी आदि पर्व दिनों में प्रतिपूर्ण पौषध-व्रत का पूर्णतया अनुपालन करता है। किन्तु 'एक रात्रि की' उपासक-प्रतिमा का सम्यग् आराधन नहीं करता। यही चतुर्थी उपासक-प्रतिमा है।

टीका—इस सूत्र में चौथी प्रतिमा का विषय प्रतिपादन किया गया है। इस प्रतिमा वाला पहली, दूसरी और तीसरी प्रतिमाओं के सब नियमों का विधि-पूर्वक पालन करता है। वह पर्व-दिनों में प्रतिपूर्ण पौषध व्रत भी करने लग जाता है। किन्तु वह उपासक की एक रात्रि की—कायोत्सर्ग अवस्था में ध्यान करने की—प्रतिज्ञा को सम्यक्तया पालन नहीं कर सकता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'प्रतिपूर्ण पौषध से सूत्रकार का क्या तात्पर्य है? उत्तर में कहा जाता है कि पूर्वोक्त आहार, शरीर-सत्कार, अब्रह्म और व्यापार का परित्याग कर पौषध व्रत का भली भाँति पालन करने से सूत्रकार का तात्पर्य यह है—"पोषयति पुष्णाति वा कुशल-धर्मान् शुभसमाचारान्, प्राणातिपात-विरमणादीन्, यद्यस्मात्तत्तस्मादाहारादित्यागानुष्ठानं—भोजन-देहसत्काराब्रह्म-व्यापार-परिहारकरणमिह प्रक्रमे पोषध इत्येवं भाष्यते। पोषं धत्ते—पुष्णाति धर्मानिति निरुक्तात्। तत उपवसनम्—उपवासोऽवस्थानम्, तत्प्रतिपद्यानु—पश्चात् पालयिता—अनुष्ठाता भवति—संपद्यते, तत्वङ्गीकृत्यैव परित्यजति।" अर्थात् जिसके करने से धर्म-पुष्टि और कुशलानुष्ठान की वृद्धि होती है वही पौषध कहलाता है। उसके पूर्वोक्त—(१) आहार-पौषध—एक देश (अंश) या सब आहार का परित्याग करना, (२) शरीर-सत्कार—एक देश या सारे शरीर के सत्कार का परित्याग करना, (३) अब्रह्मचर्य—एक देश या सब प्रकार के अब्रह्मचर्य का परित्याग करना और (४) व्यापार-पौषध—एक देश या सारे व्यापार का परित्याग करना—चार भेद हैं। इनका अन्य ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। जिज्ञासुओं को वहीं से जानना चाहिए 'समवायाङ्ग सूत्र' के एकादशवें स्थान की वृत्ति में पौषध के विषय में लिखा है "पोषं—पुष्टिं कुशलधर्माणां धत्ते—यदाहारपरित्यागादिकमनुष्ठानं तत्पौषधम्, तेनोपवसनम्—अवस्थान-महोरात्रं यावदिति पौषधोपवास इति। अथवा पौषधं—पर्वदिनमष्टम्यादिस्तत्रोपवासः—अभक्तार्थः पौषधोपवास इति व्युत्पत्तिः। प्रवृत्तिस्त्वस्य शब्दस्याहार-शरीरसत्कारा-

ब्रह्मचर्य-व्यापार-परिवर्जनेष्विति । तत्र–पौषधोपवासे निरतः–आसक्तः पौपधोपवास-निरतः इत्यादि ।" अर्थात् जिसके करने से कुशल-धर्मानुष्ठान की पुष्टि होती हो उसी को पौषध व्रत कहते हैं ।

यह चौथी प्रतिमा पूर्वोक्त गुणों से युक्त और पूर्वोक्त प्रतिमाओं के समय सहित चार मास की होती है । इसमें पौषध और सामायिक व्रतों की विशेषतया सफलता होती है ।

अब सूत्रकार पांचवीं प्रतिमा का विषय कहते हैं :—

अहावरा पंचमा उवासग-पडिमा । सव्व-धम्म-रुई यावि भवति । तस्स णं बहुइं सीलवय ... जाव सम्मं अणुपालित्ता भवति । से णं सामाइयं ... तहेव, से णं चउद्दसी ... तहेव, से णं एग-राइयं उवासग-पडिमं सम्मं अणुपालित्ता भवति । से णं असिणाणए, वियडभोई, मउलिकडे, दिया बंभयारी, रत्ति-परिमाणकडे । से णं एयारूवेण विहारेण विहरमाणे, जहन्नेण एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेण पंच मासं विहरइ । पंचमा उवासग-पडिमा ॥ ५ ॥

अथापरा पञ्चम्युपासक-प्रतिमा । सर्व-धर्म-रुचिश्चापि भवति । तस्य नु बहवः शीलव्रत ... यावत् सम्यगनुपालयिता भवति । स च सामायिकं ... तथैव, स च चतुर्दशी ... तथैव, स चैकरात्रिकीमुपासक-प्रतिमां सम्यगनुपालयिता भवति । स चास्नातः, विकटभोजी, मुकुलीकृतः, दिवा ब्रह्मचारी, रात्रौ परिमाणकृतः, स न्वेतद्रूपेण विहारेण विहरन्नघ-

न्येनैकाहं वा द्व्यहं वा त्र्यहं वा, उत्कर्षेण पञ्च मासान् विहरति। पञ्चम्युपासक-प्रतिमा ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—**अहावरा**–इसके अनन्तर **पंचमा**–पांचवीं **उवासग-पडिमा**–उपासक-प्रतिमा प्रतिपादन करते हैं। **सव्व-धम्म**–सर्व-धर्म-विषयक **रुई**–रुचि **भवति**–होती है **य**–और **तस्स**–वह **बहुइं**–बहुत से **सीलवय**–शीलव्रत आदि **जाव**–जितने व्रत हैं उनका **सम्मं**–अच्छी तरह **अणुपालित्ता**–अनुपालन करने वाला **भवति**–होता है। **से**–वह **सामाइयं**–सामायिक और **तहेव**–तत्सदृश अन्यव्रतों, **से**–वह **चउद्दसी**–चतुर्दशी **तहेव**–तत्सदृश अष्टमी आदि के दिन पौषध, **से**–वह **एगराइयं**–एक रात्रि की **उवासग-पडिमं**–उपासक-प्रतिमा को **सम्मं**–भली भाँति **अणुपालित्ता**–अनुपालन करने वाला **भवति**–होता है। **से**–वह **असिणाणए**–स्नान न करना **वियडभोई**–रात्रि में भोजन न करना **मउलिकडे**–धोती की लांग न देना **दिया बंभयारी**–दिन में ब्रह्मचारी **रत्तिपरिमाणकडे**–रात्रि में मैथुन के परिमाण करने वाला होता है। **से**–वह **एयारूवेण**–इस प्रकार के **विहारेण**–विहार से **विहरमाणे**–विचरता हुआ **जहन्नेण**–जघन्य से **एगाहं**–एक दिन **वा**–अथवा **दुयाहं**–दो दिन **वा**–अथवा **तियाहं**–तीन दिन **वा**–अथवा अधिक दिन **उक्कोसेण**–उत्कृष्ट से **पंचमासं**–पांच मास पर्यन्त **विहरइ**–विचरता है। यही **पंचमा**–पांचवीं **उवासग-पडिमा**–उपासक-प्रतिमा है। **णं**–वाक्यालङ्कार और **अवि**–समुच्चय के लिए है।

मूलार्थ—अब पांचवीं प्रतिमा कहते हैं। इस प्रतिमा वाले की सर्व-धर्म-विषयक रुचि होती है। उसके शीलादि व्रत ग्रहण किये होते हैं। वह सामायिक और देशावकाशिक व्रत की भली भांति आराधना करता है। वह चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में पौषध व्रत का अनुष्ठान करता है। वह एक रात्रि की उपासक-प्रतिमा का भी अच्छी तरह पालन करता है। वह स्नान नहीं करता, रात्रि-भोजन को त्याग देता है, धोती की लांग नहीं देता, दिन में ब्रह्मचारी रहता है और रात्रि में मैथुन क्रिया का परिमाण करने वाला होता है। इस प्रकार विचरता हुआ वह कम से कम एक दिन दो दिन या तीन दिन से लेकर अधिक से अधिक पांच मास तक विचरता रहता है। यही पांचवीं उपासक-प्रतिमा है।

टीका—इस सूत्र में पांचवीं प्रतिमा का विषय वर्णन किया गया है। जो

व्यक्ति पांचवीं प्रतिमा धारण करता है वह पूर्वोक्त चार प्रतिमाओं के नियम सम्यक्तया पालन करता है। जैसे—सबसे पहले उसको सर्व-धर्म-विषयक रुचि होती है। वह शीलादि व्रतों को ग्रहण कर उनका निरतिचार से पालन करता है। वह सामायिक और देशावकाशिक व्रतों का भली भाँति अनुष्ठान करता है। वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या और पौर्णमासी आदि पर्व दिनों में पौषध व्रत की आराधना करता है। इनके साथ २ वह एक रात्रि की कायोत्सर्ग-प्रतिमा का भी अच्छी तरह पालन करता है। इस पांचवीं प्रतिमा में पांच बातें विशेषतया धारण की जाती हैं। जैसे—पांच मास तक स्नान न करना, रात्रि भोजन का परित्याग करना, धोती की लांग न देना, दिन में ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना और रात्रि में मैथुन क्रियाओं का परिमाण करना। इन नियमों से पांचवीं प्रतिमा का विधिपूर्वक पालन किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति पांचवीं प्रतिमा को ग्रहण कर एक, दो, तीन या दस दिन अर्थात् पांच मास से पहले अपनी इह-लीला संवरण कर ले (मर जाय) या दीक्षित हो जाय तो उसके लिए इसकी अवधि उतने ही दिनों की होगी। किन्तु जो जीवित हैं और दीक्षित नहीं हुए उनके लिए इसकी (पांचवीं प्रतिमा की) अवधि पांच मास की प्रतिपादन की गई है। पहली प्रतिमाओं का समय भी इसके अन्तर्गत है।

सूत्र में "अस्नान" शब्द आया है उसका सम्बन्ध सर्व-स्नान से है अर्थात् उसको सर्व-स्नान नहीं करना चाहिए, वैसे हाथ आदि अङ्गों का प्रक्षालन करना निषिद्ध नहीं है। और "वियडभोई (विकटभोजी)" का अर्थ है "विकटे प्रकटे दिवसे न रात्राविति यावद्भोक्तुं शीलमस्येति विकटभोजी—चतुर्विधाहार-रात्रिभोजनवर्जकः। दिवापि वा प्रकाश-देशे भुङ्क्ते अशनाद्यवहरति। पूर्वं किल रात्रि-भोजनेऽनियम आसीत्तदर्थमिदमुक्तम्।" अर्थात् दिन में और प्रकाश में आहार करता है रात्रि में या दिन में अप्रकाश स्थान में आहार नहीं करता। सूत्र में यह भी आता है कि रात्रि में मैथुन क्रियाओं का परिमाण करे, उसके विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—"रत्तिति—विभक्ति-परिणामाद् रात्रौ—रजन्यां, किमत आह परिमाणं स्त्रीणां तद्भोगानां वा प्रमाणकृतं येन स परिमाण-कृतः, कदेत्याह—पडिमवज्जेसु त्ति—प्रतिमावर्जेषु—कायोत्सर्गरहितेषु पर्वसु-इत्यादि, दिवसेषु—दिनेषु इति" अर्थात् स्त्रियों का या उनके भोगों का रात्रि में परिमाण करना। किन्तु पर्व दिनों में तथा रात्रि की काय स

प्रतिमा में सर्वथा ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिए। पर्व की तिथियों को छोड़कर अन्य तिथियों में ही रात्रि के परिमाण का विषय जानना चाहिए। इस प्रतिमा को—

यथासूत्रम्—सूत्र-विधि से पालन करना चाहिए।
यथाकल्पम्—यथा-कल्प (शास्त्रीय विधि के अनुसार) पालन करना चाहिए।
यथामार्गम्—ज्ञानादि मार्ग के अनुसार सेवन करना चाहिए।
याथातथ्यम्—यथातथ्य भाव से पालन करना चाहिए।
यथासम्यग्—साम्य भाव से पालन करना चाहिए।
कायेन स्पर्शयति—काय (शरीर) से स्पर्श करना चाहिए न केवल मनोरथ से।
शोभयति शोधयति वा—अतिचारादि दोषों से शुद्ध करना चाहिए।
तीरयति—नियमों का पालन कर उनके पार पहुंचाना चाहिए।
पूरयति—नियमों की पूर्ति करता है।
कीर्तयति—पारणक (उपवास समाप्ति) के दिन नियमों का गुण-गान करना चाहिए।
अनुपालयति—निरन्तर पालन करना चाहिए।
आज्ञामाराधयति—और प्रतिमा-पालन के समय तथा अन्य समय भी श्रीभगवान् की आज्ञा का आराधन करना चाहिए।

अब सूत्रकार छठी प्रतिमा का विषय वर्णन करते हैं :—

अहावरा छट्ठी उवासग-पडिमा। सव्व-धम्म-रुई यावि भवति। जाव से णं एगराइयं उवासग-पडिमं अणुपालित्ता भवति। से णं असिणाणए, वियड-भोई, मउलिकडे, दिया वा राओ वा बंभयारी, सचित्ताहारे से अपरिण्णाए भवइ। से णं एयारूवेण विहारेण विहरमाणे जहन्नेण एगाहं, दुयाहं, तियाहं वा जाव उक्कोसेण छमासे विहरेज्जा। छट्ठी उवासग-पडिमा॥ ६॥

अथापरा षष्ठ्युपासक-प्रतिमा। सर्व-धर्म-रुचिश्चापि भवति।

यावत् स एकरात्रिकीमुपासक-प्रतिमामनुपालयिता भवति । स चास्नातः, विकट-भोजी, मुकुलीकृतः, दिवा वा रात्रौ वा ब्रह्म-चारी । सचित्ताहारस्तस्यापरिज्ञातो भवति । स चैतद्रूपेण विहारेण विहरञ्जघन्येनैकाहं द्व्यहं त्र्यहं वा यावदुत्कर्षेण षण्मासान् विहरेत् । षष्ठ्युपासक-प्रतिमा ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**अहावरा**–इसके अनन्तर **छट्ठी**–छठी **उवासग-पडिमा**–उपासक-प्रतिमा प्रतिपादन की है । इस प्रतिमा वाले की **सव्व-धम्म-रुई**–सर्व-धर्म-विषयक रुचि **यावि भवति**–होती है और **से**–वह **जाव**–यावत् **एगराइयं**–एक रात्रि की **उवासग-पडिमं**–उपासक-प्रतिमा को **अणुपालित्ता**–अनुपालन करने वाला **भवति**–होता है । **से**–वह **असिणाणए**–स्नान रहित **वियड–भोई**–दिन में भोजन करने वाला **मउलिकडे**–धोती की लांग न देने वाला **दिया वा राओ वा बंभयारी**–दिन और रात्रि में ब्रह्मचर्य पालन करने वाला **सचित्ताहारे**–सचित्ताहार **से**–उसका **अपरिण्णाए**–परित्यक्त नहीं होता **से**–वह **एयारूवेण**–इस प्रकार के **विहारेण**–विहार से **विहरमाणे**–विचरता हुआ **जहन्नेण**–न्यून से न्यून **एगाहं**–एक दिन **दुयाहं**–दो दिन **वा**–अथवा **तियाहं**–तीन दिन **जाव**–यावत् **उक्कोसेण**–अधिक से अधिक **छमासे**–छः मास तक **विहरेज्जा**–विचरे अर्थात् छः मास पर्यन्त इस प्रतिमा का पालन करता है । यही **छट्ठी उवासग-पडिमा**–छठी उपासक-प्रतिमा है ।

मूलार्थ—इसके अनन्तर छठी उपासक-प्रतिमा प्रतिपादन करते हैं । जो छठी प्रतिमा ग्रहण करता है उसकी सर्व-धर्म-विषयक रुचि होती है । वह एक रात्रि की उपासक-प्रतिमा का पालन करता है । वह स्नान नहीं करता, रात्रि में भोजन नहीं करता, धोती की लांग नहीं बांधता, दिन में और रात्रि में ब्रह्मचर्य व्रत धारण करता है, किन्तु वह बुद्धि-पूर्वक सचित्त आहार का परित्याग नहीं करता । इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ कम से कम एक दिन दो दिन तीन दिन और अधिक से अधिक छः मास तक विचरता है । यही छठी उपासक-प्रतिमा है ।

टीका—इस सूत्र में छठी प्रतिमा का विषय वर्णन किया गया है । जो व्यक्ति इस प्रतिमा में प्रविष्ट होता है वह सर्व-धर्म-विषयक रुचि से लेकर अन्य पांचवीं

प्रतिमा तक के सब नियमों का पालन करता है । वह विशेषतया एक रात्रि की उपासक प्रतिमा का आराधन करता है और स्नान नहीं करता, रात्रि में भोजन नहीं करता, धोती को लांग नहीं देता, रात्रि और दिन में ब्रह्मचर्य से रहता है । वह इन नियमों का निरतिचार से पालन करता है । इनके साथ २ वह काम-जनक विकथाओं का भी परित्याग कर देता है । किन्तु वह सचित्त आहार का परित्याग नहीं करता । कहने का तात्पर्य यह है कि औषधादि सेवन के समय या अन्य किसी कारण से यदि वह सचित्त आहार सेवन कर ले तो उसके लिए इसका निषेध नहीं, क्योंकि उसके लिए सचित्त आहार का सेवन प्रत्याख्यात नहीं है ।

इस प्रतिमा की समय-अवधि कम से कम एक, दो या तीन दिन और अधिक से अधिक छः मास है । कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतिज्ञा ग्रहण के अनन्तर यदि किसी की छः मास से पूर्व ही मृत्यु हो जाय या वह दीक्षा ग्रहण कर ले तो उसकी वह प्रतिज्ञा उतने ही दिन की मानी जाएगी और यदि जीवित रहे तो छः मास उसकी अवधि है । यदि कोई व्यक्ति आजीवन इन नियमों का सेवन करे तो उसका निषेध नहीं । वह स्वेच्छानुसार यथाशक्ति इनका पालन कर सकता है । हाँ, अभिग्रह-परिमाण में विशेष परिणाम अवश्य होता है और वह होना भी चाहिए । उपासक का मार्ग प्रायः योग मार्ग में ही व्यतीत होता है ।

अब सूत्रकार सातवीं प्रतिमा का विषय वर्णन करते हैं :—

अहावरा सत्तमा उवासग-पडिमा । सव्व-धम्म-रुई यावि भवति । जाव राओवरायं वा बंभयारी सचित्ताहारे से परिणाए भवति । आरंभे से अपरिणाए भवति । से णं एयारूवेण विहारेण विहरमाणे जहन्नेण एगाहं दुयाहं तियाहं वा जाव उक्कोसेण सत्त मासे विहरेज्जा । सेतं सत्तमा उवासग-पडिमा ॥ ७ ॥

अथापरा सप्तम्युपासक-प्रतिमा । सर्व-धर्म-रुचि-श्चापि

भवति । यावद् रात्र्यपरात्रं वा ब्रह्मचारी । सचित्ताहारस्तस्य परिज्ञातो भवति । आरम्भस्तस्यापरिज्ञातो भवति । स न्वेतद्रूपेण विहारेण विहरञ्जघन्येनैकाहं वा द्व्यहं वा त्र्यहं वा यावदुत्कर्षेण सप्त मासान् विहरेत् । सेयं सप्तम्युपासक-प्रतिमा ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**अहावरा**—इसके अनन्तर **सत्तमा**—सातवीं **उवासग-पडिमा**—उपासक-प्रतिमा प्रतिपादन करते हैं । इस प्रतिमा को ग्रहण करने वाले की **सव्व-धम्म**—सर्व-धर्म-विषयक **रुई**—रुचि **यावि भवति**—होती है । **जाव**—यावत् **राओवरायं**—दिन में और रात्रि में **बंभयारी**—ब्रह्मचारी रहता है । **सचित्ताहारे**—सचित्ताहार **से**—उसका **परिणाए**—प्रत्याख्यात **भवति**—होता है । **आरंभे**—कृषि आदि पापपूर्ण व्यापार **से**—उसका **अपरिणाए**—परित्यक्त नहीं **भवति**—होता । **से**—वह **एयारूवेण**—इस प्रकार के **विहारेण**—विहार से **विहरमाणे**—विचरता हुआ **जहन्नेण**—कम से कम **एगाहं**—एक दिन **दुयाहं**—दो दिन **तियाहं**—तीन दिन **जाव**—यावत् **उक्कोसेण**—उत्कर्ष से **सत्त मासे**—सात मास पर्यन्त **विहरेज्जा**—विचरण करे । **सेतं**—यही **सत्तमा**—सातवीं **उवासग-पडिमा**—उपासक-प्रतिमा प्रतिपादन की है ।

मूलार्थ—इसके अनन्तर सातवीं प्रतिमा प्रतिपादन करते हैं । जो इस प्रतिमा को ग्रहण करता है उसकी सर्व-धर्म-विषयक रुचि होती है । वह दिन और रात सदैव ब्रह्मचारी रहता है । वह सचित्त आहार का परित्याग कर देता है, परन्तु आरम्भ (कृषि आदि व्यापार) का नहीं कर सकता । वह इस वृत्ति से कम से कम एक दो या तीन दिन और यावत् उत्कर्ष से सात महीने तक विचरता है । यही सातवीं उपासक-प्रतिमा है ।

टीका—इस सूत्र में सातवीं प्रतिमा का विषय वर्णन किया गया है । जो इसको धारण करता है वह पहली प्रतिमा से लेकर छठी प्रतिमा तक के सम्पूर्ण नियमों का निरतिचार से पालन करता है । वह विशेषतया रात्रि और दिन में ब्रह्मचर्य धारण करता है । "राओवरायं (राउवरत्ति) वा बंभयारी—रात्रिर्निशा, अपगता रात्रिः अपरात्रो—दिवसः, रात्रिश्चापरात्रश्च रात्र्यपरात्रौ तयोः ब्रह्मचारी ब्रह्मव्रत-पालकः" अर्थात् रात्रि और अपरात्र अर्थात् दिन दोनों में ब्रह्मचर्य का पालन

करता है । इनके अतिरिक्त वह सचित्त आहार का भी परित्याग कर देता है, अर्थात् भोजन और जल-प्रासुक ही ग्रहण करता है । किन्तु उसने आरम्भ (कृषि आदि पापपूर्ण व्यापार) के करने और कराने तथा उक्त विषय में अनुमति देने का परित्याग नहीं किया होता । अत एव उसके लिए आरम्भ अपरिज्ञात कहा है ।

इस प्रतिमा का काल कम से कम एक दो या तीन दिन और अधिक से अधिक सात मास है । जघन्य से अधिक और उत्कृष्ट से मध्यम काल के विषय में जिज्ञासुओं को स्वयं विचार कर लेना चाहिए ।

अब सूत्रकार आठवीं प्रतिमा का विषय कहते हैं :—

अहावरा अट्ठमा उवासग-पडिमा । सव्व-धम्म-रुई यावि भवति । जाव राओवरायं बंभयारी । सचित्ताहारे से परिणाए भवति । आरंभे से परिणाए भवति । पेसारंभे अपरिणाए भवति । से णं एयारूवेण विहारेण विहरमाणे जाव जहन्नेण एगाहं दुयाहं तियाहं वा जाव उक्कोसेण अट्ठ मासे विहरेज्जा । सेतं अट्ठमा उवासग-पडिमा ॥ ८ ॥

अथापराष्टम्युपासक-प्रतिमा । सर्व-धर्म-रुचिश्चापि भवति । यावद् रात्र्यपरात्रं ब्रह्मचारी । सचित्ताहारस्तस्य परिज्ञातो भवति । आरम्भस्तस्य परिज्ञातो भवति । प्रेष्यारम्भोऽपरिज्ञातो भवति । स चैतद्रूपेण विहारेण विहरन् यावज्जघन्येनैकाहं द्व्यहं त्र्यहं वा यावदुत्कर्षेणाष्ट मासान् विहरेत् । सेयमष्टम्युपासक-प्रतिमा ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**अहावरा**—इसके अनन्तर **अट्ठमा**—आठवीं **उवासग-पडिमा**—उपासक-प्रतिमा प्रतिपादन की है । इस प्रतिमा के ग्रहण करने वाले की **सव्व-धम्म-रुई**—

सर्व-धर्म-विषयक रुचि **यावि भवति**–होती है । **जाव**–यावत् **राओवरायं**–रात्रि और दिन **बंभयारी**–ब्रह्मचारी रहता है । **सचित्ताहारे**–सचित्त आहार **से**–उसका **परिण्णाए**–प्रत्याख्यात **भवति**–होता है । **से**–उसका **आरंभे**–आरम्भ **परिण्णाए**–परिज्ञात **भवति**–होता है । किन्तु **पेसारंभे**–अन्य से आरम्भ (कृषि आदि पाप-पूर्ण व्यापार) कराना **से**–उसका **अपरिण्णाए**–अपरिज्ञात **भवति**–होता है । **से**–वह **एयारूवेण**–इस प्रकार के **विहारेण**–विहार से **विहरमाणे**–विचरता हुआ **जाव**–यावत् **जहन्नेण**–जघन्य से **एगाहं**–एक दिन **दुयाहं**–दो दिन **वा**–अथवा **तियाहं**–तीन दिन **जाव**–यावत् **उक्कोसेण**–उत्कृष्ट से **अट्ठ मासे**–आठ मास पर्यन्त **विहरेज्जा**–विचरण करे **सेतं**–यही **अट्ठमा**–आठवीं **उवासग-पडिमा**–उपासक-प्रतिमा प्रतिपादन की है ।

मूलार्थ—इसके अनन्तर आठवीं प्रतिमा प्रतिपादन करते हैं । इस प्रतिमा को धारण करने वाले की सर्व-धर्म-विषयक रुचि होती है । वह यावत् रात्रि और दिवस में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है, सचित्त आहार और आरम्भ का परित्याग कर देता है । किन्तु वह दूसरों से आरम्भ कराने का परित्याग नहीं करता है । इस प्रकार विचरता हुआ वह कम से कम एक, दो या तीन दिन और अधिक से अधिक आठ मास तक विचरण करता है । यही आठवीं उपासक-प्रतिमा है ।

टीका—इस सूत्र में आठवीं उपासक-प्रतिमा का विषय प्रतिपादन किया गया है । इस प्रतिमा में प्रविष्ट होने वाला व्यक्ति पहली प्रतिमा से सातवीं प्रतिमा तक के सम्पूर्ण नियमों का निरतिचार से पालन करता है । वह विशेषतया सर्वदा और सर्वथा ब्रह्मचारी रहता है । वह यद्यपि कृषि और वाणिज्यादि कर्म स्वयं नहीं करता किन्तु दूसरों से कराने का उसको निषेध नहीं । अतः वह आजीविका के निमित्त दूसरों से इन कामों को कराता है, स्वयं कभी उसमें प्रवृत्त नहीं होता ।

यहां पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब अन्य लोगों से कृषि आदि कर्म कराता है तो क्या उसको इसका पाप नहीं लगता ? उत्तर म कहा जाता है कि पाप कर्म करने के तीन मार्ग हैं—करना, कराना और पापकर्म में अनुमति प्रदान करना । स्वयं पापकर्म न करने का तो यहां नियम हो गया । शेष दो कर्मों का उसके लिए नियम नहीं है, किन्तु इनका पाप उसको अवश्य लगता है ।

इस प्रतिमा का नाम 'आरम्भ-परित्याग' प्रतिमा है । इसका पालन-काल अधिक से अधिक आठ मास है । शेष विधान पूर्ववत् जानना चाहिए ।

अब सूत्रकार नवीं प्रतिमा का विषय कहते हैं :—

अहावरा नवमा उवासग-पडिमा । सव्व-धम्म-रुई यावि भवति । जाव राओवरायं बंभयारी । सचित्ताहारे से परिणाए भवति । आरंभे से परिणाए भवति । पेसारंभे से परिणाए भवति । उद्दिट्ठ-भत्ते से अपरिणाए भवति । से णं एयारूवेण विहारेण विहरमाणे जहन्नेण एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेण नव मासे विहरेज्जा । सेतं नवमा उवासग-पडिमा ॥ ९ ॥

अथापरा नवम्युपासक-प्रतिमा । सर्व-धर्म-रुचिश्चापि भवति । यावद् रात्र्यपरात्रं ब्रह्मचारी । सचित्ताहारस्तस्य परिज्ञातो भवति । आरम्भस्तस्य परिज्ञातो भवति । प्रेष्यारम्भस्तस्य परिज्ञातो भवति । उद्दिष्ट-भक्तं तस्यापरिज्ञातं भवति । स चैतद्रूपेण विहारेण विहरञ्जघन्येनैकाहं वा द्व्यहं वा त्र्यहं वोत्कर्षेण नव मासान् विहरेत् । सेयं नवम्युपासक-प्रतिमा ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—**अहावरा**—इसके अनन्तर **नवमा**—नवीं **उवासग-पडिमा**—उपासक-प्रतिमा प्रतिपादन करते हैं । इस प्रतिमा वाले की **सव्व-धम्म-रुई**—सर्व-धर्म-विषयक रुचि **यावि भवति**—होती है । **जाव**—यावत् **राओवरायं**—रात और दिन में वह **बंभयारी**—ब्रह्मचारी होता है । **से**—उसका **सचित्ताहारे**—सचित्त आहार **परिणाए**—परिज्ञात **भवति**—होता है । **से**—उसका **आरंभे**—आरम्भ **परिणाए**—परिज्ञात **भवति**—होता है । **से**—उसका **पेसारंभे**—प्रेष्यारम्भ (दूसरों से कृषि वाणिज्य आदि कराना) **परिणाए**—

परिज्ञात **भवति**–होता है। किन्तु **से**–उसका **उद्दिट्ठ-भत्तं**–उद्दिष्ट-भक्त (उसके उद्देश्य से बनाया हुआ भोजन) **अपरिणाए**–अपरिज्ञात **भवति**–होता है । **से**–वह **एयारूवेण**–इस प्रकार के **विहारेण**–विहार से **विहरमाणे**–विचरता हुआ **जहन्नेण**–जघन्य से **एगाहं वा**–एक दिन अथवा **दुयाहं वा**–दो दिन अथवा **तियाहं वा**–तीन दिन **उक्कोसेण**–उत्कर्ष से **नव मासे**–नौ महीने तक **विहरेज्जा**–विचरण करे । **सेतं**–यही **नवमा**–नवीं **उवासग-पडिमा**–उपासक-प्रतिमा है ।

मूलार्थ—इसके अनन्तर नवीं प्रतिमा प्रतिपादन करते हैं । इस प्रतिमा को ग्रहण करने वाले की सर्व-धर्म-विषयक रुचि होती है । वह यावद् रात्रि और दिन ब्रह्मचारी रहता है । वह सचित्त आहार और आरम्भ के करने और कराने का परित्याग कर देता है, किन्तु उद्दिष्ट भक्त का परित्याग नहीं करता । इस प्रकार के विहार से वह कम से कम एक दो या तीन दिन और उत्कर्ष से नौ मास पर्यन्त इस प्रतिमा का आराधन करे । यही नवीं उपासक-प्रतिमा है ।

टीका—इस सूत्र में नवीं प्रतिमा का विषय प्रतिपादन किया गया है । जो व्यक्ति इस प्रतिमा को ग्रहण करता है उसकी सर्व-धर्म-विषयक रुचि होती है और वह आठवीं प्रतिमा तक के सब नियमों का पालन करता है । वह उद्दिष्ट-भक्त का परित्याग नहीं करता अर्थात् जो भोजन श्रावक के निमित्त तैयार किया जाता है उसका वह परित्याग नहीं करता प्रत्युत उसको ग्रहण कर लेता है । हाँ, वह न तो स्वयं आरम्भ करता है न दूसरे लोगों से ही कराता है । किन्तु अनुमति देने का परित्याग उसने नहीं किया होता, इसी कारण वह उद्दिष्ट-भक्त को ग्रहण कर लेता है, क्योंकि गृहस्थ का सम्पूर्ण भार यद्यपि वह अपने सुयोग्य पुत्रादि को सौंप देता है तथापि उनके प्रति उसको ममत्व रहता ही है और वह समय २ पर उनको अनुमति देता हुआ नौ मास तक नवीं प्रतिमा का आराधन करता है । हाँ, यदि वह नौ मास से पूर्व ही मर जाय या दीक्षा ग्रहण कर ले तो प्रतिमा का समय जघन्य जानना चाहिए ।

यदि यह पूछा जाय कि 'उद्दिष्ट-भक्त' का व्युत्पत्तिलभ्य और स्पष्ट अर्थ क्या है ? समाधान में कहा जाता है–"उद्दिष्टमुद्देशस्तेन कृतम् विहितम् उद्दिष्ट-कृतम्, तदर्थं संस्कृतमित्यर्थः । तच्च तद्भक्तं च–उद्दिष्ट-कृत-भक्तम्, मध्यमपदलोपादुद्दिष्ट-भक्तमिति

भवति । तत्तस्य प्रतिमाकर्तुः अपरिज्ञातम्—अप्रत्याख्यातं भवति, स्वमुद्दिश्य संस्कृतं भक्त-पानं परिभोगन्नयतीत्यर्थः ।" अर्थात् अपने निमित्त बने हुए भोजन का परित्याग न कर ग्रहण कर लेता है । वह नवीं प्रतिमा-धारी को निषिद्ध नहीं है ।

अब सूत्रकार दशवीं प्रतिमा का विषय वर्णन करते हैं :—

अहावरा दसमा उवासग-पडिमा । सव्व-धम्म-रुई यावि भवति । जाव उद्दिट्ठ-भत्ते से परिणाए भवति । से णं खुर-मुंडए वा सिहा-धारए वा । तस्स णं आभट्ठस्स समाभट्ठस्स वा कप्पंति दुवे भासाओ भासित्तए, जहा-जाणं वा जाणं, अजाणं वा णो जाणं । से णं एयारूवेण विहारेण विहरमाणे जहन्नेण एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेण दस मासे विहरेज्जा । सेतं दसमा उवासग-पडिमा ॥ १० ॥

अथापरा दशम्युपासक-प्रतिमा । सर्व-धर्म-रुचिश्चापि भवति । यावदुद्दिष्ट-भक्तं तस्य परिज्ञातं भवति । क्षुर-मुण्डितो वा शिखा-धारको वा । तस्य नु भाषितस्य संभाषितस्य वा कल्पेते द्वे भाषे भाषितुम्, यथा जानन्नहं जाने, अजानन्न जाने । स चैतादृशेन विहारेण विहरअघन्येनैकाहं वा द्व्यहं वा त्र्यहं वोत्कर्षेण दश मासान् विहरेत् । सेयं दशम्युपासक-प्रतिमा ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**अहावरा**—इसके अनन्तर **दसमा**—दशवीं **उवासग-पडिमा**—उपासक-प्रतिमा प्रतिपादन करते हैं । इस प्रतिमा वाले की **सव्व-धम्म-रुई**—सर्व-धर्म-विषयक रुचि **यावि भवति**—होती है । **जाव**—यावत् **उद्दिट्ठ-भत्ते**—उद्दिष्ट-भक्त **से**—उसका **परिणाए**—परित्यक्त **भवति**—होता है । **से**—वह **खुर-मुंडए**—क्षुर से मुण्डित होता है

वा—अथवा **सिहा-धारए**—शिखा धारण करता है । **तस्स**—उसको **आभट्ठस्स**—एक बार बुलाने पर **वा**—अथवा **समाभट्ठस्स**—बार २ बुलाने पर **दुवे**—दो **भासाओ**—भाषाएं **भासित्तए**—भाषण करने के लिए **कप्पंति**—योग्य हैं । **जहा**—जैसे **जाणं वा**—जिस पदार्थ को जानता है तो कह सकता है कि मैं **जाणे**—जानता हूं **वा**—अथवा **अजाणं**—न जानता हुआ **णो जाणं**—मैं नहीं जानता हूं । **से**—वह **एयारूवेण**—इस प्रकार के **विहारेण**—विहार से **विहरमाणे**—विचरता हुआ **जहन्नेण**—जघन्य से **एगाहं वा**—एक दिन अथवा **दुयाहं वा**—दो दिन अथवा **तियाहं वा**—तीन दिन **जाव**—यावत **उक्कोसेण**—उत्कर्ष से **दस मासे**—दश मास पर्यन्त **विहरेज्जा**—विचरे । **सेतं**—यही **दसमा**—दशवीं **उवासग-पडिमा**—उपासक-प्रतिमा है ।

मूलार्थ—इसके अनन्तर दशवीं उपासक-प्रतिमा प्रतिपादन करते हैं । इस प्रतिमा को ग्रहण करने वाले की सर्व-धर्म-विषयक रुचि होती है । वह पूर्वोक्त सब गुणों से युक्त होता है । वह उद्दिष्ट-भक्त का भी परित्याग कर देता है । वह शिर के बालों का क्षुर से मुण्डन कर देता है किन्तु शिखा अवश्य धारण करता है । जब उसको कोई एक या अनेक बार बुलाता है तो वह दो ही उत्तर दे सकता है—जानने पर मैं अमुक विषय जानता हूं और न जानने पर मैं इसको नहीं जानता । इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ जघन्य से एक दिन, दो दिन या तीन दिन यावत् उत्कर्ष से दश मास पर्यन्त विचरता है । यही दशवीं उपासक-प्रतिमा है ।

टीका—इस सूत्र में दशवीं प्रतिमा का विषय वर्णन किया है । जो व्यक्ति इस प्रतिमा को धारण करता है वह पूर्वोक्त नौ प्रतिमाओं के सम्पूर्ण नियमों का निरतिचार से पालन करता है । वह उद्दिष्ट-भक्त का भी परित्याग कर देता है अर्थात् अपने निमित्त बनाये हुए भोजन को भी ग्रहण नहीं करता । कहने का तात्पर्य यह है कि वह सावद्य योग का सर्वथा प्रत्याख्यान कर देता है । वह क्षुर से मुण्डित होता है, किन्तु गृहस्थ के चिह्न रूप शिखा को अवश्य धारण करता है । इस कथन से यह सिद्ध होता है कि गृहस्थ के लिए जिस प्रकार शिखा रखना आवश्यक है उसी प्रकार यज्ञोपवीत या जिनोपवीत आवश्यक नहीं । क्योंकि यदि वह भी आवश्यक होता तो सूत्रकार उसका भी वर्णन अवश्य करते । दशवीं प्रतिमा-

धारी के लिए नियम होता है कि वह एक या अनेक बार किसी विषय में पूछे जाने पर केवल दो प्रकार के उत्तर दे सकता है—यदि वह उस पदार्थ को जानता है तो कह सकता है मैं इसको जानता हूं, यदि नहीं जानता तो कह दे कि मैं नहीं जानता। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि उसका कोई सम्बन्धी उसके पास आकर पूछे कि अमुक स्थान पर जो धन आदि पदार्थ निक्षिप्त हैं क्या उनके विषय में आप कुछ जानते हैं ? यदि वह जानता है तो उसे कहना चाहिए कि मैं जानता हूं, यदि नहीं जानता तो कह दे कि मैं नहीं जानता। उसको हां या ना ही में उत्तर देना चाहिए। इससे अधिक कहने की उसको आज्ञा नहीं। इस विषय में वृत्तिकार भी यही लिखते हैं—"अस्य सूत्रस्यायं भावार्थः किल तेन श्राद्धेन दशम-प्रतिमा-प्रतिपत्तेः प्राक् यत्सुवर्णादि-द्रव्यजातं भूम्यादौ निक्षिप्तं तत्पृच्छतां पुत्र-भ्रात्रादीनां यदि जानाति ततः कथयति, अकथने वृत्ति-छेद-प्राप्तेः। अथ नैव जानाति ततो ब्रूते नैवाहं किमपि जानामीति, एतावदुक्त्वा नान्यत्किमपि तेषां गृहकृत्यं कर्तुं कल्पत इति तात्पर्यम्।" अर्थ पहले स्पष्ट किया जा चुका है। इस सूत्र में 'अपि' और 'वा' शब्द बार-बार आए हैं। वे समुच्चय या परस्पर अपेक्षा में हैं।

यह प्रतिमा जघन्य से एक, दो या तीन दिन पर्यन्त और उत्कर्ष से दश मास पर्यन्त वर्णन की गई है। यह प्रतिमा वास्तव में जैन वानप्रस्थ का वर्णन करती है। दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाएं जैन वानप्रस्थरूप ही हैं।

अब सूत्रकार ग्यारहवीं प्रतिमा का विषय वर्णन करते हैं :—

अहावरा एकादसमा उवासग-पडिमा। सव्व-धम्म-रुई यावि भवति। जाव उद्दिट्ठ-भत्तं से परिणाए भवति। से णं खुर-मुंडए वा लुत्त-सिरए वा, गहियायार-भंडग-नेवत्थे। जारिसे समणाणं निग्गंथाणं धम्मे पण्णत्ते, तं जहा—सम्मं काएण फासेमाणे, पालेमाणे पुरओ जुग-मायाए पेहमाणे, दट्ठूण तस्से पाणे उद्धट्टु पाए रीएज्जा, साहट्टु पाए रीएज्जा, तिरिच्छं वा पायं कट्टु

रीएज्जा, सति परक्कमेज्जा, संजयामेव परिक्कमेज्जा, नो उज्जुयं गच्छेज्जा, केवलं से नायए पेज्ज-बंधणे अवोच्छिन्ने भवति । एवं से कप्पति नाय-विधि वत्तए ।

अथापरैकादश्युपासक-प्रतिमा । सर्व-धर्म-रुचिश्चापि भवति । यावदुद्दिष्ट-भक्तं तस्य परिज्ञातं भवति । स च क्षुर-मुण्डितो वा लुप्त-शिरोजो वा, गृहीताचारभण्डक-नैवरथ्यः । यादृशः श्रमणानां निर्ग्रन्थानां वा धर्मः प्रज्ञप्तः । तद्यथा–सम्यक् कायेन स्पृशन्, पालयन्, पुरतो युग-मात्रया (दृष्ट्या) पश्यन्, दृष्ट्वा त्रसान् प्राणानुद्धृत्य पादावृच्छेत्, संहृत्य पादावृच्छेत्, तिरश्चीनं कृत्वा पादावृच्छेत्, सति (मार्गे) पराक्रमेत्, संयतमेव परिक्रामेत्, नर्जुकं गच्छेत्, केवलं तस्य ज्ञातकं प्रेम-बन्धनमव्युच्छिन्नं भवति । एवं स कल्पते ज्ञाति-विधिं व्रजितम् ।

पदार्थान्वयः—अहावरा–इसके अनन्तर एकादसमा–ग्यारहवीं उवासग-पडिमा–उपासक-प्रतिमा प्रतिपादन करते हैं सव्व-धम्म-रुई–सर्व-धर्म-विषयक रुचि यावि भवति–होती है जाव–यावत् उद्दिट्ठ–उद्दिष्ट भत्तं–भक्त से–उसका परिणाए–परित्यक्त भवति–होता है । से णं–वह खुर-मुंडए–क्षुर-मुण्डित वा–अथवा लुत्त-सिरए वा–लुञ्चित केश वाला होता है, गहियायार-भंडग-नेवत्थे–आचार, भाण्डोपकरण और साधुओं का वेष ग्रहण करता है । जारिसे–जिस प्रकार समणाणं–श्रमण निग्गंथाणं–निर्ग्रन्थों का धम्मे–धर्म पण्णत्ते–प्रतिपादन किया है तं जहा–जैसे–सम्मं–अच्छी प्रकार से काएण–काय से फासेमाणे–स्पर्श करता हुआ पालेमाणे–पालन करता हुआ पुरओ-आगे जुग-मायाए–युग-मात्रा-प्रमाण से पेहमाणे–देखता हुआ दट्ठूण–देखकर तसे–त्रस पाणे–प्राणियों को (उनकी रक्षा के लिए) पाए–पैरों को उद्धट्टु–ऊपर उठा कर रीएज्जा–चले साहट्टु–संकुचित कर रीएज्जा–चले वा–अथवा तिरिच्छं–तिर्यक् पायं–चरण कट्टु–करके रीएज्जा–चले सति–मार्ग के

विद्यमान होने पर **परक्कमेज्जा**—चलने का पराक्रम करे **संजयां**—निरन्तर यत्नशील होकर **एव**—ही **परिक्कमेज्जा**—पराक्रम करे । **उज्जुयं**—सरल रीति से **नो गच्छेज्जा**—न चले । **से**—उसका **केवलं**—केवल **नायए**—ज्ञाति (अपने सम्बन्धि-वर्ग) का **पेज्ज-बन्धणे**—प्रेम-बंधन **अवोच्छिन्न**—व्यवच्छेद रहित **भवति**—होता है । **एवं**—अतः **से**—उसको **नाय-विधि वत्तए**—ज्ञाति के विशेष लोगों में आहार के लिए जाना **कप्पति**—योग्य है । **णं**—वाक्यालङ्कार अर्थ में है । और **य**—समुच्चय तथा **अवि**—परस्परापेक्षा अर्थ में है । इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए ।

मूलार्थ—इसके अनन्तर ग्यारहवीं प्रतिमा प्रतिपादन करते हैं । ग्यारहवीं प्रतिमा-युक्त उपासक की सर्व-धर्म-विषयक रुचि होती है । वह उद्दिष्ट-भक्त का परित्याग कर देता है, शिर के बाल क्षुर से मुंडवा देता है अथवा केशों का लुञ्चन करता है । वह साधु का आचार और भाण्डोपकरण ग्रहण कर साधु के वेष में श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रतिपादित धर्म को सम्यक्तया काय से स्पर्श करता हुआ और उसका पालन करता हुआ विचरता है । वह जाते समय आगे युग मात्रा-प्रमाण भूमि को देखता हुआ यत्न-शील होता है । आगे त्रस प्राणियों को देख कर वह उनकी रक्षा के लिए अपने पैर ऊपर उठा लेता है । उनको संकुचित कर चलता है अथवा तिर्यक् पैर कर चलता है । विद्यमान मार्ग में यत्न-पूर्वक पराक्रम करता है, किन्तु विना देखे ऋजु (सीधा) नहीं चलता । केवल ज्ञाति-वर्ग से उसके प्रेम-बन्धन का व्यवच्छेद नहीं होता, अतः वह ज्ञाति के लोगों में भिक्षा-वृत्ति के लिए जाता है अर्थात् वह ज्ञाति के लोगों से ही भिक्षावृत्ति कर सकता है ।

टीका—इस सूत्र में ग्यारहवीं प्रतिमा का विषय वर्णन किया गया है । इस प्रतिमा को ग्रहण करने वाला पहली प्रतिमा से दशवीं प्रतिमा तक के सम्पूर्ण नियमों का विधि-पूर्वक पालन करता है । वह उद्दिष्ट-भक्त का सर्वथा परित्याग कर देता है और क्षुर से शिर के वालों को मुँडवा देता है अथवा उनका लुञ्चन करता है । क्षुर से शिरोमुण्डन अथवा केशों का लुञ्चन उसको विशेष विहित है । अतः सूत्र में लिखा है—"लुत्त-सिरए वेति—लुप्ता हस्तलुञ्चनेनापनीताः शिरोजा मस्तक-वाला यस्य स लुप्त-शिरोजः, वेति विकल्पार्थः केशलुञ्चन-करो वा" । 'वा' शब्द का तात्पर्य यह है कि यदि शक्ति हो तो वालों का लुञ्चन करे, यदि शक्ति न हो तो क्षुर से

मुण्डन करा ले। उसको साधु का वेष—मुख पर वस्त्रिका बांधना, कक्ष में रजो-हरण, कटि में चोल-पट्टक और वस्त्र का उपवेष्टन—धारण करना चाहिए। इस वेष को धारण कर वह साधु के आचारानुसार भण्डोपकरण आदि उपधि (उपकरण) धारण करे और श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए जो धर्म प्रतिपादन किया गया है उसका निरति-चार से पालन करता हुआ विचरे।

सूत्र में कहा गया है कि धर्म को काय द्वारा स्पर्श करे। 'काय' शब्द देने का अभिप्राय यह है कि केवल मनोरथ मात्र से ही धर्म का स्पर्श न करे किन्तु शरीर द्वारा उसका भली भांति पालन करे और अतिचारादि से बचता रहे। इस प्रकार विचरते हुए यदि मार्ग में कहीं पर त्रस आदि जीव हों तो उस मार्ग को छोड़ कर अन्य किसी मार्ग को ग्रहण कर ले।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि अन्य कोई मार्ग न हो तो उस अवस्था में क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर सूत्रकार स्वयं देते हैं, जैसे—यदि अन्य कोई मार्ग न हो तो उसी मार्ग में प्रयत्न शील होकर चले। सामने त्रस प्राणियों को देखकर पहले तो युग-मात्रा-प्रमाण भूमि को देखकर चले। तब भी यदि त्रस प्राणी दिखाई दें तो अपने पैरों को ऊपर उठा ले या संकुचित कर ले और मन्द गति से गमन करे। "तिरिच्छं—तिर्यग् वा पादौ विधाय पार्श्वतः पादन्यासं कृत्वेत्यर्थः" अर्थात् पैरों को तिरछा कर किनारे २ चले। इस कथन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार उन जीवों को व्यथा न पहुंचे उसी प्रकार ईर्या-समिति से गमन-क्रिया में प्रवृत्त हो, किन्तु जीवों को विना देखे सरल गति से गमन न करे। क्योंकि उसको साधु के समान प्रत्येक क्रिया में यत्न-पूर्वक ही प्रवृत्त होना चाहिए। यदि विना यत्न के ही गमन आदि क्रियायों में प्रवृत्त होगा तो उसको संयम और आत्म दोनों विराधनाओं के होने का भय है। सम्पूर्ण कथन का सारांश यह निकला कि उसको हर प्रकार से साधु-धर्म का पालन करना पड़ता है।

सब प्रकार से साधु-धर्म का आचरण करते हुए भी उसको अपने ज्ञाति (जाति) वर्ग से प्रेम-बन्धन रहता ही है। वह उनसे सर्वथा विमुक्त नहीं होता। उनके साथ उसका प्रेम-बन्धन त्रुटित नहीं होता। अतः उसको यही उचित है कि वह भिक्षा-वृत्ति अपने ज्ञाति विशेषों से ही करे। निष्कर्ष यह निकला कि साधु

समाचारी का सम्यग् रीति से पालन करता हुआ वह ज्ञाति-वर्ग से प्रेम के व्यवच्छेद न होने के कारण उन्हीं से भिक्षा-वृत्ति करता है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि उक्त गुण से सम्पन्न उपासक ही स्व-ज्ञाति वर्ग से भिक्षा-वृत्ति द्वारा जीवन-निर्वाह कर सकता है, दूसरा नहीं । दूसरी बात इससे यह भी निकलती है कि जिस उपासक का ज्ञाति वर्ग से प्रेम-बन्धन है वह तो उन्हीं से भिक्षा-वृत्ति करेगा, किन्तु जिसने उनसे वह बन्धन छुड़ा लिया है वह अज्ञात कुल से भी गोचरी कर सकता है । इसीलिए सूत्र में भिक्षु के लिए पुनः-पुनः लिखा है कि वह अज्ञात कुल की ही गोचरी कर सकता है ।

अग्रिम सूत्र में सूत्रकार वर्णन करते हैं कि जब प्रतिमा-धारी श्रमणोपासक स्व-ज्ञाति-कुल में भिक्षा के लिए जाय तो उसको किस प्रकार भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए ।

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे पच्छाउत्ते भिलिंग-सूवे, कप्पति से चाउलोदणे पडिग्गहित्तए, नो से कप्पति भिलिंग-सूवे पडिग्गहित्तए । तत्थ णं से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंग-सूवे पच्छाउत्ते चाउलोदणे कप्पति से भिलिंग-सूवे पडिग्गहित्तए, नो कप्पति चाउलोदणे पडिग्गहित्तए । तत्थ णं से पुव्वागमणेणं दोवि पुव्वाउत्ताइं कप्पति दोवि पडिग्गहित्तए । तत्थ णं से पच्छागमणेणं दोवि पच्छाउत्ताइं णो से कप्पति दोवि पडिग्गहित्तए । जे तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते से कप्पति पडिग्गहित्तए । जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते से णो कप्पति पडिग्गहित्तए ।

तत्र तस्यागमनात् पूर्वकाले (पूर्वागमने) पूर्वायुक्त-

स्तण्डुलौदनः पश्चादायुक्तो भिलिङ्ग-सूपः कल्पते स तण्डुलौदनं प्रतिग्रहीतुम्, न कल्पते स भिलिङ्ग-सूपं प्रतिग्रहीतुम् । तत्र तस्यागमनात्पूर्वकाले पूर्वायुक्तो भिलिङ्ग-सूपः पश्चादायुक्तस्तण्डुलौदनः कल्पते स भिलिङ्ग-सूपं प्रतिग्रहीतुम्, नो कल्पते स तण्डुलौदनं प्रतिग्रहीतुम् । तत्र तस्यागमनात्पूर्वकाले द्वावपि पूर्वायुक्तौ स कल्पते द्वावपि प्रतिग्रहीतुम्, तत्र तस्यागमनात्पश्चात्काले द्वावपि पश्चादायुक्तौ न स कल्पते द्वावपि प्रतिग्रहीतुम् । यत्तस्यागमनात्पूर्वकाले पूर्वायुक्तस्तत्स कल्पते प्रतिग्रहीतुम् । यत्तस्यागमनात्पूर्वकाले पश्चादायुक्तं तत्स नो कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ।

पदार्थान्वयः—तत्थ—उस गृहस्थ के घर में से—उपासक के पुव्वागमणेणं—जाने से पूर्व पुव्वाउत्ते—पहले पका कर उतारे हुए चाउलोदणे—चावल हों और पच्छाउत्ते—पीछे उतारी हुई भिलिंग-सूवे—मूंग की दाल हो तो से—उसको चाउलोदणे—चावल पडिग्गहित्तए—ले लेना कप्पति—उचित है किन्तु भिलिंग-सूवे—मूंग की दाल पडिग्गहित्तए—लेनी नो कप्पति—उचित नहीं तत्थ—वहां से—उसके पुव्वागमणेणं—आने से पहले भिलिंग-सूवे—दाल पुव्वाउत्ते—पहले पकाकर उतारी हुई हो और पच्छाउत्ते—जाने के अनन्तर चाउलोदणे—चावल पकाए जायं तो भिलिंग-सूवे—दाल तो पडिग्गहित्तए—ग्रहण करना कप्पति—उचित है किन्तु से—उसको चाउलोदणे—चावल पडिग्गहित्तए—लेना नो कप्पति—उचित नहीं है । तत्थ—वहां से—उसके पुव्वागमणेणं—आने से पहले दोवि—दोनों वस्तुएं अर्थात् दाल और चावल पुव्वाउत्ताइं—पका कर उतार दी गई हों तो से—उसको दोवि—दोनों पडिग्गहित्तए—लेनी कप्पति—उचित हैं । तत्थ—वहां पच्छागमणेणं—आने के अनन्तर दोवि—दोनों ही वस्तु पच्छाउत्ते—पका कर उतारी जायं तो से—उसको दोवि—दोनों ही पडिग्गहित्तए—ग्रहण करना नो कप्पति—योग्य नहीं । जे—जो से—उसके तत्थ—वहां पुव्वागमणेणं—आने से पहले पुव्वाउत्ते—पका हुआ है से—उसको पडिग्गहित्तए कप्पति—

ग्रहण कर लेना चाहिए । **जे**–जो **से**–उसके **तत्थ**–वहां **पुव्वागमणेणं**–आने से **पच्छाउत्ते**–पीछे पके **से**–उसको **पडिग्गाहित्तए**–ग्रहण करना **नो कप्पति**–योग्य नहीं ।

मूलार्थ—उपासक गृहस्थ के घर भिक्षा के लिए गया । यदि उसके वहां जाने से पहले घर में चावल पके हों और दाल न पकी हो तो उसको चावल ले लेने चाहिएं, दाल नहीं । यदि उसके जाने से पहले दाल पकी हो और चावल उसके पहुंचने के अनन्तर बनें तो उसको दाल ले लेनी चाहिए, चावल नहीं । यदि दोनों वस्तुएं उसके जाने से पहले ही बनी हों तो वह दोनों को ग्रहण कर सकता है । यदि दोनों पीछे बनें तो दोनों में से किसी को भी नहीं ले सकता । जो वस्तु उसके जाने से पहले की बनी हुई हो उसको वह ग्रहण कर सकता है जो उसके जाने के पीछे बने उसको नहीं ले सकता ।

टीका—इस सूत्र में एषणा-समिति का विषय वर्णन किया गया है । जिस प्रकार साधु-वृत्ति निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने की है, उसी प्रकार श्रमणोपासक की वृत्ति के विषय में भी कहा गया है । उसको भी विशेष नियमों के आधीन रहकर ही भिक्षा करनी चाहिए । जैसे–जब वह अपनी जाति के लोगों में भिक्षा-वृत्ति के लिए जाय तो उसको ध्यान रखना चाहिए कि जो पदार्थ उसके जाने से पहले पक चुके हों और अग्नि से उतार कर किसी शुद्ध स्थान पर रखे हों उन्हीं को ग्रहण करने का उसको अधिकार है । किन्तु जो पदार्थ उसके जाने के अनन्तर बनें उनको वह ग्रहण नहीं कर सकता । उदाहरणार्थ मान लिया उसके घर पर पहुंचने से पहले वहां चावल पके हुए हैं और दाल पकने वाली है या दाल पकी हुई है और चावल पकने वाले हैं तो वह पहले पके हुए चावल या दाल को ग्रहण कर सकता है, अनन्तर बने हुए को नहीं । सारांश यह निकला कि जो पदार्थ उसके जाने के पहले तय्यार हों उनको वह ग्रहण कर सकता है और जो पीछे तय्यार हों उनको नहीं ले सकता । यहां यह केवल सूचना मात्र है । इसका विशेष विवेचन आहार-विधि से जानना चाहिए । भावाशय यह है कि वह ४२ दोषों से रहित शुद्ध भोजन ही ग्रहण कर सकता है ।

इस सूत्र में "पुव्वागमणेणं" शब्द में सप्तमी विभक्ति के अर्थ में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है, इससे 'आगमनात्पूर्वकाले' यह अर्थ हुआ ।

अर्द्ध-मागधी-कोष में इसका पूर्वागमन संस्कृत-अनुवाद किया गया है । "पुव्वा-उत्ते (पूर्वायुक्तः)" शब्द का जाने से पहले पका हुआ अर्थ होता है । "भिलिंगसूव" मूंग आदि दालों को कहते हैं । यह शब्द यहां सामान्य रूप से सब तरह की दालों का बोधक है । इसी प्रकार चावलों के विषय में भी जानना चाहिए । वे भी यहां सब तरह के अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य पदार्थों का बोध कराते हैं । सारे कथन का सारांश यह निकला कि प्रतिमा-प्रतिपन्न श्रमणोपासक को साधुओं के समान दोष-रहित ही आहार ग्रहण करना चाहिए । ये दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाएं जैन-वानप्रस्थ रूप हैं । वास्तव में इन्हीं को जैन-वानप्रस्थ कहते हैं ।

अब सूत्रकार वर्णन करते हैं कि जब श्रमणोपासक भिक्षा के लिए जाय तो किस प्रकार भिक्षा-याचना करनी चाहिए :—

तस्स णं गाहावइ-कुलं पिंडवाय-पडियाए अणुप्प-विट्ठस्स कप्पति एवं वदित्तए "समणोवासगस्स पडिमा-पडिवन्नस्स भिक्खं दलयह" । तं चेव एयारूवेण विहा-रेण विहरमाणे णं केइ पासित्ता वदिज्जा "केइ आउसो तुमं वत्तव्वं सिया", "समणोवासए पडिमा-पडिवण्णए अहमंसीति" वत्तव्वं सिया । से णं एयारूवेण विहारेण विहरमाणे जहन्नेण एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेण एक्कारस मासे विहरेज्जा । एकादसमा उवा-सग-पडिमा ॥ ११ ॥

एयाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासग-पडिमाओ पण्णत्ताओ त्ति बेमि ।

छठा दसा समत्ता ।

तस्य नु गृहपति-कुलं पिण्डपात-प्रतिज्ञयानुप्रविष्टस्य कल्पत एवं वदितुम् "श्रमणोपासकाय प्रतिमा-प्रतिपन्नाय भिक्षां प्रयच्छत।" तन्न्वेतादृशेन विहारेण विहरन्तं कश्चिद् दृष्ट्वा वदेत् "कः आयुष्मन्! त्वं वक्तव्यः", "श्रमणोपासकः प्रतिमा-प्रतिपन्नोऽहमस्मीति" वक्तव्यं स्यात्। स चैतादृशेन विहारेण विहरञ्जघन्येनैकाहं वा द्व्यहं वा त्र्यहं वोत्कर्षेणैकादश मासान् विहरेत्। एकादश्युपासक-प्रतिमा ॥ ११ ॥

एताः खलु ताः स्थविरैर्भगवद्भिरेकादशोपासक-प्रतिमाः प्रज्ञप्ता इति ब्रवीमि।

षष्ठी दशा समाप्ता।

पदार्थान्वयः—तस्स–उसके गाहावइ-कुलं–गृहपति के कुल में पिंडवाय-पडियाए–पिण्डपात के लिए अणुप्पविट्ठस्स–प्रवेश करने पर एवं–इस प्रकार वदित्तए–बोलना कप्पति–योग्य है, जैसे–समणोवासगस्स–श्रमणोपासक, पडिमा-पडिवन्नस्स–जिसको प्रतिमा की प्राप्ति हुई है, भिक्खं–भिक्षा दलयह–दो च–फिर एवं–अवधारण अर्थ में है तं–उसको एयारूवेण–इस प्रकार के विहारेण–विहार से विहरमाणेणं–विचरते हुए केइ–कोई–पासित्ता -देखकर वदिज्जा–कहे आउसो–हे आयुष्मन्! के–कौन तुमं वत्तव्वं सिया–तुम कौन हो अर्थात् तुम्हारा क्या स्वरूप है? तब वह कहे कि समणोवासए–श्रमणोपासक, पडिमा-पडिवण्णए–जिसको प्रतिमा की प्राप्ति हुई है, अहमंसि–मैं हूं त्ति–इस प्रकार वत्तव्वं सिया–मेरा स्वरूप है अर्थात् मैं प्रतिमाधारी श्रावक हूं। से–वह फिर एयारूवेण-इस प्रकार के विहारेण–विहार से विहरमाणे–विचरता हुआ जहन्नेण–जघन्य से एगाहं वा–एक दिन अथवा दुयाहं वा–दो दिन अथवा तियाहं वा–तीन दिन उक्कोसेण–उत्कर्ष से एक्कारस मासे–एकादश मास पर्यन्त विहरेज्जा–विचरे या विचरता है। एक्कादसमा–यही ग्यारहवीं उवासग-पडिमा–उपासक-प्रतिमा है। एयाओ–ये खलु–निश्चय से ताओ–वे थेरेहिं–स्थविर भगवंतेहिं–भगवन्तों ने एक्कारस–ग्यारह उवासग-पडिमा–उपासक प्रतिमाएं

पण्णत्ताओ–प्रतिपादन की हैं **त्ति बेमि**–इस प्रकार मैं कहता हूं **इति**–इस प्रकार **छठा**–छठी **दसा**–दशा **समत्ता**–समाप्त हुई ।

मूलार्थ—उस उपासक को गृहपति के घर में प्रविष्ट होने पर इस प्रकार से बोलना योग्य है "प्रतिमा-प्रतिपन्न श्रमणोपासक को भिक्षा दो" । इस प्रकार के विहार से विचरते हुए उसको देखकर यदि कोई पूछे "हे आयुष्मन् ! तुम कौन हो ?" तब उसको कहना चाहिए "मैं प्रतिमा-प्रतिपन्न श्रमणोपासक हूं । यही मेरा स्वरूप है ।" इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य से एक, दो या तीन दिन और उत्कर्ष से एकादश मास पर्यन्त विचरता है । यही श्रमणोपासक की ग्यारहवीं प्रतिमा है । यही स्थविर भगवन्तों ने ग्यारह उपासक-प्रतिमाएं प्रतिपादन की हैं । इस प्रकार मैं कहता हूं । षष्ठी दशा समाप्ता ।

टीका—इस सूत्र में ग्यारहवीं-प्रतिमा-प्रतिपन्न श्रमणोपासक का वर्णन करते हुए प्रस्तुत दशा का उपसंहार किया गया है । जब ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करने वाला श्रमणोपासक किसी गृहपति के घर पर भिक्षा के लिए जाय तो उसको कहना चाहिए "प्रतिमा-प्रतिपन्न श्रमणोपासक को भिक्षा दो ।" उस समय इस प्रकार विचरते हुए उसको देखकर उससे यदि कोई प्रश्न करे कि आप कौन हैं ? तो प्रत्युत्तर में उसको कहना चाहिए कि मैं प्रतिमा-प्रतिपन्न श्रमणोपासक हूं और यही मेरा स्वरूप है अर्थात् मैं इसी स्वरूप में रहता हूं ।

यह शंका उपस्थित हो सकती है कि जब श्रमणोपासक को गृहपति के घर पर जाकर भिक्षा के लिए उपर्युक्त शब्द करना पड़ता है तो साधु को भी भिक्षाचरी के समय कुछ न कुछ अवश्य कहना चाहिए ? समाधान में कहा जाता है कि श्रमणोपासक को इसलिए ऐसा करना पड़ता है कि कोई उसको साधु न समझ ले, जिससे उसको (श्रमणोपासक को) चोरी का दोष लगने का भय है; क्योंकि उसका वेष भूषा सब साधु के समान ही होता है । इस भ्रान्ति के निवारण के लिए श्रमणोपासक को उपर्युक्त शब्द करना चाहिए । साधु को उसकी आवश्यकता नहीं । इससे यह भी सिद्ध होता है कि भिक्षाचरी केवल अपने सम्बन्धियों के घर से ही नहीं ली जाती, अपितु स्वजाति-बन्धुओं से भी ली जाती है । क्योंकि यदि सम्बन्धियों से ही भिक्षा-याचना करनी होती तो शब्द करने की कोई आवश्यकता न थी ।

वे तो उसको पहचानते ही हैं । जो कोई शब्द करेगा उसको तो वे लोग अपरिचित ही समझेंगे । भिक्षा करते हुए उसका सारा वेष साधु का और शिर पर चोटी देखकर यदि उससे कोई पूछ बैठे कि महानुभाव ! आप कौन हैं ? आपके मुख पर मुखपत्ति बँधी हुई है और आपके रजोहरणादि सम्पूर्ण साधु के चिह्न हैं किन्तु आपके शिर पर चोटी भी दिखाई दे रही है । उस समय उस (श्रमणोपासक) को प्रत्युत्तर में कहना चाहिए कि हे आयुष्मन् ! मैं प्रतिमा-प्रतिपन्न श्रमणोपासक हूं । इससे पूछने वाले के सन्देह की निवृत्ति भी हो जायगी और वह (श्रमणोपासक) स्तेन-भाव से बच जायगा ।

दूसरों के समान रूप बना कर जनता की आँखों में धूल झोंकना भी चोरी में आ जाता है । उसको रूप-चोर कहते हैं । चोर अनेक प्रकार के होते हैं । जैसे–
"तव-तेणे वय-तेणे रूव-तेणे य जे नरे । आयार-भाव-तेणे य कुव्वइ देव-किव्विसं ॥"
अर्थात् तप का चोर, वाक्य का चोर, रूप का चोर, आचार का चोर और भाव का चोर आदि सब चोर ही कहलाते हैं । यहां, जैसा पहले कहा जा चुका है, विना अपना परिचय दिये भिक्षाचरी करने वाला श्रमणोपासक रूप-चोर कहलायेगा, क्योंकि उसका वेष बिलकुल साधु के समान ही होता है । अतः चोरी के पाप से बचने के लिए उसको अवश्य अपना परिचय देना चाहिए ।

इस सूत्र में यह भी भली भाँति सिद्ध किया गया है कि केवल ज्ञान से मोक्ष नहीं हो सकता, नांही केवल क्रिया से हो सकता है । अतः "ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः" अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनों के मिलाने से मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है । इसी लिए पहली और दूसरी प्रतिमा में सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-ज्ञान का विषय वर्णन करके शेष नौ में चारित्र (क्रिया) का ही विषय वर्णन किया गया है । इतना ही नहीं, किन्तु ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम भी "समणे भूए (श्रमणो भूतः)" लिखा है । यहां 'भूत' शब्द तुल्य अर्थ में आया हुआ है । इसलिए इस प्रतिमा को धारण करने वाले की सम्पूर्ण क्रियाएं प्रायः साधु के समान ही होती हैं अर्थात् उसकी और साधु की भिक्षाचरी और प्रतिलेखन आदि क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं होता । शेष समय वह स्वाध्याय और ध्यान में व्यतीत करता है । किन्तु ध्यान रहे कि आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान सदैव त्याज्य हैं ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान का क्या आकार है ? उत्तर में कहा जाता है कि अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए जो पुद्गल द्रव्य की इच्छा होती है उसकी प्राप्ति न होने पर अन्य व्यक्तियों को हानि पहुंचाने के उपायों के अन्वेषण (ढूंढ) करने को आर्त या रौद्र ध्यान कहते हैं । प्रिय वस्तु का न मिलना, अप्रिय वस्तु का मिलना, सदा रोग-निवृत्ति की चिन्ता से ग्रस्त रहना और इच्छित काम-भोगों की वासना में लिप्त रहना ही आर्त ध्यान की उत्पत्ति के कारण हैं । इच्छित पदार्थ के न मिलने पर त्रस और स्थविरों की हिंसा के भाव, मृषावाद के भाव और चोरी के भावों का बना रहना सदा दूसरों पर अधिकार जमाने की इच्छा का होना, दूसरों की उन्नति से जलना और उसमें रुकावट डालने का ध्यान करना ही रौद्र ध्यान की उत्पत्ति के कारण हैं ।

श्रमणोपासक को इन ध्यानों का परित्याग कर धर्म-ध्यान में ही अपना समय व्यतीत करना चाहिए, क्योंकि उसको अपनी आत्मा सांसारिक व्यवहारों से पृथक् करनी है। अतः वह उक्त ध्यानों से पृथक् रहकर और उपयोग-पूर्वक भिक्षा-वृत्ति करते हुए ग्यारहवीं प्रतिमा का पालन करे। इसकी अवधि जघन्य से एक दिन, दो दिन या तीन दिन है और उत्कर्ष से ग्यारह मास पर्यन्त है अर्थात् यदि ग्यारह महीने से पूर्व ही उक्त प्रतिमा-प्रतिपन्न श्रमणोपासक की मृत्यु हो जाय या वह दीक्षित हो जाय तो जघन्य या मध्यम काल ही उसकी अवधि होगी और यदि दोनों में से कुछ भी न हुआ तो उक्त अभिग्रह के साथ उसको ग्यारह मास तक इसका पालन करना पड़ेगा ।

इस प्रकार स्थविर भगवन्तों ने ग्यारह उपासक प्रतिमाएं प्रतिपादन की हैं ।

यहां पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ग्यारह प्रतिमाओं के धारण करने के अनन्तर ही दीक्षित होना चाहिए या कोई इससे पहले भी हो सकता है ? उत्तर में कहा जाता है कि यदि इस प्रकार हो तो बहुत ही उत्तम है। क्योंकि जिस प्रकार जैनेतर मत में चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास या यति का विधान है उसी प्रकार जैन मत में भी है । किन्तु सामान्य रूप से कथन मिलता है "ततः प्रतिमाकरणमन्तरेणापि प्रव्रज्या सम्यग्भवति" अर्थात् प्रतिमा ग्रहण किये विना भी प्रव्रज्या हो सकती है । किन्तु यह कथन अपवाद रूप ही है । श्री गौतम आदि

गणधर और जम्बू कुमारादि महामुनि विना प्रतिमा ग्रहण किये ही दीक्षित हुए थे। सामान्य रूप से यदि कोई प्रतिमा धारण करके दीक्षित होना चाहे तो भी हो सकता है, किन्तु यह नियम आवश्यकीय नहीं है। धर्म-कृत्यों के विषय में सूत्रकार लिखते हैं "समयं गोयम ! मा पमायए" अर्थात् धर्म-कृत्यों में किञ्चित्समय के लिए भी प्रमाद न करना चाहिए। हाँ, सूत्रों में ऐसा विधान कहीं नहीं मिलता कि प्रतिमा धारण के अनन्तर ही दीक्षित होना चाहिए, प्रत्युत ऐसे कथन मिलते हैं कि धार्मिक कृत्यों में विलम्ब कदापि नहीं करना चाहिए। जैसे जब श्रीभगवान् अरिष्टनेमि के पास गजसुकुमारादि और श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास मेघकुमारादि दीक्षा ग्रहण करने के लिए उपस्थित हुए तब उनसे श्री भगवान् ने प्रतिपादन किया "अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह" हे देवानुप्रिय ! जिस प्रकार तुम्हारे आत्मा को सुख हो, दीक्षादि धर्म-कृत्यों में प्रतिबन्ध (विलम्ब) न करो। किन्तु ऐसा नहीं कहा कि पहले तुम श्रमणोपासक की एकादश प्रतिमाओं को धारण करो। इत्यादि कथनों से भली भांति सिद्ध होता है कि ये प्रतिमाएं गृहस्थ-धर्म की पराकाष्ठा स्वरूप हैं। जो श्रावक दीक्षा ग्रहण करने में अपनी सामर्थ्य न समझें उनको प्रतिमाओं के द्वारा ही अपना जीवन सफल बनाना चाहिए।

यह शङ्का उपस्थित होती है कि कोई भी व्यक्ति आज कल उपर्युक्त ग्यारह प्रतिमाओं का नियम पूर्वक पालन नहीं कर सकता। क्योंकि पहली प्रतिमा में एकान्तर तप है, दूसरी में दो, इसी क्रम से एकादश मास पर्यन्त एकादश उपवासों का तप है। यदि यह असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है ? उत्तर में कहा जाता है कि व्रतों का विधान सूत्रोक्त नहीं है, अतः अप्रामाणिक है। जैसे सूत्रों में अन्य नियमों का प्रतिपादन विस्तार से किया है, यदि व्रतों का भी नियम होता तो अवश्य उनका उसी प्रकार विधान होता। अतः सिद्ध हुआ कि सूत्रोक्त न होने से तप का विधान प्रामाणिक नहीं है। हाँ, यदि प्रतिमा-धारी उपासक प्रतिमा के नियमों के अतिरिक्त तप करना चाहे तो वह उसकी इच्छा पर निर्भर है। प्रतिमा को धारण कर उपासक को उसके नियमों के पालन करने में अवश्य प्रयत्न-शील होना चाहिए।

इन एकादश प्रतिमाओं के नाम 'समवायाङ्गसूत्र' के एकादशवें समवाय में इस प्रकार दिये गये हैं:—

"एक्कारस उवासग-पडिमाओ पण्णत्ताओ । तं जहा—दंसण-सावए; कय-व्वय-कम्मे; सामाइअ-कडे; पोसहोववास-निरए; दिया बंभयारी; रत्ति-परिमाण-कडे; दिया वि राओ वि बंभयारी; असिणाई; वियड-भोई; मोलि-कडे; सचित्त-परिणाए; आरंभ-परिणाए; पेस-परिणाए; उद्दिट्ठ-भत्त-परिणाए; समण-भूए आवि भवइ समणाउसो ।"

दर्शन-श्रावकः; कृत-व्रत-कर्मा; कृत-सामायिकः; पौषधोपवास-निरतः; दिवा ब्रह्मचारी, रात्रौ परिमाण-कृतः; दिवापि रात्रावपि ब्रह्मचारी, अस्नायी, दिवाभोजी, अबद्धपरिधान-कच्छकः; सचित्ताहार-परिज्ञातक; आरम्भ-परिज्ञातकः; प्रेष्य-परिज्ञातकः; उद्दिष्टभक्त-परिज्ञातकः; श्रमण-भूत—साधुकल्प इत्यर्थः ।" देश व्रत वाले व्यक्ति को उतनी ही प्रतिमा धारण करनी चाहिएं जितनी वह धारण कर सके ।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा देने में निर्जरा है या नहीं ? उत्तर में कहा जाता है कि दान का फल क्षेत्रा(पात्रा)-नुसार होता है । जिस प्रकार के क्षेत्र में धान्य बीजा जाता है उसी प्रकार का फल होता है । इसी प्रकार जैसे पात्र—सुपात्र या कुपात्र—को दान दिया जायगा उसी प्रकार फल की प्राप्ति होगी । कहा भी है "समणोवासगस्स णं भंते । तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुयएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जति ? गोयमा ! एमं तसो निज्जरा कज्जइ । नत्थि य से पावे कज्जइ ।"

इस सूत्र में तथा-रूप 'श्रमण' या 'माहन' शब्द आए हैं । उनकी व्याख्या करते हुए अभयदेव सूरि इस प्रकार लिखते हैं "माहणस्स त्ति"—मा हन इत्येवमादिशति स्वयं स्थूल-प्राणातिपात-निवृतत्वाद् यः स माहनो वा ब्राह्मणो वा । ब्रह्मचर्यस्य देशतः सद्भावाद् ब्राह्मणोऽपि देश-विरत इत्यादि । अर्थात् तथा-रूप श्रमण या माहन को प्रासुक (अचित्त) आहार देने से एकान्त निर्जरा होती है । शेष स्वयं जान लेना चाहिए ।

सब प्रतिमाओं का काल मिलाकर साढ़े पांच वर्ष होता है । इस काल को समाप्त कर उपासक या तो दीक्षित हो जाता है या पुनः प्रतिमा धारण करता है । यदि कोई मृत्यु के समय को जान ले तो अनशन द्वारा स्वर्गारोहण करता है । कार्तिक नामक श्रेष्ठी के समान उपासक कितनी ही बार प्रतिमा धारण कर सकता है । यद्यपि नियमों की पूर्ति होने पर वह फिर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो सकता है किन्तु

यह प्रथा प्रायः जनता में प्रशस्य नहीं मानी जाती । अतः प्रतिमा-पालन के अनन्तर शेष जीवन धर्म-ध्यान ही में व्यतीत करना चाहिए ।

इस प्रकार श्री सुधर्म्मा स्वामी जी श्री जम्बू स्वामी जी से कहते हैं :— "हे जम्बू स्वामिन् ! जिस प्रकार मैंने श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के मुखारविन्द से इस दशा का अर्थ श्रवण किया है उसी प्रकार तुमको सुना दिया है । इसमें अपनी बुद्धि से मैंने कुछ नहीं कहा ।"

षष्ठी दशा समाप्ता ।

सप्तमी दशा

छठी दशा में श्रमणोपासक की प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार इस सातवीं दशा में भिक्षु की प्रतिमाओं का वर्णन करते हैं। क्योंकि जो लघु-कर्मी व्यक्ति सर्व-वृत्ति-रूप चारित्र धारण करना चाहे, उसको भिक्षु-आश्रम में अवश्य प्रवेश करना पड़ता है। अतः इस दशा में भिक्षु के अभिग्रहों का वर्णन किया जाता है। यही इस दशा का पहली दशाओं से सम्बन्ध है।

वैसे तो भिक्षु की अनेक प्रतिमाएं प्रतिपादन की गई हैं। जैसे—समाधि-प्रतिमा, विवेक-प्रतिमा, उपधान-प्रतिमा, प्रतिसंलीनता-प्रतिमा, एकाकी-विहार-प्रतिमा, यवमध्य-प्रतिमा, चन्द्र-प्रतिमा, वज्रमध्य-प्रतिमा, भद्र-प्रतिमा, महाभद्र-प्रतिमा, सुभद्र-प्रतिमा, सर्वतोमहाभद्र-प्रतिमा, श्रुत-प्रतिमा, चारित्र-प्रतिमा, वैयावृत्य-प्रतिमा, सप्तपिण्डैषणा-प्रतिमा, सप्तपानैषणा-प्रतिमा और कायोत्सर्ग-प्रतिमा आदि। किन्तु इन सब का समावेश श्रुत और चारित्र प्रतिमा में ही हो जाता है। क्योंकि अन्य जितनी भी प्रतिमाएं हैं वे इन दोनों के ही भेद रूप ही हैं। भिक्षु को भेद और उपभेद सहित प्रतिमाओं के द्वारा ही अपने कार्य की सिद्धि करनी चाहिए। अर्थात् इनके द्वारा कर्मों का नाश कर अपने अभीष्ट निर्वाण की प्राप्ति करना ही उसका ध्येय होना चाहिए।

इसी विषय को लक्ष्य में रखते हुए सूत्रकार ने सातवीं दशा का निर्माण किया है। उसका आदिम सूत्र यह है :—

सुयं मे, आउसं, तेणं भगवया एवमक्खायं. इह

खलु थेरेहिं भगवंतेहिं बारस भिक्खु-पडिमाओ पण्णत्ताओ। कयरा खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं बारस भिक्खु-पडिमाओ पण्णत्ताओ? इमाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं बारस भिक्खु-पडिमाओ पण्णत्ताओ। तं जहा :—

श्रुतं मया, आयुष्मन्!, तेन भगवतैवमाख्यातम्, इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्द्वादश भिक्षु-प्रतिमाः प्रज्ञप्ताः। कतराः खलु ताः स्थविरैर्भगवद्भिर्द्वादश भिक्षु-प्रतिमाः प्रज्ञप्ताः? इमाः खलु ताः स्थविरैर्भगवद्भिर्द्वादश भिक्षु-प्रतिमाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा :—

पदार्थान्वयः—**आउसं**—हे आयुष्मन् शिष्य ! **मे**—मैंने **सुयं**—सुना है **तेणं**—उस **भगवया**—भगवान् ने **एवं**—इस प्रकार **अक्खायं**—प्रतिपादन किया है **इह**—इस जिन शासन में **खलु**—निश्चय से **थेरेहिं**—स्थविर **भगवंतेहिं**—भगवन्तों ने **बारस**—बारह **भिक्खु-पडिमाओ**—भिक्षु-प्रतिमाएं **पण्णत्ताओ**—प्रतिपादन की हैं। (शिष्य प्रश्न करता है) **कयरा**—कौनसी **ताओ**—वे **थेरेहिं**—स्थविर **भगवंतेहिं**—भगवन्तों ने **बारस**—बारह **भिक्खु-पडिमाओ**—भिक्षु की प्रतिमाएं **पण्णत्ताओ**—प्रतिपादन की हैं ? (गुरु कहते हैं) **इमाओ**—ये **खलु**—निश्चय से **ताओ**—वे **थेरेहिं**—स्थविर **भगवंतेहिं**—भगवन्तों ने **बारस**—बारह **भिक्खु-पडिमाओ**—भिक्षु की प्रतिमाएं **पण्णत्ताओ**—प्रतिपादन की हैं। **तं जहा**—जैसे :—

मूलार्थ—हे आयुष्मन् शिष्य ! मैंने सुना है, उस भगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है। इस जिन-शासन में स्थविर भगवन्तों ने बारह भिक्षु-प्रतिमाओं का वर्णन किया है। शिष्य प्रश्न करता है "हे गुरुदेव ! कौनसी बारह भिक्षु-प्रतिमाएं स्थविर भगवन्तों ने प्रतिपादन की हैं ?" उत्तर में गुरु कहते हैं कि वक्ष्यमाण बारह भिक्षु-प्रतिमाएं स्थविर भगवन्तों ने प्रतिपादन की हैं। जैसे :—

टीका—पहली छः दशाओं के प्रारम्भ के समान इस दशा का प्रारम्भ भी

गुरु-शिष्य के प्रश्नोत्तर रूप में ही किया गया है, क्योंकि जैसे पहले भी कहा जा चुका है, यह शैली अत्यन्त रोचक तथा शीघ्र अवबोध कराने वाली है । जो शुद्ध भिक्षा द्वारा अपने जीवन का निर्वाह करता है, उसीको भिक्षु कहते हैं । उसकी द्वादश प्रतिमाएं (अभिग्रह) इस दशा में वर्णन की गई हैं।

अब सूत्रकार उन प्रतिमाओं का नामाख्यान करते हैं :—

१—मासिया भिक्खु-पडिमा २—दो-मासिया भिक्खु-पडिमा ३—ति-मासिया भिक्खु-पडिमा ४—चउ-मासिया भिक्खु-पडिमा ५—पंच-मासिया भिक्खु-पडिमा ६—छ-मासिया भिक्खु-पडिमा ७—सत्त-मासिया भिक्खु-पडिमा ८—पढमा सत्त-राइं-दिया भिक्खु-पडिमा ९—दोच्चा सत्त-राइं-दिया भिक्खु-पडिमा १०—तच्चा सत्त-राइं-दिया भिक्खु-पडिमा ११—अहो-राइं-दिया भिक्खु-पडिमा १२—एग-राइया भिक्खु-पडिमा ।

१—मासिकी भिक्षु-प्रतिमा २—द्वि-मासिकी भिक्षु-प्रतिमा ३—त्रि-मासिकी भिक्षु-प्रतिमा ४—चतुर्मासिकी भिक्षु-प्रतिमा ५—पञ्च-मासिकी भिक्षु-प्रतिमा ६—षण्मासिकी भिक्षु-प्रतिमा ७—सप्त-मासिकी भिक्षु-प्रतिमा ८—प्रथमा सप्त-रात्रिं-दिवा भिक्षु-प्रतिमा ९—द्वितीया सप्त-रात्रिं-दिवा भिक्षु-प्रतिमा १०—तृतीया सप्त-रात्रिं-दिवा भिक्षु-प्रतिमा ११—अहोरात्रिं-दिवा भिक्षु-प्रतिमा १२—एक-रात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा ।

पदार्थान्वयः—**मासिया**—मासिकी **भिक्खु-पडिमा**—भिक्षु-प्रतिमा **दो**—द्वितीया **मासिया**—एक मास की **भिक्खु-पडिमा**—भिक्षु-प्रतिमा **ति**—तृतीया **मासिया**—

एक महीने की **भिक्खु-पडिमा**–भिक्षु-प्रतिमा **चउ**–चतुर्थी **मासिया**–एक मास की **भिक्खु-पडिमा**–भिक्षु-प्रतिमा **पंच**–पांचवी **मासिया**–एक मास की **भिक्खु-पडिमा**–भिक्षु-प्रतिमा **छ**–छठी **मासिया**–एक मास की **भिक्खु-पडिमा**–भिक्षु-प्रतिमा **सत्त**–सातवीं **मासिया**–एक मास की **भिक्खु-पडिमा**–भिक्षु-प्रतिमा **पढमा**–पहली **सत्त**–सात **राइं-दिया**–रात और दिन की **भिक्खु-पडिमा**–भिक्षु-प्रतिमा **दोच्चा**–द्वितीया **सत्त**–सात **राइं-दिया**–रात और दिन की **भिक्खु-पडिमा**–भिक्षु-प्रतिमा **तच्चा**–तृतीया **सत्त**–सात **राइं-दिया**–रात और दिन की **भिक्खु-पडिमा**–भिक्षु-प्रतिमा **अहो-राइं-दिया**–एक रात्रि और दिन की **भिक्खु-पडिमा**–भिक्षु-प्रतिमा **एग-राइया**–एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा ।

मूलार्थ—एक मास से लेकर सात मास तक सात प्रतिमाएं हैं । आठवीं, नौवीं और दशवीं प्रतिमाएं सात २ दिन और रात्रि की होती हैं । ग्यारहवीं एक अहोरात्र की होती है और बारहवीं केवल एक रात्रि की ।

टीका—इस सूत्र में द्वादश प्रतिमाओं का नामाख्यान किया गया है । जैसे—पहली प्रतिमा एक मास की, दूसरी दो मास की और तीसरी तीन मास की । इसी प्रकार सातवीं सात मास की होती है । आठवीं, नौवीं और दसवीं प्रतिमाएं सात दिन और सात रात की, ग्यारहवीं एक अहोरात्र की और बारहवीं एक रात्रि की होती है ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि पहली प्रतिमा एक मास की, दूसरी दो मास की, इसी तरह सातवीं सात मास की मानी जाय तो इन सात प्रतिमाओं के लिए ही दो वर्ष चार महीने समय लगता है । इस से चतुर्मास में प्रतिमाएं छोड़नी पड़ेंगी; क्योंकि इसके विना विहारादि नियमों का चतुर्मास में पालन नहीं हो सकता ? उत्तर में कहा जाता है कि प्रत्येक प्रतिमा एक २ मास की जाननी चाहिए । इस प्रकार गणना से सात प्रतिमाओं के लिए केवल सात मास और आठवीं, नौवीं और दशवीं प्रतिमा के मिलाकर इक्कीस दिन, ग्यारहवीं का एक दिन और बारहवीं की एक रात्रि होती है । इस प्रकार सब प्रतिमाएं चतुर्मास से पूर्व ही समाप्त हो सकती हैं । प्रतिमा-धारी भिक्षु गच्छ से पृथक् होकर आठ मास के भीतर ही प्रतिमाओं की समाप्ति कर चतुर्मास के समय फिर निर्बाध गच्छ में मिल सकता है ।

सूत्र में "दो-मासिया (द्वि-मासिकी)" अर्थात् दो मास की, इसी प्रकार तीन मास की इत्यादि से कोई प्रश्न कर सकता है कि दूसरी प्रतिमा दो मास की और तीसरी तीन मास की ही होनी चाहिए; क्योंकि सूत्रोक्त वाक्यों से यही अर्थ निकलता है ? सूत्रोक्त अर्थ ठीक है, किन्तु ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक प्रतिमा के साथ पूर्व-प्रतिमाओं का समय भी संग्रहीत किया गया है अर्थात् दूसरी प्रतिमा में एक मास पहली प्रतिमा को भी गिनना चाहिए। इसी प्रकार तीसरी प्रतिमा में दो मास पहली दो प्रतिमाओं के और एक उसका अपना इत्यादि सब के विषय में जानना चाहिए। इस प्रकार सूत्र के अर्थ में कोई भेद नहीं पड़ता। वास्तव में प्रत्येक प्रतिमा एक २ ही मास की है। यदि इस प्रकार न माना जाय तो यह क्रम आठवीं, नौवीं आदि प्रतिमाओं में भी मानना पड़ेगा और इस क्रम से बारहवीं प्रतिमा का समय पूरा बारह मास होगा। वृत्तिकार भी इस विषय में इसी प्रकार लिखते हैं। जैसे :—

"सप्तमासिक्यां प्रतिमायां समाप्तिं नीतायां वर्षावास-योग्यं क्षेत्रं प्रतिलेखयति। वर्षावासयोग्यमुपधिं चोत्पादयति। स च नियमाद्गच्छति, प्रतिबद्धो भवति। सर्वा अप्येता अष्टभिर्मासैः समाप्यन्ते। तिसृणां प्रतिमानां प्रतिक्रमणा प्रतिपादना चैकस्मिन्नेव वर्षे भवति, षड्भिर्मासैः परिक्रमणा षड्भिरेव प्रतिपत्तिरिति कृत्वा। यावत्प्रमाणा (प्रतिमाता ?) तावत्प्रमाणैव परिक्रमणावगन्तव्या। मासिक्यां मासं यावत्परिक्रमणा। एवं सप्तमासिक्यां सप्तमासं यावत्परिक्रमणेति भावः। यावता कालेन परिक्रमणा भवति तावान्परिक्रमणा-कालः। तिसृणामुपरि वर्तमानानां चतुर्थ्यादिप्रतिमानामन्यस्मिन्वर्षे परिक्रमणान्यस्मिन्वर्षे च प्रतिपत्तिरिति। शोभनेषु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावेषु वर्तमानेषु प्रतिमाः प्रतिपद्यन्ते। तिस्रः सप्त-रात्रि-दिवाः प्रतिमाः। एवमेकविंशतिरात्रिंदिवा परिक्रमिता तावद्भिरेव प्रतिमा परिसमाप्ताश्च भवन्ति। एतावताऽष्टमी-नवमी-दशम्यः प्रतिमाः एकविंशतितमे दिवसे परिपूरिता भवन्ति। एकादशी त्रिभिरहोरात्रैः समाप्यतेऽन्त्येन षष्ठेन समं द्वादशी एकरात्रि-दिवा। अत्र रात्रिंदिव-शब्देन केवला रात्रिरेव ग्राह्या, अन्यथा एक-रात्रिकीति सूत्रेण विरोधात्। चतुर्भिरहोरात्रैरन्त्याष्टमेन निष्ठिता भवति।" अर्थ स्पष्ट कर दिया गया।

प्रतिमा-धारी मुनि मानसिक और शारीरिक वल से परिपूर्ण होता है

और इसी लिए इन प्रतिमाओं का सम्यक्तया पालन कर सकता है। इस प्रकार शारीरिक कष्टों को सहन कर वह आत्मिक-बल प्राप्त करता है। यह उसके लिए श्रेय है, क्योंकि संसार के सब बलों में आत्मिक-बल ही सबसे बढ़कर है। इससे सम्यग्-दर्शन-रूप बल प्राप्त कर वह सम्यक्-चारित्र की आराधना भली भांति कर सकता है।

अब सूत्रकार प्रतिमाओं के आवश्यक कर्तव्यों का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

मासिया णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उववज्जंति, तं जहा—दिव्वा वा माणुसा वा तिरिक्ख-जोणिया वा, तं उप्पण्णे सम्मं सहति, खमति, तितिक्खति, अहियासेति ।

मासिकीं भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नस्यानगारस्य नित्यं व्युत्सृष्टकायस्य त्यक्तदेहस्य यदि केचिदुपसर्गा उत्पद्यन्ते, तद्यथा—दिव्या वा मानुषा वा तिर्यक्-योनिका वा, तानुत्पन्नान् सम्यक् सहते, क्षमते, तितिक्षति, अध्यासति ।

पदार्थान्वयः—**मासिया णं**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं**—भिक्षु की प्रतिमा **पडिवन्नस्स**—प्रतिपन्न **अणगारस्स**—गृह आदि से रहित **निच्चं**—नित्य **वोसट्ठकाए**—शरीर के संस्कार को छोड़ने वाले **चियत्तदेहे**—शरीर के ममत्व भाव छोड़ने वाले को **जे**—यदि **केइ**—कोई **उवसग्गा**—उपसर्ग **उववज्जंति**—उत्पन्न होते हैं **तं जहा**—जैसे **दिव्वा वा**—देव-सम्बन्धी अथवा **माणुसा वा**—मानुष-सम्बन्धी अथवा **तिरिक्ख-जोणिया**—तिर्यग्-योनि-सम्बन्धी, **तं**—उन **उप्पण्णे**—उत्पन्न हुए उपसर्गों को **सम्मं**—भली भांति **सहति**—सहन करता है **खमति**—क्षमा करता है **तितिक्खति**—अदैन्य-भाव अवलम्बन करता है **अहियासेति**—निश्चल योगों से काय को अचल बनाता है। **णं**—वाक्यालङ्कार के लिए है।

मूलार्थ—मासिकी प्रतिमा-धारी, गृह-रहित, व्युत्सृष्टकाय (शारीरिक संस्कारों को छोड़ने वाले) त्यक्त-शरीर (जिसने शरीर का ममत्व छोड़ दिया है) साधु को यदि कोई उपसर्ग (विपत्ति) उत्पन्न हो जायं तो वह उनको क्षमा-पूर्वक सहन कर लेता है और किसी प्रकार का दैन्य भाव नहीं दिखाता प्रत्युत अचल काय से उनको झेल लेता है।

टीका—इस सूत्र में प्रतिमा-धारी मुनि के उपनियमों का वर्णन किया गया है। जब मुनि पहली प्रतिमा को ग्रहण करे तो उसको उचित है कि वह अपने शरीर के संस्कारादि तथा ममत्व को दूर कर उपसर्गों का सहन करे। यद्यपि घर छोड़कर दीक्षा लेते समय ही भिक्षु अपने शरीर के संस्कारादि को छोड़ देता है, किन्तु प्रतिमा धारण करते समय इनके त्याग का विशेष ध्यान रखना चाहिए। इसी लिए सूत्रकार ने उसके लिए 'व्युत्सृष्ट-काय' और 'त्यक्त-देह' दो विशेषण दिये हैं। जैसे—"नित्यम्—अनवरतम्, दिवा रात्रौ च, व्युत्सृष्टमिव—व्युत्सृष्टं संस्काराकरणात्, कायः शरीरं येनासौ व्युत्सृष्ट-कायः, चीयते औदारिकादि-वर्गणापुद्गलैर्वृद्धिं प्राप्यत इति कायः। चियत्तदेह इति—अनेकपरिषह-सहनात्त्यक्तो देहो येन स त्यक्त-देह इत्यादि।" अर्थात् संस्कारादि के न करने से जिसने काय को व्युत्सृष्ट (त्याग) कर दिया है और परिषहों के सहन करने से त्यक्त-देह हो गया है। वह देव, मानुष और तिर्यग्-योनि-सम्बन्धी उपसर्ग उत्पन्न होने पर उनको भली भांति सहन कर लेता है। प्रतिमा-धारी भिक्षु को उपसर्गों (आकस्मिक विपत्तियों) का इस प्रकार सहन करना चाहिए, जिस प्रकार एक नव-विवाहिता वधू श्वशुर घर में सब के वचन चुप-चाप सहन कर लेती है। उस समय उसको क्षमा-पूर्वक अदैन्य-भाव से अनुकूल या प्रतिकूल सब परिषहों (कष्टों) के सहन करने की शक्ति धारण करनी चाहिए। वह उनको सहन भी कर सकता है। क्योंकि जिस व्यक्ति ने जीवन की आशा और मृत्यु का भय छोड़ दिया है, उसके लिए परिषहों का सहन करना कोई कठिन कार्य नहीं है। वह निश्चल भाव से उनका सहन करता हुआ विचरे।

अब सूत्रकार फिर उक्त विषय का ही वर्णन करते हैं:—

मासिया णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स

कप्पति एगा दत्ति भोयणस्स पडिगाहित्तए एगा पाणगस्स । अण्णाय उञ्छं, सुद्ध उवहडं, निज्जूहित्ता बहवे दुप्पय-चउप्पय-समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमग, कप्पइ से एगस्स भुंजमाणस्स पडिगाहित्तए । णो दुण्हं णो तिण्हं णो चउण्हं णो पंचण्हं णो गुव्विणीए, णो बाल-वच्छाए, णो दारगं पेज्जमाणीए, णो अंतो एलुयस्स दोवि पाए साहट्टु दलमाणीए, णो बहिं एलुयस्स दोवि पाए साहट्टु दलमाणीए, एगा पादं अंतो किच्चा एगा पादं बहिं किच्चा एलुयं विक्खंभइत्ता एवं दलयति एवं से कप्पति पडिगाहित्तए, एवं से नो दलयति एवं से नो कप्पति पडिगाहित्तए ।

मासिकीं भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नस्यानगारस्य कल्पते एका दत्तिर्भोजनस्य प्रतिग्रहीतुमेका पानकस्य । अज्ञातोञ्छं, शुद्धमुपहृतम्, निवर्त्य बहून् द्विपद-चतुष्पद-श्रमण-ब्राह्मणातिथि-कृपण-वनीपकान् कल्पते तस्यैकभुञ्जानस्य प्रतिग्रहीतुम् । न द्वयोर्न त्रयाणां न चतुर्णां न पञ्चानां नो गुर्विण्याः, नो बाल-वत्सायाः, नो दारकं पाययन्त्याः, नान्तरेलुकस्य द्वावपि पादौ संहृत्य ददत्याः, नो बहिरेलुकस्य द्वावपि पादौ संहृत्य ददमानायाः, एकं पादमन्तः कृत्वैकं पादं बहिः कृत्वेलुकं विष्कम्भ्यैवं ददात्येवं स कल्पते प्रतिग्रहीतुमेवं तस्मै नैव ददात्येवं स नो कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ।

पदार्थान्वयः—**मासिया**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं**—भिक्षु-प्रतिमा **पडिवन्नस्स**—प्रतिपन्न **अणगारस्स**—अनगार को **एगा दत्ति भोयणस्स**—एक दत्ति भोजन और **एगा पाणगस्स**—एक दत्ति पानी की **पडिगाहित्तए**—ग्रहण करनी **कप्पति**—योग्य है **अण्णाय**—अज्ञात कुल से **उञ्छं**—थोड़ा २ **सुद्धं**—निर्दोष **उवहडं**—दूसरे के लिए तय्यार किया हुआ या लाया हुआ **निज्जूहित्ता**—लेकर चले गए हैं **दुप्पय**—मनुष्य **चउप्पय**—चतुष्पद पशु आदि **समण**—श्रमण **माहण**—माहन या ब्राह्मण **अतिहि**—अतिथि **किवण**—कृपण **वणीमग**—भिखारी, रङ्क **से**—उसको **एगस्स**—एक ही **भुंजमाणस्स**—जीमता है या एक के लिए ही भोजन तय्यार किया हुआ है उसमें से **पडिगाहित्तए**—ग्रहण करना **कप्पइ**—योग्य है, किन्तु **णो दुण्हं**—यदि दो के लिए आहार बना हो तो ग्रहण करना उचित नहीं। इसी प्रकार **णो तिण्हं**—तीन के लिए **णो चउण्हं**—चार के लिए **णो पंचण्हं**—या पांच के लिए भोजन तय्यार हो तो लेना उचित नहीं। जो **णो गुव्विणीए**—गर्भवती के लिए **णो बाल-वच्छाए**—छोटे बच्चे वाली के लिए भोजन तय्यार हो तो उससे लेना भी अयोग्य है **णो दारगं पेज्जामाणीए**—यदि कोई स्त्री बच्चे को दूध पिलाती हो तो उससे भिक्षा नहीं लेनी चाहिए। **एलुयस्स**—देहली के **अंतो**—भीतर **दोवि पाए**—दोनों पैरों का **साहट्टु**—संकोच कर **दलमाणीए**—देती हुई से लेना **णो**—योग्य नहीं। **बहि**—बाहिर **एलुयस्स**—देहली के **दोवि पाए**—दोनों पैरों का **साहट्टु**—संकोच कर **दलमाणीए**—देती हुई से भी **नो**—नहीं लेना चाहिए किन्तु **एगा पादं**—एक पैर **अंतो**—भीतर **किच्चा**—करके और **एगा पादं**—एक पैर **बहिं**—बाहिर **किच्चा**—करके इस प्रकार **एलुयं**—देहली को **विक्खंभइत्ता**—मध्य में कर **एवं**—इस प्रकार जो **दलयति**—देती है उससे **से**—प्रतिमा-धारी को **एवं**—इस प्रकार **पडिगाहित्तए**—लेना **कप्पति**—योग्य है, किन्तु यदि **एवं**—इस प्रकार **नो दलयति**—जो नहीं देती है तो उससे **एवं**—इस प्रकार **पडिगाहित्तए**—लेना **नो कप्पइ**—योग्य नहीं।

मूलार्थ—मासिकी-प्रतिमा-प्रतिपन्न गृह-रहित साधु को एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना योग्य है। वह भी अज्ञात कुल से शुद्ध और स्तोक (थोड़ी) मात्रा में लेना चाहिए और जब मनुष्य, पशु, श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारी लेकर चले जायं तब ही साधु को लेना योग्य है।

जहां एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो वहां से लेना चाहिए। किन्तु वहां से उसको लेना चाहिए जहां दो के लिए न हो, तीन के लिए न हो, चार के लिए न हो, पांच के लिए न हो, गर्भवती के लिए न हो, बच्चे वाली के लिए न हो। जो स्त्री बच्चे को दूध पिलाती हो (और उसको अलग रखकर भिक्षा दे तो) उससे नहीं लेना चाहिए। जिसके दोनों पैर देहली के भीतर हों या दोनों पैर उससे बाहर हों उससे नहीं लेना चाहिए। जो एक पैर देहली के भीतर और एक देहली के बाहर रखकर अर्थात् देहली को दोनों पैरों के बीच में कर भिक्षा दे उससे ही भिक्षा ग्रहण करना योग्य है। किन्तु जो इस प्रकार से न दे उससे नहीं लेनी चाहिए।

टीका—इस सूत्र में मासिकी प्रतिमा-धारी मुनि के द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव की अपेक्षा से अभिग्रहों (प्रतिज्ञाओं) का वर्णन किया गया है। मासिकी प्रतिमा-धारी मुनि को एक दत्ति भोजन की और एक दत्ति पानी की ग्रहण करनी चाहिए।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'दत्ति' किसे कहते हैं? उत्तर में कहा जाता है कि 'दत्ति' शब्द दान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह 'दा' धातु से भाव में 'क्तिन्' प्रत्यय का रूप है। जब दाता साधु के पात्र में अन्न या पानी देने लगे उस समय जब तक दीयमान पदार्थ की अखण्ड धारा बनी रहे तब तक उसका नाम 'दत्ति' है। धारा खण्डित होने पर 'दत्ति' की समाप्ति हो जाती है। इसी क्रम से दत्ति की संख्या होती है। वृत्तिकार इसके विषय में लिखते हैं—"तत्र दानं दत्तिर्भावे क्तिन् प्रत्ययः। एका चासौ दत्तिश्चेति एकदत्तिः, एकवारं गृहस्थेनाखण्डधारया साधु पतद् यदन्नपानदानं सा एकदत्तिः। तथा यदा दापकेनैका भिक्षाखण्डधारया दीयते तदा प्रथमा। यदा च धाराखण्डनं विधाय दीयते तदा द्वितीया, इत्यादि।" यहां अनेक प्रकार के भेदों की उत्पत्ति होती है। जैसे—१—एक-भिक्षा—एकदत्ति २—एक-भिक्षा—अनेकदत्ति ३—अनेक-भिक्षा—एक-दत्ति ४—अनेकभिक्षा—अनेकदत्ति (साधारण आहार)। इस प्रकार इसके अनेक भेद बन जाते हैं। किन्तु यहां पर केवल इतना ही कहा गया है कि एक मासिकी-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को एक दत्ति भोजन और एक दत्ति पानी की लेनी चाहिए।

किन्तु भिक्षु को अज्ञात कुल से और स्तोक मात्रा में ही लेनी चाहिए । जिस प्रकार वनीपक (भिखारी) लोग थोड़े २ कर धान्य एकत्रित करते हैं इसी प्रकार उसको भी प्रत्येक घर से थोड़ा २ ही एकत्रित करना चाहिए । इस प्रकार द्रव्य से अभिग्रह पालन करता हुआ मुनि तदनन्तर क्षेत्र से उनका पालन करे । जैसे–जिस समय मुनि भिक्षा लेने जाय उस समय यदि गृहस्थ के दोनों पैर देहली के भीतर हों तो उससे भिक्षा नहीं लेनी चाहिए । यदि दोनों पैर बाहर हों तब भी लेनी उचित नहीं । किन्तु यदि एक पैर देहली के भीतर और दूसरा बाहर हो तो वह भिक्षा ग्रहण कर सकता है । यदि इस प्रकार भिक्षा की उपलब्धि न हो तो नहीं ले सकता ।

इसी प्रकार क्षेत्र से अभिग्रह पालन करता हुआ काल से उसका पालन करे । इसका वर्णन अगले सूत्र में विस्तार से किया जायगा । तात्पर्य यह है कि प्रतिमा-धारी मुनि गम्भीरता से नियम पालन करे ।

भाव से अभिग्रह धारण करता हुआ मुनि उस समय भिक्षा के लिए जाय जब बहुत से मनुष्य, पशु, पक्षी, श्रमण (निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिका, जीविका इति पञ्चधा), ब्राह्मण, अतिथि, कृपण (दरिद्री), वनीपक (याचक) इत्यादि भिक्षा लेकर चले गए हों । इस प्रकार उनके अन्तराय कर्म का दोष दूर होता है । और भिक्षा के लिए उसी घर में जाय जहां केवल एक व्यक्ति का ही भोजन हो । किन्तु जहां दो, तीन, चार, पांच या इससे अधिक व्यक्तियों के लिए भोजन बना हो वहां से भिक्षा ग्रहण न करे । इसी प्रकार जो भोजन गर्भवती के लिए बना हो उससे भी न ले नांही गर्भवती के हाथ से भोजन ले । क्योंकि हिलने डुलने से गर्भस्थ बाल को पीड़ा पहुंचती है । इसमें विचारणीय इतना है कि यदि जिन-कल्पी मुनि को अपनी आशु प्रज्ञा से ज्ञात हो जाय कि अमुक स्त्री गर्भवती है तो उसी समय से उसके हाथ से भिक्षा ग्रहण न करे । किन्तु स्थविर-कल्पी मुनि गर्भ के आठवें महीने से पूर्व २ उससे भिक्षा ग्रहण कर सकता है । हाँ, आठवें मास प्रारम्भ होने पर उससे भिक्षा ग्रहण करना छोड़ दे । यह नियम केवल अहिंसा धर्म के पालन करने के लिए ही प्रतिपादन किया गया है । सिद्ध यह हुआ कि गर्भवती के हाथ से भिक्षा नहीं लेनी चाहिए । यदि कोई बच्चे वाली स्त्री बच्चे को

अलग रखकर भिक्षा दे तो उससे भी न ले । क्योंकि माता से पृथक् होने पर बच्चे को कष्ट हो सकता है और उस पर मार्जारादि जीवों के आक्रमण करने का भय है । इसी प्रकार यदि कोई स्त्री बच्चे को दूध पिलाती हो और उससे स्तन छुड़ाकर भिक्षा देने लगे तो भिक्षु को ग्रहण नहीं करनी चाहिए । क्योंकि इससे अन्तराय दोष लगता है । ये सब अभिग्रह आत्म कल्याण के लिए ही किये जाते हैं ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि वन आदि स्थान में एक पुरुष ने अपने ही लिए भोजन तय्यार किया हो या नगर आदि में कोई ऐसी महाशाला हो जिससे देहली ही न हो तो वहां भिक्षु को क्या करना चाहिए ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि यदि देहली न भी हो और देने वाले की भाव-भङ्गी इस प्रकार हो जैसे उसने एक पैर देहली के भीतर और एक उसके बाहर किया हो तो उससे भिक्षा ले सकता है । इसी प्रकार पर्वत आदि के विषय में भी जानना चाहिए ।

अब सूत्रकार कालाभिग्रह का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

मासिया णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स तओ गोयर-काला पण्णत्ता । तं जहा—आदि मज्झे चरिमे । आदि चरेज्जा, नो मज्झे चरेज्जा, णो चरिमे चरेज्जा ॥१॥ मज्झे चरेज्जा, नो आदि चरेज्जा, नो चरिमे चरेज्जा ॥२॥ चरिमे चरेज्जा, नो आदि चरेज्जा, नो मज्झिमे चरेज्जा ॥३॥

मासिकीं नु भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नस्यानगारस्य त्रयो गोचर-कालाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा—आदिर्मध्यश्चरमः । आदौ चरेत्, न मध्ये चरेत्, न चरमे चरेत् । मध्ये चरेत्, नादौ चरेत्, न चरमे चरेत् । चरमे चरेत्, नादौ चरेत्, न मध्ये चरेत् ।

पदार्थान्वयः—**मासिया**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं**—भिक्षु-प्रतिमा **पडिव-**

न्नस्स–प्रतिपन्न अणगारस्स–अनगार के तओ–तीन गोयर-काला–गोचर-काल पण्णत्ता–प्रतिपादन किए हैं। तं जहा–जैसे आदि–आदि मज्झे–मध्य और चरिमे–चरम। इनमें से यदि आदि चरेज्जा–आदि में गमन करे नो मज्झे चरेज्जा–तो मध्य में न जावे णो चरिमे चरेज्जा–नाहीं चरम काल में जावे। मज्झे–यदि मध्य भाग में चरेज्जा–जावे नो आदि चरेज्जा–तो आदि भाग में न जावे नो चरिमे चरेज्जा–नाहीं चरम भाग में जावे। यदि चरमे–चरम भाग में चरेज्जा–जावे तो णो आदि चरेज्जा–आदि भाग में न जावे नो मज्झिमे चरेज्जा–नाहीं मध्य भाग में जावे।

मूलार्थ––मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार के दिन के तीन भाग––आदि, मध्य और चरम–गोचर-काल प्रतिपादन किये गये हैं। उनमें से यदि आदि भाग में भिक्षा के लिए जाय तो मध्य और चरम भाग में न जावे। यदि मध्य भाग में जावे तो आदि और चरम भाग में न जावे। यदि चरम (अन्त्य) भाग में जावे तो आदि और मध्य भाग में न जावे।

टीका––इस सूत्र में प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार के गोचर-काल के विषय में प्रतिपादन किया गया है। एक मासिकी प्रतिमा वाले मुनि के गोचर सम्बन्धी तीन काल कहे गए हैं––दिन का पहला भाग, दूसरा भाग और तीसरा भाग अर्थात् आदिम, मध्यम और अन्तिम भाग। यदि कोई भिक्षु दिन के प्रथम भाग में गोचरी के लिए जाता है तो उसको मध्यम और अन्तिम भाग में नहीं जाना चाहिए, जो मध्यम भाग में जाता है उसको प्रथम और अन्तिम भाग में नहीं जाना चाहिए तथा जो अन्तिम भाग में जावे वह प्रथम और मध्यम भाग में नहीं जा सकता अर्थात् जो किसी भी एक भाग में जाता है वह शेष दो भागों में नहीं जा सकता। भिक्षा को जाने से पूर्व प्रत्येक को ज्ञान कर लेना चाहिए कि उसके अन्य तीर्थ्य किस समय जाते हैं। जिस भाग में वे लोग जायँ उस समय उसको नहीं जाना चाहिए। किन्तु यह बात उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'गोचर-काल' किसे कहते हैं? उत्तर में कहा जाता है कि गाय के चरने के समान भिक्षा ग्रहण करने का नाम 'गोचरी' है अर्थात् जिस प्रकार गौ ऊंच नीच तृणों को सम-भाव से ग्रहण करती है और तृणों को जड़ से उखाड़ कर नहीं फेंक देती, इसी प्रकार मुनि को भी ऊंचे नीचे

सब घरों से भिक्षा सम-भाव से ही अपनी विधि-पूर्वक ग्रहण करनी चाहिए, जिससे गृहस्थ को किसी प्रकार दुःख न हो। अतः जो काल भिक्षा का हो उसी को गोचर-काल कहते हैं। जब साधु भिक्षा के लिए किसी गृहस्थ में जावे तो उसका ध्यान उस वत्स के समान हो जो सब अलङ्कारों से भूषित किसी परम सुन्दरी के हाथ से अन्न या पानी लेता है किन्तु उसका ध्यान भोजन के सिवाय खिलाने वाली के रूप और अलङ्कारों पर नहीं होता। भिक्षु का भाव भी केवल भिक्षा पर ही होना चाहिए, गृहस्थों के पदार्थों पर नहीं।

अब सूत्रकार फिर उक्त विषय का ही वर्णन करते हैं :—

मासिया णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स छव्विहा गोचरिया पण्णत्ता। तं जहा—पेला(डा), अद्धपेला(डा), गोमुत्तिया, पतंग-वीहिया, संबुक्कावट्टा, गत्तु पच्चागया।

मासिकीं नु भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नस्यानगारस्य षड्विधा गोचरी प्रज्ञप्ता। तद्यथा—पेटा, अर्द्धपेटा, गोमूत्रिका, पतङ्ग-वीथिका, शम्बूकावर्ता, गत्वा प्रत्यागता।

पदार्थान्वयः—**मासिया**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं**—भिक्षु-प्रतिमा **पडिवन्नस्स**—प्रतिपन्न **अणगारस्स**—अनगार की **छव्विहा**—छः प्रकार की **गोचरिया**—गोचरी **पण्णत्ता**—प्रतिपादन की है **तं जहा**—जैसे **पेला(डा)**—चतुष्कोण पेटी (सन्दूक) के आकार से **अद्धपेला(डा)**—द्विकोण पेटी के आकार से **गोमुत्तिया**—गोमूत्रिका के आकार से **पतंग-वीहिया**—पतंग की चाल के समान अनियमित और क्रमहीन गति से **संबुक्कावट्टा**—शंख के समान वर्तुल आकार से **गत्तु पच्चागया**—जाकर फिर प्रत्यावर्तन करता हुआ गोचरी करे।

मूलार्थ—मासिकी प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार की छः प्रकार की गोचर-विधि कही गई है। जैसे—पेटाकार से, अर्द्धपेटाकार से, गोमूत्रिकाकार से, पतङ्ग-

वीथिकाकार में, शंखावर्त्ताकार में और जाकर प्रत्यावर्तन करते हुए।

टीका—इस सूत्र में गोचरी के स्थानों का वर्णन किया गया है। यदि वीथिका (मार्ग, गली) पेटाकार और चतुष्कोण हो तो वहां उसी प्रकार गोचरी करे; जहां अर्द्धपेटाकार, द्विकोण हो वहां उसी प्रकार गोचरी करनी चाहिए तथा जिस प्रकार गोमूत्र वलयाकार होता है उसी प्रकार भिक्षा के लिए गमन करे, जिस प्रकार शलभ (पतंग) उड़कर फिर बैठ जाता है ठीक उसी प्रकार एक घर से भिक्षा लेकर बीच में पांच सात घर छोड़कर अन्य किसी घर से भिक्षा ले। जिस प्रकार शङ्ख के आवर्तन होते हैं उसी तरह भिक्षा ग्रहण करे। किन्तु शङ्ख के आवर्तन दो प्रकार से होते हैं—दाहिने से बाएं या बाएं से दाहिने तथा प्रदक्षिण से और अप्रद-क्षिण से अथवा आभ्यन्तरिक और बाह्य। जिस भिक्षु ने जिस प्रकार के आवर्तन का अभिग्रह किया हो उसको उसी प्रकार से भिक्षा करनी चाहिए और पहले वीथिका (गली) के अन्तिम घर पर जाकर फिर वापिस होकर भिक्षा ग्रहण करे। "गत्वा प्रत्यागता नाम—एकस्यां गृहपङ्क्त्यां भिक्षां गृह्णन्, गत्वा द्वितीयायां तथैव निवर्तते"। यह सब कहने का तात्पर्य इतना ही है कि प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार ने भिक्षा के विषय में जैसा अभिग्रह किया हो उसी प्रकार उसके पालन करने में यत्न-शील होना चाहिए।

अब सूत्रकार उक्त विषय का ही वर्णन करते हैं :—

मासियं णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जत्थ णं केई जाणइ कप्पइ से तत्थ एग-राइयं वसित्तए। जत्थ णं केई न जाणइ कप्पइ से तत्थ एग-रायं वा दु-रायं वा वसित्तए। नो से कप्पइ एग-रायाओ वा दु-रायाओ वा परं वत्थए। जे तत्थ एग-रायाओ वा दु-रायाओ वा परं वसति से संतराछेदे वा परिहारे वा।

मासिकीं नु भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नस्यानगारस्य यत्र नु कोऽपि जानाति कल्पते स तत्रैकरात्रं वसितुम्। यत्र नु कोऽपि

न जानाति कल्पते स तत्रैकरात्रं द्विरात्रं वा वसितुम् । नैव स कल्पत एकरात्राद् द्विरात्राद्वा परं वसितुम् । यस्तत्रैक-रात्राद् द्वि-रात्राद् वा परं वसति सोऽन्तराच्छेदेन वा परिहारेण वा ।

पदार्थान्वयः—**मासिया**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं**—भिक्षु-प्रतिमा **पडिवन्नस्स**—प्रतिपन्न **अणगारस्स**—अनगार को **जत्थ**—जहां **केई**—कोई **जाणइ**—जानता है **तत्थ**—वहां **से**—वह **एग-राइयं**—एक रात्रि **वसित्तए कप्पइ**—रह सकता है । किन्तु **जत्थ**—जहां **केइ**—कोई **न जाणइ**—उसको नहीं जानता **से**—वह **तत्थ**—वहां **एग-रायं**—एक रात्रि **वा**—अथवा **दु-रायं**—दो रात्रि **वा**—परस्परापेक्षा **वसित्तए कप्पइ**—रह सकता है । परन्तु **से**—वह **एग-रायाओ**—एक रात्रि **वा**—अथवा **दु-रायाओ**—दो रात्रि से **परं**—अधिक **वत्थए नो कप्पइ**—नहीं रह सकता **जे**—जो **तत्थ**—वहां **एग-रायाओ वा**—एक रात्रि अथवा **दु-रायाओ**—दो रात्रि के **परं**—उपरान्त **वसति**—रहता है **से**—उसको **संतरा**—अन्तर रहित उतने दिनों का **छेदे वा**—दीक्षा-छेद अथवा **परिहारे**—परिहारिक-तप-प्रायश्चित्त लगता है । **'णं'** शब्द शब्दालङ्कार और **'वा'** शब्द अथवा तथा परस्परापेक्षा अर्थ में संगृहीत हैं ।

मूलार्थ—मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को जहां कोई जानता है वहां वह एक रात्रि रह सकता है और जहां उसको कोई नहीं जानता वहां वह एक या दो रात्रि रह सकता है, किन्तु एक या दो रात्रि से अधिक वहां उस का रहना योग्य नहीं । इस से अधिक जो जितने दिन रहेगा उसको उतने दिनों का छेद अथवा तप का प्रायश्चित्त लगेगा ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिमा-धारी मुनि की विहारचर्या के विषय में कहा गया है । मासिकी-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार यदि किसी ऐसे स्थान पर जाय जहां उसको कोई जानता है तो वहां वह एक रात्रि ठहर सकता है । जहां उसको कोई नहीं जानता वहां वह एक या दो रात्रि निवास कर सकता है । किन्तु यदि वह इससे अधिक रहता है तो उसको छेद या तप का प्रायश्चित्त लगता है । इस प्रकार साम्प्रदायिक धारणा चली आती है ।

किन्तु वृत्तिकार इस विषय में इस प्रकार लिखते हैं—"यस्तत्रैकरात्राद्

द्विरात्राद् वा (वा शब्दो विकल्पार्थः) परतो वसति सोऽन्तराच्छेदेन वा परिहारेण वा ग्रामान्तरे गत्वा कियन्तं कालं स्थित्वा पुनरागत्य तिष्ठति न तु निरन्तरतया तत्र वसति । परिहारे वा नि–यत्र स्थितास्तत्स्थान-परिहारेण त्यागेन कल्पते । अत्र सूत्रे रात्रिग्रहणं दिवसोऽप्युपलक्षणं तेनाहोरात्रं परिवसति" । इस वृत्ति का भावार्थ इतना ही है कि यदि वह उस स्थान पर अधिक रहना चाहे तो बीच में कुछ समय अन्यत्र चला जाय और तदनन्तर फिर वहां आकर रह सकता है, किन्तु निरन्तर वहां स्थिति नहीं कर सकता ।

अब सूत्रकार प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार की भाषा के विषय में कहते हैं :—

मासिया भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स कप्पति चत्तारि भासाओ भासित्तए । तं जहा—जायणी, पुच्छणी, अणुण्णवणी, पुट्ठस्स वागरणी ।

मासिकीं भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नः(स्य) कल्पते चतस्रो भाषा भाषितुम् । तद्यथा–याचनी, पृच्छनी, अनुज्ञापनी, पृष्टस्य व्याकरणी ।

पदार्थान्वयः—**मासिया**–मासिकी **भिक्खु-पडिमं**–भिक्षु-प्रतिमा **पडिवन्नस्स**–प्रतिपन्न अनगार को **चत्तारि**–चार **भासाओ**–भाषाएं **भासित्तए**–बोलने के लिए **कप्पति**–योग्य हैं । **तं जहा**–जैसे–**जायणी**–आहारादि की याचना करने की भाषा **पुच्छणी**–मार्गादि या अन्य प्रश्नादि पूछने की भाषा **अणुण्णवणी**–स्थानादि के लिए आज्ञा लेने की भाषा **पुट्ठस्स वागरणी**–प्रश्नों की उत्तर रूप भाषा ।

मूलार्थ—मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को चार भाषाएं भाषण करनी कल्पित की हैं । जैसे—आहारादि के लिए याचना करने की, मार्गादि के विषय में पूछने की, स्थानादि के लिए आज्ञा लेने की और प्रश्नों के उत्तर देने की ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार की भाषाओं के विषय में प्रतिपादन किया गया है । यों तो प्रतिमा-धारी को अपना अधिकांश समय मौन-वृत्ति

में ही व्यतीत करना पड़ता है। किन्तु कुछ काम ऐसे हैं जिनके लिए उसको मौन छोड़कर बोलना पड़ता है। सूत्रकार उसके लिए नियम कहते हैं कि जब कोई प्रतिमा-धारी बोले तो उसके लिए भाषाएं कल्पित की गई हैं। जैसे—जब भिक्षु गोचरी के लिए जाता है और आहारादि की याचना करता है उस समय उसको 'याचना-रूप' भाषा का प्रयोग करना पड़ता है, जब किसी विषय में संशय उत्पन्न हो जाय उस समय अर्थ निर्णय के लिए वह 'प्रश्न-रूप' भाषा बोलता है, यदि वह कहीं निवास करना चाहे तो वह स्थान के लिए 'आज्ञा-ग्रहण-रूप' भाषा का प्रयोग करता है, यदि कोई उससे प्रश्न करे 'तुम कौन हो ?' इत्यादि तो वह 'उत्तर-रूप' भाषा कहता है। इन चार कारणों के अतिरिक्त उसको किसी भी विषय में नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि ध्यान का मुख्य साधन मौनावलम्बन ही है। मौन-वृत्ति से मुनि निर्विघ्नतया ध्याना-वस्थित हो सकता है। अतः जहां बोलना अत्यावश्यक हो वहीं उसको बोलना चाहिए। वही चार आवश्यक स्थान सूत्रकार ने वर्णन कर दिए हैं।

'याचना' शब्द से साधु के ग्रहण करने के योग्य जितने भी पदार्थ हैं उन सब का बोध करना चाहिए। इसी प्रकार 'पृच्छना' का जिस विषय में भी सन्देह हो उसके विषय में प्रश्न करने से तात्पर्य है। इसी प्रकार 'स्थान के लिए आज्ञा मांगना' और दूसरों के 'प्रश्नों का उत्तर देना' इन दोनों के विषय में भी जानना चाहिए। सारांश यह निकला कि इन चार विषयों के अतिरिक्त मुनि को नहीं बोलना चाहिए।

अब सूत्रकार उपाश्रय के विषय में कहते हैं :—

मासिया णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स कप्पइ तओ उवस्सया पडिलेहित्तए। तं जहा—अहे आराम-गिहंसि वा, अहे वियड-गिहंसि वा, अहे रुक्ख-मूल-गिहंसि वा।

मासिकीं नु भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नः(स्य) कल्पते त्रीनु-पाश्रयान् प्रतिलेखयितुम्। तद्यथा—अध आराम-गृहे वा, अधो विवृत-गृहे वा, अधो वृक्ष-मूल-गृहे वा।

पदार्थान्वयः—**मासिया**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं**—भिक्षु-प्रतिमा **पडिवन्न-स्स**—प्रतिपन्न अनगार को **तत्रो**—तीन **उवस्सया**—उपाश्रय **पडिलेहित्तए**—प्रतिलेखन करने के लिए **कप्पति**—योग्य हैं। **तं जहा**—जैसे—**अहे आराम-गिहंसि**—उद्यान स्थित घर में **वा**—अथवा **अहे वियड-गिहंसि**—खुले घर में **वा**—अथवा **अहे रुक्ख-मूल-गिहंसि**—वृक्ष के मूल में अथवा वृक्षों की जड़ों से बने हुए घर में । **णं**—वाक्यालङ्कार के लिए है ।

मूलार्थ—मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को तीन प्रकार के उपाश्रय प्रतिलेखन करने चाहिएं। जैसे—उद्यान-गृह, चारों ओर से अनाच्छादित गृह तथा वृक्ष-मूलस्थ या वृक्ष-मूल-निर्मित गृह ।

टीका—इस सूत्र में उपाश्रय के विषय में प्रतिपादन किया गया है। मासिकी-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को तीन तरह के उपाश्रयों की प्रतिलेखना करनी चाहिए। जैसे—जब प्रतिमा पालन करते हुए भिक्षु कहीं निवास की इच्छा करे तो उसको उपाश्रय के लिए उद्यान-गृह, चारों ओर से अनाच्छादित और ऊपर से छादित गृह या वृक्ष-मूलस्थ शुद्ध गृह ढूँढ कर वहीं रहना चाहिए ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सूत्रकार ने तीनों उपाश्रयों के साथ 'अधः' पद क्यों दिया है? उत्तर में कहा जाता है कि यहां 'अधः' शब्द का अर्थ व्यापक है। वृत्तिकार ने इसका निम्न-लिखित अर्थ किया है—"आरामस्याधो विभूषकं गृहम् अध-आरामगृहम् । अथवा अधः सर्वत आरामो यस्य तदध-आरामगृहम्, तच्च तद् गृहं चेति कर्मधारये अध-आरामगृहम् । अथवाधो निवासाय, आरामे गृहम्—अध आरामगृहम् । अधो व्यापकं वा सर्वजन-साधारणमारामस्य गृहम् । तथाहि—

अधः सुपरमे चैव वर्जने लक्षणादिषु ।
आलिङ्गने च शोके च पूजायां दोषकीर्तने ॥
भूषणे सर्वतो भावे व्याप्तौ निवसनेऽपि च ।

'अधे आराम-गिहंसि' वेति पाठे 'आगमन-गृहम्', यत्र कर्पटिकादय आगत्य वसन्ति । सर्वतो विवृतं गृहम्, यदधः कुड्या भावादुपरि चाच्छादनाद्य-भावादनावृतम् । तथा वृक्ष-मूल-गृहं—करीरादि-तरु-मूलमेव वृक्ष-मूल-गृहम् । तदेव साधु-वर्जनीयदोषरहितं तत्र वसति । त्रयः प्रतिलेखितुं युज्यते नाधिकमित्यर्थः ।"

सारी वृत्ति का तात्पर्य यह है कि जिस गृह के चारों ओर से आराम हो उसीको 'अध आराम-गृह' कहते हैं। जो आगन्तुकों के लिए चारों ओर से अनाच्छादित और ऊपर से आच्छादित हो उसीको 'अधो विकट-(विवृत)गृह' कहते हैं तथा वृक्ष के मूल में स्थिति करने के लिए ही 'वृक्ष-मूल-गृह' कहते हैं। सिद्ध यह हुआ कि मुनि को उक्त तीन प्रकार के गृहों की ही प्रतिलेखना करनी चाहिए।

अब सूत्रकार पुनः उक्त विषय का ही वर्णन करते हैं:—

मासिया णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स कप्पति तओ उवस्सया अणुण्णवेत्तए, अहे आराम-गिहं, अहे वियड-गिहं, अहे रुक्ख-मूल-गिहं । मासिया णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स कप्पति तओ उवस्सया उवाइणित्तए, तं चेव ।

मासिकीं नु भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नः(स्य) कल्पते त्रीनुपाश्रयाननुज्ञापयितुम्, अध आराम-गृहम्, अधो विवृत-गृहम्, अधो वृक्ष-मूल-गृहम् । मासिकीं नु भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नः(स्य) कल्पते त्रीनुपाश्रयानुपातिनेतुम् (उपग्रहीतुम्), ते च त एव।

पदार्थान्वयः—**मासिया**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं**—भिक्षु-प्रतिमा **पडिवन्नस्स**—प्रतिपन्न अनगार को **तओ**—तीन तरह के **उवस्सया**—उपाश्रयों के लिए **अणुण्णवेत्तए**—आज्ञा लेना **कप्पति**—योग्य है **अहे आराम-गिहं**—अध आराम-गृह की **अहे वियड-गिहं**—अधो विवृत-गृह की **अहे रुक्ख-मूल-गिहं**—अधो वृक्ष-मूल-गृह की । फिर **मासिया**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं**—भिक्षु-प्रतिमा **पडिवन्नस्स**—प्रतिपन्न अनगार को **तओ**—तीन **उवस्सया**—उपाश्रय **उवाइणित्तए**—स्वीकार करना **कप्पति**—योग्य है, **तं चेव**—और वे पूर्वोक्त ही हैं। **णं**—वाक्यालङ्कार के लिए है।

मूलार्थ—मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को तीन प्रकार के उपाश्रयों की आज्ञा लेनी चाहिए । अध आराम-गृह, अधो विकट-गृह

और अधो वृक्ष-मूल-गृह को। मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को उक्त तीन प्रकार के उपाश्रय ही स्वीकार करने चाहिएं।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि उपाश्रयों की प्रतिलेखना के अनन्तर प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को उचित है कि उपाश्रय के स्वामी की आज्ञा लेकर ही उसमें स्थिति करे, क्योंकि विना आज्ञा प्राप्त किए रहने की उसको आज्ञा नहीं है। लिखा भी है "उपग्रहीतुं स्थायित्वेनाङ्गीकर्तुं युज्यते" अतः आज्ञा ले कर ही उसको वहां रहना चाहिए।

अब सूत्रकार संस्तारक के विषय में कहते हैं :—

मासिया णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स कप्पति तओ संथारगा पडिलेहित्तए। तं जहा—पुढवी-सिलं वा कट्ठ-सिलं वा अहा-संथडमेव। मासिया णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स कप्पति तओ संथारगा अणुण्णवेत्तए, तं चेव। मासिया णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स कप्पति तओ संथारगा उवाइणित्तए, तं चेव।

मासिकीं नु भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नः(स्य) कल्पते त्रीन् संस्तारकान् प्रतिलेखयितुम्। तद्यथा—पृथिवी-शिलां वा काष्ठ-शिलां वा यथा-संस्तृतमेव। मासिकीं नु भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नः-(स्य) कल्पते त्रीन् संस्तारकाननुज्ञापयितुम्, तांश्चैव। मासिकीं नु भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नः(स्य) कल्पते त्रीन् संस्तारकानुपातिनेतुम् (उपग्रहीतुम्), तांश्चैव।

पदार्थान्वयः—**मासिया णं**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं**—भिक्षु-प्रतिमा **पडिवन्नस्स**—प्रतिपन्न अनगार को **तओ**—तीन प्रकार के **संथारगा**—संस्तारक **पडिलेहित्तए**—प्रतिलेखन करने **कप्पति**—योग्य हैं। **तं जहा**—जैसे—**पुढवी-सिलं वा**—पृथिवी की शिला

अथवा **कट्ठ-सिलं**–काष्ठ की शिला (फलक) अथवा **अहा-संथडमेव**–जैसे पहले उपाश्रय में संस्तृत (बिछा हुआ) है । **मासिया**–मासिकी **भिक्खु-पडिमं**–भिक्षु-प्रतिमा **पडिवन्नस्स**–प्रतिपन्न अनगार को **तओ**–तीन प्रकार के **संथारगा**–संस्तारकों के लिए **अणुण्णवेत्तए**–आज्ञा लेनी **कप्पति**–योग्य है, **तं चेव**–और वही जो पहले कहे जा चुके हैं । **मासिया**–मासिकी **भिक्खु-पडिमं**–भिक्षु-प्रतिमा **पडिवन्नस्स**–प्रतिपन्न अनगार को **तओ**–तीन प्रकार के **संथारगा**–संस्तारक **उवाइणित्तए**–ग्रहण करना **कप्पति**–योग्य है, **तं चेव**–और वे पूर्वोक्त ही हैं ।

मूलार्थ—मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को तीन प्रकार के–पृथिवी की शिला, काष्ठ की शिला (काष्ठ-फलक) और यथासंस्तृत–संस्तारकों की प्रतिलेखना करना, उनके लिए आज्ञा लेना और उनको ग्रहण करना योग्य है ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार के संस्तारक के विषय में प्रतिपादन किया गया है । उसको पहले तीन प्रकार के—पृथिवी-शिला, काष्ठ-शिला (फलक) और यथा-संस्तृत (जो कुछ पहले से बिछा हो, जैसे–कुशा आदि)–संस्तारकों को देखना चाहिए, फिर उनके लिए आज्ञा लेनी चाहिए और तब इनको ग्रहण करना चाहिए अर्थात् आज्ञा लेकर ही इनको ग्रहण करना चाहिए (त्रयः संस्तारकाः कल्प्यन्ते उपनेतुं भोक्तुम्) ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि संस्तारक किसे कहते हैं ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि संस्तारक तीन प्रकार का होता है । जैसे कोश में भी लिखा है "संथारग, पु.(संस्तारक) ढाई हाथ प्रमाण की शय्या (बिछौना) दर्भ या कम्बल का बिछौना" ।

वक्ष्यमाण सूत्र में वर्णन किया जाता है कि यदि मुनि के उपाश्रय में स्त्री और पुरुष आ जायँ तो उसको क्या करना चाहिए :—

मासियं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स इत्थी वा पुरिसे वा उवस्सयं उवागच्छेज्जा, से इत्थीए वा पुरिसे वा णो से कप्पति तं पडुच्च निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ।

मासिकीं भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नस्य स्त्री वा पुरुषो वोपाश्रयमुपागच्छेत्, सा स्त्री वा पुरुषो वा नो स (भिक्षुः) कल्पते तं प्रतीत्य निष्क्रान्तुं वा प्रवेष्टुं वा ।

पदार्थान्वयः—**मासियं**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं**—भिक्षु-प्रतिमा **पडिवन्नस्स**—प्रतिपन्न अनगार के समीप **उवस्सयं**—उपाश्रय में **इत्थी वा**—स्त्री **पुरिसे वा**—या पुरुष **उपागच्छेज्जा**—आ जायं, **से**—वह **इत्थीए वा**—स्त्री हो अथवा **पुरिसे वा**—पुरुष हो **से**—उस प्रतिमाधारी मुनि का **तं**—उस स्त्री या पुरुष की **पडुच्च**—अपेक्षा से **निक्खमित्तए**—उपाश्रय से बाहर निकलना अथवा **पविसत्तए**—बाहर से भीतर प्रवेश करना **णो कप्पति**—योग्य नहीं है ।

मूलार्थ—मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न मुनि के उपाश्रय में यदि स्त्री या पुरुष आ जायं तो उनको देखकर उसको उपाश्रय के बाहर जाना और बाहर से भीतर आना उचित नहीं ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि यदि उपाश्रय में कोई असभ्य व्यवहार होता हो तो मुनि को उस समय क्या करना चाहिए । जैसे—प्रतिमा-धारी मुनि किसी शून्य स्थान में ठहरा हो, यदि वहां कोई स्त्री या पुरुष मैथुन सेवन के लिए आ जायं तो मुनि यदि बाहर हो तो भीतर नहीं जा सकता और यदि भीतर हो तो बाहर नहीं आ सकता । किन्तु उसको उदासीन भाव अवलम्बन कर स्वाध्याय-वृत्ति में रहना ही योग्य है । यदि साधु के आने से पहले ही उस स्थान पर स्त्री और पुरुष मैथुन क्रीड़ा करते हों तो मुनि को न तो उस स्थान पर जाना ही उचित है, नाहीं वहां ठहरना ।

अब सूत्रकार अग्निकाय की अपेक्षा से उपाश्रय से बाहर निकलने के विषय में कहते हैं :—

मासियं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स केइ उवस्सयं अगणिकाएणं झामेज्जा णो से कप्पति तं पडुच्च निक्खमित्तए पविसत्तए वा । तत्थ णं केइ बाहाए गाहाए

आगसेज्जा नो से कप्पति तं अवलंबित्तए पलंबित्तए वा, कप्पति अहारियं रियत्तए ।

मासिकीं भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नस्य, कश्चित्, उपाश्रय-मग्निकायेन धमेत्, नैव स कल्पते तम् (अग्निं) प्रतीत्य निष्क्रान्तुं प्रवेष्टुं वा । तत्र नु कश्चिद् बाह्वादौ गृहीत्वाकर्षेत् नैव स कल्पते तमवलम्बयितुं प्रलम्बयितुं वा । कल्पते स यथेर्यमर्तुम् ।

पदार्थान्वयः—**मासियं**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं**—भिक्षु-प्रतिमा **पडिवन्नस्स**—प्रतिपन्न साधु के **उवस्सयं**—उपाश्रय को **केइ**—कोई व्यक्ति **अगणिकाएणं**—अग्नि-काय से **झामेज्जा**—जलाए तो **से**—उस साधु को **तं**—उस अग्नि की **पडुच्च**—अपेक्षा से उस उपाश्रय से **निक्खमित्तए**—बाहर निकलना **वा**—अथवा बाहर से **पविसत्तए**—भीतर प्रवेश करना **णो कप्पइ**—योग्य नहीं । किन्तु **तत्थ**—वहां **केइ**—कोई **बाहाए**—भुजाएं **गाहाए**—पकड़ कर **आगसेज्जा**—उसको बाहर खींचे तो **से**—उस (मुनि) को **तं**—उस व्यक्ति का **अवलंबित्तए**—अवलम्बन करना **वा**—अथवा **पलंबित्तए**—प्रलम्बन करना **णो कप्पति**—योग्य नहीं, किन्तु **से**—उसको **अहारियं**—ईर्या-समिति के अनुसार **रियत्तए** गमन करना **कप्पति**—योग्य है ।

मूलार्थ—यदि कोई व्यक्ति अग्निकाय से प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार के उपाश्रय को जलाए तो मुनि को अग्नि के कारण उपाश्रय से बाहर नहीं निकलना चाहिए और यदि बाहर हो तो भीतर नहीं जाना चाहिए । किन्तु यदि कोई उसकी भुजा पकड़ कर उसे खींचे तो खींचने वाले का अवलम्बन और प्रलम्बन करना योग्य नहीं, अपितु ईर्या-समिति के अनुसार गमन करना ही योग्य है ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि यदि उपाश्रय में आग लग जाय तो प्रतिमा-प्रतिपन्न मुनि को क्या करना चाहिए । जिस स्थान पर साधु ठहरा हुआ है यदि उस स्थान में स्वयं आग लग जाय या कोई उसमें आग लगा दे तो उस साधु को अग्नि के भय से उस उपाश्रय से बाहर निकलना या उसमें प्रवेश करना योग्य नहीं । किन्तु यदि कोई व्यक्ति उसकी भुजा पकड़ कर बाहर निकालना चाहे तो उस

(निकालने वाले) का विरोध कर उसको वहां ठहरना भी योग्य नहीं, प्रत्युत ईर्या-समिति के अनुसार यथा-विधि गमन करना अर्थात् वहां से निकलना ही योग्य है; क्योंकि शरीर की ममता और मोह के परित्याग करने से वह स्वयं तो उसकी रक्षा नहीं कर सकता, हां यदि अन्य जन उसे निकालें तो वहां हठ-पूर्वक ठहरना भी योग्य नहीं ।

अब सूत्रकार फिर प्रतिमा-प्रतिपन्न मुनि के विषय में ही कहते हैं :—

मासियं णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स पायंसि खाणु वा कंटए वा हीरए वा सक्करए वा अणुपवेसेज्जा नो से कप्पइ नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा. कप्पति से अहारियं रियत्तए ।

मासिकीं नु भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नस्य पादे स्थाणुर्वा कण्टकं वा हीरकं वा शर्करा वानुप्रविशेत् नो स कल्पते निर्हर्तुं वा विशोधयितुं वा, कल्पते स यथेर्यमर्तुम् ।

पदार्थान्वयः—**मासियं**–मासिकी **भिक्खु-पडिमं**–भिक्षु-प्रतिमा **पडिवन्नस्स**–प्रतिपन्न अनगार के **पायंसि**–पैर में यदि **खाणु**–लकड़ी का ठूंठा **वा**–अथवा **कंटए वा**–कण्टक अथवा **हीरए वा**–हीरा के समान तेज कांच आदि अथवा **सक्करए**–कंकर **अणुपवेसेज्जा**–प्रविष्ट हो जाय तो **से**–उस मुनि को **नीहरित्तए वा**–पैर से निकालना अथवा **विसोहित्तए** विशोधन करना **नो कप्पइ**–योग्य नहीं किन्तु **अहारियं**–ईर्या-समिति के अनुसार **रियत्तए**–गमन करना **कप्पति**–योग्य है ।

मूलार्थ—मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न साधु के पैर में यदि लकड़ी का ठूंठा, कांटा, हीरक अथवा कङ्कर प्रवेश कर जाय तो साधु को कांटा आदि निकालना या विशुद्ध करना योग्य नहीं, प्रत्युत उसको ईर्या-समिति के अनुसार गमन करना ही योग्य है ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि यदि मार्ग में चलते हुए साधु के पैर में कण्टक आदि बैठ जायं तो उसको क्या करना चाहिए । जब प्रतिमा-

धारी मुनि अपनी वृत्ति के अनुसार गमन-क्रिया में प्रयत्न-शील हो और उसके पैर में काँटा, कङ्कर आदि बैठ जायं तो उसको उनको निकालना नहीं चाहिए नांही उनकी विशुद्धि करनी चाहिए, किन्तु ईर्या-समिति के अनुसार गमन क्रिया में ही प्रवृत्त रहना चाहिए, क्योंकि प्रतिमाधारी को शरीर का ममत्व त्याग कर परिषहों के सहने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए । यही प्रतिमा-धारण करने का मुख्य उद्देश्य है ।

अब सूत्रकार फिर उक्त विषय में ही कहते हैं :—

मासियं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स जाव अच्छिंसि पाणाणि वा वीयाणि वा रए वा परियावज्जेज्जा, नो से कप्पति नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा, कप्पति से अहारियं रियत्तए ।

मासिकीं भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नस्य यावदक्ष्णोः प्राणिनो वा बीजानि वा रजांसि वा पर्यापद्येरन्, नैव स कल्पते निर्हर्तुं वा विशोधयितुं वा, कल्पते स यथेर्यमर्तुम् ।

पदार्थान्वयः—**मासियं**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं**—भिक्षु-प्रतिमा **पडिवन्नस्स**—प्रतिपन्न साधु की **जाव**—यावत् **अच्छिंसि** आंखों में **पाणाणि** प्राणी **वा**—अथवा **वीयाणि**—बीज **वा**—अथवा **रए वा**—रज **परियावज्जेज्जा**—घुस जाय तो **से**—उस साधु को **नीहरित्तए**—निकालना **वा**—अथवा **विसोहित्तए**—विशोधन करना **नो कप्पति**—योग्य नहीं किन्तु **से**—उसको **अहारियं** ईर्या-समिति के अनुसार **रियत्तए**—गमन करना **कप्पति**—योग्य है ।

मूलार्थ—मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न साधु की आंखों में यदि कोई जीव, बीज या धूलि पड़ जाय तो साधु को उसे निकालना अथवा विशोधन नहीं करना चाहिए, किन्तु ईर्या-समिति के अनुसार गमन क्रिया में ही प्रवृत्त रहना चाहिए।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि जब मासिकी प्रतिमा-प्रतिपन्न साधु ईर्या-समिति के अनुसार गमन कर रहा हो, उस समय यदि उसकी

आंख में मशक (मच्छर) आदि प्राणी, तिल आदि बीज या रज आदि कोई वस्तु घुस जाय तो उसको वह वस्तु न तो आंख से निकालनी ही चाहिए नांही आंख को जल आदि से शुद्ध करना चाहिए, प्रत्युत ईर्या-समिति के अनुसार गमन-क्रिया में ही प्रवृत्त रहना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि रजादि के पड़ने से जो कष्ट होता है उसको सहन कर लेना चाहिए, क्योंकि मुनि-वृत्ति परिषहों के सहन करने के लिए ही प्रतिपादन की गई है। किन्तु यदि किसी प्राणी की मृत्यु का भय हो तो उसे निकाल देना चाहिए। सूत्र में 'पाणाणि' इसमें नपुंसकलिङ्ग प्राकृत होने से अशुद्ध नहीं है।

अब सूत्रकार स्थिति के विषय में कहते हैं :—

मासियं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स जत्थेव सूरिए अत्थमेज्जा तत्थ एव जलंसि वा थलंसि वा दुग्गंसि वा निण्णंसि वा पव्वयंसि वा विसमंसि वा गड्डाए वा दरीए वा कप्पति से तं रयणी तत्थेव उवायणावित्तए नो से कप्पति पदमवि गमित्तए। कप्पति से कल्लं पाउप्पभाए रयणीए जाव जलंते पाईणाभिमुहस्स वा दाहिणाभिमुहस्स वा पडीणाभिमुहस्स वा उत्तराभिमुहस्स वा अहारियं रियत्तए।

मासिकीं भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नस्य यत्रैव सूर्योऽस्तमियात्तत्रैव जले वा स्थले वा दुर्गे वा निम्ने वा पर्वते वा विषमे वा गर्ते वा दर्यां वा कल्पते स तां रजनीं तत्रैवोपातिनाययितुं नो स कल्पते पदमपि गन्तुम्। कल्पते स कल्ये प्रादुःप्रभायां रजन्यां यावद् ज्वलति प्राचीनाभिमुखस्य वा दक्षिणाभिमुखस्य वा प्रतीचीनाभिमुखस्य वा उत्तराभिमुखस्य वा यथेर्यमर्तुम्।

पदार्थान्वयः—**मासियं**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स**—भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को **जत्थेव**—जहां कहीं **सूरिए**—सूर्य **अत्थमेज्जा**—अस्त हो जाय **तत्थ एव**—वहीं चाहे **जलंसि**—जल में **वा**—अथवा **थलंसि**—स्थल में **वा**—अथवा **दुग्गंसि वा**—दुर्गम स्थान में अथवा **निण्णंसि**—निम्न स्थान में **पव्वयंसि**—पर्वत में **वा**—अथवा **गड्डाए वा**—गढ़े में **दरीए वा**—पर्वत की गुफा में अथवा अन्य स्थान में **से**—उस साधु को **तं**—वह **रयणी**—रात्रि **तत्थेव**—वहीं पर **उवायणावित्तए**—अतिक्रम (व्यतीत) करना **कप्पति**—योग्य है । किन्तु **से**—उसको **पदमवि**—एक पैर भी **गमित्तए**—गमन करना **नो कप्पति**—योग्य नहीं । हाँ, **से**—उसको **कल्लं**—कल्य (दूसरे दिन का प्रातःकाल) **पाउप्पभाए**—प्रातःकाल के प्रकट होने पर **रयणीए**—रजनी (रात) के व्यतीत होने पर **जाव**—यावत् **जलंते**—पूर्ण प्रकाश युक्त सूर्य के उदय होने पर **पाईणाभिमुहस्स वा**—पूर्व दिशा की ओर मुख कर अथवा **दाहिणाभिमुहस्स वा**—दक्षिण दिशा की ओर मुख कर अथवा **पडीणाभिमुहस्स वा**—पश्चिम दिशा की ओर मुख कर अथवा **उत्तराभिमुहस्स वा**—उत्तर की ओर मुख कर **अहारियं**—ईर्या-समिति के अनुसार **रियत्तए**—जाना **कप्पति**—योग्य है ।

मूलार्थ—मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न साधु को जहां पर सूर्यास्त हो जाय वहीं रहना योग्य है; चाहे वहां जल हो, स्थल हो, दुर्गम स्थान हो, निम्न स्थान हो, पर्वत हो, विषम स्थान हो, गर्त हो या गुफा हो, उसको सारी रात्रि वहीं पर व्यतीत करनी चाहिए । वहां से एक पैर भी चढ़ना उचित नहीं । रात्रि समाप्त होने पर प्रातःकाल सूर्योदय के अनन्तर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तर किसी भी दिशा की ओर मुख कर गमन करना उचित है । वह भी ईर्या-समिति के अनुसार ही करना चाहिए ।

टीका—पहले किसी सूत्र में उपाश्रयों के विषय में प्रतिपादन किया जा चुका है । इस सूत्र में प्रतिपादन किया जाता है कि यदि किसी प्रतिमा-प्रतिपन्न साधु को उपाश्रय प्राप्त करने से पहले मार्ग में ही सूर्यास्त हो जाय तो उसको जिस स्थान पर सूर्यास्त हो जाय वहीं पर ठहर जाना चाहिए; चाहे वहां जल हो, स्थल हो, जङ्गल हो, पर्वत हो, निम्न या विषम स्थान हो अथवा गुफा या गढ़ा ही क्यों न हो, उसको वहां से कदापि एक कदम भी आगे नहीं जाना चाहिए ।

प्रातःकाल जब सूर्य अपनी किरणों से प्रत्येक स्थान को प्रकाशित कर दे तब वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण किसी दिशा को भी स्वेच्छानुसार जा सकता है। अथवा प्रातःकाल ध्यानावस्था में जिस दिशा की ओर मुख हो उसी दिशा को विहार करना चाहिए।

यहां पर यह शंका उपस्थित हो सकती है कि यदि किसी को जल में ही सूर्यास्त हो जाय तो वह भिक्षु सारी रात्रि जल में कैसे व्यतीत कर सकता है ? समाधान में कहा जाता है कि यहां 'जल' शब्द का अर्थ शुष्क जलाशय करना चाहिए। वह वृक्ष की छाया में बना हुआ हो या जल में ही कोई शुष्क स्थान हो तो प्रतिमा-प्रतिपन्न भिक्षु को वहीं पर रात्रि व्यतीत कर लेनी चाहिए। ऐसे स्थान पर वह व्यतीत कर भी सकता है। किन्तु यहां 'जल' शब्द का अर्थ वृत्तिकार ने 'दिन का चतुर्थ प्रहर' किया है, क्योंकि उस समय से ओस पड़नी प्रारम्भ हो जाती है; अतः भिक्षु को जहां दिन का चतुर्थ प्रहर लगे वहीं ठहर जाना चाहिए। वृत्तिकार ने वृत्ति में इस प्रकार लिखा है :—

"चतुर्थी पौरुषी प्रारम्भे हि तेषां रविरस्तमितो व्यवह्रियते तेन तृतीय-प्रहरावसान एतेषां सूर्यास्तमिति मतिर्भवति—इति भावः। तथा जले जलविषये न तु जल एव। कथं तेऽस्तसमये यान्ति ? सोपयोगवत्त्वात्—तेषामुच्यते। अत्र तु जलशब्देन नद्यादिजलं (जलाशयं) न गृह्यते किन्तु दिवसस्य तृतीय-यामावसान एवात्र जल-शब्दवाच्यो भवतीति समये रीतिः।"

इस वृत्ति का अर्थ ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। किन्तु यह अर्थ उचित नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि सूत्र में 'जलंसि' सातवीं विभक्ति है। अतः इसका अर्थ 'जल में', 'जल पर' अथवा 'जल विषय' यही हो सकते हैं। दूसरे में 'चतुत्थीए पोरुसीए पडिमा-पडिवन्नं विहारं णो करेज्जा' ऐसा पाठ भी कहीं नहीं मिलता है। अतः जहां शुष्क जलाशयादि वृक्ष की छाया में हों वहां ठहरना सर्वथा युक्ति संगत मालूम पड़ता है। क्योंकि प्रतिमा-प्रतिपन्न को परिषहों के सहन करने का ही विशेष विधान किया गया है। हाँ, यदि भिक्षु का अभिग्रह (प्रतिज्ञा) तीन ही प्रहर विहार करने का हो तो वृत्तिकार का अर्थ भी युक्ति-युक्त हो सकता है। अन्यथा यह शङ्का स्वभावतः उत्पन्न हो जाती है कि यदि अवश्याय (ओस) के कारण दिन के चौथे

प्रहर को 'जल' माना जाय तो दिन के पहले प्रहर को क्यों नहीं माना गया; उसमें भी तो ओस विशेष रूप से पड़ती ही है । इस प्रकार दिन के पहले प्रहर में भी विहार का निषेध होना चाहिए, किन्तु यह नहीं हो सकता, क्योंकि इसी सूत्र में स्पष्ट कह दिया है कि सूर्य के उदय होते ही विहार कर दे ।

यहां 'जल' शब्द का अर्थ शुष्क जलाशय 'नैगम' नय के अनुसार किया गया है और जलाशयों के समीप प्रायः वृक्षादि होते ही हैं। अतः उपर्युक्त अर्थ सर्वथा युक्ति-संगत सिद्ध होता है । यदि इस सूत्र का कथन 'नैगम' नय के अनुसार ही माना जाय तो कोई दोषापत्ति नहीं होती; क्योंकि 'नैगम' नय के भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीन भेद होते हैं । जैसे—इस घट में घृत था, इसमें घृत होगा और अमुक कार्य हो रहा है । अतः इस सूत्र का कथन 'नैगम' नय के ही अनुसार किया गया है यह सर्वथा युक्ति-युक्त प्रतीत होता है ।

सूत्रकार वक्ष्यमाण सूत्र में भी पूर्वोक्त विषय ही कहते हैं :—

मासियं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स णो से कप्पइ अणंतरहियाए पुढवीए निद्दाइत्तए वा पयलाइत्तए वा । केवली बूया आदाणमेयं । से तत्थ निद्दायमाणे वा पयलायमाणे वा हत्थेहिं भूमिं परामुसेज्जा । अहा-विधिमेव ठाणं ठाइत्तए निक्खमित्तए । उच्चार-पासवणेणं उप्पाहिज्जा नो से कप्पति उगिण्हित्तए वा । कप्पति से पुव्व-पडिलेहिए थंडिले उच्चार-पासवणं परिठवित्तए । तम्मेव उवस्सयं आगम्म अहाविहि ठाणं ठवित्तए ।

मासिकीं भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नः(स्य) नो स कल्पतेऽन-न्तरहितायां पृथिव्यां निद्रातुं प्रचलायितुं वा । केवली ब्रूयात् (अवोचत्) आदानमेतत् । स तत्र निद्रायमाणो वा प्रचला-

यमाणो वा हस्ताभ्यां भूमिं परामृषेत्। यथाविधिमेव स्थाने स्थातुं निष्क्रान्तुम्। उच्चार-प्रश्रवणे (चेत्) उत्पद्येतां नैव स कल्पतेऽवग्रहीतुं वा। कल्पते स पूर्व-प्रतिलिखिते स्थण्डिले उच्चार-प्रश्रवणे परिस्थापयितुम्। तमेवोपाश्रयमागत्य यथाविधि स्थाने स्थातुम्।

पदार्थान्वयः—**मासियं**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स**—भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को **अणंतरहियाए**—सचित्त **पुढवीए**—पृथिवी पर **निद्दाइत्तए वा**—निद्रा लेनी अथवा **पयलाइत्तए**—प्रचला नाम की निद्रा लेनी **णो कप्पइ**—उचित नहीं है। क्योंकि **केवली बूया**—केवली भगवान् कहते हैं **आदाणमेयं**—ये क्रियाएं बन्धन कारक हैं। **से**—वह **तत्थ**—वहां **निद्दायमाणे वा**—निद्रा लेता हुआ अथवा **पयलायमाणे वा**—प्रचला नाम की निद्रा लेता हुआ **हत्थेहिं**—हाथों से **भूमिं**—भूमि को **परामुसेज्जा**—परामृष करे तो पृथिवी के सचित्त होने के कारण इससे पृथिवी-काय की हिंसा होगी अतः **अहाविहिमेव**—विधि-पूर्वक ही **ठाणं**—स्थान में **ठाइत्तए**—रहना उचित है अथवा **निक्खमित्तए**—वहां से निकल जाना चाहिए। यदि **तत्थ**—वहां **उच्चार**—पुरीष और **पासवणेणं**—प्रश्रवण (पेशाब) की **उप्पाहिज्जा**—शङ्का उत्पन्न हो जाय तो **से**—उसको **उगिण्हित्तए**—उसका रोकना **णो कप्पति**—उचित नहीं किन्तु **से**—उसको **पुव्वपडिलेहिए**—पूर्व प्रतिलेखित (ढूँढे हुए) **थंडिले**—स्थण्डिल (पुरीषोत्सर्ग भूमि) में **परिठवित्तए**—परिष्ठापन करना **कप्पति**—योग्य है फिर **तमेव**—उसी **उवस्सयं**—उपाश्रय में **आगम्म**—आकर **अहाविहि**—विधि-पूर्वक **ठाणं**—स्थान में कायोत्सर्गादि करके **ठवित्तए**—रहना चाहिए।

मूलार्थ—मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को सचित्त पृथिवी पर निद्रा या प्रचला नाम निद्रा लेना योग्य नहीं; क्योंकि केवली भगवान् इसको कर्म-बन्धन का कारण बताते हैं। वह कहते हैं कि भिक्षु वहां पर निद्रा या प्रचला नाम निद्रा लेता हुआ हाथों से भूमि का अवश्य स्पर्श करेगा और उससे हिंसा अवश्य ही होगी। अतः यथाविधि निर्दोष स्थान पर ही रहना चाहिए या वहां से अन्यत्र किसी स्थान को चल देना चाहिए। यदि वहां पर पुरीष या

मूत्रोत्सर्गादि की शङ्का उत्पन्न हो जाय तो उसको उचित है कि किसी पूर्व प्रतिलेखित स्थान पर उनका उत्सर्ग करे और फिर उसी स्थान पर आकर कायोत्सर्गादि क्रिया करे ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को किन २ स्थानों पर निद्रा लेनी चाहिए । उसको सचित्त पृथिवी पर लेट कर, बैठे २ या खड़े २ निद्रा लेनी सर्वथा अनुचित है । क्योंकि केवली भगवान् कहते हैं कि ऐसा करने से कर्मों का बन्धन अवश्यमेव हो जायगा या होता है । जब वह ऐसे स्थान पर निद्रा या प्रचला नाम निद्रा लेगा तो उसके हाथों से भूमि का स्पर्श होगा ही और उससे जीव-विराधना होना अनिवार्य है । अतः उसको योग्य है कि यथाविधि किसी निर्दोष स्थान पर कायोत्सर्गादि क्रियाएं करे । यदि उसको वहां पर मल-मूत्रादि की शङ्का उत्पन्न हो जाय तो उसे उसको रोकना नहीं चाहिए, किन्तु पहले से ही ढूँढ कर निश्चित किये हुए स्थण्डिल (मल-त्याग-भूमि) पर उनका यथाविधि त्याग करना चाहिए । तदनन्तर उपाश्रय में आकर कायोत्सर्गादि क्रियाएं करनी चाहिएं ।

इस सूत्र में केवल पृथिवी पर ही उक्त क्रियाओं के करने का निषेध किया है । यदि कोई पूछे कि क्या जलादि पर उक्त क्रियाएं कर सकता है ? उसको उत्तर देना चाहिए कि जिस प्रकार सचित्त पृथिवी पर उक्त क्रियाएं निषिद्ध हैं । इसी प्रकार जलादि षट् कायों के विषय में भी जानना चाहिए ।

सूत्र में आए हुए 'आदानं' शब्द का 'कर्म-बन्ध का कारण होना' यह अर्थ है । यही इस शब्द के विग्रह से भी ज्ञात हो जाता है:— "आदीयते इति आदानं कर्म, तद्धेतुभूतानि आश्रवद्वाराणि वा–आदानकारणे कार्योपचारात् कर्मबन्धहेतुत्वात्–आदानमेतत्कर्मादानमिति वा दोषाणामादानमायतनमेतत् " ।

वक्ष्यमाण सूत्र में भी सूत्रकार पूर्वोक्त विषय का ही कथन करते हैं :—

मासियं णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स नो कप्पति ससरक्खेणं काएणं गाहावति-कुलं भत्तए वा पाणए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा । अह पुण एवं जाणेज्जा

ससरक्खे से अत्ताए वा जल्लत्ताए वा मलत्ताए वा पंकत्ताए वा विद्धत्थे से कप्पति गाहावति-कुलं भत्तए वा पाणए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

मासिकीं नु भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नः(स्य) नो कल्पते सरजस्केन कायेन गृहपति-कुलं भक्ताय वा पानाय वा निष्क्रान्तुं वा प्रवेष्टुं वा। अथ पुनरेवं जानीयात् सरजस्कत्वं तदार्द्रतया (स्वेदतया)वा यल्लतया वा मलतया वा पङ्कतया वा विद्ध्वस्तं स कल्पते गृहपति-कुलं भक्ताय वा पानाय वा निष्क्रान्तुं वा प्रवेष्टुं वा।

पदार्थान्वयः--**मासियं**--मासिकी **भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स**--भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को **ससरक्खेणं**--सचित्त रज से लिप्त **काएणं**--काय द्वारा **गाहावति**--गृहपति के **कुलं**--कुल में **भत्तए वा**--भोजन के लिए अथवा **पाणए**--पानी के लिए **निक्खमित्तए**--निकलना **वा**--अथवा **पविसत्तए**--प्रवेश करना **नो कप्पति**--योग्य नहीं किन्तु **अह**--अथ **पुण**--पुनः **एवं जाणेज्जा**--इस प्रकार जान ले कि **से**--वह **ससरक्खे**--सचित्त रज **अत्ताए**--प्रस्वेद से **वा**--अथवा **जलत्ताए वा**--शरीर के मल से **मलत्ताए**--हस्त-सङ्कर्ष से उत्पन्न मल से **पंकत्ताए वा**--प्रस्वेद (पसीना) जनित शरीर के मल से **विद्धत्थे**--ध्वंस होकर अचित्त रज हो गया हो तो **से**--उसको **गाहावति**--गृहपति के **कुलं**--कुल में **भत्तए**--भोजन के लिए **वा**--अथवा **पाणए**--पानी के लिए **निक्खमित्तए**--निकलना अथवा **पविसत्तए**--प्रवेश करना **कप्पति**--उचित है। **णं**--वाक्यालङ्कार अर्थ में है।

मूलार्थ--मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को सचित्त रज से लिप्त काय से गृहपति के घर में भोजन अथवा पानी के लिए निकलना या प्रवेश करना योग्य नहीं। यदि वह जान जाय कि सचित्त-रज प्रस्वेद (पसीना) से, शरीर के मल से, हाथों के मल से अथवा प्रस्वेद-जनित मल से विध्वंस हो

गया है, तो उसको गृहपति के घर में भोजन या पानी के लिए निकलना उचित है अन्यथा नहीं ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को सचित्त रज से लिप्त काय (शरीर) से कभी भी गृहपति के घर में भोजन के या पानी के लिए नहीं निकलना चाहिए । किन्तु यदि वह जान जाय कि उसके काय पर का सचित्त रज स्वेद से, शरीर के मल से, हाथों के मल से अथवा पसीने से पैदा होने वाले शरीर के मल से नष्ट हो गया है तो वह मुनि गृहपति के कुल में भोजन या पानी के लिए जा सकता है ।

इस सूत्र का सारांश इतना ही है कि यदि किसी कारण से शरीर सचित्त रज से लिप्त हो जाय तो साधु को अपने उपाश्रय से निकल कर गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रवेश करना योग्य नहीं । इसी प्रकार यदि शरीर सचित्त जल से आर्द्र (गीला) हो तो भी भिक्षा के लिए जाना सर्वथा अनुचित है।

यदि कोई शङ्का करे कि शरीर सचित्त रज से लिप्त किस प्रकार हो सकता है तो समाधान में कहना चाहिए कि कभी वनादि में जाते हुए साधु के शरीर में मिट्टी की खान से निकल कर सचित्त रज लग सकता है और इसी तरह के अन्य कई कारण हो सकते हैं । सचित्त रज प्रायः महावायु से उड़ता है और शरीर से लग जाता है । महावायु प्रायः ग्रीष्म ऋतु में अधिक चलता है इसी लिए सूत्र में प्रस्वेदादि का पाठ किया है ।

अब सूत्रकार शुद्धि के विषय में कहते हैं :—

मासियं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स नो कप्पति सीओदय-वियडेण वा उसिणोदय-वियडेण वा हत्थाणि वा पादाणि वा दंताणि वा अच्छिणि वा मुहं वा उच्छोलित्तए वा पधोइत्तए वा णणत्थ लेवालेवेण वा भत्त-मासेण वा ।

मासिकीं भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नः(स्य) नो कल्पते शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा हस्तौ वा पादौ वा दन्तान् वा अक्षिणी वा मुखं वोच्छोलयितुं वा प्रधावितुं वा नान्यत्र लेपालेपेन वा भक्त(वद्) आस्येन वा ।

पदार्थान्वयः—**मासियं**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स**—भिक्षु-प्रतिमा प्रतिपन्न अनगार को **सीओदय-वियडेण वा**—जीव रहित शीतोदक (ठण्डे पानी) से **उसिणोदय-वियडेण वा**—अथवा जीव रहित उष्ण (गरम) जल से **हत्थाणि वा**—हाथ अथवा **पादाणि वा**—पैर अथवा **दंताणि वा**—दांत अथवा **अच्छिणि वा**—आंखें और **मुहं**—मुख इन सब अवयवों को **उच्छोलित्तए**—अयत्न (असावधानी) से एक बार धोना **वा**—अथवा **पधोइत्तए**—बार-बार धोना **नो कप्पति**—उचित नहीं है **णणत्थ**—किन्तु इन कारणों से अतिरिक्त स्थल में इस विधि का निषेध है जैसे :—**लेवालेवेण वा**—यदि शरीर में कोई अशुद्ध वस्तु लगी हो तो उसको पानी के लेप से दूर करना चाहिए अथवा **भत्त**—भात आदि भोजन से लिप्त **आसेण**—मुख को पानी से शुद्ध अवश्य करना चाहिए । इसी प्रकार यदि हाथ आदि अवयव भी भोजन से लिप्त हो गए हों तो उनको भी पानी से ही साफ करना चाहिए ।

मूलार्थ—मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न साधु को जीव रहित ठंडे अथवा गरम पानी से हाथ, पैर, दांत, आंखें या मुख एक बार अथवा बार-बार नहीं धोने चाहिएं । किन्तु यदि किसी अशुद्ध वस्तु या अन्नादि से मुख, हाथ आदि अवयव लिप्त हो गये हों तो उनको वह पानी से शुद्ध कर सकता है, अन्यत्र नहीं ।

टीका—इस सूत्र में जल-काय जीवों की रक्षा को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार शुद्धि के लिए जल के उपयोग के विषय में कहते हैं । प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को शृङ्गार अथवा शरीर की शान्ति के लिए जीव-रहित शीत अथवा उष्ण जल से हाथ, पैर, दांत, आंखें अथवा मुख का एक बार अथवा बार २ धोना योग्य नहीं । किन्तु, यदि शरीर पर कोई अशुद्ध वस्तु लग गई हो तो उसको वह शुद्ध कर सकता है अर्थात् मलोत्सर्गादि के पश्चात् जल से शौच कर सकता है । इसी प्रकार आहारादि के अनन्तर मुख तथा हाथों को जल से धो सकता है । इन क्रियाओं के

लिए यह निषेध नहीं है। इनके अतिरिक्त जल द्वारा उच्छोलना (निरर्थक शरीर को धोना) कदापि न करे। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि शुद्धि के लिए जल का उपयोग केवल मलोत्सर्ग और भोजन के अनन्तर ही करना चाहिए, और समय नहीं।

सूत्र में 'शीतोदक-विकट' और 'उष्णोदक-विकट' दो शब्द आये हैं। उनका अर्थ इस प्रकार है—"शीतञ्च तदुदकमिति शीतोदकं तच्च विकटं विगतजीवमिति शीतोदकविकटम्। एवमुष्णोदकविकटमपि।" अर्थात् निर्जीव ठण्डे पानी को 'शीतो-दक-विकट' और निर्जीव गरम पानी को 'उष्णोदक-विकट' कहते हैं। सूत्र में हस्त शब्द में नपुंसक लिङ्ग और बहुवचन प्राकृत होने के कारण दोषाधायक नहीं।

'लेवालेवेण' से सूत्रकार का यह तात्पर्य नहीं कि जितने भी लेप हों उन सब को पानी के लेप से शुद्ध करना चाहिए बल्कि विशेष अशुद्ध वस्तुओं को दूर करने के लिए ही इसका विधान है। जैसे रास्ते में चलते समय यदि पक्षी कोई मलादिक अशुद्ध पदार्थ गिरा दें तो उनकी भी जल से शुद्धि करे, क्योंकि यदि शरीर मलादि से लिप्त होगा तो स्वाध्यायादि क्रियाएं शान्तिपूर्वक न हो सकेंगी। अतः ऐसी वस्तुओं को तो दूर करना ही चाहिए। किन्तु प्रत्येक सामान्य लेप को दूर करने के लिए जल का उपयोग सर्वथा अनुचित है। सम्पूर्ण कथन का सारांश यह निकला कि उपर्युक्त किसी मल विशेष को दूर करने के लिए ही जल-स्पर्श आवश्यक है, सर्वत्र नहीं।

अब सूत्रकार गमन क्रिया के विषय में कहते हैं:—

मासियं णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स नो कप्पति आसस्स वा हत्थिस्स वा गोणस्स वा महिसस्स वा कोलसुणगस्स वा सुणस्स वा वग्घस्स वा दुट्ठस्स वा आवदमाणस्स पयमवि पच्चोसक्कित्तए। अदुट्ठस्स आव-दमाणस्स कप्पति जुगमित्तं पच्चोसक्कित्तए।

मासिकीं नु भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नः(स्य) नो कल्पतेऽश्वस्य

वा हस्तिनो वा गोणस्य (वृषभस्य) वा महिषस्य वा कोलशुनकस्य वा शुनो वा व्याघ्रस्य वा दुष्टस्य वापततः पदमपि प्रत्यवसर्तुम् । अदुष्टस्यापततः कल्पते युगमात्रं प्रत्यवसर्तुम् ।

पदार्थान्वयः—**मासियं**–मासिकी **भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स**–भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न साधु को **आसस्स**–अश्व (घोड़े) के **वा**–अथवा **हत्थिस्स**–हाथी के **गोणस्स वा**–अथवा वृषभ के **महिसस्स वा**–अथवा महिष (भैंस) के **कोलसुनगस्स वा**–अथवा वाराह (सूअर) के **सुणस्स वा**–अथवा कुत्ते के **वग्घस्स वा**–अथवा व्याघ्र के **दुट्ठस्स वा**–अथवा दुष्ट के **आवदमाणस्स**–सामने आने पर भय से **पयमवि**–एक कदम भी **पच्चोसक्कित्तए**–पीछे हटना **णो कप्पति**–योग्य नहीं । किन्तु **अदुट्ठस्स**–अदुष्ट के **आवदमाणस्स**–सामने आने पर **जुगमित्तं**–युगमात्र **पच्चोसक्कित्तए**–पीछे हटना **कप्पति**–योग्य है ।

मूलार्थ—मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न साधु के सामने यदि मदोन्मत्त हाथी, घोड़ा, वृषभ, महिष, वराह, कुत्ता या व्याघ्र आदि आ जायं तो उसको उनसे डर कर एक कदम भी पीछे नहीं हटना चाहिए । किन्तु यदि कोई भद्र जीव सामने आ जाय और वह साधु से डरता हो तो साधु को चार हाथ की दूरी तक पीछे हट जाना चाहिए ।

टीका—इस सूत्र में अहिंसा और साधु के आत्म-बल के विषय में कहा गया है । यदि साधु किसी जंगल के रास्ते चला जा रहा हो और सामने कोई दुष्ट हाथी, घोड़ा, बैल, महिष, सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, चित्रक, रीछ, सूअर या कुत्ता आदि आ जायं तो साधु को किसी से डर कर एक कदम भी पीछे नहीं हटना चाहिए, क्योंकि उसका आत्म-बल महान् है । अतः वह मृत्यु के भय से भी रहित होता है । किन्तु यदि उसके सन्मुख हिरन आदि अहिंसक और शान्त जीव आवें और वे साधु से डरते हों तो मुनि को उनका भय दूर करने के लिए चार कदम तक पीछे हटने में कोई आपत्ति नहीं । ऐसे जीवों को कदापि भय-भीत नहीं करना चाहिए । सम्भव है कि वह भय-भीत होकर अपने रास्ते से विचलित हो जायं और किसी भयङ्कर जङ्गल में जाकर सिंह आदि हिंसक पशु के चंगुल में फंस जायँ तो

उनकी हिंसा का कारण वही होगा। अतः सौम्य पशुओं को कदापि भय-भीत नहीं करना चाहिए; नांही दुष्टों से स्वयं डर कर उन्मार्ग होना चाहिए।

अब सूत्रकार दृढ़ प्रतिज्ञा या आसन के विषय में कहते हैं:—

मासियं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स नो कप्पति छायाओ सीयंति नो उण्हं इयत्तए, उण्हाओ उण्हंति नो छायं इयत्तए। जं जत्थ जया सिया तं तत्थ तया अहिसए।

मासिकीं भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नः(स्य) नो कल्पते छायातः शीतमिति (कृत्वा) उष्णं (स्थानम्) एतुम्, उष्णतः उष्णमिति (कृत्वा) छायामेतुम्। यो यत्र यदा स्यात् सस्तत्र तदाधिसहेत्।

पदार्थान्वयः—**मासियं**–मासिकी **भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स**–भिक्षु-प्रतिमा प्रतिपन्न अनगार को **छायाओ**–छाया से **सीयंति**–'शीत है' कह कर **उण्हं**–उष्ण स्थान पर **इयत्तए**–जाना, इसी प्रकार **उण्हाओ**–गरम जगह से **उण्हंति**–'गरम है' कह कर **छायं**–छाया में **इयत्तए**–जाना **नो कप्पति**–योग्य नहीं। किन्तु **जं**–जो **जत्थ**–जहां **जया**–जिस समय **सिया**–हो **तं**–वह **तत्थ**–वहीं **तया**–उस समय **अहिसए**–शीत या उष्ण का परीषह (कष्ट) सहन करे।

मूलार्थ—मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न साधु को शीत स्थान से शीत के भय से उठ कर उष्ण स्थान और उष्ण स्थान से गर्मी के भय से शीत स्थान पर नहीं जाना चाहिए। किन्तु वह जिस समय जहां पर हो उस समय वहीं पर शीत या उष्ण का परीषह सहन करे।

टीका—इस सूत्र में भी पहले सूत्र के समान आत्म-बल के विषय में ही कथन किया गया है। जब प्रतिमा-प्रतिपन्न साधु शीतकाल में किसी ठण्डे स्थान पर बैठा हो तो उसको शीत निवारण के लिए गरम जगह पर नहीं जाना चाहिए, इसी

प्रकार ग्रीष्म ऋतु में गरम स्थान से उठकर छाया में जाना योग्य नहीं । साधु को चाहिए कि जिस स्थान पर जिस समय बैठा हो उसी स्थान पर अपनी मर्यादा से बैठा रहे । मन की चञ्चलता के वशीभूत होकर स्थान का परिवर्तन करना उसको उचित नहीं । उसको चाहिए कि वह शान्तिपूर्वक शीत और उष्ण परीषहों का सहन करे । ऐसा करने से साधु के आत्म-बल की दृढ़ता सिद्ध होती है । मन और आसन की दृढ़ता प्रत्येक कार्य को सिद्ध कर सकती है । इस कथन से सब को शिक्षा लेनी चाहिए कि प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए सबसे पहले मन और आसन की दृढ़ता होनी चाहिए ।

अब सूत्रकार पहली प्रतिमा का उपसंहार करते हुए कहते हैं :—

एवं खलु मासियं भिक्खु-पडिमं अहासुत्तं, अहा-कप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं, सम्मं काएणं फासित्ता, पालित्ता, सोहित्ता, तीरित्ता, कीट्टइत्ता, आराहित्ता, आणाए अणुपालित्ता भवइ ॥ १ ॥

एवं खलु मासिकीं भिक्षु-प्रतिमां यथासूत्रं, यथाकल्पं, यथामार्गं, यथातत्त्वं, सम्यक् कायेन स्पृष्ट्वा, पालित्वा, शोधित्वा, तीर्त्वा, कीर्तयित्वा, आराध्य, आज्ञयानुपालयिता भवति ।

पदार्थान्वयः—**एवं**—इस प्रकार **खलु**—अवधारण अर्थ में है **मासियं**—मासिकी **भिक्खु-पडिमं**—भिक्षु-प्रतिमा का **अहासुत्तं**—सूत्रानुसार **अहाकप्पं**—कल्प (आचार) के अनुसार **अहामग्गं**—मार्ग के अनुसार **अहातच्चं**—तत्त्व के अनुसार अर्थात् याथातथ्य से **सम्मं**—साम्य भाव से **काएणं**—काय से **फासित्ता**—स्पर्श कर **पालित्ता**—पालन कर **सोहित्ता**—अतिचारों से शुद्ध कर **तीरित्ता**—पूर्ण कर **कीट्टइत्ता**—कीर्तन कर **आराहित्ता**—आराधन कर **आणाए**—आज्ञा से **अणुपालित्ता**—निरन्तर पालन करने वाला **भवति**—होता है ।

मूलार्थ—इस प्रकार मासिकी भिक्षु-प्रतिमा यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग,

यथातत्त्व, सम्यक्तया कायद्वारा स्पर्श कर, पालन कर, अतिचारों से शुद्ध कर, समाप्त कर, कीर्तन कर, आराधन कर आज्ञा से निरन्तर समाप्त की जाती है ।

टीका—इस सूत्र में पहली प्रतिमा का उपसंहार किया गया है । सूत्रकार कहते हैं कि पहली मासिकी प्रतिमा का जिस प्रकार सूत्रों में वर्णन किया गया है, जिस प्रकार उसका आचार है, जिस प्रकार उसका मार्ग है अर्थात् जिस प्रकार ज्ञानादि मोक्ष मार्ग हैं, जिस प्रकार उसका तत्त्व है, या उसमें याथातथ्य है, उसी प्रकार काय से स्पर्श कर, उपयोग-पूर्वक पालन कर, अतिचारों से शुद्ध कर, कीर्ति द्वारा पूर्ति कर श्री भगवान् की आज्ञा से आत्मा द्वारा आराधन या पालन की जाती है । प्रत्येक प्रतिमा-प्रतिपन्न मुनि को इसी रीति से इसका पालन करना चाहिए । जो मुनि इस प्रकार नियम और विधि पूर्वक इसका पालन करेगा वह अवश्य ही सफल होगा ।

अब सूत्रकार दूसरी प्रतिमा से लेकर सातवीं प्रतिमा तक का वर्णन निम्न-लिखित सूत्र में करते हैं :—

दोमासियं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स निच्चं वोसट्ठ-काए चेव जाव दो दत्तीओ ॥२॥ तिमासियं तिण्णि दत्तीओ ॥३॥ चत्तारि मासियं चत्तारि दत्तीओ ॥४॥ पंचमासियं पंच दत्तीओ ॥५॥ छमासियं छ दत्तीओ ॥६॥ सत्तमासियं सत्त दत्तीओ ॥७॥ जत्तिया मासिया तत्तिया दत्तीओ ।

द्विमासिकीं भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नस्य नित्यं व्युत्सृष्ट-कायस्य चैव यावद् द्वे दत्त्यौ ॥२॥ त्रिमासिकीं तिस्रो दत्त्यः ॥३॥ चतुर्मासिकीं चतस्रो दत्त्यः ॥४॥ पञ्चमासिकीं पञ्च दत्त्यः ॥५॥ षण्मासिकीं षड् दत्त्यः ॥६॥ सप्तमासिकीं सप्त दत्त्यः ॥७॥ याव-त्यो मासिक्यस्तावत्यो दत्त्यः ।

पदार्थान्वयः—**दोमासियं**–द्वि-मासिकी **भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स**–भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार **निच्चं**–सदा **वोसट्ठकाए**–व्युत्सृष्ट शरीर वाला **जाव**–यावत् प्रथम प्रतिमा की विधि प्रतिपादन की गई है उसका पालन करता है किन्तु केवल **दो दत्तीओ**–दो दत्ति अन्न की और दो दत्ति जल की ग्रहण करता है । 'च' और 'एव' अवधारण अर्थ में हैं । इसी प्रकार **तिमासियं**–त्रिमासिकी भिक्षु-प्रतिमा में **तिण्णि दत्तीओ**- तीन दत्ति हैं **चउमासियं**–चतुर्मासिकी भिक्षु-प्रतिमा में **चत्तारि दत्तीओ**–चार दत्ति हैं **पंचमासियं**–पञ्चमासिकी भिक्षु-प्रतिमा में **पंच दत्तीओ**–पांच दत्ति हैं **छमासियं**–षण्मासिकी भिक्षु-प्रतिमा में **छ दत्तीओ**–छः दत्ति हैं **सत्तमासियं**–सप्तमासिकी भिक्षु-प्रतिमा में **सत्त दत्तीओ**–सात दत्ति हैं । **जेत्तिया**–जितनी **मासिया**–मासिकी प्रतिमाएं हैं **तेत्तिया**–उतनी ही **दत्तीओ**–दत्ति हैं ।

मूलार्थ—द्वि-मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार नित्य व्युत्सृष्टकाय होता है अर्थात् उसको शरीर का मोह नहीं होता और वह केवल दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की ग्रहण करता है । इसी प्रकार त्रि-मासिकी, चतुर्मासिकी, पञ्च-मासिकी, षण्मासिकी और सप्त-मासिकी भिक्षु-प्रतिमाओं में मुनि क्रमशः तीन, चार, पांच, छः और सात दत्तियां ग्रहण कर सकता है । कहने का तात्पर्य यह है कि जितनीवीं मासिकी प्रतिमा हो उतनी ही दत्तियों की वृद्धि कर लेनी चाहिए ।

टीका—इस सूत्र में दूसरी प्रतिमा से लेकर सातवीं प्रतिमा तक का वर्णन किया गया है । जब साधु दूसरी भिक्षु-प्रतिमा ग्रहण करे तो उसको दो दत्ति भोजन और दो दत्ति पानी की ग्रहण करनी चाहिएं । किन्तु उसकी शेष वृत्ति पहली प्रतिमा के समान ही होनी उचित है । विशेषता केवल दत्तियों की ही है । इसी प्रकार सात प्रतिमाओं तक जान लेना चाहिए । अर्थात् तीसरी, चौथी, पांचवीं, छठी और सातवीं प्रतिमा में क्रम से तीन, चार, पांच, छः और सात दत्तियां अन्न और सात पानी की लेनी चाहिएं । कहने का आशय यह है कि जितनीवीं मासिकी प्रतिमा हो उतनी ही दत्ति भी ग्रहण करनी चाहिएं । प्रत्येक प्रतिमा एक २ मास की होती है । केवल दत्तियों की वृद्धि के कारण ही द्वि-मासिकी त्रि-मासिकी

आदि संख्या दी गई है । कहने का तात्पर्य यह है कि द्विमासिकी प्रतिमा का काल भी एक ही मास है । इसी प्रकार त्रिमासिकी आदि के विषय में भी जानना चाहिए। भेद केवल दत्तियों के कारण ही है । इस प्रकार इस सूत्र में सात दत्तियों का वर्णन किया गया है ।

अब सूत्रकार आठवीं प्रतिमा का विषय वर्णन करते हैं :—

पढमा सत्त-राइंदिया भिक्खु-पडिमा पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं वोसट्टकाए जाव अहियासेइ । कप्पइ से चउत्थेणं भत्तेणं अप्पाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणिए वा, उत्ताणस्स पासिल्लगस्स वा नेसिज्जयस्स वा ठाणं ठाइत्तए । तत्थ दिव्वं माणुस्सं तिरिक्ख-जोणिया उवसग्गा समुपज्जेज्जा तेणं उवसग्गा पयलिज्ज वा पवडेज्जा वा णो से कप्पइ पयलित्तए वा पयडित्तए वा । तत्थ णं उच्चार-पासवणं उप्पाहिज्जा णो से कप्पइ उच्चार-पासवणं उगिण्हित्तए वा । कप्पइ से पुव्व-पडिलेहियंमि थंडिलंसि उच्चार-पासवणं परिठवित्तए, अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए । एवं खलु एसा पढमा सत्त-राइंदिया भिक्खु-पडिमा अहासुयं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ॥ ८ ॥

प्रथमां सप्त-रात्रिंदिवां भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नः(स्य) अनगारस्य नित्यं व्युत्सृष्टकायः(स्य) यावदधि सहते । कल्पते स चतुर्थेन भक्तेनापानकेन बहिर्ग्रामस्य वा यावद्राजधान्या वा,

उत्तानस्य, पार्श्विकस्य, नैषधिकस्य वा स्थानं स्थातुम् । तत्र (यदि) दिव्या मानुषास्तिर्यग्योनिका वोपसर्गाः समुपपद्येरन्, ते उपसर्गाः प्रचालयेयुः प्रपातयेयुर्वा न स कल्पते प्रचलितुं प्रपतितुं वा । तत्र नूच्चार-प्रश्रवण उत्पद्येतां न स कल्पत उच्चार-प्रश्रवणेऽवग्रहीतुं कल्पते स पूर्व-प्रतिलिखिते स्थण्डिल उच्चार-प्रश्रवणे परिस्थापयितुम् । (तदनु) यथाविध्येव स्थानं स्थातुम् । एवं खल्वेषा प्रथमा सप्त-रात्रिंदिवा भिक्षु-प्रतिमा यथासूत्रं यावदाज्ञयानुपालिता भवति ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—पढमा-प्रथमा सत्त-सात राइंदिया-रात्रि और दिन की भिक्खु-पडिमा-भिक्षु-प्रतिमा पडिवन्नस्स-प्रतिपन्न अणगारस्स-अनगार का निच्चं-नित्य वोसट्ठकाए-शरीर व्युत्सृष्ट होता है अर्थात् उसको शरीर का मोह नहीं होता। और जाव-जो कुछ नियम पहले कहे जा चुके हैं उनका पालन उसको करना होता है । अहियासेइ-वह परीषहों को सहन करता है । किन्तु से-उसको चउत्थेणं भत्तेणं-चतुर्थ भक्त नामक तप के द्वारा अप्पाणएणं-पानी के विना (चौविहार प्रत्याख्यान) गामस्स-ग्राम के वा-अथवा जाव-यावत् रायहाणिए वा-राजधानी के बहिया-बाहिर उत्ताणस्स वा-लेटे हुए आकाश की ओर मुख कर पासिल्लगस्स वा-एक पार्श्व के आधार पर लेट कर अथवा नेसिज्जयस्स वा-'निषद्य' आसन से बैठकर ठाणं-कायोत्सर्गादि ठाइत्तए-करना कप्पइ-योग्य है । तत्थ-वहां यदि दिव्वं-देव सम्बन्धी वा-अथवा माणुस्सं-मनुष्य सम्बन्धी तिरिक्खजोणिया-तिर्यक् (पशु पक्षी आदि) सम्बन्धी उवसग्गा-उपसर्ग (विघ्न) समुपज्जेज्जा-उपस्थित हो जायं और ते-वे णं-वाक्यालङ्कार के लिए है उवसग्गा-उपसर्ग पयलिज्जा-ध्यान से हटावें वा-अथवा पवडेज्जा-कायोत्सर्गादि से गिरावें तो से-उसको पयलित्तए वा-हटना अथवा पयडित्तए वा-ध्यान से च्युत होना णो कप्पइ-योग्य नहीं णं-पूर्ववत् । किन्तु यदि तत्थ-वहां उच्चार-पासवणं-उच्चार और प्रश्रवण की शङ्का उप्पाहिज्जा-उत्पन्न हो जाय तो से-उसको पुव्व-पडिलेहियंसि-पूर्व-प्रतिलिखित

थंडिलंसि—स्थण्डिल पर **उच्चार-पासवणं**—उच्चार प्रश्रवण का **परिठवित्तए**—त्याग करना **कप्पइ**—योग्य **है** किन्तु **से**—उसको **उच्चार-पासवणं**—मल-मूत्र **उगिण्हित्तए**—रोकना **णो कप्पइ**—योग्य नहीं । फिर **अहाविहिमेव**—विधि पूर्वक **ठाणं**—कायोत्सर्गादि **ठाइत्तए**—करने चाहिएं अर्थात् पूर्ववत् ध्यानादि में लग जाना चाहिए । **एवं**—इस प्रकार **खलु**—निश्चय से **एसा**—यह **पढमा**—प्रथमा **सत्त**—सात **राइंदिया**—रात्रि और दिन की **भिक्खु-पडिमा**—भिक्षु-प्रतिमा **अहासुत्तं**—सूत्रों के अनुसार **जाव**—यावत् **आणाए**—आज्ञा से **अणुपालित्ता**—अनुपालन करने वाला **भवइ**—होता **है** ।

मूलार्थ—पहली सात रात्रि और दिन की भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को शरीर सम्बन्धी मोह नहीं होता और वह सम्पूर्ण परीषहों को सहन करता है । उसको उचित है कि वह चतुर्थ भक्त पानी के बिना ग्राम या यावद्-राजधानी के बाहर उत्तान (चित्त लेटना) आसन पर, पार्श्व आसन पर या निषद्य आसन पर कायोत्सर्गादि करे । यदि वहां देव, मानुष या तिर्यग्योनि सम्बन्धी उपसर्ग उत्पन्न हों और उसको ध्यान से स्खलित या पतित करें तो उसको स्खलित या पतित होना उचित नहीं । यदि वहां उसको मल और मूत्र की शंका उत्पन्न हो जाय तो उसको वह रोकनी नहीं चाहिए । किन्तु किसी पहले ढूंढे हुए स्थान पर उनका उत्सर्ग कर यथाविधि अपने आसन पर आकर कायोत्सर्गादि क्रियाओं को करते हुए स्थिर रहना चाहिए । इस प्रकार यह पहली सात रात दिन की प्रतिमा सूत्रों के अनुसार श्री भगवान् की आज्ञा से निरन्तर पालन की जाती है ।

टीका—इस सूत्र में आठवीं प्रतिमा का विषय वर्णन किया गया है। इस प्रतिमा में भी जितनी पहली प्रतिमाओं की विधि वर्णन की गई है उसका पालन करते हुए भिक्षु को पहली सात रात और दिन की प्रतिमा ग्रहण करनी होती है। किन्तु साथ ही में उसको सात दिन पर्यन्त अपानक उपवास करना पड़ता है अर्थात् 'चौविहार एकान्तर तप' करना चाहिए और नगर या राजधानी के बाहर जाकर उत्तानासन (आकाश की ओर मुख करने) पार्श्वासन (एक पार्श्व के आधार लेटने), अथवा निषद्यासन (सम पाद रख कर बैठने) से ध्यान लगाकर समय

व्यतीत करना चाहिए। यदि वहां उसको कोई देव, मानुष या तिर्यग्योनि सम्बन्धी उपसर्ग (विघ्न) ध्यान से स्खलित या पतित करने का प्रयत्न करें तो उसको अपने ध्यान से कदापि स्खलित या पतित नहीं होना चाहिए। यदि उसको वहां मल-मूत्र आदि की शङ्का पैदा हो जाय तो उसे मल-मूत्रादि को रोकना नहीं चाहिए, प्रत्युत किसी पहले ढूंढे हुए स्थान पर उनका उत्सर्ग करना चाहिए। वहां से आकर फिर अपने ध्यान में लग जाना चाहिए। इसी का नाम 'पहली सात दिन की भिक्षु प्रतिमा' है। इसका सूत्रों के अनुसार पूर्ववत् आराधन किया जाता है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यहां क्रमानुसार इस प्रतिमा का नाम 'आठवीं' प्रतिमा होना चाहिए था, फिर यहां उसके स्थान पर 'प्रथमा' क्यों दिया गया है ? उत्तर में कहा जाता है कि पहली सात प्रतिमाओं की सात तक संख्या दत्तियों के अनुसार दी गई है, किन्तु इस प्रतिमा में दत्तियों की संख्या न होने के कारण इसको 'प्रथमा' के नाम से लिखा गया है। इसी प्रकार (नवीं) को 'द्वितीया' और 'दशवीं' को 'तृतीया' की संज्ञा दी गई है। अभिग्रह विशेष होने के कारण संज्ञाओं में भी विशेषता कर दी गई है। किन्तु ध्यान रहे कि दत्तियों के अतिरिक्त पहली सात प्रतिमाओं के नियम इन में भी पालन करने पड़ते हैं।

अब सूत्रकार नौवीं और दशवीं प्रतिमा के विषय में कहते हैं :—

एवं दोच्चा सत्त-राइंदिया यावि। नवरं दंडायइयस्स वा लगडसाइस्स वा उक्कुडुयस्स वा ठाणं ठाइत्तए सेसं तं चेव जाव अणुपालित्ता भवइ॥ ९ ॥ एवं तच्चा सत्त-राइंदिया यावि। नवरं गोदोहियाए वा विरासणीयस्स वा अंब-खुज्जस्स वा ठाणं ठाइत्तए तं चेव जाव अणुपालित्ता भवइ ॥ १० ॥

एवं द्वितीया सप्त-रात्रिंदिवा चापि। नवरं (इदं वैशेष्यं) दण्डायतिकस्य वा लकुटशायिनो वा उत्कुटुकासनस्य वा स्थानं

स्थातुम् । शेषं तच्चैव यावदनुपालिता भवति । एवं तृतीया सप्त-रात्रिंदिवा चापि । नवरं गोदोहनिकासनिकस्य वा वीरासनस्य वा आम्र-कुब्जस्य वा स्थानं स्थातुम् । तच्चैव यावदनुपालिता भवति ।

पदार्थान्वयः—**एवं**–इसी प्रकार **दोच्चा**–द्वितीया **सत्त-राइंदिया**–सात रात दिन की प्रतिमा के विषय में **यावि**–भी जानना चाहिए **नवरं**–यह विशेषता सूचक अव्यय है अर्थात् विशेषता इतनी है कि इस प्रतिमा में **दंडायइयस्स वा**–दण्ड के समान लम्बा आसन करना चाहिए अथवा **लगडसाइस्स**–लकड़ी के समान आसन करना चाहिए अथवा **उक्कुडुयस्स वा**–उकडु आसन अर्थात् घुटनों के बल बैठने का आसन करना चाहिए और इन्हीं आसनों पर **ठाणं**–कायोत्सर्गादि **ठाइत्तए**–करना योग्य है । **सेसं तं चेव**–शेष बातें पूर्ववत् ही जान लेनी चाहिएं । **जाव**–इन सब बातों को **अणुपालित्ता**–पालन करने वाला **भवइ**–होता है । **एवं**–इसी प्रकार **तच्चा**–तृतीया **सत्त-राइंदिया यावि**–सात रात दिन की प्रतिमा भी **भवइ**–होती है । **नवरं**–विशेषता इतनी ही है कि **गोदोहियाए**–गोदोह नामक आसन से **विरासणीयस्स वा**–अथवा वीरासन से अथवा **अंब-खुज्जस्स वा**–आम्र-कुब्जासन से **ठाणं**–कायोत्सर्गादि **ठाइत्तए**–करने चाहिएं **तं चेव**–शेष पूर्ववत् ही जान लेना चाहिए इस प्रकार **जाव**–इन सब बातों का **अणुपालित्ता**–पालन करने वाला होता है ।

मूलार्थ—इसी प्रकार दूसरी सात दिन और रात की भिक्षु-प्रतिमा भी है । विशेषता केवल इतनी है कि इसमें दण्डासन, लगुडासन और उत्कुटुकासन पर ध्यान किया जाता है । शेष सब नियम पहले कही हुई प्रतिमाओं के समान जान लेने चाहिएं । उन सब नियमों के साथ ही इसका पालन किया जाता है । इसी प्रकार तीसरी सात रात और दिन की प्रतिमा के विषय में भी जानना चाहिए । इसमें यह विशेषता है कि कायोत्सर्गादि क्रियाएं गोदोहनिकासन, वीरासन और आम्र-कुब्जासन पर की जाती हैं । शेष सब पूर्ववत् ही है । इस प्रकार इसका निरन्तर पालन किया जाता है ।

टीका—इस सूत्र में दूसरी (नवीं) और तीसरी (दशवीं) प्रतिमा का

वर्णन किया गया है । द्वितीया प्रतिमा भी सात रात्रि और सात दिन तक ही षष्ठ तप के साथ पालन की जाती है अर्थात् इस प्रतिमा में दो २ उपवासों पर धारणा की जाती है । पहली प्रतिमा के समान इस में भी नगरादि के बाहर जाकर दण्ड-वत् दीर्घासन से अथवा लकड़ी के समान आसन अर्थात् शिर और पैरों को जमीन पर टिका कर शेष शरीर के भाग भूमि से ऊपर रखते हुए और उत्कुटुकासन अर्थात् भूमि पर सम पाद पूर्वक बैठते हुए कायोत्सर्गादि से समय व्यतीत किया जाता है । इन आसनों के द्वारा समाधि लगाकर आत्मानुभव करना ही दूसरी प्रतिमा का मुख्य उद्देश्य है । इस प्रकार से इस प्रतिमा का आराधन किया जाता है।

तीसरी सात दिन की और सात रात की प्रतिमा में भी पहली प्रतिमा के सब नियमों का विधि पूर्वक पालन किया जाता है । इसके अतिरिक्त यह प्रतिमा अष्टम तेला तप से आराधन की जाती है किन्तु तप कर्म पानी के विना धारण किया जाता है । इस प्रतिमा में गोदोहनासन, वीरासन और आम्र-कुब्जासन से कायोत्सर्गादि करने की आज्ञा है ।

यदि किसी को जिज्ञासा हो कि गोदोहनिकासन, वीरासन और आम्र-कुब्जासन का क्या अर्थ है तो उसके लिए स्पष्ट किया जाता है :—"गोदोहनिकासन-गोदोहनक्रियैव गोदोहनिका, गोदोहनप्रवृत्तस्यैवाग्रपादतलाभ्यामवस्थानं क्रियते इत्यर्थः, तयावस्थायिन इति भावः ।" अर्थात् जिस प्रकार पैरों के तलों को उठा कर गाय दोहने के लिए बैठते हैं उसी प्रकार बैठ कर ध्यान करने को 'गोदोहनिकासन' कहते हैं । वीरासन—वीराणां दृढ-संहननानाम्, आसनमवस्थानं यथा भवति तथा । सिंहासनाधिरूढस्य सिंहासनापनयनेऽप्यविचलरूपेण भूमाववस्थानमिति भावः । अर्थात् यदि कोई व्यक्ति कुरसी पर बैठा हो और दूसरा आकर उसके नीचे से कुरसी हटा दे और बैठने वाला उसी प्रकार अविचल रूप से भूमि पर भी बैठा रहे तो उसको 'वीरासन' कहेंगे । आम्र-कुब्जासन—आम्र-फलवद् वक्राकारा स्थितिः आम्र-कुब्जा-सनमुच्यते । अर्थात् जिस प्रकार आम्र फल वक्राकार होता है उस प्रकार बैठ कर ध्यान करने को आम्र-कुब्जासन कहते हैं ।

इन तीन आसनों से ध्यानस्थ हो जाने को तृतीया भिक्षु-प्रतिमा कहते हैं । सूत्रों के अनुसार इसका आराधन करके आत्म-विकाश करना चाहिए ।

अब सूत्रकार क्रम-प्राप्त ग्यारहवीं प्रतिमा का विषय वर्णन करते हैं :—

एवं अहोराइंदियावि । नवरं छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणिंस्स वा इसिं दोवि पाए साहट्टु वग्घारिय-पाणस्स ठाणं ठाइत्तए सेसं तं चेव जाव अणुपालित्ता भवइ ॥ ११ ॥

एवमहोरात्रिंदिवापि (भवति)। नवरं षष्ठेन भक्तेनापानकेन बहिर्ग्रामस्य वा यावद् राजधान्या वेषद् द्वावपि पादौ संहृत्य प्रलम्बित-पाणेः स्थानं स्थातुम्, शेषं तच्चैव यावदनुपालिता भवति ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इसी प्रकार **अहोराइंदियावि**—एक दिन और रात की प्रतिमा के विषय में भी जानना चाहिए किन्तु **नवरं**—इतना विशेष है कि **छट्ठेणं**—षष्ठ **भत्तेणं**—भक्त के साथ **अप्पाणएणं**—पानी के विना **गामस्स**—ग्राम के **वा**—अथवा **जाव**—यावत् **रायहाणिस्स वा**—राजधानी के **बहिया**—बाहर **इसिं**—थोड़ा सा **दोवि पाए**—दोनों पैर **साहट्टु**—संकुचित कर और **वग्घारिय-पाणस्स**—दोनों भुजाओं को लम्बी कर अर्थात् भुजाओं को जानु तक फैला कर **ठाणं**—कायोत्सर्ग **ठाइत्तए**—करना चाहिए । **सेसं तं चेव**—शेष पूर्ववत् ही जान लेना चाहिए **जाव**—यावत् **अणुपालित्ता**—इस प्रतिमा का निरन्तर पालन करने वाला **भवइ**—होता है ।

मूलार्थ—इसी प्रकार एक रात और दिन की प्रतिमा के विषय में भी जानना चाहिए । इसमें इतना विशेष है कि यह षष्ठ तप से की जाती है और तप कर्म विना पानी के होता है । ग्राम या राजधानी से बाहर जाकर कुछ दोनों पैरों को संकुचित कर और भुजाओं को जानु पर्यन्त लम्बी कर कायोत्सर्ग करना चाहिए । शेष वर्णन पूर्ववत् है । इस प्रकार जितने भी नियम कहे गए हैं उनसे यह प्रतिमा पालन की जाती है ।

टीका—इस सूत्र में ग्यारहवीं प्रतिमा का विषय वर्णन किया गया है ।

यह प्रतिमा आठ प्रहर की होती है। इसकी विधि यह है कि इस में बिना पानी के दो उपवासों के साथ नगरादि से बाहर जाकर और दोनों पैरों को कुछ संकुचित कर जिन-मुद्रा के समान दोनों भुजाओं को जानु पर्यन्त लम्बी कर कायोत्सर्ग करना चाहिए। ध्यान रहे कि ध्यान-वृत्ति जिन-मुद्रा के समान ही हो। बाकी सब प्रकार के उपसर्गों को सहन करते हुए प्रस्तुत प्रतिमा की आराधना करनी चाहिए।

इन प्रतिमाओं में हठ योग का विशेष विधान किया गया है। किन्तु ध्यान का विशेष वर्णन जैन योग-शास्त्र में देखना चाहिए। इस प्रकार क्रियाएं करता हुआ मुनि कौन सी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता ? अपितु वह सब प्रकार की सिद्धियों को अनायास ही प्राप्त कर सकता है, कोई भी सिद्धि उसके लिए असम्भव नहीं है।

इस स्थान पर प्रश्न हो सकता है कि आसन और कायोत्सर्ग का तो वर्णन किया गया है किन्तु सूत्रकार ने ध्यान का वर्णन क्यों नहीं किया ? उत्तर में कहा जाता है कि जैसे आदि और अन्त के वर्णन करने से मध्य का वर्णन किया मान लिया जाता है ठीक उसी तरह आसन और कायोत्सर्ग के वर्णन से ध्यान का वर्णन भी किया हुआ जान लेना चाहिए, क्योंकि ध्यान का मुख्य उद्देश्य ध्येय में लीन होना ही होता है। ध्येय में लीन होने की विधि अन्य शास्त्रों से जान लेनी चाहिए।

अब सूत्रकार क्रम-प्राप्त बारहवीं प्रतिमा का विषय वर्णन करते हैं :—

एग-राइयं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं वोसट्ठ-काए णं जाव अहियासेइ। कप्पइ से णं अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणिंस्स वा इसिं पब्भार-गएणं काएणं, एग-पोग्गल-ठितीए दिट्ठीए, अणिमिसि-नयणे अहापणिहितेहिं गएहिं सव्विंदिएहिं गुत्तिहिं दोवि पाए साहट्टु वग्घा-रिय-पाणिस्स ठाणं ठाइत्तए, तत्थ से दिव्वं माणुस्सं

निक्खिव-जोणिया जाव अहियासेइ । से णं तत्थ उच्चार-पासवणं उप्पाहिज्जा नो से कप्पइ उच्चार-पासवणं उगिण्हित्तए । कप्पइ से पुव्व-पडिलेहियंसि थंडिलंसि उच्चार-पासवणं परिठवित्तए । अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए ।

एक-रात्रिकीं भिक्षु-प्रतिमां प्रतिपन्नः(स्य) अनगारः(स्य) नित्यं व्युत्सृष्ट-कायः(स्य) यावदधिसहेत कल्पते स अष्टमेन भक्तेनापानकेन बहिर्ग्रामस्य वा यावद् राजधान्या वा, ईषत्-प्राग्भार-गतेन कायेनैक-पुद्गल-स्थितया दृष्ट्या, अनिमिष-नयनाभ्याम्, यथाप्रणिहितैर्गात्रैः, सर्वेन्द्रियैर्गुप्तैः, द्वावपि पादौ संहृत्य प्रलम्बित-पाणेः स्थानं स्थातुम् । तत्र स दिव्यं मानुषं तिर्यग्योनिकश्च (उपसर्गम्) अधिसहते । तस्य नु तत्रोच्चार-प्रश्रवण उत्पद्येतां न स कल्पत उच्चारप्रश्रवणेऽवग्रहीतुम् । कल्पते स पूर्व-प्रतिलिखिते स्थण्डिले उच्चार-प्रश्रवणे परिष्ठापयितुम् । यथाविध्येव स्थानं स्थातुम् ।

पदार्थान्वयः—एग-राइयं—एक रात्रि की भिक्खु-पडिमं—भिक्षु-प्रतिमा पडिवन्नस्स—प्रतिपन्न अणगारस्स—अनगार का निच्चं—नित्य वोसट्ठ-काए—शरीर व्युत्सृष्ट होता है । वह जाव—यावत् अहियासेइ—परीषहों को सहन करे । णं—वाक्यालङ्कारे से—वह अट्ठमेणं भत्तेणं—अष्टम भक्त (तेले) के साथ अप्पाणएणं—पानी के विना गामस्स—ग्राम के वा—अथवा रायहाणिस वा—राजधानी के बहिया—बाहर इसिं—थोड़े से पब्भार-गएणं—नम्र कायेणं—शरीर से एग-पोग्गल—एक पुद्गल पर ठितीए—स्थित दिट्ठीए—दृष्टि से अणिमिस-नयणे—अनिनिष नयनों से अहापणिहितेहिं—यथा प्रणिहित गएहिं—गात्रों से सव्विंदिएहिं गुत्तिहिं—सब इन्द्रियों को गुप्त रखकर दोवि—दोनों पाए—पैरों को साहट्टु—संकुचित कर वग्घारिय-पाणिस्स—

भुजाओं को लम्बी कर **ठाणं ठाइत्तए**–कायोत्सर्ग करना चाहिए । यदि **से**–उसको **तत्थ**–वहां **दिव्वं**–देव सम्बन्धी **माणुस्सं**–मनुष्य सम्बन्धी **तिरिक्खजोणिया**–तिर्यग्योनि सम्बन्धी उपसर्ग उत्पन्न हो जायं तो **जाव**–जितने भी वे हों उनको **अहिया-सेइ**–सहन करे **णं**–वाक्यालङ्कारे । यदि **से**–उसको **तत्थ**–वहां **उच्चार-पासवणं**–मल-मूत्र की शङ्का **उप्पाहिज्जा**–उत्पन्न हो जाय तो **से**–उसको **उच्चार-पासवणं**–मल-मूत्र को **उगिण्हित्तए**–रोकना **णो कप्पइ**–योग्य नहीं । किन्तु **से**–उसको **पुव्व-पडि-लेहियंसि**–पूर्व प्रतिलिखित **थंडिलंसि**–स्थण्डिल पर **उच्चार-पासवणं**–मल-मूत्र का **परिठवित्तए**–उत्सर्ग करना **कप्पइ**–योग्य है । शौचादि से निवृत्त होकर फिर **अहा-विहिमेव**–विधि पूर्वक **ठाणं ठाइत्तए**–कायोत्सर्ग करना चाहिए ।

मूलार्थ—एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को शरीर का मोह नहीं होता । वह सब परीषहों को सहन करता है । वह बिना पानी के अष्ट-भक्त का पालन करता है और ग्राम या राजधानी के बाहर जाकर शरीर को थोड़ा सा आगे की ओर झुका कर एक पुद्गल पर दृष्टि रखते हुए अनिमेष नेत्रों से, निश्चल अङ्गों से, सब इन्द्रियों को गुप्त रखकर दोनों पैरों को संकुचित कर भुजाओं को लम्बी करके कायोत्सर्ग (ध्यान) करता है । उसको वहां पर देव, मानुष और तिर्यग्योनि सम्बन्धी जितनी भी बाधाएं उत्पन्न हो जायं उनको सहन करना चाहिए । यदि उसको वहां मल-मूत्र की शङ्का उत्पन्न हो जाय तो उसको रोकना नहीं चाहिए, प्रत्युत किसी पूर्व अन्विष्ट (ढूंढ हुए) स्थान पर उनका त्याग कर फिर आसन पर आकर विधिपूर्वक कायोत्सर्गादि क्रियाओं में लग जाना उचित है ।

टीका—इस सूत्र में बारहवीं प्रतिमा का विषय वर्णन किया गया है । यह प्रतिमा केवल एक रात्रि की होती है । इस प्रतिमा वाले भिक्षु को शरीर सम्बन्धी सब मोह त्याग देना चाहिए और जितने परीषह हैं उनको सहन करना चाहिए । फिर नगर या राजधानी के बाहर जाकर एक पुद्गल पर दृष्टि जमाकर शरीर को थोड़ा सा झुकाकर, दोनों पैरों को संकुचित कर, दोनों भुजाओं को जानु पर्य्यन्त लम्बी करके कायोत्सर्ग (ध्यान) करना चाहिए । उसको वहां देव, मानुष या तिर्यग्योनि सम्बन्धी जितने भी उपसर्ग उत्पन्न हों उनको सहन करना चाहिए ।

यदि उसको मल-मूत्र सम्बन्धी शङ्का उत्पन्न हो जाय तो उनका निरोध करना उचित नहीं । उसको चाहिए कि वह किसी पहले ढूंढे हुए स्थान पर उन (मल-मूत्र) का परित्याग कर फिर अपने स्थान पर आकर पूर्ववत् कायोत्सर्गादि क्रियाओं में दत्त-चित्त हो जाय । यदि मल-मूत्र का निरोध किया जायगा तो उससे अनेक रोग उत्पन्न हो जायंगे । प्रतिमा को धारण करते हुए मुनि को उत्साह-युक्त होना चाहिए, क्योंकि उत्साह-युक्त व्यक्ति ही इसमें सफल हो सकता है, दूसरा नहीं ।

एक पुद्गल पर दृष्टि लगाने से सूत्रकार का तात्पर्य यह है कि अनिमिष नयनों से अन्य सब ओर से दृष्टि हटाकर अभीष्ट पुद्गल पर—नासिका के अग्रभाग पर या पैरों के नखों पर दृष्टि जमाकर ध्यान में लगना चाहिए । इससे बाह्य दृष्टि का निरोध हो जायगा और अन्तर्दृष्टि भी ध्येय में लीन हो जायगी । इससे ध्याता और ध्यान अपनी सत्ता को छोड़कर ध्येय-मय ही हो जायंगे और ध्याता को पूर्ण समाधि हो जायगी, क्योंकि जब तक ध्याता, ध्यान और ध्येय में पृथक्त्व-बुद्धि होगी तब तक एकचित्त न होने से कदापि समाधि प्राप्त नहीं हो सकती । जिस प्रकार अध्येता, अध्यापक और अध्ययन—इन तीनों में से अध्येता में ही सब कुछ आ जाता है अर्थात् अध्यापक से अध्ययन प्राप्त कर स्वयं अध्येता जिस प्रकार अध्यापक हो जाता है, इसी प्रकार ध्याता, ध्येय और ध्यान के विषय में भी जानना चाहिए । समाधि-युक्त आत्मा ध्याता, ध्येय और ध्यान—इन तीनों के पृथक्त्व को खो कर केवल ध्येय स्वरूप ही हो जाता है । मुनि को पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान से ही समाधि लगानी चाहिए ।

वक्ष्यमाण सूत्र में प्रतिपादन किया जाता है कि इस बारहवीं प्रतिमा के ठीक पालन न करने से कौन २ दोष होते हैं :—

एग-राइयं भिक्खु-पडिमं अणणुपालेमाणस्स अण-गारस्स इमे तओ ठाणा अहियाए, असुभाए, अक्खमाए, अणिस्सेस्साए, अणाणुगामियत्ताए भवइ । तं जहा—उम्मायं वा लभेज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं

वा पाउणेज्जा, केवलि-पण्णत्ताओ धम्माओ भंसिज्जा ।

एक-रात्रिकीं भिक्षु-प्रतिमामननुपालयतोऽनगारस्येमानि त्रीणि स्थानान्यहिताय, अशुभाय, अक्षमायै, अनिःश्रेयसाय, अननुगामिकतायै भवन्ति । तद्यथा—उन्मादं वा लभेत, दीर्घ-कालिकं वा रोगान्तकं प्राप्नुयात्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् धर्माद् वा भ्रस्येत् ।

पदार्थान्वयः—**एग-राइयं**—एक रात्रि की **भिक्खु-पडिमं**—भिक्षु-प्रतिमा को **अणणुपालेमाणस्स**—ठीक प्रकार से पालन न करने वाले **अणगारस्स**—भिक्षु को **इमे**—ये **तओ**—तीन **ठाणा**—स्थान **अहियाए**—अहित के लिए **असुभाए**—अशुभ के लिए **अक्खमाए**—अक्षमा के लिए **अणिसेस्साए**—अकल्याण के लिए **अणाणुगामियत्ताए**—आगामी काल के सुख के लिए नहीं **भवइ**—होते हैं । **तं जहा**—जैसे—**उम्मायं वा लभेज्जा**—उन्माद की प्राप्ति करे **दीहकालियं**—दीर्घकालिक **रोगायंकं**—रोगान्त की **पाउणेज्जा**—प्राप्ति करे तथा **केवलि-पण्णत्ताओ**—केवली से भाषित **धम्माओ**—धर्म से **भंसेज्जा**—भ्रष्ट हो जाय ।

मूलार्थ—एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा का सम्यक्तया पालन न करने वाले अनगार को ये तीन स्थान अहित के लिए, अशुभ के लिए, अक्षमा के लिए, अमोक्ष के लिए और आगामी काल के दुःख के लिए होते हैं । जैसे—उन्माद की प्राप्ति हो जाय, दीर्घ-कालिक रोगान्तक की प्राप्ति हो जाय तथा वह केवली-भाषित धर्म से भ्रष्ट हो जाय ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि यदि भिक्षु बारहवीं भिक्षु-प्रतिमा का सम्यक्तया आराधन न करे तो उसको वक्ष्यमाण तीन स्थान अहित, अशुभ, अक्षमा, अमोक्ष तथा आगामी काल में दुःख के लिए होते हैं । देवादि के अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्गादि के होने से उन्माद की प्राप्ति हो जाती है या दीर्घकाल तक रहने वाले रोगान्तक की प्राप्ति हो जाती है अथवा वह श्री केवली के प्रतिपादित धर्म से पतित हो जाता है । जो भिक्षु अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट

हो जाता है वह श्रुत या चारित्र-रूप धर्म से भी पतित हो जाता है । अतः प्रतिमा का सम्यक्तया पालन न करने से उपर्युक्त तीन दोषों की अवश्य ही प्राप्ति हो जाती है ।

'तओ' और 'ठाणा' इन शब्दों का नपुंसक लिङ्ग होते हुए पुँल्लिङ्ग में प्रयोग किया गया है, किन्तु प्राकृत होने के कारण इसमें किसी प्रकार दोषापत्ति नहीं ।

अब सूत्रकार वर्णन करते हैं कि यदि इस प्रतिमा का सम्यक्तया पालन किया जाय तो किन २ गुणों की प्राप्ति होती है :—

एग-राइयं भिक्खु-पडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणा हियाए, सुहाए, खमाए, निस्सेस्साए, अणुगामियत्ताए भवंति । तं जहा—ओहि-नाणे वा से समुपज्जेज्जा, मनपज्जव-नाणे वा से समुपज्जेज्जा, केवल-नाणे वा से असमुपन्न-पुव्वे समुपज्जेज्जा । एवं खलु एसा एग-राइया भिक्खु-पडिमा अहासुयं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं सम्मं काएण फासित्ता, पालित्ता, सोहित्ता, तीरित्ता, किट्टित्ता, आराहित्ता आणाए अणुपालित्ता यावि भवति ॥ १२ ॥

एक-रात्रिकीं भिक्षु-प्रतिमां सम्यगनुपालयतोऽनगारस्ये-मानि त्रीणि स्थानानि हिताय, शुभाय, क्षमायै, निःश्रेयसाय, अनुगामिकतायै भवन्ति । तद्यथा—अवधि-ज्ञानं वा तस्य समुत्प-द्येत, मनःपर्यव-ज्ञानं वा तस्य समुत्पद्येत, केवल-ज्ञानं वा तस्यासमुत्पन्न-पूर्वं समुत्पद्येत । एवं खल्वेषैक-रात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा यथासूत्रं, यथाकल्पं, यथामार्गं, यथातत्त्वं सम्यक्

कायेन स्पृष्टा, पालिता, शोधिता, तीर्णा, कीर्तिता, आराधिताज्ञयानुपालिता चापि भवति ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—**एग-राइयं**–एक रात्रि की **भिक्खु-पडिमं**–भिक्षु-प्रतिमा को **सम्मं**–अच्छी तरह **अणुपालेमाणस्स**–पालन करते हुए **अणगारस्स**–अनगार को **इमे**–ये वक्ष्यमाण **तओ**–तीन **ठाणा**–स्थान **हियाए**–हित के लिए **सुहाए**–सुख के लिए **खमाए**–शक्ति के लिए **अणुगामियत्ताए**–भविष्य में सुख के लिए और **निसेस्साए**–कल्याण के लिए **भवंति**–होते हैं, **तं जहा**–जैसे **ओहि-नाणे**–अवधि-ज्ञान **से**–उसको **समुपज्जेज्जा**–उत्पन्न हो जाता है **वा**–अथवा **मणपज्जव-नाणे**–मनः-पर्यव-ज्ञान **से**–उसको **समुपज्जेज्जा**–उत्पन्न हो जाय **वा**–अथवा **केवल-नाणे**–केवल-ज्ञान **असमुपन्नपुव्वे**–जो पहले नहीं **से**–उसको **समुपज्जेज्जा**–उत्पन्न हो जायगा **एवं**–इस प्रकार **खलु**–निश्चय से **एसा**–यह **एग-राइया**–एक रात्रि की **भिक्खु-पडिमा**–भिक्षु-प्रतिमा **अहासुयं**–सूत्रों के अनुसार **अहाकप्पं**–प्रतिमा के आचार के अनुसार **अहामग्गं**–प्रतिमा के ज्ञानादि मार्ग के अनुसार **अहातच्चं**–तत्त्व के अनुसार अथवा **सम्मं**–अच्छी तरह **काएणं**–शरीर से **फासित्ता**–स्पर्श करते हुए **पालित्ता**–पालन की हुई **सोहित्ता**–शोधन की हुई **तीरित्ता**–समाप्त की हुई **किट्टित्ता**–कीर्तन की हुई **आराहित्ता**–आराधन की हुई **आणाए**–आज्ञा से **अणुपालित्ता यावि भवति**–निरन्तर पालन की जाती है।

मूलार्थ—एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा का अच्छी तरह से पालन करते हुए मुनि को ये तीन स्थान हित, सुख, शक्ति, मोक्ष और अनुगामिता के लिए होते हैं। जैसे—उसको अवधि-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है अथवा मनःपर्यव-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है अथवा पूर्व अनुत्पन्न केवल-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार यह एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा जिस प्रकार सूत्रों में कही गई है, इसके आचार और ज्ञानादि मार्ग के अनुसार यथातथ्य रूप से सम्यक् काय से स्पर्श, पालन, शोधन, पूर्ण, कीर्तन और आराधन की जाती हुई श्री भगवद् आज्ञा से निरन्तर पालन की जाती है।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि जो भिक्षु इस बारहवीं प्रतिमा का सम्यक्तया आराधन करता है उसको तीन अमूल्य पदार्थों की प्राप्ति

होती है। वह अवधि-ज्ञान, मनःपर्यव-ज्ञान और केवल-ज्ञान इन तीनों में से एक गुण को तो अवश्य प्राप्त करता है, क्योंकि इस प्रतिमा में वह महान् कर्म-समूह का क्षय करता है, अतः यह प्रतिमा हित के लिए, शुभ कर्म के लिए, शक्ति के लिए मोक्ष के लिए या आगामी काल में साथ जाने वाले ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए होती है। इस प्रतिमा का विधान इनकी प्राप्ति अथवा पूर्वोक्त तीन ज्ञानों की प्राप्ति के लिए ही किया गया है।

इस प्रकार यह एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा सूत्रों के कथनानुसार, इसके आचार और ज्ञानादि मार्ग के अनुसार और जो कुछ भी इसके क्षयोपशम भाव हैं उनसे युक्त यथातथ्य है। इसको अच्छी तरह से शरीर द्वारा आसेवन, उपयोग पूर्वक पालन, अतिचारों से शुद्ध और अवधि काल तक पूर्ण करते हुए तथा पारणादि दिनों में इसका संकीर्तन और श्रुत द्वारा आराधन करते हुए श्रीभगवान् की आज्ञा से अनुपालन करना चाहिए। क्योंकि इस प्रतिमा से आत्मा अभीष्ट कार्य की सिद्धि अवश्य कर लेता है। इस कथन से हठ-योग या राज-योग की पूर्ण सिद्धि की गई है।

अब सूत्रकार प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए कहते हैं :—

एयाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं बारस भिक्खु-पडिमाओ पण्णत्ता त्ति बेमि।

इति भिक्खु-पडिमा णामं सत्तमी दसा समत्ता।

एताः खलु ताः स्थविरैर्भगवद्भिर्द्वादश भिक्षु-प्रतिमाः प्रज्ञप्ता इति ब्रवीमि।

इति भिक्षु-प्रतिमा नाम सप्तमी दशा समाप्ता।

पदार्थान्वयः—**एयाओ**—ये **खलु**—निश्चय से **ताओ**—वे **थेरेहिं**—स्थविर **भगवंतेहिं**—भगवन्तों ने **बारस**—बारह **भिक्खु-पडिमा**—भिक्षु-प्रतिमाएं **पण्णत्ताओ**—प्रतिपादन की हैं **त्ति बेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूं। **इति**—इस तरह **भिक्खु-पडिमा**—भिक्षु-प्रतिमा **णामं**—नाम की **सत्तमी**—सप्तमी **दसा**—दशा **समत्ता**—समाप्त हुई।

मूलार्थ—ये निश्चय से स्थविर भगवन्तों ने बारह भिक्षु-प्रतिमाएं प्रतिपादन की हैं इस प्रकार मैं कहता हूं । इस प्रकार भिक्षु-प्रतिमा नाम सातवीं दशा समाप्त हुई ।

टीका—इस सूत्र में प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि यही बारह भिक्षु-प्रतिमाएं स्थविर भगवन्तों ने प्रतिपादन की हैं, इस प्रकार मैं कहता हूं ।

यद्यपि अङ्ग सूत्रों में इन प्रतिमाओं का विधान होने से ये सब अर्हन्-भाषित हैं तथापि स्थविर भगवन्तों को 'जिन' के समान-भाषी सिद्ध करने के लिए ही उक्त कथन किया गया है । स्थविर वे ही होते हैं जो 'जिन' के कहे हुए सिद्धान्तों के अनुसार चलते हैं ।

श्री सुधर्म्मा स्वामी जी श्री जम्बू स्वामी जी से कहते हैं—"हे शिष्य ! जिस प्रकार मैंने श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी जी के मुखारविन्द से इस दशा का अर्थ श्रवण किया उसी प्रकार तुम से कहा है, किन्तु अपनी बुद्धि से मैंने कुछ भी नहीं कहा ।"

सप्तमी दशा समाप्ता ।

अष्टमी दशा

सातवीं दशा में भिक्षु की बारह प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है। प्रतिमा समाप्त करने के अनन्तर मुनि को वर्षा ऋतु में निवास के योग्य क्षेत्र की गवेषणा करनी पड़ती है। उचित स्थान प्राप्त कर उसको सारी वर्षा ऋतु वहीं पर व्यतीत करनी पड़ती है, इस दशा में इसी सम्बन्ध में कुछ कहेंगे, अतः इसका नाम 'पर्युषणा कल्प' रखा गया है। क्योंकि यह चार महीने के लिए एक प्रकार से निश्चित निवास-स्थान बन जाता है, अतः 'पर्युषणा' (परितः–सामस्त्येन, उषणा–वासः) यह नाम चरितार्थ भी होता है।

जब एक स्थान पर चातुर्मास-निवास प्रारम्भ होता है तो एक मास और बीस रात्रि के अनन्तर एक 'संवत्सरी पर्व' आता है, उस संवत्सरी पर्व में आठ दिनों की 'पर्युषणा' संज्ञा मानी जाती है। आज कल की प्रथा के अनुसार उन दिनों में श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अथवा अन्य तीर्थङ्करों के पवित्र जीवन चरित्रों का अध्ययन किया जाता है। इस दशा में श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी जी के जन्मादि कल्याण जिस २ नक्षत्र में हुए हैं उनका वर्णन किया गया है। यहां केवल जिस नक्षत्र में जो कल्याण हुआ है उसकी सूचना मात्र दी गई है। इसका विस्तृत वर्णन अन्य शास्त्रों से जान लेना चाहिए। श्रोता और पाठकों को श्रीभगवान् के कल्याणों से अवश्य शिक्षा लेनी चाहिए।

अब सूत्रकार इस दशा का आदिम सूत्र कहते हैं:—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणं भगवं महावीरे

पंच हत्थुत्तरा होत्था, तं जहा—हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते ॥१॥ हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए ॥२॥ हत्थुत्तराहिं जाए ॥३॥ हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए ॥४॥ हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवल-वरनाण-दंसणे समुप्पण्णे ॥५॥ साइणा परिनिव्वुए भगवं जाव भुज्जो उवदंसेति त्ति बेमि ।

इति पज्जोसणं नाम अट्ठमी दसा समत्ता ।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य पञ्च हस्तोत्तरा अभूवन् । तद्यथा—हस्तोत्तरे च्युतश्च्युत्वा गर्भेऽवक्रान्तः ॥१॥ हस्तोत्तरे गर्भाद् गर्भं संहृतः ॥२॥ हस्तोत्तरे जातः ॥३॥ हस्तोत्तरे मुण्डो भूत्वा आगारादनगारितां प्रव्रजितः ॥४॥ हस्तोत्तरेऽनन्तमनुत्तरं निर्व्याघातं निरावरणं कृत्स्नं प्रतिपूर्णं केवल-वरज्ञान-दर्शनं समुत्पन्नम् ॥५॥ स्वातिना परिनिर्वृत्तो भगवान् यावद् भूय उपदर्शयति, इति ब्रवीमि ।

इति पर्युषणा नामाष्टमी दशा समाप्ता ।

पदार्थान्वयः—तेणं कालेणं—उस काल और तेणं समएणं—उस समय समणे—श्रमण भगवं—भगवान् महावीरे—महावीर स्वामी के पंच हत्थुत्तरा होत्था—पांच कल्याण उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुए । तं जहा—जैसे हत्थुत्तराहिं चुए—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में देव लोक से च्युत हुए फिर चइत्ता—च्युत होकर गब्भं वक्कंते—गर्भ में उत्पन्न हुए हत्थुत्तराहिं—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में गब्भाओ—गर्भ से

गब्भं–गर्भ में **साहरिए**–संहरण किये गए **हत्थुत्तराहिं जाए**–उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न हुए **हत्थुत्तराहिं**–उत्तराफाल्गुनी में **मुंडे भवित्ता**–मुण्डित होकर **आगाराओ**–घर से **अणगारियं**–साधु-वृत्ति में **पव्वइए**–प्रव्रजित हुए अर्थात् साधु-वृत्ति ग्रहण की **हत्थुत्तराहिं**–उत्तराफाल्गुनी में **अणंते**–अनन्त **अणुत्तरे**–प्रधान **निव्वाग्घाए**–निर्व्याघात **निरावरणे**–निरावरण **कसिणे**–सम्पूर्ण **पडिपुण्णे**–प्रतिपूर्ण **वर**–प्रधान **केवल नाणे**–केवल ज्ञान **दंसणे**–केवल दर्शन **समुप्पण्णे**–समुत्पन्न हुआ । **भगवं**–भगवान् **साइणा**–स्वाति नक्षत्र में **परिनिव्वुए**–मोक्ष को प्राप्त हुए **जाव**–यावत् **भुज्जो**–पुनः २ **उपदंसेति**–उपदर्शित किया गया है । **त्ति बेमि**–इस प्रकार मैं कहता हूं । **इति**–इस प्रकार **पज्जोसणा नाम**–पर्युषणा नाम्नी **अट्ठमी**–अष्टमी **दसा**–दशा **समत्ता**–समाप्त हुई ।

मूलार्थ—उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पांच कल्याण उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुए । जैसे–उत्तराफाल्गुनी में देव-लोक से च्युत होकर गर्भ में उत्पन्न हुए, उत्तराफाल्गुनी में गर्भ से गर्भ में संहरण किये गए, उत्तराफाल्गुनी में जन्म हुआ, उत्तराफाल्गुनी में मुण्डित होकर घर से अनगारिता (साधु-वृत्ति) ग्रहण की और उत्तराफाल्गुनी में ही अनन्त, प्रधान, निर्व्याघात, निरावरण, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त किये । भगवान् स्वाति नक्षत्र में मोक्ष को प्राप्त हुए । इसका पुनः २ उपदेश किया गया है । इस प्रकार मैं कहता हूं । पर्युषणा नाम वाली आठवीं दशा समाप्त हुई ।

टीका—आठवीं दशा में पर्युषणा कल्प का वर्णन किया गया है क्योंकि जब आठ मास पर्यन्त विहार हो चुकता है तो वर्षा ऋतु के आजाने पर उसको व्यतीत करने के लिए मुनि को किसी ग्राम या नगर में ठहर जाना होता है । उसका ही यहां पर श्रीभगवान् महावीर स्वामी के पांच कल्याणों के नक्षत्रों के नाम-संकीर्तन के संकेत से वर्णन किया गया है । इस समय अपनी क्रियाओं की पूर्णतया पूर्ति करनी चाहिए । इसीलिए इस दशा का नाम 'पर्युषणा कल्प' रखा गया है । इस समय 'जिन' चरित्रादि का अध्ययन अवश्यमेव करना चाहिए ।

सामान्यतः इस सूत्र में इतना ही कहा गया है कि अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरक के अन्त में और निर्विभाज्य (काल-विभाग) समय में श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पांच कल्याण उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुए ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'भगवन्' शब्द का वास्तव में क्या अर्थ है ? उत्तर में कहा जाता है कि 'भग' शब्द के चौदह अर्थ हैं, जिन में बारह तो 'मतुप्' प्रत्यय के लगने से सिद्ध होते हैं और अवशिष्ट दो अर्थ श्रीभगवान् के साथ लगते ही नहीं हैं। वे अर्थ हैं: —अर्क, ज्ञान, माहात्म्य, यश, वैराग्य, मुक्ति, रूप, वीर्य, प्रयत्न, इच्छा, श्री, धर्म, ऐश्वर्य और योनि। इन चौदह में से 'अर्क' और 'योनि' को छोड़ कर बाकी सब गुणों से युक्त भगवान् होते हैं। किन्तु यदि अर्क (सूर्य) की उपमा दी जावे तो वह भी भगवान् का विशेषण बन सकता है। 'मतुप्' प्रत्यय इससे होता ही नहीं है।

कोई २ श्री भगवान् महावीर स्वामी के छः कल्याण मानते हैं। उनका कथन है कि भगवान् का गर्भ संहरण भी उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही हुआ था। अतः यह भी कल्याण ही है। किन्तु उनका यह कथन युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि यदि इस प्रकार माना जाय तो श्री ऋषभदेव भगवान् के भी छः ही कल्याण माने जाएंगे जैसे 'पंच उत्तरासाढे अभीइ छट्ठे होत्था' इस सूत्र से स्पष्ट प्रतीत होता है। जिस प्रकार नक्षत्र की समता से राज्याभिषेक भी ग्रहण किया गया है ठीक उसी प्रकार इस स्थान पर भी नक्षत्र की समता से गर्भ-संहरण का भी पाठ किया गया है। अतः जिस प्रकार श्री ऋषभदेव भगवान् के छः कल्याण नहीं माने जाते इसी प्रकार श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के भी छः कल्याण नहीं माने जा सकते। दूसरे में जो बात नीच गोत्र-कर्म के प्रभाव से संसार में ही आश्चर्य की दृष्टि से देखी जाती है, वह भला कल्याण-रूप किस प्रकार मानी जा सकती है, तथा जिस बात को शास्त्रकार आश्चर्य रूप मानते हैं उसको यदि जनता भी विस्मय की दृष्टि से देखे तो इसमें आश्चर्य ही कौनसा है। अतः इस कथन में अधिक प्रयत्न-शील होना ठीक नहीं है। अतः यह सिद्ध हुआ कि श्री भगवान् के पांच ही कल्याण मानने युक्ति-संगत हैं। जैसे—(१) आषाढ़ शुदि षष्ठी को गर्भ में आना (२) चैत्र शुदि त्रयोदशी को जन्म (३) प्रव्रज्या-गहण (४) मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी को केवल ज्ञान और (५) कार्त्तिकी अमावस्या को मोक्ष। इस सूत्र में सूत्र-कर्ता ने इस प्रकार संक्षेप में श्री भगवान्महावीर स्वामी की सारी जीवन-यात्रा का कथन कर दिया है। जैसे :—

(१) गर्भ में आने से सब गर्भाधान आदि संस्कारों के विषय में जानना चाहिए।

(२) जन्म होने से जन्म की महिमा का सम्पूर्ण विषय जानना चाहिए।

(३) दीक्षा से दीक्षा तक के सम्पूर्ण जीवन का वृत्तान्त जानना चाहिए।

(४) केवल ज्ञान से सारी साधु-वृत्ति और श्री भगवान् की विहार चर्या आदि के ठीक होने के अनन्तर केवल ज्ञान की प्राप्ति के विषय में जानना चाहिए।

(५) निर्वाण से केवल ज्ञान से लेकर निर्वाण-पद की प्राप्ति पर्यन्त सारी चर्या जाननी चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि इन पांच कल्याणों में श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का सारा जीवन-चरित्र सूत्र रूप से वर्णन किया गया है।

इसी आशय को लेकर और इसी अध्याय के आधार पर 'कल्पसूत्र' का निर्माण किया गया है और 'आचाराङ्ग' के पन्द्रहवें अध्याय में भी इसी विषय का वर्णन किया गया है। श्री भगवान् तीस वर्ष की अवस्था तक गृहस्थ में, साढ़े बारह वर्ष छद्मावस्था में, तीस वर्ष से कुछ कम केवली के पर्याय में रहे और पूरे बहत्तर वर्ष की आयु भोग कर निर्वाण-पद को प्राप्त हुए।

यहां शङ्का होती है कि आषाढ़ शुदि षष्ठी को गर्भ-प्रवेश, चैत्र शुदि त्रयोदशी को जन्म और कार्त्तिकी अमावास्या को निर्वाण हुआ इससे बहत्तर वर्ष की आयु तो सिद्ध नहीं होती फिर यह क्योंकर मान लिया जाय कि श्री भगवान् की बहत्तर वर्ष की ही आयु हुई ? इसके समाधान में मुझे एक हस्त-लिखित पत्र प्राप्त हुआ है। वह मिश्रित भाषा में लिखा हुआ है। उसमें यह विषय बिलकुल स्पष्ट किया है। पाठकों की सुविधा और निश्चय के लिए उसकी प्रतिकृति (नकल) यहां दी जाती है:—

"श्री भगवान् वीर वृद्ध मान स्वामी रो आयू ७२ बरस कह्यो। आसाढ सुदी ६ गर्भ कल्याणक थयो, कातिग वदी १५ निर्वाण कल्याणक थयो तो ७२ बरस किम आया। तिणरो विचार। आउषो गर्भ दिन थीगिणवो सिधांत में कह्यो छै। अने आदित्य संवत्सर थकी आयु गिणीए। 'आइच्चेण य आय' इति पाठ ज्योतिष्करंड सिधान्त नो वचन छै। अने कल्याणिक स्थिति ऋतु संवत्सर लेखै लेवी। इमपिण ज्योतिष्करंड में कह्यो छइ। हिवइ आदित्य संवत्सर दिन ३६६ होइ, ऋतु संवत्सर दिन ३६० होइ, चन्द्र संवत्सर दिन ३५४ होइ। अनइ ५ वरसे एक युग होइ, आदित्य संवत्सर रा एक जुग मोहिं १८३० दिन होइ, अने

ऋतु संवत्सर रा १८०० दिन होइ, तिणें आदित्य संवत्सर रा जुग मांही १ मास थाकता ऋतु संवत्सर रो युग लागे। हिवे ऋतु संवत्सर रा चौथा मास ग्रीष्म काल मांहि आसाढ सुदि ६ दिन चवन कल्याण हुवो, इहा थी आदित्य संवच्छर रै लेषे ७२ वरषे संवच्छर रा कातिग वदी अमावस्य दिने निर्वाण पोहता ते इम ७० वरषे १४ युग हुवा, ते ऋतु संवच्छर रे १४ युगारे लेषै १४ मास वधता ऋतु संवत्सर थी आसाढ सुदि ६ थी १४ मासे भाद्रवा सुदि ६ हुइ, पिण आदित्य संवत्सर पूर्ण होता १ मास उरे ऋतु संवत्सर लागै, सो पूठे लिष्यो भादवा सुदि ६ ने लेषइ आसु सुदि ६ हूई, हिवे इहां थी दुजे चन्द्र संवत्सरे निर्वाण हुवो, ते 'दुच्चे चंद संवच्छरे' ए कल्प सूत्र नो पाठ छै, इहां चंद्र संवच्छर रा ३५४ दिन हुवे, एह थी १२ दिन आदित्य संवच्छर पूर्णति वारै २ चंद्र संवच्छरना २४ दिन वधता लेण ते आसु सुदी ६ थी, २४ दिने कातिग वदि अमावस्य हूइ, ते अमावस्यें निर्वाण इति ७२ वरस आयु समाधान इति।"

इस लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्री भगवान् की बहत्तर वर्ष की आयु हुई।

यदि कोई पूछे कि 'उत्तराफाल्गुनी' के स्थान पर 'हत्थोत्तरा' क्यों लिखा गया है तो समाधान में कहना चाहिए "हस्तादुत्तरस्यां दिशि वर्तमानत्वात्, हस्त उत्तरो वा यासां ताः हस्तोत्तराः–उत्तराफाल्गुन्यः" अर्थात् हस्त से पूर्व और चन्द्र के साथ उत्तर दिशा में योग जोड़ने से उत्तराफाल्गुनी का नाम ही 'हस्तोत्तरा' है, 'अर्द्धमागधी' कोश में भी लिखा है:—

हत्थुत्तरा–स्त्री० (हस्तोत्तरा) उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र जो हस्त नक्षत्र के बाद आता है, समय-भाषा में उत्तराफाल्गुनी के स्थान 'हस्तोत्तरा' ही प्रयुक्त होता था।

इस प्रकार इस दशा में श्री वीर प्रभु का संक्षेप से जीवन का दिग्दर्शन कराया गया है। विस्तार पूर्वक जीवन-चरित्र अन्य जैन ग्रन्थों से जानना चाहिए। प्रत्येक मुनि को 'पर्युषणा कल्प' में रहते हुए उचित वृत्ति के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए, जिससे सम्यग्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र की आराधना करते हुए निर्वाण-पद की प्राप्ति हो सके।

इस प्रकार श्री सुधर्म्मा स्वामी श्री जम्बू स्वामी से कहते हैं "हे जम्बु

स्वामिन्! जिस प्रकार मैंने श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी जी के मुख से इस दशा का अर्थ श्रवण किया है, उसी प्रकार तुम से कहा है। अपनी बुद्धि से मैंने कुछ नहीं कहा।"

अष्टमी दशा समाप्ता।

नवमी दशा

आठवीं दशा में 'पर्युषणा कल्प' का वर्णन किया है । प्रत्येक मुनि को इसका आराधन उचित रीति से करना चाहिए । जो ऐसा नहीं करता वह मोहनीय कर्मों की उपार्जना करता है । इस दशा में जिन ३० कारणों से मोहनीय-कर्म-बन्ध होता है उन्हीं का वर्णन किया जाता है । मुनि को उन कारणों के स्वरूप को जान कर उनसे सदा पृथक् रहने का प्रयत्न करना चाहिए । मोहनीय (मोहयत्यात्मानं मुह्यत्यात्मा वानेन) वह कर्म है जो आत्मा को मोहता है अथवा जिसके द्वारा आत्मा मोह में फंसता है । अर्थात् जिस कर्म के परमाणुओं के संसर्ग से आत्मा विवेक-शून्य और मूक हो जाता है उसीको मोहनीय कर्म कहते हैं । जिस प्रकार मादक द्रव्यों के आसेवन से आत्मा प्रायः अपने विवेक और चेतना को खो बैठता है इसी प्रकार मोहनीय कर्म के प्रभाव से भी आत्मा धार्मिक क्रियाओं से शून्य होकर विवेक के अभाव से चतुर्गति में परिभ्रमण करने लगता है । इस कर्म का बन्ध-काल उत्कृष्ट सत्तर कोटा-कोटि सागर के समान है । यह कर्म सब से प्रधान कर्म है । अतः प्रत्येक को इससे बचने का प्रयत्न करना चाहिए । इससे बचने के लिए चेतन करने को सूत्रकार ने इस दशा की रचना की है ।

इसका पहला सूत्र यह है :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नाम नयरी होत्था । वण्णओ पुण्णभद्दे नाम चेइए वण्णओ कोणियराया

धारिणी देवी । सामी समोसढे परिसा निग्गया धम्मो कहिओ परिसा पडिगया ।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये चम्पा नाम नगर्यभूत् । वर्ण्यं पुण्यभद्रं नाम चैत्यम् । वर्ण्यः कोणिको राजा धारिणी देवी । स्वामी समवसृतः परिषन्निर्गता । धर्मः कथितः परिषत्प्रतिगता ।

पदार्थान्वयः—**तेणं कालेणं**—उस काल और **तेणं समएणं**—उस समय **चंपा नाम**—चंपा नाम वाली **नयरी**—नगरी **होत्था**—थी **वण्णओ**—वर्णन करने योग्य है **पुण्णभद्दे नाम**—(उस नगरी के बाहर का) पुण्यभद्र नाम का **चेइए**—चैत्य (यक्षायतन) **कोणियराया**—उस नगरी में कोणिक राजा राज्य करता था और उसकी **धारणी देवी**—धारणी नाम की राजमहिषी थी **वण्णओ**—उनका वर्णन करना चाहिए **सामी समोसढे**—भगवान् महावीर स्वामी पूर्णभद्र चैत्य में विराजमान हो गए **परिसा**—परिषत् **निग्गया**—नगरी से निकल कर भगवान् के पास उपदेश सुनने के लिए गई **धम्मो**—श्री भगवान् ने धर्म **कहिओ**—कथन किया **परिसा**—परिषत् धर्म-कथा सुनकर **पडिगया**—अपने स्थान को चली गई ।

मूलार्थ—उस काल और उस समय में चम्पा नाम की एक नगरी थी । उसके बाहर पुण्यभद्र नाम का एक चैत्य (बाग) था । उस नगरी में कोणिक नाम का राजा राज्य करता था । उसकी धारणी नाम की महिषी (पट्टरानी) थी । श्री भगवान् (चैत्य में) विराजमान हुए । परिषत् भगवान् के पास (उपदेश सुनने) गई । भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया और परिषत् अपने स्थान को लौट गई ।

टीका—इस सूत्र में संक्षेप से इस दशा का उपोद्घात वर्णन किया गया है । चतुर्थ आरक के अन्त में एक चम्पा नाम की नगरी थी। उसके बाहर ईशान कोण में पुण्यभद्र नाम का एक उद्यान था । उसमें पुण्यभद्र नाम के एक यक्ष का आयतन भी था । उस समय उस नगरी में कोणिक नाम का राजा राज्य करता

था । उसकी धारिणी नाम की राज-महिषी थी । श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अपने शिष्य-गण के साथ पुण्यभद्र उद्यान में विराजमान हुए । नगर वालों ने सुना और वे श्री भगवान् के मुख से धर्म-कथा सुनने की चाहना से उनके पास आये । श्री भगवान् ने धर्म-कथा की और जनता उसको सुन कर अपने स्थान को लौट गई ।

यहां यह उपोद्घात केवल संक्षेप रूप में ही कहा गया है । जो इसको विशेष रूप से जानना चाहें उनको 'औपपातिक सूत्र' देखना चाहिए । उसके पढ़ने से पाठकों को उस समय के भारतवर्ष का पूर्णतया ज्ञान हो सकता है । 'औपपातिक सूत्र' का यह उपोद्घात ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े काम का है । इससे उस समय के भारतीय राज्य-शासन का अच्छी तरह ज्ञान हो सकता है । अतः 'औपपातिक सूत्र' ऐतिहासिक और धार्मिक दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी है । प्रत्येक व्यक्ति को उसका अध्ययन करना श्रेयस्कर है ।

परिषद् के चले जाने के अनन्तर क्या हुआ ? अब सूत्रकार इसीका वर्णन करते हैं :—

अज्जोति ! समणे भगवं महावीरे बहवे निग्गंथा य निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी "एवं खलु अज्जो ! तीसं मोह-ठाणाइं जाइं इमाइं इत्थीओ वा पुरिसो वा अभिक्खणं-अभिक्खणं आयारेमाणे वा समायारेमाणे वा मोहणिज्जत्ताए कम्मं पकरेइ । तं जहा"—

आर्याः ! श्रमणो भगवान् महावीरो बहून्निर्ग्रन्थान्निर्ग्रन्थीश्चामन्त्र्यैवमवादीत् "एवं खलु आर्याः ! त्रिंशद् मोहनीय-स्थानानि यानीमानि स्त्री वा पुरुषो वाभीक्ष्णमभीक्ष्णमाचरन् वा समाचरन् वा मोहनीयतया कर्म प्रकरोति । तद्यथा"—

पदार्थान्वयः—**अज्जोति**—हे आर्य लोगो ! इस प्रकार सम्बोधन कर **समणे**—श्रमण **भगवं**—भगवान् **महावीरे**—महावीर **बहवे**—बहुत से **निग्गंथा**—निर्ग्रन्थों को

य–और **निग्गंथीओ**–निर्ग्रन्थियों को **आमंतेत्ता**–आमन्त्रित कर **एवं वयासी**–इसी प्रकार कहने लगे । **एवं**–इस प्रकार **खलु**–निश्चय से **अज्जो**–हे आर्यो ! **तीसं**–तीस **मोह-ठाणाइं**–मोहनीय कर्म के स्थान हैं **जाइं इमाइं**–जिनको **इत्थीओ**–स्त्रियां **वा**–अथवा **पुरिसो**–पुरुष **अभिक्खणं-अभिक्खणं**–पुनः-पुनः **आयारेमाणे**–सामान्यतया आचरण करते हुए **वा**–अथवा **समायारेमाणे**–विशेषता से समाचरण करते हुए **मोहणिज्जताए**–मोहनीय कर्म के वश में होकर **कम्म पकरेइ**–कर्म करते हैं ।

मूलार्थ—हे आर्यो ! इस प्रकार प्रारम्भ कर श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने बहुत से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को आमन्त्रित कर कहा "हे आर्यो ! तीस मोहनीय कर्म के स्थान हैं, जिनका वर्णन किया जायगा । स्त्री या पुरुष सामान्य या विशेष रूप से पुनः-पुनः इनका आसेवन करता हुआ मोहनीय कर्म के प्रभाव से बुरे कर्मों को एकत्रित करता है" ।

टीका—इस सूत्र से सब से पहले यह शिक्षा मिलती है कि परोपकारी पुरुष को दूसरों के बिना कहे ही उपकार की बुद्धि से हित-शिक्षाएं प्रदान करनी चाहिएं । जैसे श्री भगवान् ने हित-बुद्धि से स्वयं साधु और साध्वियों को आमन्त्रित कर शिक्षित किया "हे आर्यो ! वक्ष्यमाण तीस कारणों से स्त्री या पुरुष मोहनीय कर्म का उपार्जन करते हैं और उनके कारण वे मुक्ति के अभाव से संसार-चक्र में परिभ्रमण करने लग जाते हैं । कोई भी सामान्यतया अथवा विशेष रूप से वक्ष्यमाण कर्मों का आचरण करते हुए मोहनीय कर्म के बन्धन में आ जाता है । जिस प्रकार जिनके अध्यवसाय होते हैं उसी प्रकार के कर्मों की वे उपार्जना भी करते हैं । अतः इन तीस स्थानों को अच्छी तरह जान कर इनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए ।"

अब सूत्रकार गाथाओं के द्वारा मोहनीय कर्म के तीस स्थानों का वर्णन करते हैं :—

जे केइ तसे पाणे वारिमज्झे विगाहिआ ।
उदएण कम्म मारेइ महामोहं पकुव्वइ ॥१॥

यः कश्चित्त्रसान् प्राणान् वारि-मध्ये विगाह्य।
उदकेनाक्रम्य मारयति महामोहं प्रकुरुते ॥१॥

पदार्थान्वयः—**जे**–जो **केइ**–कोई **तसे**–त्रस **पाणे**–प्राणियों को **वारिमज्झे**–पानी में **विगाहिआ**–डुबकियां देकर **उदएण**–जल से **कम्म**–आक्रमण कर **मारेइ**–मारता है वह **महामोहं**–महा मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**–उपार्जना करता है।

मूलार्थ—जो व्यक्ति त्रस प्राणियों को पानी में डुबकियां देकर जल के आक्रमण से मारता है वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

टीका—इस सूत्र में प्रथम मोहनीय कर्म का विषय वर्णन किया गया है। जो व्यक्ति त्रस प्राणियों को जल में डुबो कर जल के आघात से मारता है अर्थात् जल में ही डुबो देता है अथवा जल में डुबा कर पाद-प्रहारादि से मारता है वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है। किसी भी त्रस प्राणी की जल के प्रयोग से हिंसा करना एक अत्यन्त निर्दयता-पूर्ण कर्म है। जिस प्रकार एक परिव्राजक जलाशयों में जाकर क्रीड़ा करता है उसी प्रकार अपने कौतूहल के लिये किसी त्रस प्राणी को खिला २ कर मारना जघन्य से जघन्य कर्म है।

कोई यह शङ्का कर सकता है कि त्रस प्राणियों को जल में डुबो कर मारते हुए जल-जन्तुओं की भी हिंसा होती होगी, क्या उससे महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना नहीं होती ? उसका समाधान इस प्रकार करना चाहिए कि हिंसा-भाव उस समय त्रस प्राणियों की हत्या के ही होते हैं इसीलिए सूत्र में 'तसे पाणे' पाठ दिया गया है। महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना जीव अपने आत्मा द्वारा ही करता है (आत्मना महामोहं प्रकरोति–करणभूतेनात्मनात्मनि कर्म जनयति–उत्पादयति फलोपभोगयोग्यं मोहनीयं कर्मात्मप्रदेशैः सह संश्लेषयतीत्यर्थः) अर्थात् आत्मा त्रस प्राणियों के मारने से स्वयं महा-मोहनीय कर्म का उपार्जन करता है। उपलक्षण से जो कोई और इस प्रकार के कर्म करता है वह भी महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आ जाता है।

अब सूत्रकार द्वितीय मोहनीय कर्म के विषय में कहते हैं:—

पाणिणा संपिहित्ताणं सोयमावरिय पाणिणं।
अंतोनदंतं मारेइ महामोहं पकुव्वइ ॥२॥

पाणिना संपिधाय स्रोतमावृत्य प्राणिनम् ।
अन्तर्नदन्तं मारयति महामोहं प्रकुरुते ॥२॥

पदार्थान्वयः—**पाणिणा**–हाथ से **संपिहित्ताणं**–ढक कर **सोयं**–स्रोत (मुखादि इन्द्रियों) को **आवरिय**–अवरुद्ध कर **पाणिणं**–प्राणीको **अंतोनदंतं**–मुखादि प्रकाश्य शब्द करने वाली इन्द्रियों के बन्द हो जाने से अव्यक्त (घुर-घुर आदि) शब्द करते हुए **पाणिणं**–प्राणी को **मारेइ**–मारता है वह **महामोहं**–महा-मोहनीय कर्म **पकुव्वइ**–उपार्जित करता है अर्थात् वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आ जाता है।

मूलार्थ—जो व्यक्ति किसी प्राणी के मुखादि इन्द्रिय-द्वारों को हाथ से ढक कर या अवरुद्ध कर 'घुर-घुर' आदि अव्यक्त शब्द करते हुए प्राणी को मारता है, वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

टीका—इस सूत्र में द्वितीय महा-मोहनीय कर्म का विषय वर्णन किया गया है। जो व्यक्ति किसी त्रस प्राणी के मुखादि इन्द्रिय-द्वारों को हाथ से ढक कर उसके प्राणों को अवरुद्ध कर 'घुर-घुर' आदि अव्यक्त शब्द करते हुए को मारता है अर्थात् जो त्रस प्राणियों की इस प्रकार के निर्दय व्यवहार से हिंसा करता है वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है। इस प्रकार निर्दयता पूर्वक दूसरे प्राणियों की हिंसा करने वाले का हृदय सदैव द्वेष-परिपूर्ण होता है और दिन प्रतिदिन उसका हृदय अधिक क्रूर होता चला जाता है अतः उसका महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आना स्वाभाविक है। व्यवहार-नय के अनुसार वह अकाल मृत्यु का उत्पादक माना जाता है और जैसा पहले कहा जा चुका है कि इन्द्रियों के अवरोध से किसी प्राणी की हिंसा करना एक हृदय-हीन और क्रूरतम कर्म है। क्योंकि ऐसे क्रूर कर्म में लिप्त व्यक्ति के हृदय से दया का भाव सर्वथा लोप हो जाता है अतः वह निर्बाध ही महा-मोहनीय कर्म का आश्रय बन जाता है। इसको 'समवायाङ्ग सूत्र' में वर्णन किये हुए तीस महा-मोहनीय-स्थानों में तीसरा स्थान माना गया है।

अब सूत्रकार तृतीय महा-मोहनीय कर्म का विषय वर्णन करते हैं :—

जाततेयं समारब्भ बहुं ओरुंभिया जणं ।
अंतो धूमेण मारेइ(ज्जा) महामोहं पकुव्वइ ॥३॥

जाततेजसं समारभ्य बहूनवरुद्धय जनान् ।
अन्तर्धूमेन मारयति महामोहं प्रकुरुते ॥३॥

पदार्थान्वयः— **जाततेयं**–अग्नि **समारब्भ**–जला कर **बहुं**–बहुत से **जनं**–लोगों को **ओरुंभिया**–अवरुद्ध कर **अंतो**–किसी स्थान के भीतर घेर कर **धूमेण**–धूम (धूएं) से **मारेइ(ज्ञा)**–मारता है वह **महामोहं**–महा-मोहनीय कर्म **पकुव्वइ**–उपार्जन करता है।

मूलार्थ—जो अग्नि जलाकर बहुत से लोगों को मार्गादि स्थान में घेर कर धूम से मारता है वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आजाता है ।

टीका—इस सूत्र में भी त्रस-प्राणि-हिंसा-जनित महा-मोहनीय-कर्म-बन्धन का ही वर्णन किया गया है । जो व्यक्ति बहुत से लोगों को किसी मण्डप आदि स्थान में घेर कर चारों ओर से अग्नि जलाकर धूम से उनकी हिंसा करता है वह महा-मोहनीय कर्म का उपार्जन करता है । धूम से त्रस प्राणियों की हिंसा करना एक अत्यन्त निर्दयता-पूर्ण कर्म है । क्योंकि इससे प्राणी का दम घुट जाता है और उसका बड़े कष्ट से प्राण निकलता है । इस प्रकार जीवों की हिंसा करने वाला एक अत्यन्त पाप-पूर्ण और अज्ञान-प्रद कर्म के बन्धन में आजाता है और इसके कारण उसको असंख्य काल तक दुःख भोगना पड़ता है ।

यद्यपि प्रचण्ड अग्नि से अन्य जीवों की भी हिंसा होती है किन्तु मारने वाले के भाव उस समय केवल उन्हीं के मारने के होते हैं जिनको उसने घेरा हुआ है। अतः उन जीवों की हत्या ही उस समय उसके लिए महा-मोहनीय कर्म का मुख्य कारण है। 'समवायाङ्ग सूत्र' में इस स्थान को चतुर्थ स्थान माना गया है ।

अब सूत्रकार चतुर्थ स्थान का विषय कहते हैं :—

सीस्सम्मि जो पहणइ उत्तमंगम्मि चेयसा ।
विभज्ज मत्थयं फाले महामोहं पकुव्वइ ॥४॥

शीर्षे यः प्रहरति उत्तमाङ्गे चेतसा ।
विभज्य मस्तकं स्फोटयति महामोहं प्रकुरुते ॥४॥

पदार्थान्वयः—**जो**–जो **सीस्सम्मि**–शिर पर **चेयसा**–दुष्ट चित्त से **उत्तमं-**

गम्मि–शिर को उत्तमाङ्ग जान कर (इस पर प्रहार करने से मृत्यु अवश्य हो जायगी ऐसा विचार कर) **पहणइ**–प्रहार करता है और **मत्थयं**–मस्तक को **विभज्ज**–फोड़ कर **फाले**–विदारण करता है वह **महामोहं**–महा-मोहनीय कर्म **पकुव्वइ**–उपार्जन करता है ।

मूलार्थ—जो शिर पर प्रहार करता है और मस्तक को फाड़ कर विदारण करता है, क्योंकि उत्तमाङ्ग के विदारण से मृत्यु अवश्य हो जायगी ऐसा दुष्ट विचार करता है, वह महा-मोहनीय की उपार्जना करता है ।

टीका—इस सूत्र में भी त्रस प्राणियों की हिंसा से उत्पन्न होने वाले महा-मोहनीय कर्म का ही विषय वर्णन किया गया है अर्थात् त्रस प्राणियों की हिंसा से ही चतुर्थ महा-मोहनीय कर्म लगता है। जो व्यक्ति दुष्ट चित्त से किसी व्यक्ति को मारने के लिए उसके शिर पर खड्गादि से प्रहार करता है और उसके सब से प्रधान अङ्ग (शिर) को इस प्रकार फोड़ कर विदारण करता है या ग्रीवा-छेदन करता (गला काटता) है वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है । शरीर के सब अवयवों में शिर ही उत्तम (श्रेष्ठ) अङ्ग है । इसके ऊपर प्रहार होने से मृत्यु अवश्य हो जाती है । इसी लिए सूत्रकार ने 'उत्तमाङ्ग' विशेषण दिया है । मस्तक के द्वारा ही सारे धार्मिक और वैज्ञानिक कार्यों का विकाश होता है । इसीसे आश्रय और बुद्धि का विकाश होता है । अतः बुरी भावना से किसी प्रकार भी मस्तक को क्षति पहुंचाना अत्यन्त घृणित और क्रूर कर्म है। जो व्यक्ति ऐसा करता है वह किसी प्रकार भी महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आने से नहीं बच सकता । हां, यदि किसी से अज्ञान में अकस्मात् ऐसा हो जाय तो वह इस (महा-मोहनीय) के बन्धन में नहीं आता । 'समवायाङ्ग सूत्र' में इसको पञ्चम स्थान माना गया है।

अब सूत्रकार पञ्चम स्थान के विषय में कहते हैं:—

सीसं वेढेण जे केइ आवेढेइ अभिक्खणं ।
तिव्वासुभ-समायारे महामोहं पकुव्वइ ॥५॥

शीर्षमावेष्टेन यः कश्चिदावेष्टयत्यभीक्ष्णम् ।
तीव्राशुभ-समाचारो महामोहं प्रकुरुते ॥५॥

पदार्थान्वयः—**जे**–जो **केइ**–कोई **अभिक्खणं**–बार-बार **सीसं**–शिर को **वेढेण**–गीले चाम से **आवेढेइ**–आवेष्टित करता है **तिव्वासुभ-समायारे**–अत्युत्कट अशुभ समाचार (आचरण) वाला वह **महामोहं**–महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**–उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—जो कोई व्यक्ति किसी त्रस प्राणी के शिर आदि अंगों को गीले चमड़े से आवेष्टित करता है (बांधता है), वह इस प्रकार के अत्युत्कट अशुभ आचरण वाला महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

टीका—इस सूत्र में भी त्रस प्राणियों की हिंसा से उत्पन्न होने वाले महा-मोहनीय कर्म का ही वर्णन किया गया है। जो कोई दुष्ट व्यक्ति किसी स्त्री आदि के मस्तक पर गीला चमड़ा बांध दे और उसको धूप में खड़ा कर कष्ट देकर मार डाले वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आ जाता है । क्योंकि यह एक अत्यन्त अशुभ कार्य है । इसको करते हुए उसके चित्त में हिंसा के अध्यवसायों (उपायों) की उत्पत्ति होती है और उसके चित्त में अत्यन्त निर्दयता के भाव उत्पन्न हो जाते हैं । इस प्रकार की अन्य क्रियाओं के करने से भी महा-मोहनीय कर्म का बन्धन होता है यह उपलक्षण से जान लेना चाहिए । ये सब महा-मोहनीय कर्मों के स्थान अनर्थ-दण्ड और अन्याय पूर्वक बर्ताव के सिद्ध करने वाले हैं । अतः प्रत्येक को अनर्थ-दण्ड और अन्याय का त्याग करना चाहिए । 'समवायाङ्ग सूत्र' में यह द्वितीय स्थान माना गया है ।

अब सूत्रकार छठे स्थान का विषय कहते हैं :—

पुणो पुणो पणिहिए हणित्ता उवहसे जणं ।
फलेणं अदुव दंडेणं महामोहं पकुव्वइ ॥६॥

पुनः-पुनः प्रणिधिना हत्वोपहसेज्जनम् ।
फलेनाथवा दण्डेन महामोहं प्रकुरुते ॥६॥

पदार्थान्वयः—**पुणो पुणो**–बार २ **पणिहिए**–छल से जो किसी प्राणी को **फलेणं**–फल से **अदुव**–अथवा **दंडेणं**–दण्ड से **जणं**–मूर्ख जन को **हणित्ता**–मार

कर **उवहसे**–हंसता है वह **महामोहं**–महामोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**–उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—बार-बार छल से जो किसी मूर्ख जन को फल या दण्ड से मारता और हंसता है वह महामोहनीय कर्म के बन्धन में आजाता है ।

टीका—इस सूत्र में भी त्रस-काय-हिंसा-जनित महा-मोहनीय कर्म का वर्णन किया गया है । जो कोई धूर्त छल से नाना प्रकार के वेष धारण कर मार्ग में चलने वाले पथिकों को धोखा देकर किसी शून्य स्थान पर ले जाकर उनको फल (भाले) अथवा दण्ड से मार कर (विक्षिप्त चित्त से प्रसन्नता के मारे अपने नीच कर्म की सफलता पर) हंसता है वह मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है । इसके कारण उसको इस संसार-चक्र में असंख्य जन्म ग्रहण कर परिभ्रमण करना पड़ता है । अतः अपना कल्याण चाहने वाले को किसी से विश्वास-घात नहीं करना चाहिए और दूसरे को मूर्ख बना कर उसकी हंसी नहीं करनी चाहिए ।

इन छः स्थानों का सम्बन्ध त्रस-हिंसा-जनित महा-मोहनीय कर्म से है । यहां तक इनका वर्णन किया गया है । इनके समान अन्य स्थानों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिए ।

अब सूत्रकार असत्य से होने वाले स्थानों का वर्णन करते हैं :—

गूढायारी निगूहिज्जा मायं मायाए छायए ।
असच्चवाई णिण्हाइ महामोहं पकुव्वइ ॥७॥

गूढाचारी निगूहेत मायां मायया छादयेत् ।
असत्यवादी नैह्नविको महामोहं प्रकुरुते ॥७॥

पदार्थान्वयः—**गूढायारी**–जो कपट करने वाला (अपने आचार को) **निगूहिज्जा**–छिपाता है **मायं**–माया को **मायाए**–माया से **छायए**–छिपाता है **असच्चवाई**–झूठ बोलता है **णिण्हाइ**–सूत्रार्थ को छिपाता है वह **महामोहं**–महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**–उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—जो अपने दोषों को छिपाता है, माया को माया से आच्छा-

दन करता है, झूठ बोलता है और सूत्रार्थ का गोपन करता है वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आ जाता है।

टीका—इस सूत्र में असत्य-जनित महा-मोहनीय कर्म का वर्णन किया गया है। जो व्यक्ति गुप्त अनाचार सेवन करता है और उसको छिपाता है, माया का माया से आच्छादन करता है, दूसरों के प्रश्नों का झूठा उत्तर देता है और मूल गुण और उत्तर गुणों को भी दोष युक्त करता है अथवा इससे भी अधिक सूत्रार्थ का भी अपलाप करता है अर्थात् स्वेच्छानुसार ही सूत्रों के वास्तविक अर्थ छिपाकर अप्रासङ्गिक अर्थ करता है वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आजाता है। सारांश यह है कि दोषों को सेवन करने वाला, माया को माया से आच्छादन करने वाला, असत्य बोलने वाला तथा सूत्रार्थ के अपलाप करने वाला कदापि महा-मोहनीय कर्म के बन्धन से नहीं छूट सकता।

'मायां मायया छादयेत्' का वृत्तिकार निम्न-लिखित अर्थ करते हैं :—

"मायां—परकीयां मायां स्वकीयया छादयेत्—जयेत्। यथा शकुनि-मारकाश्छदैरात्मानमावृत्य शकुनीन् गृह्णन्तः स्वकीयया मायया शकुनि-मायां छादयन्ति" अर्थात् जो व्यक्ति जाल आदि से पक्षियों को अथवा मछली आदि जीवों को पकड़ता है।

अब सूत्रकार आठवें स्थान का विषय वर्णन करते हैं :—

धंसेइ जो अभूएणं अकम्मं अत्त-कम्मुणा।
अदुवा तुमकासित्ति महामोहं पकुव्वइ ॥८॥

ध्वंसयति योऽभूतेनाकर्माणमात्म-कर्मणा।
अथवा त्वमकार्षीः इति महामोहं प्रकुरुते ॥८॥

पदार्थान्वयः—**जो**—जो व्यक्ति **अकम्मं**—जिसने दुष्ट कर्म नहीं किया उसको **अभूएणं**—असत्य आक्षेप से अथवा **अत्त-कम्मुणा**—अपने किये हुए पाप कर्म से **धंसेइ**—कलङ्कित करता है **अदुवा**—अथवा **तुमकासि**—तूने यह कर्म किया है **त्ति**—इस प्रकार कहता है वह **महामोहं**—महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**—उपार्जना करता है।

मूलार्थ—जो व्यक्ति जिसने दुष्ट कर्म नहीं किया उसको असत्य आक्षेप

से और अपने किये हुए पापों से ही कलङ्कित करता है अथवा तूने ही ऐसा किया इस प्रकार दूसरों पर दोषारोपण करता है वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

टीका—इस सूत्र में दूसरों पर असत्य दोष के आरोपण करने से उत्पन्न होने वाले महा-मोहनीय कर्म का वर्णन किया गया है । जो व्यक्ति असत्य आक्षेप से, जिसने कुकर्म नहीं किया उसको कलङ्कित करता है और अपने किये हुए ऋषि-घात आदि दुष्कर्मों को दूसरे के मत्थे मढ़ता है वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आजाता है । ऐसे व्यक्ति अपने तो बड़े से बड़े दोष के लिए भी अन्धे बन जाते हैं, किन्तु दूसरों ने अज्ञान से भी यदि कुछ कुकर्म कर दिया तो भरी सभा में उसका अप-मान करने के लिए कह बैठते हैं "अरे दुष्ट ! तूने यह कुकर्म किया है तू बड़ा नीच और पापी है । तेरा मुँह देखना भी उचित नहीं" । इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने किये हुए दोषों का दूसरों पर आरोपण करता है और दूसरे के दोषों को सभा में प्रकट करता है, वह सत्पुरुष कदापि नहीं कहा जा सकता । अतः जो सत्पुरुष हो वह इन दोनों का सब से पहले परित्याग करे । सच्चा सत्पुरुष वही है जो अपने दोषों को स्वीकार कर लेता है और दूसरे के दोषों को धैर्य-पूर्वक सहन कर लेता है । जो ऐसा नहीं करता वह नीच है और सहज ही में महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आजाता है ।

अब सूत्रकार नवम स्थान का विषय वर्णन करते हैं :—

जाणमाणो परिसओ (साए) सच्चामोसाणि भासइ ।
अक्खीण-झंझे पुरिसे महामोहं पकुव्वइ ॥९॥

जानानः परिषदं सत्य-मृषे भाषते ।
अक्षीण-झञ्झः पुरुषो महामोहं प्रकुरुते ॥९॥

पदार्थान्वयः—**परिसओ**—परिषद् को **जाणमाणो**—जानता हुआ **सच्चा-मोसाणि**—सत्य और असत्य से मिश्रित भाषा जो **भासइ**—कहता है और **अक्खीण-झंझे पुरिसे**—जो पुरुष कलह से उपरत नहीं हुआ है वह **महामोहं**—महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**—उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति जानते हुए परिषद् में सच और झूठ मिला कर कहता है और जिस पुरुष ने कलह का त्याग नहीं किया है वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आ जाता है।

टीका—इस सूत्र में सत्यासत्य-मिश्रित भाषा के प्रयोग से होने वाले महा-मोहनीय कर्म का वर्णन किया गया है। जो व्यक्ति जानते हुए, परिषद् में सत्यासत्य-मिश्रित भाषा बोलता है और सदा कलह को बढ़ाता रहता है, क्योंकि मिश्रित वाणी कहने से स्वभाव से ही कलह बढ़ता है, वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मान लिया जाय दो व्यक्तियों में परस्पर किसी बात पर कलह हो गया। दोनों किसी जानकार व्यक्ति को कलह-निवृत्ति करने के लिए मध्यस्थ बनावें और वह वास्तविक बात को जानते हुए भी यदि कुछ सत्य और बहुत सी असत्य बातें कहने लगे तो स्वाभाविक ही शान्ति-स्थापन के बजाय अधिक कलह हो जायगा और उससे स्थिति और भी भयङ्कर हो जायगी। परिणाम में उस मध्यस्थ व्यक्ति को महा-मोहनीय कर्म लगेगा। अतः जो कोई भी व्यक्ति कहीं भी मध्यस्थ नियत किया जाय, उसको सत्य के आधार पर ही उभय पक्ष में शान्ति-स्थापन का प्रयत्न करना चाहिए। जिससे वह इस भयंकर कर्म के बन्धन में न आ सके। इसके साथ ही मध्यस्थ को किसी प्रकार का पक्षपात, लालच और लिहाज नहीं करना चाहिए नांही किसी प्रकार से घूस लेनी चाहिए।

अब सूत्रकार दशवें स्थान का विषय वर्णन करते हैं:—

अणायगस्स नयवं दारे तस्सेव धंसिया।
विउलं विक्खोभइत्ताणं किच्चा णं पडिबाहिरं॥

अनायकस्य नयवान् दारांस्तस्यैव ध्वंसयित्वा।
विपुलं विक्षोभ्य कृत्वा नु प्रतिबहिः॥

पदार्थान्वयः—**नयवं**—मन्त्री **तस्सेव**—उसी **अणायगस्स**—राजा की, जिसने अपने सारे राज्य का भार मन्त्रियों के ऊपर ही छोड़ा हुआ है **दारे**—स्त्रियों को अथवा लक्ष्मी को **धंसिया**—ध्वंस करके **विउलं**—अन्य बहुत से राजाओं का मन

विक्खोभइत्ताणं–विक्षुब्ध करके अर्थात् उनका मन उससे फेर कर उस राजा को **पडिबाहिरं किच्चा**–राज्य से बाहिर कर (स्वयं राजा बन जाता है) **णं**–वाक्यालङ्कार के लिए है ।

मूलार्थ—यदि किसी राजा का मन्त्री राजा की स्त्रियों को अथवा लक्ष्मी का ध्वंस कर और इधर-उधर के अन्य राजाओं का मन उसके प्रतिकूल कर उसको राज्य से निकाल दे (और स्वयं राजा बन जाय–) ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि किसी राजा का मन्त्री स्वयं राज्य पर अधिकार करने की इच्छा से यदि उस राजा की रानियों को अथवा राजलक्ष्मी–अर्थ (धन) के आगमन के मार्गों को बिगाड़ता है और राजा की प्रजा या उसके आधीन सामन्तों को उसके विपरीत भड़का कर प्रतिकूल कर देता है और समय पाकर उस राजा को राज्य-च्युत कर स्वयं उसके पद को प्राप्त कर उसकी रानियों और राज-लक्ष्मी का भोग करने लग जाता है और राजा को सब प्रकार से अनधिकरी बना डालता है वह (मन्त्री) महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है । हां, यदि राजा दुराचारी या अन्याय-शील हो और प्रजा के साथ 'सौदास' राजा के समान 'सिंह-हरिण' व्यवहार करता हो तो न्याय की दृष्टि से उस क्रूर राजा के हाथों से दीन प्रजा की रक्षा के लिए मन्त्री लोग यदि उसको पद-च्युत कर स्वयं शासन की बागडोर अपने हाथ में ले लें तो महा-मोहनीय के बन्धन में नहीं आते किन्तु ध्यान रहे कि इसमें स्वार्थ-बुद्धि बिलकुल न हो । यदि वे लोग स्वयं राज्योपभोग की इच्छा से निरपराध राजा को उक्त षड्यन्त्र से राज्य-च्युत करेंगे तो वे किसी प्रकार से भी महा-मोहनीय कर्म के बन्धन से नहीं छूट सकते । सारांश यह निकला कि जो स्वार्थ-बुद्धि से राजा को राज्य-च्युत करता है वह उक्त कर्म के बन्धन में आता है और जो परोपकार या प्रजा-हित की दृष्टि से करता है वह नहीं आता ।

अब सूत्रकार इसी विषय से सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

उवगसंतंपि झंपित्ता पडिलोमाहिं वग्गुहिं ।
भोग-भोगे वियारेइ महामोहं पकुव्वइ ॥१०॥

उपगच्छन्तमपि जल्पित्वा प्रतिलोमाभिर्वाग्भिः ।
भोग-भोगान् विदारयति महामोहं प्रकुरुते ॥१०॥

पदार्थान्वयः—**उवगसंतंपि**—सन्मुख आते हुए को भी **झंपित्ता**—अनिष्ट वचन कहकर तथा **पडिलोमाहिं**—प्रतिकूल **वग्गुहिं**—बचनों से उसका तिरस्कार करता है और उसके **भोग-भोगे**—भोग्य भोगों का **विदारेइ**—विनाश करता है वह **महामोहं**—महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**—उपार्जना करता है।

मूलार्थ—और जब वह सन्मुख आवे तो उसका अनिष्ट अथवा प्रतिकूल वचनों से तिरस्कार करता है और उसके शब्दादि भोगों का विनाश करता है वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आ जाता है।

टीका—इस सूत्र का अन्वय पहले सूत्र से ही है। जब मन्त्री राजा को पूर्वोक्त रीति से राज्य-च्युत कर देता है फिर यदि वह राजा किसी कारण से उस (मन्त्री) के पास आए और दीनता पूर्वक कुछ कहे किन्तु वह तिरस्कार-पूर्ण तथा अनुचित और प्रतिकूल वचनों से उस (राजा) का तिरस्कार करे तथा उसके शब्दादि विशिष्ट भोगों का विनाश करे तो वह (मन्त्री) महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आजाता है।

यहां सामान्य रूप से राजा और मन्त्री को उदाहरण रूप में रखकर उपर्युक्त कथन किया गया है। उपलक्षण से तत्सदृश अन्य श्रेष्ठी और उसके भृत्यों के विषय में भी जान लेना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई महा-पुरुष किसी अपने कर्मचारी के ऊपर बिश्वास कर अपने सब अधिकार उसको देदे और वह स्वामी से विश्वास-घात कर उसके सारे धन-धान्य पर अपना ही अधिकार कर उसको पद-च्युत कर दे और उसका तिरस्कार करे तथा लोगों की दृष्टि से उसको गिरा दे तो वह(कर्मचारी) महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है। विश्वास-घात एक अत्यन्त भयंकर पाप है, अतः उक्त कर्म के बन्धन से बचने के इच्छुक को कदापि यह नहीं करना चाहिए।

अब सूत्रकार ग्यारहवें स्थान के विषय में कहते हैं:—

अकुमार-भूए जे केई कुमार-भूए त्ति हं वए ।
इत्थि-विसय-गेहिए महामोहं पकुव्वइ ॥११॥

अकुमार-भूतो यः कश्चित्कुमार-भूतोऽहमिति वदेत् ।
स्त्री-विषय-गृद्धश्च महामोहं प्रकुरुते ॥११॥

पदार्थान्वयः—जे–जो केई–कोई अकुमार-भूए–बाल ब्रह्मचारी नहीं है किन्तु हं–मैं कुमार-भूए–बाल-ब्रह्मचारी हूं ति–इस प्रकार वए–कहता है और इत्थि-विसय-गेहिए–स्त्री-विषयक सुखों में लिप्त है वह महामोहं–महा-मोहनीय कर्म की पकुव्वइ–उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—जो यथार्थ में ब्रह्मचारी नहीं किन्तु अपने आप को बाल ब्रह्मचारी कहता है और स्त्री-विषयक भोगों में लिप्त है वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

टीका—इस सूत्र में अब्रह्मचर्य से होने वाले महा-मोहनीय कर्म का विषय वर्णन किया गया है । जो कोई व्यक्ति बाल-ब्रह्मचारी नहीं किन्तु लोगों से कहता है कि मैं बाल-ब्रह्मचारी हूं और वास्तव में स्त्री-विषयक सुखों में लिप्त होकर उन (स्त्रियों) के वशवर्ती हो, वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है । क्योंकि उसका आत्मा एक तो मैथुन और दूसरे असत्य के वशीभूत होता है । यहां पर सूत्रकार का तात्पर्य केवल असत्य भाषण से ही है अर्थात् जो व्यक्ति किसी प्रकार भी असत्य भाषण करता है वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आता है । अतः अपनी शुभ कामना करने वाले व्यक्ति को असत्य भाषण का सर्वथा परित्याग करना चाहिए । इस सूत्र में 'कुमार-भूत' शब्द से 'बाल-ब्रह्मचारी' अर्थ लेना चाहिए ।

अब सूत्रकार बारहवें स्थान के विषय में कहते हैं :—

अबंभयारी जे केइ बंभयारी त्ति हं वए ।
गद्दहेव्व गवां मज्झे विस्सरं नयई नदं ॥

अब्रह्मचारी यः कश्चिद् ब्रह्मचारीत्यहं वदेत् ।
गर्दभ इव गवां मध्ये विस्वरं नदति नदम् ॥

पदार्थान्वयः—जे–जो केइ–कोई अबंभयारी–ब्रह्मचारी नहीं है और अपने

आपको हूं—मैं बंभयारी—ब्रह्मचारी हूं त्ति—इस प्रकार वए—कहता है वह गवां—गायों के मज्झे—बीच में गद्दहेव्व—गदहे के समान विस्सरं—विस्वर (कर्ण-कटु) नदं—शब्द (नाद) नयई—करता है ।

मूलार्थ—जो कोई ब्रह्मचारी न हो किन्तु लोगों से कहता है कि मैं ब्रह्मचारी हूं वह गायों के बीच में गर्दभ के समान विस्वर नाद (शब्द) करता है ।

टीका—इस सूत्र में भी असत्य और मैथुन विषयक महा-मोहनीय कर्म का ही वर्णन किया गया है । जो कोई व्यक्ति ब्रह्मचारी तो नहीं है किन्तु जनता में अपना यश करने के लिए कहता है कि मैं ब्रह्मचारी हूं उसका इस प्रकार कहना ही इतना अप्रिय लगता है जैसे गायों के समूह में गर्दभ का स्वर । किन्तु वह यह नहीं जानता कि असत्य को छिपाने का कोई कितना ही प्रयत्न करे वह छिपाये नहीं छिपता । जिस वाणी में सत्यता नहीं होती, सज्जन लोगों को वह स्वभाव से ही अच्छी नहीं लगती । उनका चित्त साक्षी देता है कि अमुक व्यक्ति झूठ कह रहा है और अमुक सत्य । इस प्रकार एक बार जब झूठे की कलई खुल जाती है तो वह जनता की दृष्टि में गिर जाता है जो उसके लिए स्वभावतः अहित-कर है । मान लिया कि कुछ समय के लिए लोग उसका विश्वास भी कर लें किन्तु आखिर कै क्षण के लिए । पदार्थों की स्थिति सत्य में ही रह सकती है, असत्य में नहीं ।

अब सूत्रकार फिर उक्त विषय में ही कहते हैं :—

अप्पणो अहिए बाले माया-मोसं बहुं भसे ।
इत्थी-विसय-गेहीए महामोहं पकुव्वइ ॥१२॥

आत्मनोऽहितो बालो माया-मृषे बहु भाषते ।
स्त्री-विषय-गृद्धो महामोहं प्रकुरुते ॥१२॥

पदार्थान्वयः—**अप्पणो**—अपनी आत्मा का **अहिए**—अहित करने वाला **बाले**—अज्ञानी **बहुं**—बहुत **माया-मोसं**—मायायुक्त मृषावाद (झूठ) **भसे**—बोलता है और **इत्थी-विसय-गेहीए**—स्त्री-विषयक सुखों में लोलुप रहने से **महामोहं**—महा-मोहनीय कर्म का **पकुव्वइ**—उपार्जन करता है ।

मूलार्थ—अपनी आत्मा का अहित करने वाला अज्ञानी पुरुष माया पूर्वक मृषा वाद (झूठ) बहुत बोलता है और स्त्री-विषयक सुखों में लोलुप रहने से महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

टीका—इस सूत्र में पूर्वोक्त सूत्र के विषय का उपसंहार किया गया है । वह गदहे के समान कर्ण-कटु नाद करने वाला अज्ञानी अपनी आत्मा का अहित करने वाला होता है और वह प्रायः मायायुक्त झूठी बातें बनाने में ही अपना गौरव समझता है तथा सदैव स्त्री-विषयक सुखों में लिप्त और उनके लिए लालायित रहता है । किन्तु उस मूर्ख को इतना ध्यान नहीं आता कि ये सब कर्म मुझको अज्ञान-अन्धकार में धकेल रहे हैं और महा-मोहनीय कर्म के उपार्जन में सहायक हो रहे हैं । सारांश इतना ही है कि जब कोई व्यक्ति किसी प्रकार का गुप्त पाप एक बार कर देता है तो उसको छिपाने के लिए उसको अनेक और पाप करने पड़ते हैं । अतः सब को ऐसे पाप-कर्मों से बचने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए ।

इस प्रकार मैथुन सम्बन्धी बारहवें महा-मोहनीय कर्म का विषय वर्णन कर सूत्रकार अब विश्वास-घात और कृतघ्नता सम्बन्धी स्थानों का वर्णन करते हुए तेरहवें स्थान का वर्णन करते हैं :—

जं निस्सिए उव्वहइ जससाहिगमेण वा ।
तस्स लुब्भइ वित्तंमि महामोहं पकुव्वइ ॥१३॥

यन्निश्रित्योद्वहते यशसाभिगमेन वा ।
तस्य लुभ्यति वित्ते (यः) महामोहं प्रकुरुते ॥१३॥

पदार्थान्वयः—जं-जिसके निस्सिए-आश्रय से वा-अथवा जससा-यश से या अहिगमेण-सेवा से उव्वहइ-आजीविका करता है तस्स-उसी के वित्तंमि-धन पर लुब्भइ-लोभ करता है वह महामोहं-महा-मोहनीय कर्म का पकुव्वइ-उपार्जन करता है ।

मूलार्थ—जिसके आश्रय से, यश से अथवा सेवा से आजीविका होती

है उसीके धन के लिए लोभ करने वाला महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आ जाता है ।

टीका—इस सूत्र में कृतघ्नता से उत्पन्न होने वाले महा-मोहनीय कर्म का विषय वर्णन किया गया है । यदि कोई व्यक्ति किसी राजा आदि के आश्रय में रहकर आजीविका करता हो अथवा उसके प्रताप से या उसकी सेवा से प्रसिद्ध तथा मान्य हो रहा हो और उसी (राजा) के धन को देख कर लोभ में आजाय तथा किसी प्रकार से उस धन की चोरी करे या करावे तो वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है । क्योंकि जिसने उसका इतना उपकार किया उसीके साथ इस प्रकार अनुचित बर्ताव करने से करने वाले की आत्मा 'कृतघ्नता दोष' युक्त हो जाती है और वह किसी प्रकार से भी उक्त कर्म के बन्धन से नहीं छूट सकता । अतः प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा लेनी चाहिए कि कृतघ्नता एक अत्यन्त निकृष्ट पाप है । इस पाप से बचने के लिए सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए ।

सूत्र में 'जससा (यशसा)' एक पद आया है । उसका तात्पर्य यह है "यशसा–तस्य नृपादेः सत्कृतोऽयमिति प्रसिद्धया" अर्थात् अमुक राजा के यहां इसका विशेष सत्कार है इस प्रसिद्धि से जो उसको लाभ होते हैं ।

अब सूत्रकार इसी विषय में चौदहवें स्थान का विषय वर्णन करते हैं :—

ईसरेण अदुवा गामेणं अणिसरे ईसरीकए ।
तस्स संपय-हीणस्स सिरी अतुलमागया ॥

ईश्वरेणाथवा ग्रामेणानीश्वर ईश्वरीकृतः ।
तस्य सम्पत्ति-हीनस्यातुला श्रीरुपागता ॥

पदार्थान्वयः—**ईसरेण**–ईश्वर (स्वामी) ने **अदुवा**–अथवा **गामेणं**–गांव के लोगों ने किसी **अणिसरे**–अनीश्वर (दीन) व्यक्ति को **ईसरीकए**–ईश्वर बना दिया हो और उनकी कृपा से **तस्स**–उस **संपय-हीणस्स**–सम्पत्ति-हीन पुरुष के पास **अतुलं**–बहुत सी **सिरी**–लक्ष्मी **आगया**–आगई हो ।

मूलार्थ—किसी स्वामी ने अथवा गांव के लोगों ने किसी अनीश्वर

(दीन) व्यक्ति को ईश्वर (स्वामी) बना दिया हो और उनकी सहायता से उसके पास अतुल सम्पत्ति हो गई हो ।

टीका—इस सूत्र में भी कृतघ्नता-जनित महा-मोहनीय कर्म का ही विषय वर्णन किया गया है । यदि कोई श्रेष्ठ पुरुष अथवा ग्राम के जन मिलकर किसी दरिद्री और अनाथ को अपनी कृपा से 'ईश्वर' बना दें और उसका समुचित रूप से पालन कर तथा शिक्षा देकर उसको एक माननीय व्यक्ति बना दें और समय पाकर यदि वह एक सुप्रसिद्ध धनिक हो जाय, लक्ष्मी उसके पैर चूमने लगे तथा वह सब प्रकार से ऐश्वर्यवान् हो जाय और फिर :—

ईसा-दोसेण आविट्ठे कलुसाविल-चेयसे ।
जे अंतरायं चेएइ महामोहं पकुव्वइ ॥१४॥

ईर्ष्या-दोषेणाविष्टः कलुषाविल-चेतसा ।
योऽन्तरायं चेतयते महामोहं प्रकुरुते ॥१४॥

पदार्थान्वयः—**ईसा-दोसेण**—ईर्ष्या-दोष से **आविट्ठे**—युक्त **कलुसाविल**—पाप से मलिन **चेयसे**—चित्त से (अथवा चित्त वाला) **जे**—जो **अंतरायं**—अपने उपकारी के लाभ में अन्तराय (विघ्न) **चेएइ**—उत्पन्न करता है वह **महामोहं**—महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**—उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—ईर्ष्या-दोष से युक्त और पाप से मलिन चित्त वाला वह यदि अपने पालक और उपकारी के लाभ में विघ्न उपस्थित करे तो महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

टीका—उसका चित्त अपने उपकारी, श्रेष्ठ पुरुष अथवा गांव की जनता से ईर्ष्या और द्वेष करने लगे, पाप से मलिन हो जाय और परिणाम में वह उनके लाभ में विघ्न उपस्थित करने लगे तथा लोभ में पड़कर उनको हानि पहुंचा कर उनके धन पर अपना अधिकार जमाना चाहे और उनसे दृढतर वैर बांध ले तो वह इस कृतघ्नता के फल-स्वरूप महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आ जाता है । यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि 'कृतघ्नता' नीच से नीच कर्म है । अतः सदैव इस

बात का ध्यान रखना चाहिए कि पहले तो हम उपकारी के उपकारों का बदला चुका सकें अन्यथा कम से कम उसको किसी प्रकार से हानि तो न पहुंचावें।

अब सूत्रकार विश्वास-घात-विषयक पन्द्रहवें स्थान का विषय वर्णन करते हैं :—

सप्पी जहा अंडउडं भत्तारं जो विहिंसइ ।
सेनावइं पसत्थारं महामोहं पकुव्वइ ॥१५॥

सर्पिणी यथाण्डकुण्डं भर्तारं यो विहिंसति ।
सेनापतिं प्रशास्तारं महामोहं प्रकुरुते ॥१५॥

पदार्थान्वयः—**जहा**–जैसे **सप्पी**–सर्पिणी **अंडउडं**–अपने अण्डों के समूह को मारती है, उसी प्रकार **जो**–जो **भत्तारं**–पालन करने वाले को **विहिंसइ**–मारता है या **सेनावइं**–सेनापति की तथा **पसत्थारं**–कलाचार्य या धर्माचार्य की हिंसा करता है वह **महामोहं**–महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**–उपार्जना करता है।

मूलार्थ—जैसे सर्पिणी अपने अण्ड-समूह को मारती है ठीक उसी प्रकार जो पालनकर्ता, सेनापति, कलाचार्य या धर्माचार्य की हिंसा करता है वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आ जाता है।

टीका—इस सूत्र में विश्वास-घात के विषय में कहा गया है। जिस प्रकार सर्पिणी अपने अण्ड-समूह को स्वयं ही मारकर खा जाती है इसी प्रकार जो सब के पालक घर के स्वामी की, सेनापति की, राजा की, अमात्य की तथा धर्माचार्य की हिंसा करता है वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है। उक्त व्यक्तियों की हिंसा करना इतना क्रूर तथा नीच-तम कर्म है कि हत्यारा किसी प्रकार से भी महा-मोहनीय कर्म के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकता।

सूत्रकार ने उपर्युक्त हिंसाओं की बच्चों को मार कर खाने वाली सर्पिणी से उपमा दी है। उनका तात्पर्य यह है कि माता सदैव अपने बच्चों का पालन करने वाली होती है। जब माता ही रक्षा करने के स्थान उनका भक्षण करने लगेगी तो उनकी रक्षा करने वाला कौन हो सकता है। इसी प्रकार जब घर और राज्य

के रक्षक ही गृहपति और राजा की हिंसा करने लगेंगे तो वे महा-मोहनीय कर्म के बन्धन से कैसे बच सकते हैं।

सूत्र में 'अंडउडं' शब्द आया है। उसके दो अर्थ होते हैं—'अण्ड-कूटं' 'अण्ड-पुटं' वा। 'अण्डकूटं' अर्थात् अपने अण्ड-समूह को और 'अण्ड-पुटं'—अण्डस्य पुटं तत्सम्बन्धि दलद्वयम्। अर्थात् अण्डे की रक्षा करने वाले छिलकों को तोड़ कर नाश करती है।

क्योंकि उपर्युक्त व्यक्तियों की हिंसा से बहुत से जनों की परिस्थिति बिगड़ जाती है अतः हिंसक के लिए महा-मोहनीय कर्म का विधान किया गया है।

अब सूत्रकार उक्त विषय में ही सोलहवें स्थान का विषय वर्णन करते हैं :—

जे नायगं च रट्ठस्स नेयारं निगमस्स वा।
सेट्ठिं बहुरवं हंता महामोहं पकुव्वइ ॥१६॥

यो नायकश्च राष्ट्रस्य नेतारं निगमस्य वा।
श्रेष्ठिनं बहुरवं हन्ति महामोहं प्रकुरुते ॥१६॥

पदार्थान्वयः—**जे**—जो **रट्ठस्स**—देश के **नायगं**—नायक को **वा**—अथवा **निगमस्स**—व्यापारियों के **नेयारं**—नेता को **च**—और **बहुरवं**—बहुत यश वाले **सेट्ठिं**—श्रेष्ठी को **हंता**—मारता है वह **महामोहं**—महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**—उपार्जना करता है।

मूलार्थ—जो देश के और व्यापारियों के नेता को तथा महा-यशस्वी श्रेष्ठी को मारता है वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

टीका—इस सूत्र में भी विश्वास-घात का ही वर्णन किया गया है। राष्ट्र का नायक—राष्ट्र महत्तरादि, व्यापारियों का नेता—उनको अच्छे मार्ग में चलाने वाला तथा श्रीदेवताङ्कित पट्टबद्ध श्रेष्ठी—ये तीनों व्यक्ति बड़े यशस्वी होते हैं। अनेकों इनके आश्रय में रहकर अपनी जीवन-यात्रा करते हैं। जो इनमें से किसी को भी मारता है वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आ जाता है। क्योंकि इनके विनाश से कई एक आश्रितों की आजीविका मारी जाती है और वे अत्यन्त दुःखित होकर दर-दर के भिखारी बन जाते हैं तथा अन्य कई प्रकार के सङ्कटों में

फंस जाते हैं। उनकी दुःख-भरी आहें हिंसक के ऊपर पड़ती हैं और फल-स्वरूप वह उक्त कर्म के बन्धन में आ जाता है।

अब सूत्रकार उक्त विषय के ही सत्रहवें स्थान का विषय वर्णन करते हैं :—

बहुजणस्स णेयारं दीव-ताणं च पाणिणं ।
एयारिसं नरं हंता महामोहं पकुव्वइ ॥१७॥

बहुजनस्य नेतारं द्वीप-त्राणं च प्राणिनाम् ।
एतादृशं नरं हत्वा महामोहं प्रकुरुते ॥१७॥

पदार्थान्वयः—**बहुजणस्स**–बहुत से लोगों के **णेयारं**–नेता को **च**–तथा **पाणिणं**–प्राणियों की **दीव-ताणं**–द्वीप के समान रक्षा करने वाले **एयारिसं**–इस प्रकार के **नरं**–नर को **हंता**–मारकर, मारने वाला **महामोहं**–महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**–उपार्जना करता है।

मूलार्थ—बहुत से लोगों के नेता को तथा द्वीप के समान प्राणियों के रक्षक को और इसी तरह के अन्य पुरुष को मार कर हत्यारा महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

टीका—इस सूत्र में परोपकारी की हिंसा-जनित महा-मोहनीय कर्म का विषय वर्णन किया गया है। जिस प्रकार द्वीप समुद्र से प्राणियों की रक्षा करता है उसी प्रकार जो प्राणियों की कष्ट में रक्षा करने वाला है अथवा दीप के समान जो अज्ञान-अन्धकार में विचरते हुए व्यक्तियों को ज्ञान के प्रकाश से उचित मार्ग दिखाने वाला है, ऐसे व्यक्ति की जो हिंसा करता है वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में फंस जाता है। संसार में परोपकारी जीव कष्ट में सदैव दूसरों की सहायता के लिए तत्पर रहते हैं। जैसे गणधरादि महा-पुरुषों ने स्वयं अनेक कष्ट सह कर जनता के हित के लिए प्रवचन की रचना की है और फलतः हजारों को संसार-रूपी सागर से पार कर धर्मरूपी द्वीप में संस्थापित किया है। यदि इस प्रकार के पुरुषों की हत्या की जायगी तो अनेकों को अतुल क्षति होगी और हत्यारे को महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना। जिसके कारण उसको पुनः २ संसार-चक्र में

परिभ्रमण करना पड़ेगा । अतः प्रत्येक व्यक्ति को जन-हित-रक्षा के लिए और अपने आप को उक्त कर्म के बन्धन से बचाने के लिए परोपकारियों की भूल से भी हत्या नहीं करनी चाहिए ।

जो व्यक्ति दूसरों को धर्म-भ्रष्ट करते हैं उनको भी महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आना पड़ता है । अब सूत्रकार इसी विषय के अट्ठारहवें स्थान का वर्णन करते हैं :—

उवट्ठियं पडिविरयं संजयं सुतवस्सियं ।
विउक्कम्म धम्माओ भंसेइ महामोहं पकुव्वइ ॥१८॥

उपस्थितं प्रतिविरतं संयतं सुतपस्विनम् ।
व्युत्क्रम्य धर्माद् भ्रंशयति महामोहं प्रकुरुते ॥१८॥

पदार्थान्वयः—**उवट्ठियं**—जो दीक्षा के लिए उपस्थित है **पडिविरयं**—जिस ने संसार से विरक्त होकर साधु-वृत्ति ग्रहण की है **संजयं**—जो संयत है तथा **सुत-वस्सियं**—जो भली प्रकार से तप करने वाला है उसको **विउक्कम्म**—बलात्कार से **धम्माओ**—धर्म से **भंसेइ**—भ्रष्ट करता है वह **महामोहं**—महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**—उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—जो दीक्षा के लिए उपस्थित है तथा जिसने संसार से विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण की है, जो संयत है और तपस्या में निमग्न है उसको बलात्कार से जो धर्म से भ्रष्ट करता है वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

टीका—इस सूत्र में जो दूसरों को धर्म से भ्रष्ट करते हैं उनके विषय में कथन किया गया है । जो व्यक्ति सर्ववृत्ति-रूप धर्म को ग्रहण करने के लिए उपस्थित हुआ है तथा जिसने सर्ववृत्ति-रूप धर्म ग्रहण कर लिया है अर्थात् साधु-वृत्ति जो भली भांति पालन कर रहा है ऐसे व्यक्तियों को जो बलात्कार से धर्म-भ्रष्ट करता है अर्थात् अनेक प्रकार की झूठी युक्तियों द्वारा उसको धर्म-मार्ग से विचलित करता है वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है । क्योंकि वह उनको जिनका आत्मा श्रुत या चारित्र रूप धर्म में तल्लीन हो रहा था उससे हटा कर पांच आस्रवों में

लगा देता है । इस सूत्र से शिक्षा लेनी चाहिए कि धर्म-कृत्यों से किसी का चित्त नहीं फेरना चाहिए । यहां सर्ववृत्ति-रूप धर्म के विषय में कहा गया है, उपलक्षण से यह देश-वृत्ति धर्म के विषय में भी जान लेना चाहिए ।

कतिपय हस्त-लिखित प्रतियों में "सुतवस्सियं" पद के स्थान पर "सुसमाहियं (सुसमाहितं)" पाठ मिलता है तथा कहीं २ "संजयं सुतवस्सियं" इस सारे पाद के स्थान पर "जे भिक्खु जगजीवणं" ऐसा पाठ पाया जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि जो साधु अहिंसक वृत्ति से अपना जीवन व्यतीत करता है उसको धर्म से हटाने वाला इत्यादि । किन्तु इन पाठान्तरों से अर्थ में कोई विशेष भेद नहीं पड़ता । सबका लक्ष्य एक ही है कि किसी व्यक्ति को भी धार्मिक कृत्यों से नहीं हटाना चाहिए । ध्यान रहे कि जिस प्रकार किसी को धर्म से हटाने में उक्त कर्म की उपार्जना होती है उसी प्रकार दूसरों को धर्म में प्रवृत्त करने से उक्त कर्म का क्षय भी हो जाता है ।

अब सूत्रकार उन्नीसवें स्थान का विषय वर्णन करते हैं :—

तहेवाणंत-णाणीणं जिणाणं वरदंसिणं ।
तेसिं अवण्णवं बाले महामोहं पकुव्वइ ॥१९॥

तथैवानन्त-ज्ञानानां जिनानां वरदर्शिनाम् ।
तेषामवर्णवान् बालो महामोहं प्रकुरुते ॥१९॥

पदार्थान्वयः—**तहेव**—उसी प्रकार **अणंत-णाणीणं**—अनन्त ज्ञान वाले **जिणाणं**—'जिन' देवों के **वर**—श्रेष्ठ **दंसिणं**—दर्शियों के **तेसिं**—उनकी **अवण्णवं**—निन्दा करने वाला **बाले**—अज्ञानी **महामोहं**—महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**—उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—जो अज्ञानी पुरुष अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन वाले जिनेन्द्र देवों की निन्दा करता है वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आ जाता है ।

टीका—इस सूत्र में जिनेन्द्रों की निन्दा करने वालों के विषय में कहा गया है । अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन के धारण करने वाले 'जिन' भगवान्

क्षायिक दर्शन के अभाव से सर्वदर्शी कहे जाते हैं । इन महापुरुषों की निन्दा करने से आत्मा महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है । जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि आज तक संसार में कोई सर्वज्ञ हुआ ही नहीं यह उनकी कपोलकल्पना-मात्र है । वे लोग कहते हैं कि जितने भी सर्वज्ञ के लक्षण बताये गए हैं वे सब चण्डूखाने की गप्पें हैं क्योंकि आज तक कोई सर्वज्ञ दिखाई ही नहीं दिया तो फिर उसका लक्षण किस प्रकार हो सकता है । ज्ञेय अनन्त हैं एक व्यक्ति की बुद्धि में वे सब नहीं आ सकते अतः सर्वज्ञ कोई हो ही नहीं सकता । जितने भी शास्त्र हैं वे सब केवल बुद्धिमानों के वाग्-जाल रूप हैं । एक व्यक्ति एक ही समय में लोकालोक देख लेता है यह कदापि सम्भव नहीं क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता इत्यादि हेत्वाभास से सर्वज्ञ को न मानने वाले उक्त कर्म के बन्धन में फंस जाते हैं । हम सर्वज्ञ की सिद्धि पहली दशा के पहले सूत्र में भली भांति कर चुके हैं ।

अब सूत्रकार उक्त विषय में ही बीसवें स्थान का विषय वर्णन करते हैं :—

नेयाइ(उ)अस्स मग्गस्स दुट्ठे अवयरई बहुं ।
तं तिप्पयन्तो भावेइ महामोहं पकुव्वइ ॥२०॥

नैयायिकस्य मार्गस्य दुष्टोऽपकरोति बहु ।
तं तर्पयन् भावयति महामोहं प्रकुरुते ॥२०॥

पदार्थान्वयः—**नेयाइअस्स**—न्याय-युक्त **मग्गस्स**—मार्ग का **दुट्ठे**—दुष्ट अथवा द्वेषी **बहुं**—अत्यन्त **अवयरई**—अपकार करता है और **तं**—उस मार्ग की **तिप्पयन्तो**—निन्दा करता हुआ **भावेइ**—अपने आप को अथवा दूसरे व्यक्तियों को उस मार्ग से पृथक् करता है वह **महामोहं**—महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**—उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—जो दुष्ट आत्मा न्याय-संगत मार्ग का अपकार करता है और उसकी निन्दा करता हुआ अपने और दूसरों के आत्मा को उससे पृथक् करता है वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि जो दुष्टात्मा या द्वेषी व्यक्ति

सम्यग् दर्शनादि और मोक्ष का बुरी तरह से खण्डन कर भव्य आत्माओं को उनके परिणामों से दूर करता है, उस मार्ग की निरन्तर निन्दा कर अपने और दूसरों के चित्त को उससे फेरता है, अपनी झूठी युक्तियों से न्याय-संगत मार्ग को अन्याय-युक्त सिद्ध करता है और उसकी निन्दा करता है वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

सूत्र में 'दुट्ठे' शब्द आया है । उसके 'दुष्ट' और 'द्वेषी' दो अर्थ हैं । 'अवयरई' क्रिया-पद के भी 'अपहरति' और 'अपकरोति' दो ही अर्थ हैं । यहां पर इसका अर्थ अपकार रूप ही लिया गया है अर्थात् जो न्याय-मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति को उससे हटा कर उसका अपकार करता है । 'तिप्पयंतो' का अर्थ 'तर्पयन्' अर्थात् निन्दा करता हुआ है, क्योंकि 'तिप्प (तृप्)' धातु निन्दार्थक भी है । 'भावयति' का अर्थ 'निन्दया द्वेषेण वा वासयति परमात्मानञ्च' है इत्यादि । शेष स्पष्ट ही है ।

अब सूत्रकार क्रमागत इक्कीसवें स्थान में आचार्य और उपाध्याय की निन्दा के विषय में निम्न-लिखित सूत्र कहते हैं :—

आयरिय-उवज्झाएहिं सुयं विणयं च गाहिए ।
ते चेव खिंसइ बाले महामोहं पकुव्वइ ॥२१॥

आचार्योपाध्यायाभ्यां श्रुतं विनयश्च ग्राहितः ।
तानेव खिसति बालो महामोहं प्रकुरुते ॥२१॥

पदार्थान्वयः—**आयरिय**—आचार्य **उवज्झाएहिं**—और उपाध्याय जिन्होंने **सुयं**—श्रुत **च**—और **विणयं**—विनय शिष्य को **गाहिए**—ग्रहण कराया है अर्थात् पढ़ाया है **बाले**—अज्ञानी **च**—यदि **ते एव**—उन्हीं की **खिंसइ**—निन्दा करता है तो **महामोहं**—महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**—उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—जिन आचार्य और उपाध्यायों की कृपा से श्रुत और विनय की शिक्षा प्राप्त हुई है यदि अज्ञानी उन्हीं की निन्दा करने लगे तो महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

टीका—इस सूत्र में आचार्यों और उपाध्यायों की निन्दा के विषय में कथन किया गया है । जिन आचार्यों और उपाध्यायों ने श्रुत और विनय धर्म की शिक्षा दी, यदि अज्ञानी शिष्य उन्हीं की निन्दा करता हुआ कहे कि ज्ञान की अपेक्षा से आचार्य या उपाध्याय अल्प-श्रुत हैं, अन्य तीर्थिक के संसर्ग से इनका दर्शन भी मलिन है, तथा चरित्र से भी ये पार्श्वस्थादि की संगति से दूषित ही हैं तो वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आजाता है । अतः जिन उपाध्यायों तथा आचार्यों ने प्रेम-पूर्वक धर्म में शिक्षित किया उनके प्रति सदैव कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए न कि उद्दण्डता से उनकी निन्दा कर कृतघ्नता ।

अब सूत्रकार उक्त विषय में ही बाईसवें स्थान का वर्णन करते हैं :—

आयरिय-उवज्झायाणं सम्मं नो पडितप्पइ ।
अप्पडिपूयए थद्धे महामोहं पकुव्वइ ॥२२॥

आचार्योपाध्यायान् सम्यग् नो परितर्पति ।
अप्रतिपूजकः स्तब्धो महामोहं प्रकुरुते ॥२२॥

पदार्थान्वयः—**आयरिय**—आचार्य **उवज्झायाणं**—और उपाध्याय की जो **सम्मं**—अच्छी तरह **नो पडितप्पइ**—सेवा नहीं करता वह **अप्पडिपूयए**—अप्रति-पूजक है और **थद्धे**—अहंकारी है अतः **महामोहं**—महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**—उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—आचार्य और उपाध्यायों की जो अच्छी प्रकार सेवा नहीं करता वह अप्रतिपूजक और अहंकारी होने से महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

टीका—इस सूत्र में भी कृतघ्नता के विषय में ही प्रतिपादन किया गया है । जो शिष्य आचार्य और उपाध्यायों से शिक्षा प्राप्त कर दुःख के समय उनकी सेवा नहीं करता नांही उनकी पूजा करता है अर्थात् समय पर आहारादि द्वारा उनका आराधन और सन्मान नहीं करता, किन्तु स्वयं अहंकारी बनकर उनकी उपेक्षा करता है वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आजाता है । जिन गुरुओं से श्रुत आदि की शिक्षा मिलती है उनकी सेवा करना तथा उनके प्रति विनय प्रकट

करना प्रत्येक शिष्य का कर्तव्य है। इससे ही उनकी शिक्षा सफल हो सकती है। जो उनके उपकार को भूलकर उनसे पराङ्मुख हो जाता है और विनय-धर्म को छोड़ कर अहंकारी बन जाता है उसका उक्त कर्म से छुटकारा नहीं हो सकता।

सूत्र में 'नो तप्पइ' पद आया है। उसका अर्थ यह है 'विनयाहारोपध्यादिभिर्न प्रत्युपकरोति' अर्थात् विनय, आहार और उपधियों (वस्त्र आदि उपकरणों) से उनकी सेवा नहीं करता।

अब सूत्रकार तेईसवें स्थान में अहंकार का वर्णन करते हैं :—

अबहुस्सुए य जे केई सुएण पविकत्थइ ।
सज्झाय-वायं वयइ महामोहं पकुव्वइ ॥२३॥

अबहुश्रुतश्च यः कश्चित् श्रुतेन प्रविकत्थते ।
स्वाध्याय-वादं वदति महामोहं प्रकुरुते ॥२३॥

पदार्थान्वयः—जे-जो केई-कोई अबहुस्सुए-अबहुश्रुत है य-और सुएणं-श्रुत से पविकत्थइ-अपनी आत्मा की प्रशंसा करता है और सज्झाय-वायं-स्वाध्याय-वाद वयइ-बोलता है वह महामोहं-महा-मोहनीय कर्म की पकुव्वइ-उपार्जना करता है।

मूलार्थ—जो कोई वास्तव में अबहुश्रुत है, किन्तु जनता में अपने आप को बहुश्रुत प्रख्यात करता है और कहता है कि मैं शुद्ध पाठ पढ़ता हूं, वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

टीका—इस सूत्र में मिथ्या अभिमान के विषय में वर्णन किया गया है। जो व्यक्ति वास्तव में बहुश्रुत नहीं है किन्तु जनता में अपनी प्रसिद्धि के लिए कहता फिरता है कि मैं बहुश्रुत हूं तथा अपने सम्प्रदाय का अनुयोगाचार्य भी मैं ही हूं और मेरे समान शुद्ध पाठ करने वाला और कोई है ही नहीं। इस प्रकार स्वाध्याय के विषय में भी अपनी झूठी प्रशंसा करता है वह महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आता है। एक तो वह झूठ बोलता है दूसरे में जनता की आंखों में धूल झोंकना चाहता है अतः उक्त कर्म से उसका बचाव ही नहीं।

अब सूत्रकार चौबीसवें स्थान में तप के विषय में कहते हैं :—

अतवस्सीए जे केई तवेण पविकत्थइ ।
सव्वलोय-परे तेणे महामोहं पकुव्वइ ॥२४॥

अतपस्वी यः कश्चित् तपसा प्रविकत्थते ।
सर्वलोक-परः स्तेनो महामोहं प्रकुरुते ॥२४॥

पदार्थान्वयः—**जे**–जो **केई**–कोई **अतवस्सीए**–तप करने वाला नहीं है किन्तु **तवेणं**–तप से **पविकत्थइ**–अपनी प्रशंसा करता है अर्थात् कहता है कि मैं तपस्वी हूं वह **सव्वलोय-परे**–सब लोकों में सबसे बड़ा **तेणे**–चोर है अतएव **महामोहं**–महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**–उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—जो कोई वास्तव में तपस्वी नहीं किन्तु जनता में अपने आप को तपस्वी प्रख्यात करता है वह सब लोकों में सब से बड़ा चोर है, अतएव महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

टीका—इस सूत्र में अपनी मिथ्या ख्याति के विषय में वर्णन किया गया है । जो कोई व्यक्ति तप तो नहीं करता किन्तु जग में प्रसिद्धि प्राप्त करने की इच्छा से अपने आपको तपस्वी कहता है वह सब लोकों में सब से बड़ा चोर है, क्योंकि अपनी प्रशंसा प्राप्ति के लिए वह तप जैसे पुण्य कर्म के लिए भी झूठ बोलता है, फलतः महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आता है । इस सूत्र से प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा लेनी चाहिए कि अपनी झूठी प्रशंसा के लिए कभी भी असत्य का प्रयोग न करे । जो अपना झूठा यश चाहता है उसको यहां चोर कहा गया है और वह भी सब से उत्कृष्ट, जैसे 'सर्वस्मात् लोकात्–सर्वजनेभ्यः परः–उत्कृष्टः स्तेनश्चौर इत्यर्थः' क्योंकि वह लोगों की दृष्टि से सत्य को छिपाता है अतः उसको चोर कहा गया है ।

अब सूत्रकार पच्चीसवें स्थान में साधारण विषय वर्णन करते हैं :—

साहारणट्ठा जे केइ गिलाणम्मि उवट्ठिए ।
पभू न कुणइ किच्चं मज्झंपि से न कुव्वइ ॥

साधारणार्थं यः कश्चिद् ग्लान उपस्थिते ।
प्रभुर्न कुरुते कृत्यं ममाप्येष न करोति ॥

पदार्थान्वयः—**जे**—जो **केई**—कोई **साहारणट्ठा**—उपकार के लिए **गिलाणम्मि**—रोगादि के **उवट्ठिए**—उपस्थित होने पर **पभू**—समर्थशाली होते हुए भी **किच्चं**—वैयावृत्यादि सेवा कर्म नहीं करता और कहता है कि **मज्झंपि**—मेरी सेवा से—वह **न कुव्वइ**—नहीं करता अतः मैं उसकी सेवा क्यों करूं ।

मूलार्थ—जो कोई रोग आदि से घिरने पर, उपकार के लिए, शक्ति होने पर भी दूसरों की सेवा नहीं करता प्रत्युत कहता है कि इसने भी मेरी सेवा नहीं की थी (मैं इसकी सेवा क्यों करूं) ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि आचार्य आदि गुरु-जनों के रोगादि से ग्रस्त होने पर केवल उपकार के लिए शिष्य को उनकी सेवा करनी चाहिए । यदि कोई समर्थ होने पर भी उनकी यथोचित सेवा नहीं करता किन्तु मन में सोचता है कि जब ये ही मेरा कोई कार्य नहीं करते अथवा जब मैं रुग्ण था तो इन्होंने भी मेरी किसी प्रकार सेवा नहीं की थी तो भला मुझे ही क्या पड़ी है कि मैं इनकी सेवा करूं इत्यादि सोचता हुआ न तो स्वयं सेवा करता है न दूसरों को ही सेवा करने का उपदेश देता है तथा केवल द्वेष के वशीभूत होकर ही उपकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है ।

सढे नियडी-पण्णाणे कलुसाउल-चेयसे ।
अप्पणो य अबोहीए महामोहं पकुव्वइ ॥२५॥

शठो निकृति-प्रज्ञानः कलुषाकुल-चेताः ।
आत्मनश्चाबोधिको महामोहं प्रकुरुते ॥२५॥

पदार्थान्वयः—**सढे**—धूर्त **नियडी**—छल करने में **पण्णाणे**—निपुण **कलुसाउल-चेयसे**—पाप-पूर्ण चित्त वाला **अप्पणो य**—और अपने आत्मा के लिए **अबोहीए**—अबोध के भाव उत्पन्न करने वाला वह **महामोहं**—महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**—उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—वह धूर्त, छल करने में निपुण, कलुप चित्त वाला और अपने आत्मा के लिए अबोध-भाव उत्पन्न करने वाला महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

टीका—इस सूत्र का पहले सूत्र से अन्वय है । अर्थात् समर्थ होने पर भी उपकार न करने वाला वह धूर्त है, छल करने में निपुण होता है और समय पर सेवा से छुटकारा पाने के लिए स्वयं भी रोगी बन जाता है । उसका चित्त सदैव मलिन होता है । पाप सदैव उसके चित्त को घेरे रहता है । इन कार्यों से वह अपने लिए भवान्तर में अबोध-भाव के कारण एकत्रित करता है । क्योंकि संसार में धर्म-प्राप्ति केवल आर्जव (ऋजुता—साधारणता) और मार्दव (दूसरों के प्रति अच्छे बर्ताव) से ही होती है, न कि छल और कपट से । इस प्रकार छल करने से एक तो वह अपने आत्मा के लिए अबोध-भाव एकत्रित करता है और दूसरे में महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में भी आ जाता है । इनके साथ ही साथ ग्लान की सेवा न करने से श्रीभगवान् की आज्ञा की विराधना भी करता है, क्योंकि भगवान् की आज्ञा है कि ग्लान की सेवा करना प्रत्येक का कर्तव्य होना चाहिए, जो नहीं करता वह तीर्थङ्कर-गोत्र कर्म की उपार्जना करता है । अतः घृणा छोड़कर ग्लान (रोगी) की सेवा करनी चाहिए ।

अब सूत्रकार छब्बीसवें स्थान का विषय वर्णन करते हैं :—

जे कहाहिगरणाइं संपउंजे पुणो-पुणो ।
सव्व-तित्थाण-भेयाणं महामोहं पकुव्वइ ॥२६॥

यः कथाधिकरणानि संप्रयुङ्क्ते पुनः-पुनः ।
(तानि चेत्) सर्वतीर्थ-भेदाय महामोहं प्रकुरुते ॥२६॥

पदार्थान्वयः—जे-जो कोई **कहाहिगरणाइं**—हिंसाकारी कथा का **पुणो-पुणो**—पुनः-पुनः **संपउंजे**—प्रयोग करता है और वह कथा **सव्व**—सब **तित्थाण**—ज्ञानादि तीर्थों के **भेयाणं**—भेद के लिए हो तो वह व्यक्ति **महामोहं**—महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**—उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—जो हिंसा-युक्त कथा का बार-बार प्रयोग करता है और यदि वह कथा ज्ञानादि तीर्थों के भेद के लिए सिद्ध होती हो तो वह (कथा करने वाला) महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

टीका—इस सूत्र में हिंसायुक्त कथा के विषय में कहा गया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा कामशास्त्र आदि में ऐसी गाथाएं हैं, जिनके सुनने से श्रोताओं की सहज ही में हिंसा और मैथुनादि कुकृत्यों में प्रवृत्ति होती है। जो ऐसी हिंसा-जनक और कामोद्वेजक कथाओं का बार २ प्रयोग करता है, जिससे संसार-सागर को पार करने के सहायक-रूप ज्ञानादि मार्ग (तीर्थ) अथवा साधु प्रमुख चार तीर्थों का नाश होता हो, अथवा 'कथा–राजकथादि, अधिकरणानि–यन्त्रादीनि कलहादीनि वा' अन्य तीर्थों के नाश के लिए पुनः २ कलहादि का प्रयोग करता है वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है। क्योंकि सूत्र में लिखा है 'सर्वतीर्थभेदाय–सर्वेषां तीर्थानां–ज्ञानादिमुक्तिमार्गाणां भेदाय–सर्वथा नाशाय प्रवर्तमानः। ज्ञानादीनि हि संसार-सागर-तरण-कारणानि' अर्थात् मुक्ति की ओर ले जाने वाले जितने भी ज्ञानादि तीर्थ हैं, उक्त कथाओं में बार २ प्रवृत्त होने से उनका नाश होता है और आत्मा महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आजाता है।

किन्तु यह दण्ड-विधान केवल 'अनर्थ-दण्ड' अर्थात् बिना किसी प्रयोजन के केवल मनोविनोद के लिए किये जाने वाले हिंसादि कुकृत्यों के लिए है। क्योंकि गृहस्थ के 'अर्थ-दण्ड' अर्थात् अपने शरीर की रक्षा के लिए किये जाने वाले कर्मों का त्याग नहीं होता किन्तु साधु के लिए दोनों 'दण्डों' का प्रत्याख्यान है। अतः यदि साधु किसी प्रयोजन से भी और गृहस्थ 'अनर्थ-दण्ड' के आश्रित होकर अथवा केवल मोक्ष मार्ग के नाश के लिए उक्त क्रियाएं करता है तो अवश्य ही उक्त कर्म के बन्धन में आजायगा, क्योंकि उक्त क्रियाओं के करने से वह अपने आपको और दूसरों को दुर्गति की ओर ले जाता है।

इस सूत्र से प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा लेनी चाहिए कि हिंसा-प्रतिपादक तथा काम-शास्त्रादि ग्रन्थों का उपदेश करना पाप-पूर्ण होने से भव्य आत्माओं के लिए हेय (त्याज्य) है।

अब सूत्रकार सत्ताईसवें स्थान में भी उक्त विषय के सम्बन्ध में ही कहते हैं :—

जे अ आहम्मिए जोए संपउंजे पुणोपुणो ।
महा-हेउं सही-हेउं महामोहं पकुव्वइ ॥२७॥

यश्चाधार्मिकं योगं संप्रयुङ्क्ते पुनः-पुनः ।
श्लाघा-हेतोः सखी-हेतोर्महामोहं प्रकुरुते ॥२७॥

पदार्थान्वयः—**जे**–जो कोई **आहम्मिए**–अधार्मिक **जोए**–योग–वशीकरणादि का **पुणो पुणो**–बार-बार **सहा-हेउं**–श्लाघा के लिए **अ**–तथा **सही-हेउं**–मित्रता के लिए **संपउंजे**–प्रयोग करता है वह **महामोहं**–महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**–उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—जो अपनी श्लाघा (प्रशंसा) के लिए अथवा दूसरों से मित्रता जोड़ने के लिए अधार्मिक वशीकरणादि योगों का बार २ प्रयोग करता है वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

टीका—इस सूत्र में अधार्मिक उपदेश और उसके प्रयोग के विषय में वर्णन किया गया है । जो कोई व्यक्ति अपनी श्लाघा अथवा मित्रता के लिए अधार्मिक–वशीकरणादि योगों का बार-बार उपदेश करता है अर्थात् तन्त्रशास्त्रानुसार वशीकरणादि मन्त्रों की विधि लोगों को सिखाता है, जिससे अनेक प्राणियों का उपमर्दन (शक्ति का नाश) हो जाता है तथा पांच 'आस्रवों' में प्रवृत्ति होने से बहुत से लोग धर्म से रुचि हटाकर अधर्म क्रियाओं में लग जाते हैं, वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना कर लेता है । क्योंकि उसका आत्मा 'संवर' मार्ग से पृथक् होकर 'आस्रव' मार्ग में प्रवृत्ति करने लग जाता है । चाहे उक्त उपदेश करने वाला किसी कारण से भी उपदेश करे वह उक्त कर्म के बन्धन में अवश्य आ जायगा ।

अब सूत्रकार अट्ठाईसवें स्थान का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

जे अ माणुस्सए भोए अदुवा पारलोइए ।
तेऽतिप्पयंतो आसयइ महामोहं पकुव्वइ ॥२८॥

यश्च मानुषकान् भोगान् अथवा पार-लौकिकान् ।
(तेषु) तानतृप्यन्नास्वदते महामोहं प्रकुरुते ॥२८॥

पदार्थान्वयः—**जे**–जो कोई व्यक्ति **माणुस्सए**–मनुष्य-सम्बन्धी **भोए**–भोगों की **अदुवा**–अथवा **पारलोइए**–देव-सम्बन्धी काम-भोगों की **ते**–उन सब की **अतिप्पयंतो**–अतृप्त होता हुआ **आसयइ**–अभिलाषा करता है वह **महामोहं**–महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**–उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति मनुष्य अथवा देव सम्बन्धी काम-भोगों की अतृप्ति से अभिलाषा करता है, वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि अत्यन्त विषय-वासना का परिणाम अच्छा नहीं होता । जो व्यक्ति देव-सम्बन्धी तथा मानुष-सम्बन्धी और अन्य प्रकार के भोगों की सदैव अभिलाषा करता है और भोग करने पर भी उनसे तृप्त नहीं होता वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है । क्योंकि अत्यन्त विषय-वासना आत्मा को संसार-चक्र में ही घेरे रहती है और उसकी पूर्ति के लिए पुरुष का चित्त सदैव विविध आस्रव-सम्बन्धी संकल्पों से आक्रान्त रहता है । अतः भव्य व्यक्ति और मुमुक्षुओं को अत्यन्त विषय-वासना का सर्वथा त्याग करना चाहिए। यहां सूत्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि जो व्यक्ति सदैव इसी विषय में ध्यान लगाए रहते हैं उनका उक्त कर्म के बन्धन से कदापि छुटकारा नहीं होता ।

यहां 'आस्वदते' क्रिया-पद का अर्थ अभिलाषा बनाये रखना है ।

अब सूत्रकार उनतीसवें स्थान का वर्णन करते हुए देवों के विषय में कहते हैं :—

इड्ढी जुई जसो वण्णो देवाणं बलवीरियं ।
तेसिं अवण्णवं बाले महामोहं पकुव्वइ ॥२९॥

ऋद्धिर्द्युतिर्यशो वर्णं देवानां बलं वीर्यम् ।
तेषामवर्णवान् बालो महामोहं प्रकुरुते ॥२९॥

पदार्थान्वयः—देवाणं-देवों की इड्ढी-विमानादि सम्पत् जुई-शरीर और आभरणों की कान्ति जसो-यश वण्णो-शुक्लादि वर्ण तथा बलवीरियं-बल और वीर्य हैं बाले-जो अज्ञानी उनकी अवण्णवं-निन्दा करता है वह महामोहं-महा-मोहनीय कर्म की पकुव्वइ-उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण तथा बल और वीर्य सिद्ध हैं। जो अज्ञानी उनकी निन्दा करता है वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि सद् वस्तु को असद् बताने का क्या परिणाम होता है । जो व्यक्ति सम्यग् ज्ञान से हीन है वह इस बात को विना जाने हुए कि देवों की विमानादि सम्पत्ति है, शरीर और आभरणों की कान्ति है, सर्वत्र उनका यश है, उनका शारीरिक बल है तथा जीव से उत्पन्न हुआ उनका वीर्य है, उन देवों की सब प्रकार से निन्दा करता है, उनकी शक्ति का उपहास करता है, उनकी उपर्युक्त शक्ति होते हुए भी लोगों में उनका अपयश करता है और उनकी ओर से सब तरह नास्तिक बन जाता है तथा उपलक्षण जो शुद्ध भावों से मर कर देव हुआ है उसकी निन्दा करता है, वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि सद्वस्तु को 'सद्' मानना ही सत्य है। जो 'सत्' को 'असत्' सिद्ध करता है, वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

अब सूत्रकार तीसवें स्थान का वर्णन करते हुए देवों के ही विषय में कहते हैं :—

अपस्समाणो पस्सामि देवे जक्खे य गुज्झगे ।
अण्णाणी जिण-पूयट्ठी महामोहं पकुव्वइ ॥३०॥

अपश्यन् पश्यामि देवान् यक्षांश्च गुह्यकान् ।
अज्ञानी जिन-पूजार्थी महामोहं प्रकुरुते ॥३०॥

पदार्थान्वयः—अण्णाणी-अज्ञानी पुरुष जिण-पूयट्ठी-'जिन' के समान पूजा की इच्छा करने वाला जो देवे-देवों को जक्खे-यक्षों को गुज्झगे-भवन-पति देवों को अपस्समाणे-न देखता हुआ भी कहता है कि पस्सामि-मैं इनको देखता

हूं वह **महामोहं**—महा-मोहनीय कर्म की **पकुव्वइ**—उपार्जना करता है ।

मूलार्थ—जो अज्ञानी 'जिन' के समान पूजा की इच्छा करने वाला देव, यक्ष और गुह्यों को न देखता हुआ भी कहता है कि मैं इनको देखता हूं वह महा-मोहनीय-कर्म की उपार्जना करता है ।

टीका—इस सूत्र में अपनी असत्य कीर्ति प्रख्यापन के विषय में कहा गया है । जो अज्ञानी व्यक्ति, श्रीभगवान् 'जिन' के समान अपनी पूजा की इच्छा करने वाला, लोगों से कहता फिरता है कि मैं देव—ज्योतिष और वैमानिक, यक्ष—वान व्यन्तर और गुह्यक—भवन-पति आदि को देखता हूं और वे मेरे पास आते हैं, किन्तु वह वास्तव में उनको नहीं देखता केवल यश-प्राप्ति के लिए इस प्रकार मिथ्या भाषण करता है, वह महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है । क्योंकि वह यश-प्राप्ति के लिए इतना उत्सुक रहता है कि यह भी नहीं समझता है कि झूठ बोलने से मैं एक नया पाप कर रहा हूं । वह मूर्ख गुणों के न होने पर निरर्थक श्री जिनेन्द्र देव के समान पूजा की इच्छा से 'देव-दर्शन' के विषय में भी मिथ्या भाषण करता है, अतः उसको महा-मोहनीय कर्म के बन्धन में आना पड़ता है ।

किसी २ लिखित प्रति में 'जिणपूयट्ठी' के स्थान पर 'जणपूयट्ठी' पाठ मिलता है । उसका तात्पर्य यह है कि जनता में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए उक्त मिथ्या भाषण करता है । वह मूर्ख उक्त कर्म के साथ साथ 'दुर्लभ बोधादि' कर्मों की भी उपार्जना करता है, फलतः उसको अनियत समय तक संसार-चक्र में परिभ्रमण करना पड़ता है ।

इस प्रकार महा-मोहनीय कर्म के तीस स्थानों का वर्णन कर सूत्रकार अब तद्विषयक उपदेश का वर्णन करते हैं :—

एते मोहगुणा वुत्ता कम्मंता चित्त-वद्धणा ।
जे तु भिक्खु विवज्जेज्जा चरिज्जत्त-गवेसए ॥

एते मोहगुणा उक्ताः कर्मान्ताश्चित्त-वर्द्धनाः ।
याँस्तु भिक्षुर्विवर्जेच्चरेदात्म-गवेषकः ॥

पदार्थान्वयः—**एते**–ये **मोहगुणा**–मोह से उत्पन्न होने वाले गुण (दोष) **वुत्ता**–कथन किये गये हैं। ये **कम्मन्ता**–अशुभ कर्म के फल देने वाले और **चित्त-वद्धणा**–चित्त की मलिनता को बढ़ाने वाले होते हैं **जे**–जिनको **तु**–निश्चय से **भिक्खु**–भिक्षु **विवज्जेज्जा**–छोड़ दे और वह **अत्त-गवेसए**–आत्मा की गवेषणा करने वाला **चरिज्ज**–सदाचार में प्रवृत्ति करे।

मूलार्थ—अशुभ कर्मों के फल देने वाले और चित्त की मलिनता को बढ़ाने वाले ये (पूर्वोक्त) मोह से उत्पन्न होने वाले गुण (दोष) कथन किये गये हैं। जो भिक्षु आत्मा की गवेषणा में लगा हुआ है वह इनको छोड़कर संयम क्रिया में प्रवृत्ति करे।

टीका—इस सूत्र में आत्म-गवेषक भिक्षु को उपदेश दिया गया है। पूर्वोक्त तीस स्थान मोह कर्म के अथवा मोह शब्द से आठों कर्मों के उत्पन्न करने वाले कथन किये गये हैं। ये मोह के गुण अर्थात् अगुण हैं। क्योंकि प्राकृत भाषा होने से यहां 'गुणेहिं साहु–अगुणेहिं साहु' के समान गुण के पूर्व के अकार का लोप हो गया है। इनका परिणाम आत्मा के लिए अशुभ होता है, अतः सूत्रकार ने 'कर्मान्ताः' पद दिया है। इसके अतिरिक्त ये चित्त की मलिनता को बढ़ाने वाले भी होते हैं। अतः श्री भगवान् आज्ञा करते हैं कि इनको छोड़ साधु आत्म-गवेषक अथवा आप्त-गवेषक होता हुआ संयम में लीन हो जाय जिससे परिणाम में संसार-चक्र से मुक्ति मिलेगी।

अपनी आत्मा को अपने आप में देखने की इच्छा करने वाला आत्म-गवेषक कहलाता है और श्री तीर्थङ्कर देव आदि की आज्ञानुसार क्रिया करने वाला आप्त-गवेषक कहलाता है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि मोह आदिक कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाने के लिए उक्त तीस दोषों का त्याग कर आत्म-स्वरूप में प्रविष्ट होने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब सूत्रकार साधुओं को और उपदेश करते हैं:—

जंपि जाणे इत्तो पुव्वं किच्चाकिच्चं बहु जढं।
तं वंता ताणि सेविज्जा जेहिं आयारवं सिया ॥

यदपि जानीयादितः पूर्वं कृत्याकृत्यं बहु त्यक्त्वा ।
तद् वान्त्वा तानि सेवेत यैराचारवान् स्यात् ॥

पदार्थान्वयः—**इत्तो पुव्वं**–दीक्षा से पूर्व **जंपि**–जो कुछ **बहु**–बहुत से **किच्चाकिच्चं**–कृत्य और अकृत्य को **जाणे**–जानता हो उनको **जढं**–छोड़कर और फिर **तं**–उनको **वंता**–वमन कर **ताणि**–उन जिन-वचनों को **सेविज्जा**–सेवन करे **जेहिं**–जिनसे **आयारवं**–आचारवान् **सिया**–हो जावे ।

मूलार्थ—दीक्षा से पूर्व जो कुछ भी कृत्याकृत्य जानता हो उनको छोड़ कर और अच्छी प्रकार से वमन कर जिन-वचनों को सेवन करे, जिससे आचारवान् हो जावे ।

टीका—यह सूत्र भी उपदेश-रूप ही है । जब कोई साधु दीक्षा ग्रहण करता है तो उसको अच्छी तरह जानना चाहिए कि इससे पूर्व किये हुए जितने भी व्यापार आदिक कृत्य तथा अनाचारादि, न करने योग्य, अकृत्यों को छोड़कर ही दीक्षा ग्रहण की जाती है । क्योंकि जब तक कोई गृहस्थ में रहता है तब तक उसको अनेक प्रकार के कृत्याकृत्यों में लिप्त रहना पड़ता है । किन्तु दीक्षा ग्रहण करने के अनन्तर उसको यह कृत्याकृत्य का जंजाल तथा माता-पिता, पति-पत्नी आदि जितने भी सांसारिक सम्बन्ध हैं उन सब को छोड़ कर केवल जिन-वचनों के अनुसार चलते हुए आचारवान् बनने का ही पुरुषार्थ करना चाहिए । उसको अपना वेश-भूषा और रहन-सहन साधुओं के समान बना लेना चाहिए तथा शुद्ध चरित्र बनाना चाहिए, जिससे वह शीघ्र ही पूर्व-संचित कर्म-समूह के नाश करने में समर्थ हो ।

अब सूत्रकार उक्त विषय में ही कहते हैं :—

आयार-गुत्तो सुद्धप्पा धम्मे ट्ठिच्चा अणुत्तरे ।
ततो वमे सए दोसे विसमासी विसो जहा ॥

गुप्ताचारः शुद्धात्मा धर्मे स्थित्वानुत्तरे ।
ततो वमेत्स्वकान् दोषान् विषमाशी विषं यथा ॥

पदार्थान्वयः—**आयार-गुत्तो**–गुप्त (रक्षित) आचार वाला और **सुद्धप्पा**–

शुद्धात्मा **अणुत्तरे**–प्रधान **धम्मे**–धर्म में **ट्ठिच्चा**–स्थिति कर **ततो**–फिर **सए**–अपने **दोसे**–दोषों को **वमे**–छोड़ दे **जहा**–जैसे **विसमासी**–सर्प **विसो**–विष छोड़ देता है।

मूलार्थ—शुभ आचार वाला शुद्धात्मा श्रेष्ठ धर्म में स्थिति कर अपने दोषों को इस प्रकार छोड़ दे जैसे सर्प अपने विष को छोड़ता है।

टीका—यह सूत्र भी पूर्व सूत्र के समान उपदेश-रूप ही है। साधु को अपने ज्ञान आदि आचार की पूर्ण रक्षा करनी चाहिए और सब इन्द्रियों का अच्छी प्रकार से दमन कर तथा निरतिचार से संयम का पालन करते हुए शुद्धात्मा हो कर और सर्व-श्रेष्ठ (क्षमा आदि) धर्म में स्थिर होकर अपने दोषों का इस प्रकार परित्याग करना चाहिए जिस प्रकार सर्प अपने विष का परित्याग करता है। अर्थात् जैसे सर्प जलादि में एक बार अपने विष का परित्याग कर फिर उसको ग्रहण नहीं करता इसी प्रकार साधु को भी एक बार अपने दोषों का परित्याग कर फिर किसी प्रकार भी उनको धारण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार दोषों के परित्याग से उसका आचार पवित्र हो जाता है और फलतः वह सहज ही में स्वात्म-दर्शी बन जाता है।

अब सूत्रकार वर्णन करते हैं कि उक्त-गुण सम्पन्न साधु को किस २ वस्तु की प्राप्ति होती है :—

सुचत्त-दोसे सुद्धप्पा धमट्ठी विदितापरे ।
इहेव लभते कित्तिं पेच्चा य सुगतिं वरं ॥

सुत्यक्त-दोषः शुद्धात्मा धर्मार्थी विदितापरः ।
इहैव लभते कीर्तिं प्रेत्ये च सुगतिं वराम् ॥

पदार्थान्वयः—**सुचत्त-दोसे**–पूर्णतया दोषों को छोड़कर **सुद्धप्पा**–शुद्ध आत्मा से वह **धमट्ठी**–धर्मार्थी **विदितापरे**–मोक्ष के स्वरूप को जानकर **इहेव**–इसी लोक में **कित्तिं**–यश **लभते**–प्राप्त करता है **य**–और **पेच्चा**–परलोक में **सुगतिं वरं**–श्रेष्ठ सुगति को प्राप्त करता है।

मूलार्थ—इस प्रकार दोषों का परित्याग कर वह शुद्धात्मा धर्मार्थी मुक्ति

के स्वरूप को जानकर इस लोक में यश प्राप्त करता है और परलोक में श्रेष्ठ सुगति ।

टीका—इस सूत्र में पूर्वोक्त गुणों का फल वर्णन किया गया है। जिस व्यक्ति ने इस प्रकार अपने दोषों को छोड़ दिया है, जिसने सदाचार से अपने आत्मा को शुद्ध किया है, जो श्रुत और चारित्र धर्म के पालन करने की इच्छा से धर्मार्थी है तथा जिसने मोक्ष के स्वरूप को जान लिया है वह इसी लोक में कीर्ति प्राप्त करता है। क्योंकि उसको आमर्शौषधि (वह शक्ति जिसको प्राप्त कर पुरुष केवल हाथ के स्पर्श से ही सब व्याधियों को भगा दे) आदि लब्धियों की प्राप्ति हो जाती है और वह सारे संसार में मान्य हो जाता है। मृत्यु के अनन्तर वह शुद्धात्मा परलोक में परम सुगति को प्राप्त करता है। सुगतियां चार प्रकार की प्रतिपादन की गई हैं—सिद्ध-सुगति, देव-सुगति, मनुष्य-सुगति और सुकुल-जन्म सुगति। इनमें से वह सब से प्रधान सुगति को प्राप्त करता है।

सूत्र में 'विदितापरः' शब्द आया है। उसका अर्थ यह है 'विदितम्—ज्ञातम् अपरं—मोक्षो येन स विदितापरः' अर्थात् जिसने मोक्ष का स्वरूप जान लिया है।

अब सूत्रकार प्रस्तुत दशा का उपसंहार करते हुए कहते हैं :—

एवं अभिसमागम्म सूरा दढपरक्कमा।
सव्वमोह-विणिमुक्का जाइ-मरणमतिच्छिया ॥

त्ति बेमि।

समत्तं मोहणिज्जठाणं नवम दसा।

एवमभिसमागम्य शूरा दृढपराक्रमाः।
सर्वमोह-विनिर्मुक्ता जातिमरणमतिक्रान्ताः ॥

इति ब्रवीमि।

समाप्तानि मोहनीय-स्थानानि नवमी दशा च।

पदार्थान्वयः—**एवं**–इस प्रकार **अभिसमागम्म**–जानकर **सूरा**–शूर **दढ**–दृढ **परक्कमा**–पराक्रम करने वाले **सव्व**–सब मोहादि कर्मों से **विणिमुक्का**–मुक्त हो कर **जाइ**–जन्म **मरण**–मरण से **अतिच्छिया**–अतिक्रान्त हो जाते हैं **त्ति बेमि**–इस प्रकार मैं कहता हूं। **मोहणिज्जं ठाणं**–मोहनीय-स्थान और **नवम-दसा**–नवमी दशा **समत्तं**–समाप्त हुई ।

मूलार्थ—इस प्रकार जानकर, दृढ पराक्रम वाले शूर-वीर आठ प्रकार के कर्मों से मुक्त होकर जन्म-मरण से अतिक्रान्त हो जाते हैं। मोहनीय-स्थान और नवमी दशा समाप्त हुई।

टीका—इस सूत्र में प्रस्तुत दशा का उपसंहार किया गया है। पूर्वोक्त मोहनीय कर्मों को भली भांति जान कर तप-कर्म में शूरता दिखाने वाले अथवा अनेक प्रकार के परिषहों को सहन करने में वीर तथा संयम मार्ग में दृढ़ पराक्रम करने वाले अर्थात् उपधानादि तपों का अनुष्ठान करने वाले संसार के सब कर्मों से मुक्त होकर जन्म और मरण के भय को अतिक्रमण कर मोक्ष में विराजमान हो जाते हैं। आज तक जितने भी मुक्त हुए हैं वह उक्त विधि से ही हुए और भविष्य में भी जो मुक्त होंगे उनके लिए भी यही मार्ग है।

इस सूत्र में मोह शब्द से 'अष्टकर्म-प्रकृति-रूप' आठों कर्मों का ग्रहण किया गया है। इसके अतिरिक्त संकेत से ज्ञान और चरित्र नयों का भी वर्णन किया गया है। 'अभिसमागम्य (भली प्रकार जान कर)' इससे ज्ञान और 'शूरा दृढपराक्रमाः' इससे चरित्र का विषय विधान किया गया है। कहने का आशय यह है कि जब ज्ञान और चरित्र एक अधिकरण में हो जाते हैं तो आत्मा आठों प्रकार के कर्मों से मुक्त होकर जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है और उसीका नाम मोक्ष है।

कार्य का कारण के साथ नित्य सम्बन्ध होता है अर्थात् विना कारण के कार्य की सत्ता नहीं रहती। जैसे तन्तुओं के अभाव में पट की और मृत्तिका के अभाव में घट की कोई सत्ता नहीं रहती इसी प्रकार कर्मों का क्षय होने पर जन्म-मरण का भी अभाव हो जाता है। क्योंकि कर्म ही जन्म और मरण के कारण हैं। इस कर्म-क्षय का नाम ही मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण है।

आठ कर्मों से रहित व्यक्ति ही भूतकाल में मुक्त हुए हैं और वे ही वर्तमान समय में 'महाविदेहादि' क्षेत्रों में विद्यमान हैं तथा भविष्य में भी वे ही मुक्त होंगे । इसीलिए सूत्र में 'अतिच्छिएति–अतीते काले, अतीष्टे–अतिक्रान्तेऽनन्त-जन्तवो जाति-मरणे विलङ्घ्य शिवं जग्मुरित्यर्थः । साम्प्रतं संख्याता अतियन्ति –अतिक्रामन्ति भविष्यति कालेऽत्येष्यन्ति च' । इसका अर्थ पहले स्पष्ट किया जा चुका है ।

यहां पर शङ्का यह उपस्थित होती है कि जब आत्मा मुक्त होता है और सिद्ध-गति को प्राप्त होता है तो वह अन्य सिद्धों से भिन्न-रूप होता है या अभिन्न-रूप ? समाधान में कहा जाता है कि वह भिन्न-रूप भी होता है और अभिन्न-रूप भी । जैन मत का नाम स्याद्वाद है । वह किसी अपेक्षा से भिन्न-रूप और किसी अपेक्षा से उक्त आत्मा को अभिन्न-रूप मानता है । जैसे 'द्रव्यास्तिक' नय के अनुसार सिद्ध गति में जीव भिन्न-रूप से रहता है, क्योंकि वह आत्मा मुक्त होने पर भी अपने द्रव्य का नाश नहीं करता किन्तु कर्म-रहित होने से 'स्वद्रव्य-शुद्ध' होकर मोक्ष में रहता है । किन्तु यदि 'प्रदेशार्थिक' नय के अनुसार विचार किया जाय तो आत्मा मोक्ष-गति में अभिन्न-रूप होकर ही ठहरता है, क्योंकि वहां अनन्त सिद्धों के अपने अपने प्रदेश परस्पर सम्मिलित रहते हैं । जिस प्रकार भिन्न दीपकों का प्रकाश अभिन्न-रूप से दिखाई देता है किन्तु वास्तव में दीपक-द्रव्य पृथक् २ ही होते हैं इसी प्रकार सिद्धों के अपने अपने प्रदेश भिन्न रहते हुए भी उनमें परस्पर इतनी एकता है कि वे भिन्न प्रतीत नहीं होते, किन्तु अभिन्न-रूप ही होते हैं । तथा जिस प्रकार एक ही अन्तःकरण में नाना प्रकार की भाषाएं रहती हैं ठीक उसी प्रकार सिद्धों के विषय में भी जानना चाहिए ।

सिद्धान्त यही निकला कि जब तक आत्मा सब तरह के कर्मों का नाश नहीं करता तब तक वह किसी प्रकार मुक्त नहीं हो सकता । प्रत्येक व्यक्ति का 'संसार' उसके कर्मों के ऊपर निर्भर है । जब तक एक भी कर्म अवशिष्ट रहता है तब तक वह जन्म-मरण के बन्धन से नहीं छूट सकता । किन्तु जिस समय उसके कर्मों का क्षय हो जाता है उस समय कोई भी शक्ति उसको मुक्ति-रूप अलौकिक आनन्द के उपभोग से नहीं रोक सकती । अतः इस संसार-चक्र के बन्धन से मुक्ति की इच्छा वालों को सर्वथा इसी ओर प्रयत्न-शील होना चाहिए । कर्म-क्षय होते

ही वह मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। ध्यान रहे कि यह कर्म-क्षय विना ज्ञान और क्रिया के नहीं होता, उसके लिए इनकी अत्यन्त आवश्यकता है।

इस प्रकार श्री सुधर्म्मा स्वामी श्री जम्बू स्वामी के प्रति कहते हैं कि हे जम्बू स्वामिन् ! जिस प्रकार इस दशा का अर्थ मैंने श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी जी के मुखारविन्द से सुना है उसी प्रकार तुम से कहा है। अपनी बुद्धि से मैंने कुछ भी नहीं कहा।

नवमी दशा समाप्ता।

दशमी दशा

नवमी दशा में महा-मोहनीय स्थानों का वर्णन किया गया है । कभी २ साधु उनके वशवर्ती होकर तप करते हुए 'निदान' कर्म कर बैठता है । मोह के प्रभाव से काम-भोगों की इच्छा उसके चित्त में जाग उठती है और उस इच्छा की पूर्ति की आशा से वह 'निदान' कर्म कर लेता है । परिणाम यह होता है कि उसकी वह इच्छा 'आयति' अर्थात् आगामी काल तक बनी रहती है, जिससे वह फिर जन्म-मरण के बन्धन में फंसा रहता है । अतः सूत्रकार इस दशा में 'निदान' कर्मों का ही वर्णन करते हैं । यही नवमी दशा से इसका सम्बन्ध है ।

इस दशा का नाम 'आयति' दशा है । 'आयति' शब्द का अर्थ जन्म या जाति जानना चाहिए । जो व्यक्ति 'निदान' कर्म करेगा उसको उसका फल भोगने के लिए अवश्य ही नया जन्म ग्रहण करना पड़ेगा । यदि 'आयति' पद से 'ति' पृथक् कर दिया जाय तो अवशिष्ट 'आय' का अर्थ 'लाभ' होगा अर्थात् जिस 'निदान' कर्म से जन्म-मरण का लाभ होता है, उसीका नाम 'आयति' है ।

वह लाभ द्रव्य और भाव रूप से दो प्रकार का होता है । द्रव्य-लाभ चारों गति-रूप होता है और भाव-लाभ ज्ञानादि की प्राप्ति का नाम है । संसार-चक्र में परिभ्रमण करते हुए आत्मा 'द्रव्य-लाभ' की प्राप्ति करता है । किन्तु जब वह संसार-चक्र से उपराम पाता है तब ज्ञानादि की प्राप्ति कर मोक्ष-पद की प्राप्ति कर लेता है । प्रस्तुत दशा में दोनों प्रकार के लाभों का वर्णन किया गया है । इसका आदिम सूत्र यह है :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नाम नगरे होत्था। वण्णओ गुणसिलए चेइए। रायगिहे नगरे सेणिए राया होत्था। अण्णया कयाइ ण्हाए, कय-बलिकम्मे, कय-कोउय-मंगल-पायच्छित्ते, सिरसा ण्हाए, कंठे माल-कडे, आविद्ध-मणि-सुवण्णे, कप्पिय-हारद्धहार-तिसरय-पालं-बमाणे, कडि-सुत्तयं कय-सोभे, पिणद्ध-गेवेज्ज-अंगुले-जगे, जाव कप्परुक्खए चेव अलंकिय विभूसिए णरिंदे सकोरंट-मल्ल-दामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं जाव ससिव्व पिय-दंसणे नरवति जणेव बाहिरिया उवठाण-साला जणेव सिंहासणे तेणेव उवागच्छइ २त्ता सिंहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे निसीयइ २त्ता कोडुंबिय-पुरिसे सद्दावेइ २त्ता एवं वयासी :—

तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहं नाम नगरमभूत्। वर्ण्यं गुणशिलकं चैत्यम्। राजगृहे नगरे श्रेणिको राजाऽभूत्। अन्यदा कदाचित्स्नातः, कृत-बलि-कर्मा, कृत-कौतुक-मङ्गल-प्राय-श्चित्तः, शिरसा स्नातः, कण्ठे कृत-मालः, आविद्ध-मणि-सुवर्णः, कल्पित-प्रलम्बमान-हारार्द्धहार-त्रिशरकः, कटि-सूत्रेण कृत-शोभः, पिनद्ध-ग्रैवेयकाङ्गुलीयकः, यावत्कल्पतरुरिवालङ्कृतः, विभूषितश्च नरेन्द्रः सकोरंट-मल्ल-दाम्ना छत्रेण ध्रियमाणेन याव-च्छशीव प्रिय-दर्शनो नरपतिर्यत्रैव बाह्योपस्थान-शाला, यत्रैव सिंहासनं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च सिंहासन-वरे पुरस्ता-

दभिमुखो निषीदति निषद्य च कौटुम्बिक-पुरुषान् शब्दापयति शब्दापयित्वा चैवमवादीत्ः—

पदार्थान्वयः—**तेणं कालेणं**—उस काल और **तेणं समएणं**—उस समय **रायगिहे नाम**—राजगृह नामक एक **नगरे**—नगर **होत्था**—था। **गुणसिलए**—गुणशील नामक एक **चेइए**—चैत्य **वण्णओ**—वर्णन करने योग्य था। **रायगिहे**—राजगृह **नगरे**—नगर में **सेणिए**—श्रेणिक नाम वाला एक **राया**—राजा **होत्था**—था। **अण्णया**—अन्यदा **कयाइ**—कदाचित् राजा ने **ण्हाए**—स्नान किया और शरीर की स्फूर्ति के लिए तैल मर्दनादि कर **कयबलिकम्मे**—बलि-कर्म किया। फिर **कय-कोउय-मंगल-पायछित्ते**—रक्षा अथवा सौभाग्य के लिए मस्तक पर तिलक किया, विघ्न-विनाश के लिए मङ्गल तथा अपशकुन दूर करने के लिए प्रायश्चित्त—पैर से भूमि-स्पर्श आदिक क्रियाएं कीं। **सिरसा ण्हाए**—शिर में जल डाल कर स्नान किया **कंठे**—गले में **माल-कडे**—माला पहनी और **आविद्ध-मणि-सुवण्णे**—मणि और सुवर्ण के आभूषणों को पहन कर **कप्पिय-हारद्धहार-तिसरय**—वक्षस्थल पर हार, अर्द्धहार और तीन लड़ी का हार धारण किया **पालंबमाण**—जिनसे झुम्बक नीचे को लटक रहे थे। **कटि-सुत्तयं**—कटि-सूत्र से **कय-सोभे**—शोभायमान **पिणद्ध—गेवेज्ज-अंगुलेज्ज**—गले में गले के आभूषण और अंगुलियों में अंगूठियां पहन कर **जाव**—यावत् **कप्परुक्खे चेव**—कल्पवृक्ष के समान **अलंकिय**—अलंकृत और **विभूसिए**—विभूषित हुआ **णरिंद्रे**—नरेन्द्र **सकोरंट-मल्ल-दामेणं**—सकोरंट वृक्ष के पुष्पों की माला से तथा **धरिज्जमाणेणं**—धारण किये हुए **छत्तेणं**—छत्र से **जाव**—यावत् **ससिव्व**—चन्द्रमा के समान **पियदंसणे**—प्रिय-दर्शन वह **नरवति**—राजा, श्रेणिक **जेणेव**—जहां पर **बाहिरिया**—बाहरली **उवठाण-साला**—उपस्थान शाला थी और **जेणेव**—जहां पर **सिंहासणे**—सिंहासन था **तेणेव**—वहीं पर **उवागच्छइ**—आता है और **उवागच्छइत्ता**—वहां आकर **सिंहासणवरंसि**—श्रेष्ठ राज-सिंहासन पर **पुरत्थाभिमुहे**—पूर्व दिशा की ओर मुंह कर **निसीयइ**—बैठ जाता है और **निसीयइत्ता**—बैठ कर **कोडुंबिय**—कौटुम्बिक **पुरिसे**—पुरुषों को **सद्दावेइ**—आमन्त्रित करता है **सद्दावेइत्ता**—बुलाकर **एवं वयासी**—उनके प्रति ऐसा कहने लगाः—

मूलार्थ—उस काल और उस समय में राजगृह नाम वाला एक नगर

था । उसके बाहर गुणशील नामक चैत्य था । राजगृह नगर में श्रेणिक राजा राज्य करता था । किसी समय उस राजा ने स्नान कर, बलिकर्म, कौतुक, मङ्गल और प्रायश्चित्त कर तथा शिर में जल डाल कर स्नान किया । गले में माला पहनी, मणि और सुवर्ण के आभूषण पहने, हार और अर्द्धहार तथा तीन लड़ी की माला पहनी जिनमें भुम्बक लटक रहे थे, कटि सूत्र से शोभायमान होकर ग्रीवा के आभूषणों को धारण किया, अंगुलियों में अंगूठियां पहनीं । इस प्रकार वह कल्पवृक्ष की भांति आभूषणों से सुसज्जित हो गया । फिर सकोरिंट वृक्ष के पुष्पों की माला-युक्त छत्र धारण कर चन्द्रमा के समान प्रिय-दर्शन वाला राजा जहां पर बाहर की उपस्थान-शाला थी, जहां पर राजसिंहासन था, वहीं पर आगया । वहां आकर वह पूर्व दिशा की ओर मुंह कर उस श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ गया, बैठ कर उसने कुटुम्ब के (राज्याधिकारी) पुरुषों को बुलाया, बुलाकर वह उनसे इस प्रकार कहने लगा :—

टीका—इस सूत्र में संक्षेप से उपोद्घात दिया गया है । इसका विस्तृत वर्णन 'औपपात्तिकसूत्र' से जानना चाहिए । 'औपपात्तिकसूत्र' के उपाख्यान और इसमें इतना ही अन्तर है कि वहां नगरी का नाम चम्पा नगरी है और राजा का नाम कोणिक । किन्तु यहां नगर का नाम राजगृह और राजा का नाम श्रेणिक है । यहां पाठकों की सुविधा के लिए कुछ संक्षिप्त वर्णन हम दे देते हैं ।

इस अवसर्प्पिणी काल के चतुर्थ भाग के अन्तिम समय में राजगृह नाम का एक नगर था । वह अनेकानेक भवनों से अलङ्कृत और धन-धान्य से परिपूर्ण था । उस समय मगधदेश और राजगृह नगर के लोग अथवा सारे देश के लोग आनन्द-मय जीवन व्यतीत करते थे । नगर के बाहर की भूमि अत्यन्त रमणीय थी, जिसमें शालि, यव और इक्षु विशेष होते थे । नगर के प्रत्येक घर में गो आदि पशु विशेष रूप से पाले जाते थे । कोई गली ऐसी न थी जो अत्यन्त सुन्दर और ऊंचे २ भवनों से सुशोभित न हो । राज्य का प्रबन्ध इतना अच्छा था कि सारे नगर में चोर और उत्कोच (घूस) लेने वाले नाम-मात्र को भी न सुनाई देते थे । नगर में अनेक करोड़ाधीश थे । इसमें कई एक नाटक-मण्डलियां भी थीं, जो जनता की प्रसन्नता के लिए समय २ पर उच्च और शिक्षाप्रद खेल दिखाया करती थीं ।

नगर चारों ओर से प्राकार से घिरा हुआ था । उसके चारों ओर धनुषाकार खाई थी । खाई के बाहर फिर एक कोट था । प्राकार के चारों ओर दृढ़ द्वार और अति-निबिड (घने) द्वार थे ।

प्राकार का ऊपरी भाग चक्र, गदा, भुशुण्डी और शतघ्नी (तोप) आदि अनेक अस्त्र और शस्त्रों से सुसज्जित था । राज-मार्ग अत्यन्त विस्तृत और सदैव स्वच्छ रहता था । अनेक कला-कुशलों ने इसको सुन्दर बनाने में कुछ न छोड़ रखा था । नगर के द्वारों के कपाट इन्द्र-कीलों से जटित थे । वहां के लोग व्यापार-निपुण और शिल्प-कला-कुशल थे । इन कार्यों के लिए वह इतना प्रसिद्ध था कि देश-देशों के लोग इन कलाओं को सीखने के लिए यहां आते थे । उसकी कीर्ति सर्वत्र फैल गई थी ।

नगर के बाहर ईशान कोण में गुण-शील नामक एक यक्ष का यक्षायतन था । यह अपनी भव्यता और चित्ताकर्षकता के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध था । देश-देशों के लोग इसके दर्शन के लिए आते थे । इस चैत्य के चारों ओर एक उद्यान था, जो इसी नाम से प्रसिद्ध था । उस उद्यान के मध्य में एक अशोक वृक्ष था, जिसके चारों ओर अनेक वृक्ष थे । इसके नीचे एक सिंहासन की आकृति का एक शिला-पट्टक था । उद्यान अत्यन्त मनोहर लता और वृक्षों से घिरा हुआ था ।

राजगृह नगर में सम्पूर्ण राज-लक्षणों से युक्त श्रेणिक नाम राजा राज्य करता था । इसके प्रताप से सारे देश में शान्ति थी और प्रजा निर्विघ्न सुखों का अनुभव कर रही थी ।

एक समय राजा ने स्नान किया और शरीर की स्फूर्ति के लिए तैलादि मर्दन कर बलि-कर्म किया । तदनन्तर कौतुक (मस्तक पर तिलक), मङ्गल (सिद्धार्थक दध्यक्षतादि) तथा दुःस्वप्न आदि अमङ्गल को दूर करने के लिए पैर से भूमि का स्पर्श किया और गले में नाना प्रकार के मणि और सुवर्ण आदि के आभूषण पहने । एक अठारह लड़ी का हार, एक नौ लड़ी का अर्द्धहार तथा एक तीन लड़ी का हार धारण किया । कटि सूत्र से शरीर को अलङ्कृत कर फिर ग्रीवा के सम्पूर्ण आभूषणों को पहना । मणि-जटित सुवर्ण की मुद्रिकाओं से अंगुलियां सुशोभित कीं । मणि-जटित वीर-वाली पैरों में पहनीं । इस प्रकार शिर से पैर तक आभूषणों से विभू-

षित होकर वह कल्पवृक्ष के समान सुशोभित होने लगा । फिर सकोरंट वृक्ष के पुष्पों की माला-युक्त छत्र धारण कर स्नानागार से निकल कर इस प्रकार सुशोभित होने लगा जैसे बादलों से निकल कर चन्द्रमा होता है । वहां से आकर वह जहां उपस्थान-शाला (न्यायालय) थी, जहां वह राज-सिंहासन था, वहीं पर आकर पूर्व की ओर मुंह कर उस उच्च सिंहासन पर बैठ गया । तब उसने राज-कर्मचारियों को बुला कर उनसे कहा :—

गच्छह णं तुम्हे देवाणुप्पिया ! जाइं इमाइं राय-गिहस्स णयरस्स बहिया तं जहा—आरामाणि य उज्जाणाणि य आएसणाणि य आयतणाणि य देवकुलाणि य सभाओ य पवाओ य पणिय-गिहाणि य पणिय-सालाओ य छुहा-कम्मंताणि य वाणिय-कम्मंताणि य कट्ठ-कम्मंताणि य इंगाल-कम्मंताणि य वण-कम्मंताणि य दब्भ-कम्मंताणि य, जे तत्थेव महत्तरगा अण्णाया चिट्ठंति ते एवं वदह ।

गच्छत नु यूयं देवानुप्रियाः ! यानीमानि राजगृहनगरस्य बहिस्तद्यथा—आरामाश्चोद्यानानि चादेशनानि चायतनानि च देवकुलानि च सभाश्च प्रपाश्च पण्य-गृहाणि च पण्य-शालाश्च सुधा-कर्मान्तानि च वाणिज्य-कर्मान्तानि च काष्ठ-कर्मान्तानि चाङ्गारकर्मान्तानि च वन-कर्मान्तानि च दर्भ-कर्मान्तानि च, ये तत्र महत्तरका आज्ञकास्तिष्ठन्ति तानेवं वदत ।

पदार्थान्वयः—**देवाणुप्पिया**–हे देवों के प्रिय लोगो ! **तुम्हे**–तुम **गच्छह**–जाओ **णं**–वाक्यालङ्कार के लिए है **जाइं**–जो **इमाइं**–ये वक्ष्यमाण **रायगिहस्स**–

राजगृह **णयरस्स**–नगर के **बहिया**–बाहर स्थान हैं **तं जहा**–जैसे **आरामाणि य**–आराम-गृह और **उज्जाणाणि**–उद्यान **य**–और **आएसणाणि य**–शिल्पकला-स्थान (कारखाने) और **आयतणाणि य**–निर्णय-स्थान अथवा धर्मशाला आदि प्रमुख स्थान और **देवकुलाणि य**–देवकुल और **सभाओ य**–सभा-मण्डप **पवाओ य**–उदक-शाला और **पणिय-गिहाणि**–पण्य-गृह और **पणिय-सालाओ य**–पण्य-शालाएं और **छुहा-कम्मंताणि य**–भोजन-शाला अथवा चूने के भट्टे और **वाणिय-कम्मंताणि**–व्यापार की मण्डियां **य**–और **कट्ठ-कम्मंताणि**–लकड़ी के कारखाने **य**–और **इंगाल-कम्मंताणि**–कोयलों के ठेके और **वण-कम्मंताणि**–जंगलों के ठेके और **दब्भ-कम्मंताणि**–मुंजादि के काम करने अथवा बेचने के स्थान हैं **जे**–जो ये पूर्वोक्त स्थान हैं **तथेव**–इन स्थानों में जो **महत्तरगा**–अधिकारी लोग **अण्णया**–आज्ञा से कार्य करा रहे हैं **ते**–उनसे **एवं**–इस प्रकार जाकर **वदह**–कहो ।

मूलार्थ—हे देवों के प्रिय लोगो ! तुम जाओ और राजगृह नगर के बाहर जो निम्न-लिखित स्थान हैं, जैसे—आराम, उद्यान, शिल्प-शालाएं, आयतन, देवकुल, सभाएं, प्रपाएं, उदक-शालाएं, पण्य-गृह, पण्य-शालाएं, भोजन-शाला अथवा चूने के भट्टे, व्यापार की मण्डियां, लकड़ी के ठेके, कोयलों के ठेके, जंगलों के ठेके और मुंज आदि दर्भों के कारखाने हैं, उनके जितने भी अध्यक्ष आज्ञा से कार्य करा रहे हैं, उनसे जाकर इस प्रकार कहो ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि उक्त सिंहासन पर बैठ कर और राज्य के कार्य-कर्तृ-वर्ग को बुलाकर राजा ने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया :—

"हे देवों के प्रिय लोगो ! तुम जाओ और राजगृह नगर के बाहर जो ये निम्न-निर्दिष्ट स्थान हैं, जैसे जहां पर स्त्री-पुरुष रमण करते हैं, जो माधवी आदि लताओं से सुशोभित 'आराम' हैं, जो पत्र, पुष्प और फलों से सुशोभित तथा अनेक जीवों के आश्रयभूत उद्यान हैं, धर्म-शालाएं हैं, वाद-विवाद के स्थान हैं, निर्णय के स्थान हैं, आयतन हैं, देव-स्थान हैं, सभा-मण्डप हैं, उदक-शालाएं हैं जहां पर ग्रीष्म ऋतु में जल का प्रबन्ध होता है, सम्पन्न दुकाने हैं, पण्य-शालाएं हैं, भोजन-शालाएं अथवा चूने के भट्टे हैं, व्यापार की बड़ी २ मण्डियां हैं, लकड़ी के ठेके हैं, कोयलों

के ठेके हैं, जंगलों के ठेके हैं और मुंज आदि अनेक प्रकार के दर्भों के कारखाने तथा उनके बेचने के स्थान हैं, उनके जितने भी अध्यक्ष अथवा अधिकारी-वर्ग आज्ञा से कार्य करा रहे हैं तथा (आदेशादीनाम्—आज्ञाया अत्यर्थं ज्ञातारोऽधिपतित्वेन प्रसिद्धाः) जो अधिपति वहां रहते हैं उन सब से इस प्रकार कहो ।

इस सूत्र से यह भली भांति सिद्ध होता है की साधुओं के लिए स्थान नियत नहीं होता । उनकी जहां इच्छा हो वहीं निवास कर सकते हैं ।

सूत्रकार महाराज की आज्ञा का निम्न-लिखित सूत्र में प्रकाश करते हैं :—

एवं खलु देवाणुप्पिया ! सेणिए राया भंभसारे आणवेइ । जदा णं समणे भगवं महावीरे आदिगरे तित्थयरे जाव संपाविओ-कामे पुव्वानुपुव्विं चरेमाणे गामाणुगामे दुतिज्जमाणे सुहं सुहेण विहरमाणे संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरिज्जा, तया णं तुम्हे भगवओ महावीरस्स अहापडिरूवं उग्गहं अणुजाणह, अहापडिरूवं उग्गहं अणुजाणेज्जा सेणियस्स रन्नो भंभसारस्स एयमट्ठं पियं णिवेदह ।

एवं खलु देवानां प्रियाः ! श्रेणिको राजा भंभसार आज्ञापयति । यदा नु श्रमणो भगवान् महावीर आदिकरस्तीर्थंकरो यावत्संप्राप्ति-कामः पूर्वानुपूर्व्या चरन्, ग्रामानुग्रामं द्रुतन्, सुखं सुखेन विहरन्, संयमेन तपसात्मानं भावयन् विहरेत्तदा नु यूयं भगवतो महावीरस्य यथाप्रतिरूपमवग्रहमनुजानीध्वं यथाप्रतिरूपमवग्रहमनुज्ञाय च श्रेणिकस्य राज्ञ एनमर्थं प्रियं निवेदयत ।

पदार्थान्वयः—**एवं**—इस प्रकार **खलु**—अवधारण अर्थ में है **देवाणुप्पिया**—हे देवताओं के प्रिय लोगो ! **सेणिए राया**—श्रेणिक राजा **भंभसारे**—बिम्बसार या भंभसार **आणवेइ**—आज्ञा करता है **जदा णं**—जिस समय **समणे**—श्रमण **भगवं**—भगवान् **महावीरे**—महावीर **आदिगरे**—धर्म के प्रवर्तक **तित्थयरे**—चार तीर्थ स्थापन करने वाले **जाव**—यावत् **संपाविओ-कामे**—मोक्ष-गमन की कामना करने वाले **पुव्वानुपुव्विं**—अनुक्रम से **चरमाणे**—चलते हुए **गामाणुगामे**—एक ग्राम से दूसरे ग्राम में **दुतिज्जमाणे**—जाते हुए **सुहं सुहेण**—सुख-पूर्वक **विहरमाणे**—विचरते हुए **संजमेण**—संयम और **तवसा**—तप से **अप्पाणं**—अपनी आत्मा की **भावेमाणे**—भावना करते हुए **विहरिज्जा**—यहां विहार करें अर्थात् पधार जायं **तया णं**—उस समय **तुम्हे**—तुम लोग **भगवओ**—भगवान् **महावीरस्स**—महावीर स्वामी के लिए **अहापडिरूवं**—साधु के ग्रहण करने के योग्य स्थान की **उग्गहं अणुजाणह**—आज्ञा दो फिर **अहापडिरूवं**—उचित स्थान की **उग्गहं अणुजाणेज्जा**—आज्ञा देकर **सेणियस्स**—श्रेणिक **रन्नो**—राजा **भंभसारस्स**—भंभसार से **एयं**—इस **पियं**—प्रिय **अट्ठं**—समाचार को **णिवेदह**—निवेदन करो ।

मूलार्थ—इस प्रकार हे देवों के प्रिय लोगो ! श्रेणिक राजा भंभसार आज्ञा करता है कि जब आदिकर, तीर्थ करने वाले तथा मोक्ष-गमन की कामना करने वाले श्री भगवान् महावीर स्वामी अनुक्रम से सुख-पूर्वक एक गांव से दूसरे गांव में जाते हुए और अपने आप में अपनी आत्मा की भावना करते हुए इस नगर में पधार जायं तो तुम लोग श्री महावीर स्वामी के लिए साधु के ग्रहण करने योग्य पदार्थों की आज्ञा दो और आज्ञा देकर श्रेणिक राजा भंभसार से इस प्रिय समाचार को निवेदन करो ।

टीका—इस सूत्र में राजा की आज्ञा का वर्णन किया गया है । महाराज श्रेणिक ने राज-कर्मचारियों को आज्ञा दी कि तुम लोग जाकर पूर्वोक्त स्थानों के अध्यक्षों से कहो कि यदि सुख-पूर्वक तीर्थ करते हुए भगवान् महावीर स्वामी इस नगर में पधार जायं तो तुम लोग उनके लिए साधु के योग्य पीठ संस्तारक आदि पदार्थों की आज्ञा दे देना और आज्ञा देकर राजा से उनके आगमन-रूप प्रिय समाचार निवेदन करना । इस कथन से महाराज की श्री भगवान् के प्रति असीम

भक्ति ध्वनित होती है । साथ ही यह बात भी भली भांति जानी जाती है कि श्री भगवान् के ठहरने का राजगृह नगर में कोई नियत स्थान नहीं था ।

अब सूत्रकार कहते हैं कि राज-पुरुषों ने राजाज्ञा को किस प्रकार पालन किया।

तते णं ते कोडुंबिय-पुरिसे सेणिएणं रन्ना भंभसारेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ जाव हियया जाव एवं सामिति आणाए विणएणं पडिसुणेइ२त्ता एवं सेणियस्स रन्नो अंतिकाओ पडिनिक्खमइ२त्ता रायगिह-नयरं मज्झं-मज्झेण निगच्छइ२त्ता जाइं इमाइं भवंति रायगिहस्स बहिया आरामाणि वा जाव जे तत्थ महत्तरगा अण्णाया चिट्ठंति ते एवं वयंति जाव सेणियस्स रन्नो एयमट्ठं पियं निवेदिज्ञा पियं भवतु दोच्चंपि तच्चंपि एवं वदइ२त्ता जाव जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया ।

ततस्ते कौटुम्बिक-पुरुषाः श्रेणिकेन राज्ञा भंभसारेणैव-मुक्ताः सन्तो यावद्धृदयेन हृष्टास्तुष्टा यावदेवं स्वामिन् ! इत्याज्ञां विनयेन प्रतिशृण्वन्ति, प्रतिश्रुत्य च श्रेणिकस्य राज्ञोऽन्ति-कात्प्रतिनिष्क्रामन्ति, प्रतिनिष्क्रम्य राजगृह-नगरं मध्यं-मध्येन निर्गच्छन्ति, निर्गत्य य एते राजगृहस्य बहिरारामा वा यावद् ये तत्र महत्तरका आज्ञकास्तिष्ठन्ति तानेवं वदन्ति यावच्छ्रेणि-कस्य राज्ञ एनमर्थं प्रियं निवेदयत प्रियं युष्माकं भवतु एवं द्विवारं त्रिवारमपि वदन्ति, वदित्वा यावद् यस्या दिशः प्रादुर्भूता तामेव दिशं प्रतिगताः ।

पदार्थान्वयः—**ततो णं**–तदनु **ते**–वे **कोडुंबिय-पुरिसे**–राज-कर्मचारी लोग **सेणिएणं**–श्रेणिक **रन्ना**–राजा **भंभसारेणं**–भंभसार के द्वारा **एवं**–इस प्रकार **वुत्ता समाणा**–कहे जाने पर **जाव**–यावत् **हियया**–हृदय से **हट्ठतुट्ठ**–हृष्ट और तुष्ट होकर **जाव**–यावत् **सामिति**–हे स्वामिन् ! **एवं**–इस प्रकार ही होगा यह कहकर **आणाए**–आज्ञा को **विणएणं**–विनय से **पडिसुणेइ**–अङ्गीकार करते हैं **पडिसुणेइत्ता** और अङ्गीकार कर **एवं**–इस प्रकार **ते**–वे पुरुष **सेणियस्स**–श्रेणिक **रन्नो**–राजा के **अंतिकाओ**–समीप से **पडिनिक्खमइ**–चले जाते हैं और **पडिनिक्खमइत्ता**–जाकर **रायगिह-नयरं**–राजगृह नगर के **मज्झं-मज्झेणं**–बीचों-बीच **निगच्छइ२त्ता**–निकलते हैं और निकल कर **जाइं**–जो **इमाइं**–ये स्थान **भवंति**–हैं जैसे–**रायगिहस्स**–राजगृह नगर के **बहिया**–बाहर **आरामाणि वा**–आराम हैं अथवा **जाव**–यावत् **जे**–जो **तत्थ**–वहां **महत्तरगा**–अधिकारी लोग **अणया**–आज्ञा-कर **चिट्ठंति**–स्थित हैं **ते**–उनको वे पुरुष **एवं वयंति**–इस प्रकार कहते हैं **जाव**–यावत् **सेणियस्स**–श्रेणिक **रन्नो**–राजा से **एयं**–इस **पियं**–प्रिय **अट्ठं**–समाचार को **निवेदेज्जा**–निवेदन करो **पियं**–प्रिय **भवतु**–हो इस प्रकार **दोच्चंपि**–दो बार **तच्चंपि**–तीन बार **एवं**–इस प्रकार **वदइ२त्ता**–कहा और कहकर **जाव**–यावत् **जामेव दिसं**–जिस दिशा से **पाउब्भूया**–प्रकट हुए थे **तामेव**–उसी **दिसं**–दिशा को **पडिगया**–चले गये ।

मूलार्थ—इस के अनन्तर श्रेणिक राजा भंभसार के वचनों को सुनकर 'हे स्वामिन् ! ऐसा ही होगा' कहकर राज-पुरुषों ने विनय से राजा की आज्ञा सुनी । आज्ञा को शिरोधार्य कर वे राजा के पास से चले गये । वहां से निकल कर राजगृह नगर के बीचों-बीच गये । वहां से नगर के बाहर जितने भी आराम आदि थे उनमें जितने भी कर्मचारी आज्ञा-कर कार्य कर रहे थे उनसे इस प्रकार कहने लगे कि (भगवान् के आगमनरूप) इस प्रिय समाचार को (भगवान् के आते ही) श्रेणिक राजा से निवेदन करो, तुम्हारा प्रिय हो । इस प्रकार दो-तीन बार कह कर वे लोग जिस दिशा से आये थे उसी दिशा में चले गये ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि जब श्रेणिक राजा ने राज-पुरुषों को आज्ञा प्रदान की तो उन्होंने इस प्रकार उसका पालन किया । आज्ञा-पालन विषय मूलार्थ में ही स्पष्ट है और विशेष उल्लेखनीय कुछ नहीं । सूत्र में

बहुधा भूतकाल के स्थान पर वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है, यह ऐतिहासिक होने से दोषाधायक नहीं ।

अब सूत्रकार श्री भगवान् के विषय में कहते हैं :—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आइगरे तित्थयरे जाव गामाणुगामं दुइज्जमाणे जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, तए णं रायगिहे नयरे सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर एवं जाव परिसा निग्गया जाव पज्जुवासइ ।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये भगवान् महावीर आदिकरस्तीर्थकरो यावद् ग्रामानुग्रामं द्रवन् यावदात्मानं भावयन् विहरति, तदानु राजगृहे नगरे शृङ्गाटक-त्रिक-चतुष्क-चत्वरेषु, एवं यावत्परिषन्निर्गता यावत्पर्युपासति ।

पदार्थान्वयः—**तेणं कालेणं**—उस काल और **तेणं समएणं**—उस समय में **समणे**—श्रमण **भगवं**—भगवान् **महावीरे**—महावीर **आइगरे**—धर्म का संस्थापन करने वाले **तित्थयरे**—तीर्थ करने वाले **जाव**—यावत् **गामाणुगामं**—एक गांव से दूसरे गांव में **दुइज्जमाणे**—फिरते हुए **जाव**—यावत् **अप्पाणं**—अपने आत्मा की **भावेमाणे**—भावना करते हुए **विहरइ**—विचरते हैं **तए णं**—तब **रायगिहे**—राजगृह **नयरे**—नगर के **सिंहाडग**—दोराहे **तिय**—तिराहे **चउक्क**—चौराहे और अन्य **चच्चर**—प्रसिद्ध चौकों में **एवं**—इस प्रकार **जाव**—यावत् **परिसा**—परिषत् **निग्गया**—भगवान् के पास गई और **जाव**—यावत् **पज्जुवासइ**—धर्म-कथा सुनने के लिए उनकी उपासना करने लगी ।

मूलार्थ—उस काल और उस समय धर्म के संस्थापक, तीर्थ करने वाले और अपनी आत्मा की भावना करते हुए विचरण करने वाले श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी एक गांव से दूसरे गांव में विचरते हैं । तब राजगृह नगर के दोराहे,

तिराहे, चौराहे और अन्य प्रसिद्ध चौकों में परिषत् श्री भगवान् के पास गई और धर्म सुनने की इच्छा से विनय-पूर्वक उनकी पर्युपासना करने लगी।

टीका—उस काल और उस समय में धर्म के प्रवर्तक, चार तीर्थ स्थापन करने वाले श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी एक गांव से दूसरे गांव में विचरते हुए तथा संयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा को अलङ्कृत करते हुए राज-गृह नगर के गुणशैल नामक चैत्य में विराजमान हो गये। तब नगर के त्रिकोण, चतुष्कोण तथा अन्य बहुकोण मार्गों में, भगवान् के आगमन की सूचना मिलने पर, जनता भगवान् के दर्शन करने के लिए तथा उनका उपदेश सुनने के लिए उत्सुकता से एकत्रित हो गई। प्रत्येक व्यक्ति असीम आनन्द का अनुभव करते हुए भगवान् का यशोगान कर रहा था। चारों ओर उन्हीं के दर्शन का माहात्म्य गाया जा रहा था। सारा नगर इसी कोलाहल से परिपूर्ण था। तदनन्तर सारी जनता भक्ति-पूर्वक श्री भगवान् के दर्शन के लिए तथा उनके मुखारविन्द से निकले हुए उपदेशामृत पान करने के लिए गुणशैल चैत्य की ओर चल पड़ी। इस प्रकार श्री भगवान् के चरण-कमलों में उपस्थित हो कर भक्ति और प्रेम-पूर्वक उनकी पर्युपासना करने लगी।

अब सूत्रकार उक्त विषय से ही सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

तते णं महत्तरगा जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ२त्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदंति नमसंति वंदित्ता नमंसित्ता नाम-गोयं पुच्छंति नाम-गोयं पुच्छित्ता नाम-गोयं पधारंति पधारित्ता एगओ मिलंति एगओ मिलित्ता एगंतमवक्कमंति एगंतमवक्क-मित्ता एवं वयासी, जस्स णं देवाणुप्पिया सेणिए राया भंभसारे दंसणं कंक्खति, जस्स णं देवाणुप्पिया सेणिए राया दंसणं पीहेति, जस्स णं देवाणुप्पिया सेणिए

राया दंसणं पत्थति, जस्स णं देवाणुप्पिया सेणिए राया दंसणं अभिलसति, जस्स णं देवाणुप्पिया सेणिए राया नामगोत्तस्सवि सवणयाए हट्ठतुट्ठे जाव भवति से णं समणे भगवं महावीरे आदिगरे तित्थयरे जाव सव्वण्णु सव्वदंसी पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दुतिज्ज-माणे सुहं सुहेण विहरमाणे इह आगए इह समोसढे इह संपत्ते जाव अप्पाणं भावेमाणे सम्मं विहरति ।

ततो नु महत्तरका यत्रैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तत्रै-वोपागच्छन्ति, उपागत्य च श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिष्कृत्वा वन्दन्ति नमस्यन्ति वन्दित्वा नत्वा च नाम-गोत्रे पृच्छन्ति, नाम-गोत्रे आपृच्छय नाम-गोत्रे संप्रधारयन्ति, संप्रधार्यैकतो मिलन्ति, एकतो मिलित्वैकान्तमपक्रामन्ति, एकान्तमपक्रम्यैवमवादिषुः—यस्य, देवानां प्रियाः !, श्रेणिको राजा भंभसारो दर्शनं काङ्क्षति, यस्य, देवानां प्रियाः !, श्रेणिको राजा दर्शनं स्पृहयति, यस्य, देवानां प्रियाः !, श्रेणिको राजा दर्शनं प्रार्थयति, यस्य, देवानां प्रियाः !, श्रेणिको राजा दर्शनमभिलषति, यस्य, देवानां प्रियाः !, श्रेणिको राजा नाम-गोत्रयोः श्रवणतया हृष्टस्तुष्टो यावद्भवति, स च श्रमणो भगवान् महावीर आदिकरस्तीर्थकरो यावत्स-र्वज्ञः सर्वदर्शी पूर्वानुपूर्व्या चरन् ग्रामानुग्राममनुद्रवन् सुखं सुखेन विहरन्निहागत इह समवसृत इह संप्राप्तो यावदात्मानं भावयन् सम्यग् विहरति ।

पदार्थान्वयः—**तते**—इसके अनन्तर **णं**—वाक्यालङ्कार के लिये है **महत्तरगा**—उक्त स्थानों के अधिकारि-वर्ग **जेणेव**—जहां पर **समणे**—श्रमण **भगवं**—भगवान् **महावीरे**—महावीर थे **तेणेव**—उसी स्थान पर **उवागच्छइ**—आते हैं और **उवागच्छइत्ता**—उस स्थान पर आकर **समणं**—श्रमण **भगवं**—भगवान् **महावीरं**—महावीर स्वामी की **तिक्खुत्तो**—तीन बार प्रदक्षिणा कर **वंदंति**—वन्दना करते हैं **नमसंति**—नमस्कार करते हैं और **वंदित्ता**—वन्दना करके और **नमंसित्ता**—नमस्कार करके **नाम-गोयं**—श्री भगवान् का नाम और गोत्र **पुच्छंति**—पूछते हैं **नाम-गोयं**—नाम और गोत्र को **पुच्छित्ता**—पूछ कर **नाम-गोयं**—नाम और गोत्र को **पधारंति**—हृदय में धारण करते हैं **पधारित्ता**—धारण कर **एगओ**—एक स्थान पर **मिलंति**—मिलते हैं **एगओ मिलित्ता**—एक स्थान पर मिल कर **एगंतं**—एकान्त स्थान पर **अवक्कमंति**—चले जाते हैं **एगंतमवक्कमित्ता**—एकान्त स्थान पर जाकर **एवं**—इस प्रकार **वयासी**—कहने लगे **देवाणुप्पिया**—हे देवों के प्रिय लोगो **जस्स णं**—जिसके **दंसणं**—दर्शन की **सेणिए राया**—श्रेणिक राजा **भंभसारे**—भंभसार **कंखति**—इच्छा करता है **देवाणुप्पिया**—हे देवों के प्रिय लोगो **जस्स णं**—जिसके **दंसणं**—दर्शन की **सेणिए राया**—श्रेणिक राजा **पीहेइ**—स्पृहा करता है **देवाणुप्पिया**—हे देवों के प्रिय जनो **जस्स णं**—जिसके **दंसणं**—दर्शनों की **सेणिए राया**—श्रेणिक राजा **पत्थेति**—प्रार्थना करता है **देवाणुप्पिया**—हे देवों के प्रियो ! **जस्स णं**—जिसके **दंसणं**—दर्शन की **सेणिए राया**—श्रेणिक राजा **अभिलसति**—अभिलाषा करता है **देवाणुप्पिया**—हे देवों के प्रियो ! **जस्स णं**—जिसके **सेणिए राया**—श्रेणिक राजा **नाम-गोत्तस्सवि**—नाम और गोत्र के भी **सवणयाए**—सुनने से **हट्ठतुट्ठ**—हर्षित और सन्तुष्ट **जाव**—यावत् **भवति**—होता है **से णं**—वह **समणे**—श्रमण **भगवं**—भगवान् **महावीरे**—महावीर स्वामी, **आदिगरे**—धर्म के प्रवर्तक, **तित्थयरे**—चार तीर्थ स्थापन करने वाले **जाव**—यावत् **सव्वण्णु**—सर्वज्ञ और **सव्वदंसी**—सर्वदर्शी **पुव्वाणुपुव्वीं**—अनुक्रम से **चरमाणे** चलते हुए **गामाणुगामं**—एक ग्राम से द्वितीय ग्राम में **दुतिज्जमाणे**—जाते हुए **सुहं सुहेणं**—सुख-पूर्वक **विहरमाणे**—विचरते हुए **इह आगए**—यहां पधार गए हैं **इह संपत्ते**—इस राजगृह नगर के बाहिर गुणशैल नामक चैत्य में विराजमान हो गए हैं **इह समोसढे**—इस गुणशैल नामक चैत्य में विद्यमान हैं **जाव**—यावत् **अप्पाणं**—अपने आत्मा की **भावेमाणे**—संयम और तप के द्वारा भावना करते हुए **सम्मं**—अच्छी तरह से **विहरति**—विचरते हैं **णं**—पद सर्वत्र वाक्यालङ्कार के लिए है ।

मूलार्थ—इसके अनन्तर वे आराम आदि के अध्यक्ष जहां श्रमण भगवान् महावीर स्वामी थे वहां आये और उन्होंने भगवान् की तीन बार प्रदक्षिणा कर उनकी वन्दना की और उनको नमस्कार किया। वन्दना और नमस्कार के अनन्तर उनका नाम और गोत्र पूछा और उसको हृदय में धारण किया। इसके पश्चात् वे सब एकत्रित हो गये और एकान्त स्थान पर जाकर परस्पर इस प्रकार कहने लगे—हे देव-प्रियो ! जिनके दर्शन की श्रेणिक राजा भंभसार इच्छा, स्पृहा, प्रार्थना और अभिलाषा करते हैं तथा जिनके नाम और गोत्र सुनकर श्रेणिक राजा हर्षित और सन्तुष्ट हो जाते हैं वह धर्म के प्रवर्तक, चारों तीर्थों के स्थापन करने वाले, "नमोत्थु णं" सूत्र में उक्त सम्पूर्ण गुणों के धारण करने वाले, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भगवान् महावीर स्वामी अनुक्रम से चलते हुए, एक ग्राम से दूसरे ग्राम में सुख-पूर्वक विचरते हुए इस राजगृह नगर में पधार गए हैं और नगर के बाहर गुणशील नामक चैत्य में विराजमान हैं तथा संयम और तप से अपनी आत्मा को अलंकृत करते हुए विचरते हैं।

टीका—इस सूत्र में भगवान् के गुणशैल चैत्य में पधारने का तथा अध्यक्षों के परस्पर वार्तालाप का वर्णन किया गया है। यह सब मूलार्थ में स्पष्ट ही है। भगवान् का नाम श्री वर्द्धमान स्वामी और गोत्र काश्यप जानना चाहिए। यद्यपि सूत्र में कई शब्द एकार्थक जैसे प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं। जैसे–वन्दना का तात्पर्य गुण-कीर्तन करना है और नमस्कार का शिर झुका कर नमस्कार करना। बाकी के शब्दों के अर्थ निम्न-लिखित हैं:—

काङ्क्षा—प्राप्त वस्तु के न छोड़ने की आशा।

स्पृहा—अलब्ध वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा।

प्रार्थना—अलब्ध की सहायकों से याचना करना।

अभिलाषा—प्रिय वस्तु की कामना बनी रहनी।

संप्राप्त—का अर्थ राजगृह नगर बाहर गुणशैल नामक चैत्य में विराजमान होने से है। इसी प्रकार अन्य शब्दों के विषय में भी जानना चाहिए।

अब सूत्रकार इसी विषय से सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं:—

तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! सेणियस्स रन्नो एय-

मट्ठं निवेदेमो पियं भे भवतु त्ति कट्टु अण्णमन्नस्स वयणं पडिसुणइ२त्ता जेणेव रायगिहे नगरे तेणेव उवागच्छइ२त्ता रायगिहनगरं मज्झं-मज्झेण जेणेव सेणियस्स रन्नो गिहे जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छइ२त्ता सेणियं रायं करयलं परिग्गहिय जाव जएणं विजएणं वद्धावेइ वद्धावित्ता एवं वयासी—'जस्स णं सामी दंसणं कंक्खति जाव से णं समणे भगवं महावीरे गुणसिले चेइए जाव विहरति तस्स णं देवाणुप्पिया पियं निवेदेमो । पियं भे भवतु' ।

तद् गच्छामो नु देवानां प्रियाः ! श्रेणिकस्य राज्ञ एनमर्थं निवेदयामः । प्रियं भवतां भवतु इति कृत्वान्योन्यस्य वचनं प्रतिश्रृण्वन्ति, प्रतिश्रुत्य यत्रैव राजगृहं नगरं तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य राजगृहनगरं मध्यं-मध्येन यत्रैव श्रेणिकस्य राज्ञो गृहं यत्रैव श्रेणिको राजा तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य श्रेणिकं राजानम्, करतले परिगृह्य, यावद् जयेन विजयेन वर्द्धापयन्ति, वर्द्धापयित्वैवमवादिषुः—'यस्य नु स्वामी दर्शनं काङ्क्षति यावत् सो नु भगवान् महावीरो गुणशीले चैत्ये यावद् विहरति तस्य नु देवानां प्रियाः प्रियं निवेदयामः । प्रियं भवतां भवतु' ।

पदार्थान्वयः—तं-अतः देवाणुप्पिया-देवों के प्रिय गच्छामो णं-हम जाते हैं सेणियस्स-श्रेणिक रन्नो-राजा से एयमट्ठं-इस शुभ समाचार को निवेदेमो-निवेदन करते हैं भे-आपका पियं भवतु-प्रिय हो त्ति कट्टु-इस प्रकार कह कर अण्णमन्नस्स-परस्पर एक दूसरे के वयणं-वचन को पडिसुणइ-प्रतिश्रवण

करते हैं **पडिसुणइत्ता**–प्रतिश्रवण कर **जेणेव**–जहां **रायगिहे**–राजगृह **नगरे**–नगर है **तेणेव**–वहीं **उवागच्छइ**–आते हैं **उवागच्छइत्ता**–वहां आकर **रायगिह**–राजगृह **नगरं**–नगर के **मज्झं-मज्झेणं**–बीचों-बीच **जेणेव**–जहां पर **सेणियस्स**–श्रेणिक **रन्नो**–राजा का **गिहं**–राज-भवन था और **जेणेव**–जहां पर **सेणिए**–श्रेणिक **राया**–राजा था **तेणेव**–वहीं पर **उवागच्छइ**–आते हैं **उवागच्छइत्ता**–वहां आकर **सेणियं रायं**–श्रेणिक राजा के प्रति **करयलं**–करतलों को **परिगहिय**–एकत्र कर (हाथ जोड़ कर) **जाव**–यावत् **जएणं**–स्वदेश में जय और **विजएणं**–परदेश में विजय हो **वद्धावेइ**–इस प्रकार मुंह से कहते हैं **वद्धावेइत्ता**–वर्द्धापन करके फिर **एवं वयासी**–इस प्रकार कहने लगे **सामी**–हे स्वामिन् ! **जस्स णं**–जिसके **दंसणं**–दर्शन की श्रीमान् **कंक्खति**–इच्छा रखते हैं **जाव**–यावत् **से णं**–वह **समणे**–श्रमण **भगवं**–भगवान् **महावीरे**–महावीर **गुणसिले चेइए**–गुणशील चैत्य में **जाव**–यावत् **विहरति**–विचरते हैं **देवाणुप्पिया**–देवों के प्रिय (हम) **तस्स णं**–उनके आगमन-रूप **पियं**–प्रिय समाचार **निवेदेमो**–आप से निवेदन करते हैं। अतः **भे**–श्रीमान का **पियं**–प्रिय **भवतु**–हो।

मूलार्थ—अतः हे देवों के प्रियो ! हम चलते हैं और श्रेणिक राजा से इस प्रिय समाचार को निवेदन करते हैं, आपका प्रिय हो, इस प्रकार एक दूसरे को कहते हैं। इसके अनन्तर जहां राजगृह नगर है वहां जाकर नगर के बीचों-बीच जहां श्रेणिक राजा का राज-भवन है, जहां श्री महाराज विराजमान थे वहां गये। वहां जाकर उन्होंने हाथ जोड़ कर महाराज को जय और विजय की बधाई दी और कहने लगे—'हे स्वामिन् ! जिनके दर्शनों की श्रीमान् को उत्कट इच्छा है वह श्रमण भगवान् महावीर स्वामी नगर के बाहर गुणशील नामक चैत्य में विराजमान हैं। अतः उनके आगमन-रूप प्रिय समाचार हम श्रीमान् से निवेदन करते हैं। श्रीमान् को यह समाचार प्रिय हो'।

टीका—इस सूत्र में केवल इतना ही वर्णन किया गया है कि पूर्वोक्त अध्यक्षों ने महाराज श्रेणिक को श्री भगवान् महावीर के आगमन का समाचार सुनाया। शेष सब मूलार्थ में स्पष्ट ही है। किन्तु "जयः—परैरनभिभूयमानता प्रताप-वृद्धिश्च, विजयः–परेषामसहमानानामभिभवः, अथवा जयः स्वदेशे, विजयः परदेशे

भवति । ते च जयेन विजयेन च वर्द्धस्वेत्याशिषं प्रायुञ्जन्त" अर्थात् शत्रु के द्वारा तिरस्कृत न होना और प्रताप-वृद्धि को जय कहते हैं और जो अपनी उन्नति को देखकर जलते हों उनको उसका प्रतिफल देना विजय कहलाता है। अथवा जय अपने देश में और विजय दूसरे देशों पर होती है ।

सूत्र का तात्पर्य केवल इतना ही है कि अध्यक्षों ने महाराज के पास जाकर श्रीभगवान् के आगमन का प्रिय और शुभ समाचार सुना दिया । महाराज ने आदर-पूर्वक तथा प्रसन्नता से यह समाचार सुना ।

इस के अनन्तर क्या हुआ यह अब सूत्रकार स्वयं कहते हैं :—

तते णं से सेणिए राया तेसिं पुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हियए, सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ२त्ता जहा कोणिआ जाव वंदति नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता तेसिं पुरिसे सक्कारेंति समाणेंति, सक्कारित्ता समाणित्ता विउलं जीवियारिहं पियदाणं दलइ२त्ता पडिविसज्जेति, पडिविसज्जित्ता नगरगुत्तियं सद्दावेइ२त्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! रायगिहं नगरं सब्भिन्तरं बाहरिय आसिय समज्जिय उवलित्तइ२त्ता जाव करित्ता पच्चप्पिणांति ।

ततो नु स श्रेणिको राजा तेषां पुरुषाणामन्तिकादेनदर्थं श्रुत्वा निशम्य यावद्धृदयेन हृष्टस्तुष्टः सिंहासनादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थाय यथा कोणिको यावद् वन्दति नमस्यति, वन्दित्वा नत्वा च तान् पुरुषान् सत्करोति, सम्मानयति, सत्कृत्वा सम्मान्य च विपुलं जीविताहँ प्रीतिदानं ददाति, दत्त्वा प्रतिविस-

जेति, प्रतिविसर्ज्य नगर-गोपकान् शब्दापयति, शब्दापयित्वैवमवादीत्—क्षिप्रमेव भो देवानां प्रियाः ! राजगृहं नगरं साभ्यन्तर-बाह्यमासिच्य सम्माज्योंपलेपयत, उपलिप्य यावत्कारयित्वा प्रत्यर्पयन्ति ।

पदार्थान्वयः—तते णं–इसके अनन्तर से–वह सेणिए–श्रेणिक राया–राजा तेसिं–उन पुरिसाणं–पुरुषों के अंतिए–पास से एयमट्ठं–इस समाचार को सोच्चा–सुनकर निसम्म–विचार-पूर्वक उसका अवधारण कर जाव–यावत् हियए–हृदय में हट्ठतुट्ठे–हर्षित और सन्तुष्ट हुआ तथा सीहासणाओ–राज-सिंहासन से अब्भुट्ठेइ–उठता है अब्भुट्ठेइत्ता–उठकर जहा–जैसे कोणिओ–कोणिक राजा जाव–यावत् वंदति–स्तुति करता है नमंसइ–शिरो-नमन करता है वंदित्ता–वंदना कर और नमंसित्ता–नमस्कार कर तेसिं–उन पुरिसे–पुरुषों का सक्कारेंति–सत्कार करता है और सम्माणेंति–सम्मान करता है, सक्कारित्ता–सत्कार कर और सम्माणित्ता–सम्मान कर विउलं–बहुत सा जीवियारिहं–जीवन पर्यन्त निर्वाह के योग्य पियदाणं–प्रीति दान दलइ–देता है दलइत्ता–देकर पडिविसज्जइ–उनका विसर्जन करता है अर्थात् अपने २ स्थान पर जाने की आज्ञा देता है पडिविसज्जइत्ता–प्रतिविसर्जन कर नगर-गुत्तियं–नगर के रक्षकों को सद्दावेइ–बुलाता है सद्दावेइत्ता–बुला कर एवं वयासी–इस प्रकार कहने लगा भो देवाणुप्पिया–हे देवों के प्रियो ! खिप्पामेव–शीघ्र ही रायगिहं–राजगृह नगरं–नगर को सब्भिंतरं बाहरियं–भीतर और बाहर आसिय–जल से सींच कर सम्मज्जिय–सम्मार्जित कर उवलित्तइ–लिपवा दो उवलित्तइत्ता–लेपन कर जाव–यावत् करित्ता–उक्त कार्य करा कर पच्चप्पिणंति–वे लोग राजा के पास आकर निवेदन करते हैं कि उक्त सब कार्य यथोचित रीति से हो गया है ।

मूलार्थ—इसके अनन्तर वह श्रेणिक राजा उन पुरुषों से इस समाचार को सुनकर और विचार-पूर्वक हृदय में अवधारण कर हृदय में हर्षित और सन्तुष्ट हुआ और फिर सिंहासन से उठा, उठकर कोणिक राजा के समान उसने वन्दना और नमस्कार किया । तदनन्तर उन पुरुषों का सत्कार और सन्मान

किया और फिर उनको जीवन-निर्वाह के योग्य प्रीति-दान देकर विदा किया। उनको विदा कर नगर-रक्षकों को बुलाया और उनसे कहा कि हे देवों के प्रियो! राजगृह नगर को भीतर और बाहर अच्छी तरह से सींच कर और सम्मार्जित कर लिपवा डालो। इसके पश्चात् वे सब कार्य ठीक करा कर राजा से निवेदन करते हैं।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि जब श्रेणिक राजा ने अध्यक्षों के मुख से श्री भगवान् महावीर स्वामी जी के आगमन का समाचार सुना तो शीघ्र ही राज-सिंहासन से उठ खड़ा हुआ। फिर पाद-पीठ द्वारा सिंहासन से नीचे उतरा और एक-शाटिकाकार उत्तरासन कर जल से मुखादि प्रक्षालन कर जिस ओर श्री भगवान् विराजमान थे उसी दिशा की ओर सात-आठ कदम गया और फिर विधि-पूर्वक उसने 'नमोत्थु णं' द्वारा सिद्धों और श्री भगवान् को नमस्कार किया तथा उनकी वन्दना कर अपनी असीम भक्ति का परिचय दिया। इस के अनन्तर फिर राज-सिंहासन पर बैठकर उन पुरुषों का वस्त्रादि से सत्कार किया और प्रिय वचनों से उनका विशेष आदर किया। वह उनसे इतना प्रसन्न था कि केवल आदर से सत्कार से उसने उनको विदा नहीं किया, प्रत्युत आयु-पर्यन्त निर्वाह के योग्य धन देकर उनको सन्तुष्ट किया। यह प्रीति-दान अर्थात् (भगवतः प्रीत्या—रागेण दानम्) भगवान् के प्रति विशेष अनुराग होने से उनके आगमन के समाचार लाने वालों को प्रसन्नता से दान देकर उसने उनको विदा किया। उनको विदा कर नगर के रक्षकों को बुलाया और उनको आज्ञा दी कि हे देवों के प्रियो! आज तुम लोग विशेष रूप से नगर के सम्पूर्ण बाहर और भीतर के स्थानों को जल से सींच कर, सम्मार्जित कर सुचारु रूप से लिपवा डालो, सुगन्धित कर भली भांति अलंकृत करो। कहने का तात्पर्य इतना ही है तुम लोगों को नगर के सजाने में किसी प्रकार भी त्रुटि नहीं रखनी चाहिए। आज भगवान् के आगमन का उत्सव मनाया जायगा। वे लोग यह सब ठीक कर महाराजा से आकर निवेदन करते हैं।

यहां पर सूत्रकार ने संक्षेप से ही इसका वर्णन किया है जो इसके विशेष रूप से जिज्ञासु हों उनको इसका विस्तृत वर्णन 'औपपातिकसूत्र' से जानना चाहिए।

इसके अनन्तर क्या हुआ यह सूत्रकार स्वयं कहते हैं:—

ततो णं से सेणिए राया बलवाउयं सद्दावेइ२त्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! हय-गय-रह-जोह-कलियं चाउरंगिणीं सेणं सण्णाहेह, जाव से वि पच्चपिणांति ।

ततो नु स श्रेणिको राजा बलव्यापृतं शब्दापयति, शब्दापयित्वेवमवादीत्–क्षिप्रमेव भो देवानां प्रिय ! हय-गज-रथ-योध-कलितां चतुरङ्गिणीं सेनां सन्नाहय, यावत्सोऽपि प्रत्यर्पयति ।

पदार्थान्वयः—**ततो णं**–तत्पश्चात् **से**–वह **सेणिए**–श्रेणिक **राया**–राजा **बलवाउयं**–सेना-नायक को **सद्दावेइ**–बुलाता है और **सद्दावेइत्ता**–बुलाकर **एवं वयासी**–इस प्रकार कहने लगा **भो देवाणुप्पिया**–हे देवों के प्रिय **खिप्पामेव**–शीघ्र ही तुम **हय**–घोड़े **गय**–हाथी **रह**–रथ और **योह-कलियं**–योधाओं से युक्त **चाउरंगिणीं**–चतुरङ्गिणी **सेणं**–सेना को **सण्णाहेह**–तय्यार करो । **जाव**–यावत् **से वि**–वह भी उस आज्ञा को पूरी कर **पच्चपिणांति**–महाराज से निवेदन करता है ।

मूलार्थ—इसके अनन्तर महाराज श्रेणिक ने सेना-नायक को बुलाया और कहा—"हे देवों के प्रिय ! तुम शीघ्र ही जाकर घोड़े, हाथी, रथ और योधाओं से युक्त चतुरङ्गिणी सेना को तय्यार करो" । जब महाराज की आज्ञा पूरी होगई तो उनको आकर सूचित किया गया ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि श्रेणिक महाराज ने नगर-रक्षकों को नगर के सजाने की आज्ञा देकर विदा किया और फिर सेना-नायक को बुलाया और उसको आज्ञा दी कि तुम शीघ्र जाकर घोड़े, हाथी, रथ और योधाओं से युक्त चतुरङ्गिणी सेना को तय्यार करो । आज्ञा पाकर सेना-नायक ने उसके अनुसार सेना तय्यार की और महाराज से आकर निवेदन किया कि श्रीमान् की आज्ञानुसार सेना तय्यार है ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'बल-व्यापृत' शब्द का अर्थ क्या है ? उत्तर में कहा जाता है "बल-व्यापृतं–सैन्य-व्यापार-परायणं सैन्य-चिन्ता-नियुक्तं वा" अर्थात् जो सेना के व्यापार में लगा हुआ है या सेना की चिन्ता में नियुक्त है उसको बल-व्यापृत या सेना-नायक कहते हैं ।

अब सूत्रकार इसीसे सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

तते णं सेणिए राया जाण-सालियं सद्दावेइ, जाव जाण-सालियं सद्दावित्ता एवं वयासी–"भो देवाणुप्पिया ! खिप्पामेव धम्मियं जाण-प्पवरं जुत्तामेव उवट्ठवेह, उवट्ठवित्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि"। तते णं से जाण-सालिए सेणियरन्नो एवं वुत्ता समाणे हट्ठ-तुट्ठे जाव हियए जेणेव जाण-साला तेणेव उवागच्छइ२त्ता जाण-सालं अणुप्पविसइ२त्ता जाणगं पच्चुवेक्खइ२त्ता जाणं पच्चोरुभति जाणगं संप्पमज्जति, संप्पमज्जित्ता जाणगं णीणेइ२त्ता जाणाइं समलंकरेइ, जाणाइं समलंकरेइत्ता जाणाइं वरमंडियाइं करेइ२त्ता दूसं पीहणेइ, दूसं पीहणित्ता जाणाइं संवेढइ२त्ता :—

ततो नु श्रेणिको राजा यान-शालिकं शब्दापयति, यावद् यान-शालिकं शब्दापयित्वैवमवादीत्–"क्षिप्रमेव भो देवानां प्रिय ! धार्मिकं यान-प्रवरं योक्त्रितमेवोपस्थापय, उपस्थाप्य ममैतदाज्ञप्तं प्रत्यर्पय"। ततो नु स यानशालिकः श्रेणिकेन राज्ञैवमुक्तः सन् यावद्धृदये हृष्टस्तुष्टो यत्रैव यान-शाला तत्रैवो-

पागच्छति, उपागत्य यान-शालामनुप्रविशति, अनुप्रविश्य यानकं प्रत्युत्प्रेक्षति, प्रत्युत्प्रेक्ष्य यानं प्रत्यवरोहति, यानकं संप्रमार्जयति, संप्रमार्ज्य यानकं निष्काशयति, निष्काश्य यानानि समलङ्करोति, यानानि समलंकृत्य यानानि वर-मण्डितानि करोति, कृत्वा दूष्यं प्रविणयति, प्रविणीय यानानि संवेष्टयति, संवेष्ट्य :—

पदार्थान्वयः—**तते णं**—इसके अनन्तर **सेणिए**—श्रेणिक **राया**—राजा **जाण-सालियं**—यान-शालिक को **सद्दावेइ**—बुलाता है **जाव**—यावत् **जाण-सालियं**—यान-शालिक को **सद्दावित्ता**—बुला कर **एवं**—इस प्रकार **वयासी**—बोला **भो देवाणुप्पिया**—हे देवों के प्रिय ! **खिप्पामेव**—शीघ्र ही **धम्मियं**—धार्मिक **जाण-प्पवरं**-श्रेष्ठ रथ को **जुत्तामेव**-तय्यार कर **उवट्ठवेह**—उपस्थित करो, **उवट्ठवित्ता**—उपस्थित कर **मम**-मेरी **एयमाणत्तियं**—इस आज्ञा को **पच्चप्पिणाहि**—पूरी कर मुझ से निवेदन करो **तते णं**—तत्पश्चात् **से**—यह **जाण-सालिए**—यान-शालिक **सेणियरन्नो**—श्रेणिक राजा से **एवं वुत्ता समाणे**—कहे जाने पर **जाव**—यावत् **हियए**—हृदय में **हट्ठ तुट्ठे**—हर्षित और सन्तुष्ट होकर **जेणेव**—जहां **जाण-साला**—यान-शाला थी **तेणेव**—वहीं पर **उवागच्छइ**—आता है **उवागच्छइत्ता**—आकर **जाण-सालं**—यान-शाला में **अणुप्पविसइ**—प्रवेश करता है **अणुप्पविसइत्ता**—प्रवेश कर **जाणगं** यानों को **पच्चुवेक्खइ**—देखता है **पच्चुवेक्खइत्ता**—देख कर **जाणं पच्चोरुभति**—यानों को नीचे उतारता है, उतार कर **दूसं पीहणेइ**—उनसे वस्त्र उतारता है **दूसं पीहणित्ता**—वस्त्रों को उतार कर **जाणगं**—यानों को **संप्पमज्जति**—संप्रमार्जन करता है अर्थात् उनसे धूल आदि झाड़ता है **संप्पमज्जिता**—संप्रमार्जन कर **जाणगं**—यानों को **णीणेइ**—यान-शाला से बाहर निकालता है और **णीणेइत्ता**—बाहर निकाल कर **जाणाइं**—यानों को **समलंकरेइ**—यन्त्र और योक्त्रादि से अलंकृत करता है **जाणाइं समलंकरेइत्ता**—यानों को अलङ्कृत कर **जाणाइं**—यानों को **वरमंडियाइं करेइ**—श्रेष्ठ आभूषणों से मण्डित करता है और मण्डित **करेइत्ता**—कर **जाणाइं**—यानों को **संवेढइ**—संवेष्टन कर एक स्थान पर रखता है और **संवेढेइत्ता**—एक स्थान पर रखकर :—

मूलार्थ—इसके अनन्तर श्रेणिक राजा ने यान-शालिक को बुलाया और बुलाकर वह इस प्रकार कहने लगा—"हे देवों के प्रिय ! शीघ्र ही प्रधान धार्मिक रथ को ठीक तय्यार कर उपस्थित करो । मेरी इस आज्ञा को पूरी कर मुझ को सूचित करो" । इस के बाद वह यान-शालिक श्रेणिक राजा के उक्त आदेश को सुनकर हृदय में हर्षित और सन्तुष्ट होता हुआ जहां यान-शाला थी वहां गया । वहां जाकर यान-शाला में प्रविष्ट हुआ । वहां यानों को देखा, धूल आदि झाड़ कर उनको साफ किया, फिर उनको नीचे उतार कर उनके ऊपर से वस्त्र हटाए और हटाकर यान-शाला से बाहर निकाला, उनको अलंकृत किया और (राज-मार्ग में) एक स्थान पर खड़ा कर दिया ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि सेना के तय्यार हो जाने पर श्रेणिक राजा ने यान-शालिक को बुलाया और उससे कहा कि तुम शीघ्र जाकर धर्म-प्रयोग के लिए नियत यानों में सबसे प्रधान और सर्वाङ्ग-पूर्ण यानों को तय्यार कर उपस्थित करो । आज्ञा पाकर यान-शालिक यान-शाला में गया और उन रथों को निकाल कर उसने उन्हें साफ किया और अच्छी तरह अलंकृत कर एक स्थान पर खड़ा कर दिया ।

"धम्मियं जाण-प्पवरं" की वृत्तिकार इस प्रकार व्याख्या करते हैं—"धर्मः प्रयोजनमस्य धर्माय प्रयुक्तो वा धार्मिकः । अथवा धर्मार्थं यानं गमनं येन तद्धर्म-यानं तेषां धर्मयानानां मध्ये प्रवरं श्रेष्ठं शीघ्र-गमनत्वादिगुणोपेतं योक्त्रितमेवोप-स्थापय—इति" अर्थात् धर्म के कार्यों में जो प्रयुक्त होता हो अथवा जिससे केवल धर्म के कार्यों में ही गमन होता हो उसको धार्मिक यान कहते हैं ।

फिर सूत्रकार इसी से सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

जेणेव वाहण-साला तेणेव उवागच्छइ२त्ता, वाहण-सालं अणुप्पविसइ२त्ता, वाहणाइं पच्चुवेक्खइ२त्ता, वाहणाइं संप्पमज्जइ२त्ता, वाहणाइं अप्फालेइ२त्ता, वाह-णाइं णीणेइ२त्ता, दूसं पवीणेइ२त्ता, वाहणाइं समलंक-

रेइ२त्ता, वरभंडक-मंडियाइं करेइ२त्ता, वाहणाइं जाणगं जोएइ२त्ता, वट्टमग्गं गाहेइ२त्ता, पओदलट्ठिं पओद-धरे अ समं आरोहइ२त्ता, अंतरासम-पदंसि जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छइ२त्ता तते णं करयलं एवं वयासी-जुत्ते ते सामी धम्मिए जाण-प्पवरं आइट्ठं, भद्दंत वग्गुहिं गाहित्ता ।

यत्रैव वाहन-शाला तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य वाहन-शालामनुप्रविशति,अनुप्रविश्य वाहनानि प्रत्युत्प्रेक्षति,प्रत्युत्प्रेक्ष्य वाहनानि संप्रमार्जयति, संप्रमार्ज्य वाहनान्यास्फालयति, आ-स्फाल्य वाहनानि निष्काशयति, निष्काश्य दूष्यं प्रविणयति, प्रविणीय वाहनानि समलङ्करोति, समलंकृत्य वाहनानि वर-भण्डक-मण्डितानि करोति, (मण्डितानि) कृत्वा वाहनानि यानेषु योजयति, योजयित्वा वर्त्म ग्राहयति, ग्राहयित्वा प्रतोदयष्टीः प्रतोद-धरांश्च समं (एककालमेव) आरोहयति, आरोहयित्वा-न्तराश्रम-पदे यत्रैव श्रेणिको राजा तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य करतलं यावदेवमवादीत्-युक्तं ते स्वामिन् ! धार्मिकं यान-प्रवरमादिष्टं भद्रं भवतु । वाग्भिर्गृहीतम् ।

पदार्थान्वयः—जेणेव-जहां वाहण-साला-वाहन-शाला थी तेणेव-वहीं उवागच्छइ-आता है और उवागच्छइत्ता-आकर वाहण-सालं-वाहन-शाला में अणुप्पविसइ-प्रवेश करता है और अणुप्पविसइत्ता-प्रवेश कर वाहणाइं-वाहनों को पच्चुवेक्खइ-देखता है और पच्चुवेक्खइत्ता-देखकर वाहणाइं-वाहनों को संपम-ज्जइ-सम्प्रमार्जन करता है और संपमज्जइत्ता-संप्रमार्जन कर वाहणाइं-वाहनों को

अप्फालेइ–थपथपाता है और अप्फालेइत्ता–थपथपा कर वाहणाइं–वाहनों को णीणेइ–वाहन-शाला से बाहर निकालता है और णीणेइत्ता–बाहर निकाल कर दूसं–उनके वस्त्र को पवीणेइ–निकालता है और पवीणेइत्ता–निकाल कर वाहणाइं–वाहनों को समलंकरेइ–अलंकृत करता है और समलंकरेइत्ता–अलंकृत कर वरभंडगमंडियाइं करेइ–उनको उत्तम भूषणों से मण्डित करता है और मण्डित करेइत्ता–कर जाणगं–यान के साथ जोएइ–जोड़ता है और जोएइत्ता–जोड़कर वट्टमग्गं गाहेइ–मार्ग में स्थापित करता है और गाहेइत्ता–स्थापन कर पओदलट्ठिं–चाबुक और पओद-धरे–चाबुक धारण करने वाले पुरुषों को समं–एक साथ आरोहइ–रथ पर चढ़ाता है और आरोहइत्ता–चढ़ाकर अंतरासमपदंसि–रथ्या (गली) के बीच से बढ़ाता हुआ जेणेव–जहां सेणिए राया–श्रेणिक राजा था तेणेव–वहीं पर उवागच्छइ–आता है और उवागच्छइत्ता–आकर तते णं–इसके पश्चात् करयलं–हाथ जोड़ कर जाव–यावत् एवं वयासी–इस प्रकार कहने लगा सामी–हे स्वामिन्! ते–आपका धम्मिए जाणप्पवरं–श्रेष्ठ धार्मिक यान जुत्ते–युक्त है आदिट्ठं–जैसे श्रीमान् ने आज्ञा की थी वह पूर्ण की गई है भद्दंतु–यान पर चढ़ने वालों का कल्याण हो। इस आशीर्वाद को राजा ने वग्गुहिं–वचनों से गहित्ता–ग्रहण किया।

मूलार्थ—जहां वाहन-शाला थी वहां आकर वाहन-शाला में प्रवेश किया, वाहनों को देखा, उनको प्रमार्जित किया, हाथों से थपथपाया, फिर उनको बाहर निकाला और उनके वस्त्रों को दूर किया। उनको अलंकृत और उत्तम आभूषणों से मण्डित किया। तदनन्तर उनको रथों से जोड़ा और मार्ग में खड़ा कर उन में प्रत्येक के ऊपर एक २ चाबुक रखा और एक २ चाबुक धारण करने वाले पुरुष को एक साथ बैठाकर उन (रथों) को रथ्या-मार्ग से बढ़ाता हुआ जहां श्रेणिक राजा था वहीं आया और हाथ जोड़कर विनय-पूर्वक कहने लगा—"हे स्वामिन्! आपकी आज्ञानुसार आपका प्रधान धार्मिक रथ तय्यार खड़ा है। वाहन-युक्त रथों पर चढ़ने वालों का कल्याण हो"। महाराज ने भी इन आशीर्वचनों को ग्रहण किया।

टीका—इस सूत्र का पहले सूत्र से अन्वय है। यान-शालिक रथों को अलङ्कृत कर वाहन-शाला में गया और वृषभादि वाहनों को भली भांति मण्डित

कर उसने उनको रथों से जोड़ दिया और उनको महाराज के पास ले जाकर निवेदन किया कि श्रीमान् की आज्ञानुसार सुमज्जित यान उपस्थित हैं ।

'वट्टमग्गं गाहेति' इसके अनेक पाठ-भेद मिलते हैं । जैसे–'वदुम गाहिति' 'वड्डुम गाहिति' और 'औपपातिकसूत्र' में 'वट्टमग्गं गाहिति' और 'चड्डुमग्ग गाहेति'। किन्तु वृत्तिकार ने अन्तिम पद को ग्रहण कर इस प्रकार व्याख्या की है—"चड्डु-मग्ग गाहेति" वर्त्म ग्राहयति–यानानि मार्गे स्थापयतीत्यर्थः । 'प्रतोदयष्टि' चाबुक को कहते हैं । "अंतरासम-पदंसि" सूत्र-पद की वृत्ति इस प्रकार है—"अन्तरा–मध्ये, आश्रमपदे–गृहपङ्क्ति-वर्त्मान्तराले" । कहीं "अंतरापतोदंसित्ति" ऐसा पाठ है । उसका अर्थ है–"अंतरा–मध्ये, पतोदंसि–प्रतोदयष्टिभी रचिते" इत्यादि अन्य शब्दों के विषय में भी जानना चाहिए ।

अब सूत्रकार इस विषय में कहते हैं कि यानों के सुसज्जित होने पर महाराज श्रेणिक ने क्या किया :—

तते णं सेणिए राया भंभसारे जाण-सालियस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे जाव मज्जण-घरं अणुप्पविसइ२त्ता जाव कप्परुक्खे चेव अलंकिए विभूसिए णरिंदे जाव मज्जण-घराओ पडिनिक्खमइ२त्ता जेणेव चेल्लणादेवी तेणेव उवागच्छइ२त्ता चेल्लणादेविं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिए ! समणे भगवं महावीरे आइगरे तित्थयरे जाव पुव्वानुपुव्विं चरेमाणे जाव संज-मेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।

ततो नु श्रेणिको राजा भंभसारो यान-शालिकस्यान्तिक एनमर्थं श्रुत्वा निशम्य हृष्टस्तुष्टो यावन्मज्जन-गृहमनुप्रविशति, अनुप्रविश्य यावत्कल्पतरुरिवालङ्कृतो विभूषितो नरेन्द्रो मज्जन-

गृहात्प्रतिनिष्क्रम्य यत्रैव चेल्लणादेवी तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य चेल्लणादेवीमेवमवादीत्—"एवं खलु देवानां प्रिये ! श्रमणो भगवान् महावीर आदिकरस्तीर्थकरो यावत्पूर्वानुपूर्व्याचरन्, यावत्संयमेन तपसात्मानं भावयन् विहरति ।

पदार्थान्वयः—**तते णं**–इसके अनन्तर **सेणिए राया**–श्रेणिक राजा **भंभ-मारे**–भंभमार **जाण-सालियस्स**–यान-शालिक के **अंतिए**–पास से **एयमट्ठं**–इस समाचार को **सोच्चा**–सुनकर **निसम्म**–और हृदय में अवधारण कर **हट्ठतुट्ठे**–हर्षित और संतुष्ट होकर **जाव**–यावत् **मज्जण-घरं**–स्नानागार में **अणुप्पविसइ**–प्रवेश करता है और **अणुप्पविसइत्ता**–प्रवेश कर **जाव**–यावत् **कप्प-रुक्खे चेव**–कल्पवृक्ष के समान **अलंकिए**–अलंकृत और **विभूसिए**–विभूषित होकर **णरिंदे**–राजा श्रेणिक **जाव**–यावत् **मज्जण-घराओ**–स्नानागार से **पडिनिक्खमइ**–बाहर निकला और **पडिनिक्खमइत्ता**–निकल कर **जेणेव**–जहां **चेल्लणादेवी**–चेल्लणा देवी थी **तेणेव**–वहीं **उवागच्छइ**–आता है और **उवागच्छइत्ता**–आकर **चेल्लणादेविं**–चेल्लणा देवी को **एवं**–इस प्रकार **वयासी**–कहने लगा **देवाणुप्पिए**–हे देवों की प्रिये ! **एवं**–इस प्रकार **आइगरे**–धर्म के प्रवर्तक **तित्थयरे**–तीर्थों की स्थापना करने वाले **जाव**–यावत् **संजमेण**–संयम और **तवसा**–तपसे **अप्पाणं**–अपनी आत्मा की **भावेमाणे**–भावना करते हुए **समणे**–श्रमण **भगवं**–भगवान् **महावीरे**–महावीर स्वामी **पुव्वानु-पुव्विं**–अनुक्रम से **चरेमाणे**–विचरते हुए **विहरति**–विहार करते हुए यहां पहुंचे हैं ।

मूलार्थ—**इसके अनन्तर महाराज श्रेणिक यान-शालिक से यह बात सुन कर और हृदय में अवधारण कर हर्षित और सन्तुष्ट हुआ । फिर उसने स्नानागार में प्रवेश किया और वहां से अच्छे वस्त्र और आभूषणों को पहन कर वह कल्पवृक्ष के समान सुशोभित होकर बाहर निकला । फिर चेल्लणादेवी के पास गया और कहने लगा—"हे देव-प्रिये ! धर्म के प्रवर्तक और चार तीर्थों के स्थापन करने वाले भगवान् महावीर स्वामी अनुक्रम से विहार करते हुए तथा संयम और तप से अपनी आत्मा की भावना करते हुए विचर रहे हैं" ।**

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि महाराज श्रेणिक ने जब

यान-शालिक से यानों के तय्यार होने का समाचार पाया तो चित्त में अत्यन्त प्रसन्न हुआ । वह तत्काल ही अत्यन्त सुसज्जित और परम रमणीय स्नानागार में गया । वहां उसने एक सुन्दर स्नान-पीठ पर बैठकर विधि-पूर्वक स्नान किया । स्नान के अनन्तर अत्यन्त मनोहर और अमूल्य वस्त्राभरण पहने । इस प्रकार अलंकृत और विभूषित होकर वह कल्पवृक्ष के समान शोभायमान होने लगा । स्नानागार से बाहर निकल कर वह सीधे श्रीमती महाराज्ञी चेल्लणादेवी के पास गया और कहने लगा—"हे देव-प्रिये ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर के बाहर गुणशील चैत्य में अपनी आत्मा की भावना करते हुए विचरण कर रहे हैं" ।

इस सूत्र में यह भी संक्षेप से ही वर्णन किया गया है । इसका विस्तृत वर्णन 'औपपातिकसूत्र' से ही जानना चाहिए ।

पुनः सूत्रकार इसी प्रकरण से सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

तं महप्फलं देवाणुप्पिए ! तहारूवाणं अरहंताणं जाव तं गच्छामो देवाणुप्पिए ! समणं भगवं महावीरं वंदामो नमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवस्सामो । एते णं इहभवे य परभवे य हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए जाव अणुगामियत्ताए भविस्सति । तत्ते णं सा चेल्लणादेवी सेणियस्स रन्नो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे जाव पडिसुणेइ२त्ता :—

तद् महत्फलं देवानां प्रिये ! तथारूपाणामर्हताम् (दर्शनम्)। यावद् गच्छावो देवानां प्रिये ! श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दावो नमस्यावः सत्कुर्वः सम्मानयावः, कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यं पर्युपास्यावः, एतन्नु इहभवे च परभवे च हिताय, सुखाय,

क्षमायै, निःश्रेयसाय यावदनुगामिकतायै भविष्यति । ततो नु सा चेल्लणादेवी श्रेणिकस्य राज्ञोऽन्तिक एनमर्थं श्रुत्वा निशम्य हृष्टा तुष्टा यावत्प्रतिश्रृणोति, प्रतिश्रुत्यः—

पदार्थान्वयः—तं-इसलिए **देवाणुप्पिए**-हे देव-प्रिये ! **तहारूवाणं**-तथारूप **अरहंताणं**-अर्हन्तों का (दर्शन) **महप्फलं**-बड़े फल का देने वाला है । **तं**-अतः **जाव**-यावत् **देवाणुप्पिए**-हे देव-प्रिये ! **गच्छामो**-चलें **समणं**-श्रमण **भगवं**-भगवान् **महावीरं**-महावीर स्वामी की **वंदामो**-वंदना करें उनको **नमंसामो**-नमस्कार करें उनका **सक्कारेमो**-सत्कार करें **सम्माणेमो**-सम्मान करें। वे हमारे लिए **कल्लाणं**-कल्याणकारी हैं **मंगलं**-मङ्गल-दाता हैं **देवयं**-देवाधिदेव हैं और **चेइयं**-ज्ञानवान् हैं अतः हम **पज्जुवस्सामो**-चलकर उनकी पर्युपासना (सेवा) करें **एतं**-यह उनकी सेवा **णे**-हमको **इहभवे**-इस लोक में **य**-और **परभवे**-परलोक में **हियाए**-हित के लिए **सुहाए**-सुख के लिए **खमाए**-क्षेम के लिए **निस्सेयसाए**-मोक्ष के लिए **जाव**-यावत् **अणुगामियत्ताए**-भव-परम्परा में सुख के लिए **भविस्सति**-होगी। **तते णं**-इसके अनन्तर **सा**-वह **चेल्लणादेवी**-चेल्लणादेवी **सेणियस्स**-श्रेणिक **रन्नो**-राजा के **अंतिए**-पास से **एयमट्ठं**-इस समाचार को **सोच्चा**-सुनकर और **निसम्म**-हृदय में अवधारण कर **हट्ठतुट्ठे**-हर्षित और संतुष्ट होकर **जाव**-यावत् राजा के इस प्रस्ताव को **पडिसुणेइत्ता**-स्वीकार करती है और स्वीकार कर—

मूलार्थ—"अतः हे देव-प्रिये ! तथारूप अर्हन्त भगवान् के दर्शन भी बड़े फल के देने वाले होते हैं । इसलिए हे देव-प्रिये ! चलें, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की वन्दना करें, उनको नमस्कार करें तथा उनका सत्कार और सम्मान करें । भगवान् कल्याण-कारी, मङ्गल-दायक, देवाधिदेव और ज्ञानवान् हैं । अतः चलकर उनकी पर्युपासना (सेवा) करें। यह पर्युपासना हमको इहलोक और परलोक में हित के लिए, सुख के लिए, क्षेम के लिए, मोक्ष के लिए और यावत् भव-परम्परा-श्रेणि में सुख के लिए होगी ।" चेल्लणादेवी श्रेणिक राजा के पास से यह समाचार सुनकर चित्त में हर्षित और सन्तुष्ट हुई और उसने राजा के प्रस्ताव को स्वीकार किया और स्वीकार करः—

टीका—इस सूत्र में श्रीभगवान् के दर्शनादि की महिमा वर्णन की गई है। महाराज श्रेणिक चेल्लणादेवी के पास गये और कहने लगे "हे देव-प्रिये! तथारूप अर्हन्त और भगवन्तों के दर्शन और नाम-गोत्र श्रवण करने का ही बड़ा फल होता है, तब उनके पास जाकर वन्दना और नमस्कार करने का, उनके हितोपदेश सुनने का और उनकी सेवा करने का कितना फल होगा, यह वर्णनातीत है। जो उनके अमूल्य उपदेशों को ध्यान-पूर्वक सुनता है और उसको श्रद्धा से धारण करता है, वह इस लोक और परलोक में निरन्तर सुख ही सुख प्राप्त करता है। इसलिए हे देव-प्रिये! आओ हम भी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की स्तुति करें। उनको नमस्कार करें। वस्त्र आदि से उनका सत्कार और उचित प्रतिपत्ति से उनका सम्मान करें। भगवान् कल्याण-रूप हैं, दुःख दूर करने के लिए देवाधिदेव हैं, ज्ञान-स्वरूप हैं, अतः चलो हम उनकी पर्युपासना करें, क्योंकि उनकी सेवा हमको इस लोक और परलोक में हित-कर, सुख-कर, क्षेम-कर अथवा शक्ति-दायक, मोक्ष-प्रद तथा भव-परम्पराश्रेणि में सुख देने वाली होगी"।

चेल्लणादेवी महाराज श्रेणिक के मुख से उक्त वचनों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई और उसने सहर्ष महाराज के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

इस सूत्र में श्रीभगवान् की भक्ति का फल वर्णन किया गया है। ज्ञानी पुरुष इस प्रकार से ही भगवान् की स्तुति कर इस लोक और परलोक में सुख की प्राप्ति करते हैं। स्तोत्र आदि की रचना इसी सूत्र के आधार पर की गई प्रतीत होती है। श्रीभगवान् की स्तुति करने से परिणामों की विशुद्धि होती है, जिससे प्रायः शुभ कर्मों का ही सञ्चय होता है। फल यह होता है कि शुभ कर्मों के प्रभाव से आत्मा सर्वत्र और सदैव सुख का ही अनुभव करता है। उसके लिए चारों ओर शुभ ही शुभ है।

अब सूत्रकार इससे आगे का वर्णन करते हैं:—

जेणेव मज्जण-घरे तेणेव उवागच्छइ२त्ता ण्हाणा, कय-बलिकम्मा, कय-कोउय-मंगल-पायच्छित्ता, किं ते, वर-पाय-पत्त-नेउरा, मणि-मेखला-हार-रइय-उवचिय, कड-

ग-खड्डुग-एगावलि-कंठसुत्त-मरगव-तिसरय-वरवलय-हेमसुत्तय-कुंडल-उज्जोयवियाणणा, रयण-विभूमियंगी, चीणंसुय-वत्थ-परिहिया, दुगुल्ल-सुकुमाल-कंत-रमणिज्ज-उत्तरिज्जा, सव्वोउय-सुरभि-कुसुम-सुंदर-रचित-पलंब-सोहण-कंत-विकसंत-चित्त-माला, वर-चंदण-चच्चिया, वराऽऽभरण-विभूसियंगी, कालागुरु-धूव-धूविया, सिरि-समाण-वेसा, बहूहिं खुज्जाहिं चिल्लातियाहिं जाव महत्तरग-विंद परिक्खित्ता, जेणेव बाहरिया उवट्ठाण-साला जेणेव सेणियराया तेणेव उवागच्छइ२त्ता, तते णं से सेणियराया चेल्लणादेवीए सद्धिं धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ२त्ता सकोरिंट-मल्ल-दामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं, उववाइगमेणं णेयव्वं, जाव पज्जुवासइ । एवं चेल्लणा-देवी जाव महत्तरग-परिक्खित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ२त्ता समणं भगवं वंदति नमंसति सेणियं रायं पुरओ काउ ठितिया चेव जाव पज्जुवासति ।

यत्रैव मज्जन-गृहं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य स्नाता, कृतबलि-कर्मा, कृत-कौतुक-मङ्गल-प्रायश्चित्ता, किमपरम्, वर-पादप्राप्त-नूपुरा, मणि-मेखला-हारै रचितोपचिता, कटक-खड्डुकैकावलिकंठसूत्र-मरगव-त्रिशरक-वरवलय-हेमसूत्रक-कुण्डलोद्योतिताननाः,

रत्नविभूषिताङ्गी, परिहित-चीनांशुकवस्त्रा, दुकूल-सुकुमार-कान्त-रमणीयोत्तरीया, सर्वर्तुक-सुरभि-कुसुम-सुन्दर-रचित-प्रलम्ब-शोभन-कान्त-विकसच्चित्रमाला, वर-चन्दन-चर्चिता, वराभरण-विभूषिताङ्गी, कालागरु-धूप-धूपिता, श्री-समान-वेषा, बहुभिः कुब्जाभिः किरातिकाभिर्यावद् महत्तरकवृन्दैः परिक्षिप्ता, यत्रैव बाह्योपस्थानशाला यत्रैव श्रेणिको राजा तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य ततो नु स श्रेणिको राजा चेल्लणादेव्या सार्द्धं धार्मिकं यानप्रवरं दुरुहति, दुरुह्य सकोरिंट-मल्ल-दाम्ना छत्रेण धार्यमाणेन, औपपातिकसूत्रानुसारं ज्ञातव्यम्, यावत्पर्युपासति । एवं चेल्लणादेवी यावन्महत्तरक-परिक्षिप्ता यत्रैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य श्रमणं भगवन्तं वन्दते, नमस्यति, श्रेणिकं राजानं पुरतः कृत्वा स्थित्या चैव यावत्पर्युपासति ।

पदार्थान्वयः—जेणेव—जहां मज्जण-घरे—स्नानागार है तेणेव—वहीं पर उवागच्छइ—महाराज्ञी चेल्लणादेवी आई और उवागच्छइत्ता—आकर एहाया—स्नान किया कय-बलि-कम्मा—बलि-कर्म किया, कय-कोउय-मंगल-पायच्छित्ता—कौतुक, मङ्गल और प्रायश्चित्त किया किं ते—और क्या कहा जाय वर—अत्यन्त सुन्दर पाय—पैरों में पत्त-नेउरा—नूपुर पहन लिये मणि-मेखला—मणियों से जटित मेखला (कटि का आभूषण) और हार—हारों से रइत—रचित उवचिय—उपचित होकर कडग—कटक (कड़े) खड्डुग—अंगुलियों के आभूषण एगावलि—एकावली हार कंठसुत्त—कण्ठसूत्र मरगव—आभूषण विशेष तिसरय—तीन लड़ी का हार वर-वलय—सुन्दर कङ्कण हेम-सुत्तय—स्वर्ण का कटिसूत्र और कुंडल-उज्जोयवियाणणा—कुण्डलों से उज्ज्वल मुख वाली रयण-विभूसियंगी—रत्नों से सम्पूर्ण अङ्गों को विभूषित कर चीणंसुय-वत्थ—चीन देश के बने हुए रेशमी वस्त्र परिहिया—पहन कर दुगुल्ल—गौड़-बंगाल के सूत से बने हुए वस्त्र से सुकुमाल—कोमल, कंत—सुन्दर और रमणिज्ज—मनोहर उत्तरिज्जा—चादर ओढ़ कर सव्वोउय—सब ऋतुओं के सुरभि—सुगन्धित कुसुम—पुष्पों

की सुंदर–सुन्दर रचित–बनी हुई और पलंब–लमकते हुए झुमकों से सोहण–शोभायमान कंत–कान्ति वाली विकसंत–अच्छी प्रकार से खिली हुई चित्त–रङ्ग-विरङ्गी माला–माला पहन कर, वर–उत्तम चंदण-चच्चिया–चन्दन से अङ्गों को लिप्त कर वराऽऽभरण-विभूसियंगी–अच्छे २ भूषणों से अङ्गों को अलंकृत कर कालागुरु–गुग्गुल आदि सुगन्धित पदार्थों की धूव–धूप से धूविया–धूपित होकर सिरि-समाण-वेसा–लक्ष्मी देवी के समान वेष वाली बहूहिं–बहुत सी खुज्जाहिं–कुब्ज देश की अथवा कुबड़ी दासियों से, चिलातियाहिं–किरात देश की दासियों से तथा जाव–यावत् महत्तरग-विंद–महत्तरक-समूह से परिक्खित्ता–घिरी हुई जेणेव–जहां बाहरिया–बाहर की उवट्ठाण-साला–उपस्थान-शाला है जेणेव–जहां सेणिय-राया–श्रेणिक राजा था तेणेव–वहीं पर उवागच्छइ–आती है और उवागच्छइत्ता–आकर तते णं–तब से–वह सेणियराया–श्रेणिक राजा चेल्लणादेवीए–चेल्लणादेवी के सद्धिं–साथ धम्मियं–धार्मिक जाणप्पवरं–श्रेष्ठ यान पर दुरुहइ–चढ़ गया दुरुहइत्ता–चढ़ कर सकोरिंट-मल्ल-दामेणं–कोरिंट वृक्ष के पुष्पों की माला से युक्त छत्तेणं धरिज्जमाणेणं–छत्र पर धारण करते हुए उववाइगमेणं–इस विषय में और औपपातिक सूत्र से णेयव्वं–जानना चाहिए । जाव–यावत् राजा पज्जुवासइ–भगवान् की पर्युपासना करता है एवं–इसी प्रकार चेल्लणादेवी–चेल्लणादेवी जाव–यावत् महत्तरग–महत्तरकों (अन्तःपुर के सेवकों) से परिक्खित्ता–आवृत होकर जेणेव–जहां पर समणे–श्रमण भगवं–भगवान् महावीरे–महावीर थे तेणेव–वहीं पर उवागच्छइ–आती है और उवागच्छइत्ता–आकर समणं–श्रमण भगवं–भगवान् की वंदइ–वन्दना करती है और उनको नमंसइ–नमस्कार करती है फिर सेणियं रायं–श्रेणिक राजा को पुरओ काउ–आगे कर ठितिया चेव–खड़े होकर ही पज्जुवासइ–सेवा या पर्युपासना करती है ।

मूलार्थ—जहां स्नान-गृह था वहां आकर स्नान किया, बलिकर्म (शरीर को पुष्ट करने वाले तैल-मर्दन व्यायाम आदि) किया, कौतुक कर्म किया, अमङ्गल को दूर करने के लिए माङ्गलिक कर्म और प्रायश्चित्त किये । क्या वर्णन करें, पैरों में नूपुर और कटि में मणियों की कांची पहनी, कड़े और अंगूठियों से अंगों को सुशोभित किया, कण्ठ में एकावली हार, मरगव (आभूषण विशेष,) तीन लड़ी का हार और उत्तम वलयाकार आभूषण विशेष तथा हेम (सोने का

बना हुआ) सूत्र धारण किये। कानों में कुण्डल डाले। इन सब आभूषणों से मुख अतीव उज्ज्वल होगया। रत्नों से सब अंगों को विभूषित कर, चीन देश के बने हुए रेशमी वस्त्रों को पहन कर, ढाके बङ्गाले के सूत्र से भी कोमल, चमकते हुए और मनोहर वस्त्रों से निर्मित चादर ऊपर ओढ़ कर, सब ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले सुगन्धित पुष्पों से बनी हुई और लमकते हुए झुमकों से शोभा वाली तथा खिली हुई रङ्ग-विरङ्गी माला पहन कर, उत्तम चन्दन से अङ्गों को लिप्त कर, श्रेष्ठ आभूषणों से अङ्गों को विभूषित कर, गुग्गुल आदि सुगन्धित पदार्थों की धूप से धूपित होकर, लक्ष्मी देवी के समान वेष बना कर, बहुत सारी कुब्ज और किरात देश की दासियों तथा अन्य महत्तरकों (अन्तःपुर के सेवकों) से घिरी हुई महारानी चेल्लणादेवी जहां पर बाहर की उपस्थान-शाला थी और जहां पर श्रेणिक राजा था, वहीं आगई। तब श्रेणिक राजा चेल्लणादेवी के साथ प्रधान धार्मिक रथ पर चढ़ गया। कोरिंट-पुष्पों से अलंकृत छत्र धारण किया। विशेष औपपातिक सूत्र से जानना चाहिए। राजा श्रीभगवान् की सेवा करने में लग गया। इसी प्रकार चेल्लणादेवी सब अन्तःपुर के सेवकों से घिरी हुई जहां श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहीं आई, आकर उसने श्री भगवान् की स्तुति की, उनको नमस्कार किया तथा श्रेणिक राजा को आगे कर और अपने आप खड़ी रहकर श्री भगवान् की पर्युपासना करने में लग गई।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि जब महारानी चेल्लणा-देवी ने महाराज से श्रीभगवान् के आगमन का समाचार सुना तो वह स्नानागार में गई, वहां उसने स्नान किया और वस्त्र तथा आभूषण पहने। फिर महाराजा श्रेणिक के साथ धार्मिक यान में बैठ कर श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की सेवा में उपस्थित हुई। इस विषय का विस्तृत वर्णन 'औपपातिकसूत्र' से जानना चाहिए। भेद इतना ही है कि वहां यह उपाख्यान कोणिक राजा के नाम से आता है और यहां श्रेणिक राजा के नाम से। सारे सूत्र का सारांश इतना ही है कि महाराज श्रेणिक बड़े समारोह के साथ श्री भगवान् की सेवा में उपस्थित हुआ और १८ देशों की दासी और वृद्ध पुरुषों से परिवृत महारानी भी उनके साथ श्री भगवान् के दर्शनार्थ गई। दोनों वहां जाकर उनकी पर्युपासना में लग गये।

अब सूत्रकार निम्न-लिखित सूत्र में श्री भगवान् के उपदेश का वर्णन करते हैं :—

तते णं समणे भगवं महावीरे सेणियस्स रन्नो भंभसारस्स चेल्लणादेवीए तीसे महइ-महालयाए परिसाए, इसि-परिसाए, जइ-परिसाए, मणुस्स-परिसाए, देव-परिसाए, अणेग-सयाए जाव धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया, सेणियराया पडिगओ ।

ततो नु श्रमणेन भगवता महावीरेण श्रेणिकस्य राज्ञो भंभसारस्य चेल्लणादेव्या तस्या महत्या महत्यां परिषदि, ऋषि-परिषदि, यति-परिषदि, मनुष्य-परिषदि, देव-परिषदि, अनेक-शतानां यावद्धर्मः कथितः, परिषत् प्रतिगता, श्रेणिको राजा प्रतिगतः ।

पदार्थान्वयः—**तते णं**—तत्पश्चात् **समणे**—श्रमण **भगवं**—भगवान् **महावीरे**—महावीर ने **सेणियस्स**—श्रेणिक **रन्नो**—राजा **भंभसारस्स**—भंभसार को, **चेल्लणादेवीए**—चेल्लणादेवी को, **तीसे**—उस **महइ**—बड़ी से **महालयाए**—बड़ी **परिसाए**—परिषद् को, **इसि-परिसाए**—ऋषि-परिषद् को, **जइ-परिसाए**—यतियों की परिषद् को, **मणुस्स-परिसाए**—मनुष्यों की परिषद् को, **देव-परिसाए**—देवों की परिषद् को और **अणेग-सयाए**—अन्य सैकड़ों मनुष्यों को **जाव**—यावत् **धम्मो कहिओ**—धर्म-कथा सुनाई **परिसा पडिगया**—धर्म-कथा सुनकर परिषद् चली गई **सेणियराया**—श्रेणिक राजा और चेल्लणादेवी भी **पडिगओ**—चले गये ।

मूलार्थ—इसके अनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने श्रेणिक राजा भंभसार, चेल्लणादेवी, उस बड़ी से बड़ी परिषद्, जैसे—ऋषि-परिषद्, यति-परिषद्, मनुष्य-परिषद्, देव-परिषद् और सैकड़ों अन्यों को धर्म-कथा सुनाई । धर्म कथा सुनकर परिषद् विसर्जित हुई और श्रेणिक राजा भी चले गये ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि अब श्री श्रमण भगवान् महावीर

स्वामी के चरण-कमलों में सब परिषदें—जैसे—ऋषि-परिषद्, यति-परिषद्, मनुष्य-परिषद्, देव-परिषद्, साधु-परिषद्, महाव्रती-परिषद्—एकत्रित हो गई और असंख्य अन्य व्यक्ति तथा भवनपति, वान व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक देवों के समूह भी अत्यधिक उत्कण्ठा से एकत्रित हो गए तब श्री भगवान् ने परम पराक्रम से उपस्थित श्रोताओं को श्रुत और चारित्र धर्म की कथा सुनाई । उन्होंने कथा में नव पदार्थ, षड् द्रव्य और नय-निक्षेप का भी वर्णन किया । इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रत्येक द्रव्य को उत्पाद, व्यय और ध्रुव युक्त सिद्ध करते हुए कर्म-प्रकृतियों का वर्णन किया तथा आश्रव और संवर का वर्णन कर निर्जरा और मोक्ष का वर्णन किया, जिसका ज्ञान कर जीव मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त हो जाय । इस धर्म-कथा का पूर्ण विवरण 'औपपातिकसूत्र' से जानना चाहिए ।

उपस्थित परिषद् श्री भगवान् के मुख से धर्म-कथा सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई और यथाशक्ति धर्म-नियमों को ग्रहण करने के लिए उद्यत हो गई और श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की हृदय से स्तुति करती हुई अपने २ घर को वापिस चली गई । उनके साथ २ महाराजा श्रेणिक और चेल्लणादेवी भी भगवान् की स्तुति करते हुए अपने राज-भवन की ओर लौट गये ।

तदनु क्या हुआ ? अब सूत्रकार इसी विषय में कहते हैं :—

तत्थेगइयाणं निग्गंथाणं निग्गंथीणं य सेणियं रायं चेल्लणं च देविं पासित्ता णं इमे एयारूवे अज्झत्थिते जाव संकप्पे समुप्पज्जेज्जा ।

तत्रैकैकेषां निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनाञ्च श्रेणिकं राजानं चेल्लणां देवीं च दृष्ट्वा नु अयमेतद्रूपोऽध्यात्मिको यावत्संकल्पः समुदपद्यत ।

पदार्थान्वयः—**तत्थ**—वहां पर **एगइयाणं**—एक-एक **निग्गंथाणं**—निर्ग्रन्थ **य**—और **निग्गंथीणं**—निर्ग्रन्थियों के चित्त में **सेणियं**—श्रेणिक **रायं**—राजा को **च**—और **चेल्लणं**—चेल्लणा **देविं**—देवी को **पासित्ता**—देखकर **णं**—वाक्यालङ्कार के लिए **है इमे**—

यह एयारूवे–इस प्रकार का अज्झत्थिते–आध्यात्मिक जाव–यावत संकप्पे–संकल्प समुपज्जेज्ञा–उत्पन्न हुआ ।

मूलार्थ—उस समय एक २ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी के चित्त में श्रेणिक राजा और चेल्लणादेवी को देख कर यह आध्यात्मिक संकल्प उत्पन्न हुआ ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि राजा श्रेणिक और चेल्लणा देवी को देखकर एक २ मुनि के चित्त में यह संकल्प उत्पन्न हुआ । जैसे :—

अहो णं सेणिए राया महिड्ढिए जाव महा-सुक्खे जे णं ण्हाए, कय-बलिकम्मे, कय-कोउय-मंगल-पायच्छित्ते, सव्वालंकार-विभूसिया चेल्लणादेवीए सद्धिं उरालाइं माणुसगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति । न मे दिट्ठा देवा देवलोगंसि सक्खं खलु अयं देवे । जइ इमस्स तव-नियम-बंभचेर-गुत्ति-फलवित्ति-विसेसे अत्थि तया वय-मवि आगमेस्साइं इमाइं ताइं उरालाइं एयारूवाइं माणु-सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरामो । से तं साहु ।

अहो नु श्रेणिको राजा महर्द्धिको यावन्महासुखो यः स्नातः, कृत-बलिकर्मा, कृत-कौतुक-मङ्गल-प्रायश्चित्तः, सर्वालङ्कार-विभूषि-तश्चेल्लणादेव्याः सार्द्धमुदारान् मानुषकान् भोगभोगान् भुञ्जन् विहरति । नास्माभिर्दृष्टा देवा देवलोके, साक्षात्खल्वयं देवः । यद्येतस्यास्तपो-नियम-ब्रह्मचर्य-गुप्तेः फलवृत्तिविशेषोऽस्ति तदा वयमप्यागमिष्यति (काले) इमानुदारांस्तानेतद्रूपान् मानुष-कान् भोगभोगान् भुञ्जन्तो विचरिष्यामः । एतत्साधु ।

पदार्थान्वयः—अहो–आश्चर्य है णं–वाक्यालङ्कार के लिए है सेणिए राया–

श्रेणिक राजा **महिड्ढिए**–महा ऐश्वर्य वाला **महा-सुक्खे**–अत्यधिक सुख वाला **जे णं**–जिसने **ण्हाए**–स्नान किया **कय-बलिकम्मे**–बलि-कर्म किया **कय-कोउय-मंगल-पाय-च्छित्ते**–कौतुक कर्म और माङ्गलिक कामनाओं के लिए प्रायश्चित्त किया और **सव्वा-लंकार-विभूसिया**–सब प्रकार के भूषणों से विभूषित हो कर और **चेल्लणादेवीए सद्धिं**–चेल्लणादेवी के साथ **उरालाइं**–श्रेष्ठ **माणुसगाइं**–मनुष्य-सम्बन्धी **भोग-भोगाइं**–काम-भोगों को **भुंजमाणे**–भोगता हुआ **विहरति**–विचरता है । **मे**–हमने **देवा**–देव **देवलोगंसि**–देव-लोक में **न**–नहीं **दिट्ठा**–देखें हैं **अयं**–यह **खलु**–निश्चय से **सक्खं**–साक्षात् **देवे**–है । अतः **जइ**–यदि **इमस्स**–इस **तव**–तप **नियम**–नियम और **बंभचेर-गुत्ति**–ब्रह्मचर्य-गुप्ति का **फलवित्ति**–फलवृत्ति **विसेसे अत्थि**–विशेष है **तया**–तो **वयमवि**–हम भी **आगमेस्साइं**–आगामी काल में **इमाइं**–इन **ताइं**–उन **उरालाइं**–उदार **एयारूवाइं**–इस प्रकार के **माणुसगाइं**–मनुष्य-सम्बन्धी **भोगभो-गाइं**–भोगों को **भुंजमाणे**–भोगते हुए **विहरामो**–विचरेंगे । **से तं**–यही **साहु**–ठीक है ।

मूलार्थ—आश्चर्य है कि श्रेणिक राजा अत्यन्त ऐश्वर्य वाला और सम्पूर्ण सुखों का अनुभव करने वाला है, जिसने स्नान, बलिकर्म, कौतुक, मङ्गल और प्रायश्चित्त किया है तथा सब प्रकार के भूषणों से अलंकृत हो कर चेल्लणादेवी के साथ सर्वोत्तम काम-भोगों को भोगता हुआ विचरण कर रहा है । हमने देव-लोक में देवों को नहीं देखा है, किन्तु यही साक्षात् देव है । यदि इस तप, नियम और ब्रह्मचर्य गुप्ति का कोई फलवृत्ति विशेष है तो हम भी भविष्यत् काल में इस प्रकार के उदार काम-भोगों को भोगते हुए विचरेंगे । यह हमारा विचार बहुत उत्तम है ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि श्रेणिक राजा को देख कर मुनियों ने क्या आध्यात्मिक विचार किया । आध्यात्मिक वृत्ति में दो प्रकार के संकल्प होते हैं—ध्यानात्मक और चिन्तात्मक । यहां पर चिन्तात्मक संकल्पों का वर्णन किया गया है । चिन्तात्मक संकल्प भी दो प्रकार के होते हैं—अभिलाषात्मक और केवल-चिन्तात्मक । यहां मुनियों में अभिलाषात्मक संकल्पों का उत्पन्न होना बताया गया है । जैसे—महाराजा श्रेणिक को देखकर उपस्थित मुनि सोचने लगे कि इस राजा के पास अन्य साधारण परिवारों की अपेक्षा से उच्च भवन और अत्य-

धिक धन-धान्य है, अतः यह बड़े ऐश्वर्य वाला है। बहुत से आभूषणों के पहनने से इसका मुख कान्ति-पूर्ण है। यह शरीर से हृष्ट-पुष्ट और बलवान् है। इसका यश सर्वत्र छा रहा है। इसको किसी भी सुख की कमी नहीं है, अतः यह महा-सुखी है। यह स्नान, बलि-कर्म, कौतुक, मङ्गल और प्रायश्चित्त कर तथा अनेक अमूल्य आभूषणों से विभूषित होकर चेल्लणादेवी के साथ उत्तम से उत्तम शब्दादि काम भोगों को भोगता हुआ विचरण कर रहा है। वे सोचने लगे कि हमने आज तक देव-लोक में देवों को नहीं देखा हमें तो यही साक्षात् देव जंचते हैं। उन्होंने फिर विचारा कि यदि हमारे ग्रहण किये हुए इस तप, नियम और ब्रह्मचर्य-गुप्ति आदि का कुछ फलवृत्ति विशेष है तो हम भी दूसरे जन्म में इस प्रकार के श्रेष्ठ मनुष्य सम्बन्धी काम-भोगों को भोगते हुए विचरण करेंगे। यह हमारा चिन्तित विचार साधु अर्थात् श्रेष्ठ है। यही संकल्प उन साधुओं के चित्त में उस समय श्रेणिक राजा को देखकर उत्पन्न हुए।

इस सूत्र में "भोगभोगाइं" आदि नपुंसक लिङ्ग में दिये गए हैं। ये सब प्राकृत होने के कारण दोषाधायक नहीं हैं। क्योंकि "व्यत्ययश्च" सूत्र से प्राकृत में व्यत्यय विशेषता से होते हैं। "नैव मया दृष्टाः—अवलोकिता देवलोके—इत्येक-वचनं साध्यवसायिकत्वाद् वक्तुरपेक्षया" इत्यादि।

यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि भगवान् के समवसरण में साधुओं के चित्त में ऐसे संकल्प क्यों उत्पन्न हुए ? समाधान में कहा जाता है कि छद्मस्थता के कारण यदि ऐसा हो भी जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

अब सूत्रकार वर्णन करते हैं कि चेल्लणादेवी को देखकर साध्वियों के चित्त में क्या २ विचार उत्पन्न हुए :—

अहो णं चेल्लणादेवी महिड्ढिया जाव महा-सुक्खा जे णं ण्हाया, कय-बलिकम्मा, जाव कय-कोउय-मंगल-पायच्छित्ता, जाव सव्वालंकार-विभूसिया सेणिएणं रण्णा सद्धिं उरालाइं जाव माणुसगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी

विहरइ । न मे दिट्ठाओ देवीओ देवलोगंसि, सक्खं खलु इमा देवी । जइ इमस्स सुचरियस्स तव-नियम-बंभचेर-वासस्स कल्लाणे फलवित्ति-विसेसे अत्थि, वयमवि आगमिस्साणं इमाइं एयारूवाइं उरालाइं जाव विहरामो । से तं साहुणी ।

अहो नु चेल्लणादेवी महर्द्धिका यावत् महासुखा या स्नाता, कृत-बलिकर्मा, यावत्कृतकौतुक-मङ्गल-प्रायश्चित्ता, यावत्सर्वालङ्कार-विभूषिता श्रेणिकेन राज्ञा सार्द्धमुदारान् यावद् मानुषकान् भोगभोगान् भुञ्जन्ती विहरति । नैवास्माभिर्दृष्टा देव्यो देवलोके, साक्षादियं देवी । यद्यस्य सुचरितस्य तपो-नियम-ब्रह्मचर्य-वासस्य कल्याणः फलवृत्तिविशेषोऽस्ति, वयमप्यागमिष्यति (काले) इमानेतद्रूपानुदारान् यावद् विहरामः । तदेतत्साधु ।

पदार्थान्वयः—अहो—विस्मय है कि णं—वाक्यालङ्कार के अर्थ में है, चेल्लणादेवी—चेल्लणादेवी महिड्ढिया—अत्यन्त ऐश्वर्य वाली जाव—यावत् महा-सुक्खा—अधिक सुख वाली जे णं—जो ण्हाया—स्नान कर कय-बलिकम्मा—बलि-कर्म कर कय-कोउय-मंगल-पायच्छित्ता—कौतुक, मङ्गल और प्रायश्चित्त कर जाव—यावत् सव्वालँकार-विभूसिया—सब अलङ्कारों से विभूषित होकर सेणिएणं रन्ना—श्रेणिक राजा के सद्धिं—साथ उरालाइं—उत्तम जाव—यावत् माणुसगाइं—मनुष्य-सम्बन्धी भोग-भोगाइं—काम-भोगों को भुंजमाणी—भोगती हुई विहरइ—विचरती है । मे—हमने देव-लोगंसि—देव-लोक में देवीओ—देवियां न—नहीं दिट्ठाओ—देखी हैं किन्तु इमा—यह खलु—निश्चय से सक्खं—साक्षात् देवी—देवी है । जइ—यदि इमस्स—इस सुचरियस्स—सुचरित्र का तथा तव—तप नियम—नियम और बंभचेर-वासस्स—ब्रह्मचर्य का कल्लाणे—कल्याणकारी फलवित्ति-विसेसे—फल-वृत्ति विशेष अत्थि—है तो वयमवि—हम भी आगमिस्साणं—आगामी काल में इमाइं—इन एयारूवाइं—इस प्रकार के उरालाइं—

उत्तम जाव–सम्पूर्ण काम-भोगों को भोगते हुए विहरामो–विचरण करेंगे से तं साहुर्णी–यह हमारा विचार अत्यन्त उत्तम है ।

मूलार्थ—महाराणी चेल्लणादेवी को देखकर साध्वियां विचार करती हैं कि आश्चर्य है कि यह चेल्लणादेवी, अत्यन्त ऐश्वर्य-शालिनी तथा बड़े बड़े सुखों को भोगती हुई स्नान कर, बलि-कर्म कर, कौतुक, मङ्गल और प्रायश्चित्त कर तथा सब प्रकार के अलङ्कारों से विभूषित होकर श्रेणिक राजा के साथ उत्तमोत्तम भोगों को भोगती हुई विचरण करती है । हमने देव-लोक में देवियां नहीं देखी हैं किन्तु यह साक्षात् देवी है । यदि हमारे इस सच्चरित्र, तप, नियम और ब्रह्म-चर्य का कोई कल्याण-वृत्ति विशेष फल है तो हम भी आगामी काल में इस प्रकार के उत्तम भोगों को भोगते हुए विचरण करेंगी । यह हमारा विचार श्रेष्ठ है ।

टीका—जिस प्रकार महाराज श्रेणिक को देख कर साधुओं के चित्त में विचार उत्पन्न हुए थे उसी प्रकार महाराणी चेल्लणादेवी को देख कर साध्वियों के चित्त में भी उत्पन्न हुए और उस अपने विचार को उन्होंने सर्वोत्तम जाना । उनके चित्त में इन संकल्पों का उत्पन्न होना स्वाभाविक था; क्योंकि जीव अनादि काल से वासना के अधिकार में है, जब उस (वासना) को उत्तेजित करने की सामग्री उपस्थित होती है तो वह विशेष रूप से उत्पन्न हो जाती है । अतः साधुओं के इन संकल्पों को देख कर आश्चर्य नहीं करना चाहिए ।

अब सूत्रकार कहते हैं कि तदनन्तर क्या हुआ :—

अज्जोति समणे भगवं महावीरे ते बहवे निग्गंथा निग्गंथीओ य आमंत्तेत्ता एवं वयासी—"सेणियं रायं चेल्लणादेविं पासित्ता इमेतारूवे अज्झत्थिते जाव समुप-ज्जित्था । अहो णं सेणिए राया महिड्ढिए जाव सेत्तं साहु । अहो णं चेल्लणादेवी महिड्ढिया सुंदरा जाव साहुणी । से णूणं, अज्जो ! अत्थे समट्ठे ?" हंता अत्थि ।

आर्याः ! इति श्रमणो भगवान् महावीरस्तान् बहून् निर्ग्रन्थान् निर्ग्रन्थ्यश्चामन्त्र्यैवमवादीत्–"श्रेणिकं राजानं चेल्ल·णादेवीं दृष्ट्वैतद्रूप आध्यात्मिको यावत् (विचारः) समुपपद्यते । अहो श्रेणिको राजा महर्द्धिको यावदयं साधु । अहो नुचेल्लणादेवी महर्द्धिका सुन्दरी यावत्साध्वी । अथ नूनम्, आर्याः ! अर्थः समर्थः ?" । हन्त ! अस्ति ।

पदार्थान्वयः—अज्जोति–हे आर्यो ! इस प्रकार समणे–श्रमण भगवं–भगवान् महावीरे–महावीर ते–उन बहवे–बहुत से निग्गंथा–निर्ग्रन्थ य–और निग्गंथीओ–निर्ग्रन्थियों को आमंतेत्ता–आमन्त्रित कर एवं वयासी–इस प्रकार कहने लगे सेणियं रायं–श्रेणिक राजा और चेल्लणादेविं–चेल्लणादेवी को पासित्ता–देख कर इमेतारूवे–इस प्रकार अज्झत्थिते–आध्यात्मिक भाव जाव–यावत् समुप्पज्जेज्जा–उत्पन्न हुए अहो णं–आश्चर्य है सेणिए राया–श्रेणिक राजा महिड्ढिए–महा ऐश्वर्य वाला है जाव–यावत् हम भी इसी प्रकार के भोगों को भोगेंगे सेत्तं–यह तुम्हारा विचार साहु–श्रेष्ठ है, अहो णं–विस्मय है चेल्लणादेवी–चेल्लणादेवी महिड्ढिया–अत्यन्त ऐश्वर्य वाली है सुंदरा–सुन्दरी है सेतं साहुणी–यह साध्वियों का विचार भी उत्तम है से–अथ णूणं–निश्चय से अज्जो–हे आर्यो ! एयमट्ठे–यह बात समट्ठे–ठीक है ? यह सुनकर उपस्थित साधु और साध्वियों ने उत्तर दिया हंता अत्थि–हां, भगवन् ! आप ठीक कहते हैं ।

मूलार्थ—हे आर्यो ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी उन बहुत से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को आमन्त्रित कर इस प्रकार कहने लगे "श्रेणिक राजा और चेल्लणादेवी को देखकर तुम लोगों के चित्त में इस प्रकार के आध्यात्मिक संकल्प उत्पन्न हुए कि आश्चर्य है श्रेणिक राजा इतना ऐश्वर्य-शाली है और हम भी भविष्य में ऐसे ही भोगों को भोगेंगे–यह ठीक है ? अहो ! चेल्लणादेवी महा ऐश्वर्य-शालिनी है, सुन्दरी है और साध्वी है यह ठीक है ? हे आर्यो ! तुम लोगों के ऐसे विचार हैं ?" । यह सुनकर उपस्थित निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों ने कहा "हां, भगवन् ! यह बात ठीक है" ।

टीका—इस सूत्र में भगवान् की सर्वज्ञता और आर्यों की सत्यता का प्रकाश किया गया है। जब निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के अन्तःकरण में उक्त संकल्प उत्पन्न हुए, उसी समय श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उन सब को बुला कर कहा "हे आर्यो ! तुम लोगों के अन्तःकरण में उक्त संकल्प उत्पन्न हुए हैं ?" उन्होंने इस बात को स्वीकार करते हुए उत्तर दिया "हां, भगवन् ! आप सच कहते हैं। हमारे चित्त में अवश्य इस प्रकार के संकल्प उत्पन्न हुए हैं"।

सूत्र के "से णूणं" इत्यादि वाक्य में आए हुए "से" पद का 'अथ' अर्थ है। जैसे—"से" शब्दो मगधदेश-प्रसिद्धः—अथशब्दार्थे वर्तते। 'अथ' शब्दस्तु वाक्योपन्यासार्थः परिप्रश्नार्थो वा। यदाह—"अथ प्रक्रियाप्रश्नान्तर्यमङ्गलोपन्यास-प्रतिवचनसमुच्चयेषु"। नूनमिति निश्चये, अर्थः—अभिधेयः समर्थोऽभवदित्यभिप्राय-प्रतिपादक इति काका प्रश्नः। तत्र "हंता" इति निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनाञ्च वाक्यं 'एवम्' इत्यर्थे तेन 'इष्टमस्माकमस्ति' इत्यर्थः।

इसके अनन्तर श्री भगवान् ने क्या कहा ? यह निम्न-लिखित सूत्र में वर्णन किया जाता है :—

एवं खलु समणाउसो मए धम्मे पण्णत्ते। इणामेव निग्गंथे पावयणे सच्चे, अणुत्तरे, पडिपुण्णे, केवले, संसुद्धे, णेआउए, सल्ल-कत्तणे, सिद्धि-मग्गे, मुत्ति-मग्गे, निज्जाण-मग्गे, निव्वाण-मग्गे, अवितहमविसंदिद्धे, सव्व-दुक्ख-प्पहीण-मग्गे। इत्थं ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

एवं खलु श्रमणाः ! आयुष्मन्तः ! मया धर्मः प्रज्ञप्तः। इदमेव निर्ग्रन्थ-प्रवचनं सत्यम्, अनुत्तरम्, प्रतिपूर्णम्, केवलम्, संशुद्धम्, नैयायिकम्, शल्य-कर्तनम्, सिद्धि-मार्गः, मुक्ति-मार्गः,

निर्याण-मार्गः, निर्वाण-मार्गः, अवितथम्, अविसन्दिग्धम्, सर्व-दुःख-प्रहीणमार्गः । इत्थं स्थिता जीवाः सिद्ध्यन्ति, बुद्ध्यन्ति, मुच्यन्ते, परिनिर्वान्ति, सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति ।

पदार्थान्वयः—**समणाउसो**–हे दीर्घायु वाले श्रमणो ! **एवं खलु**–इस प्रकार निश्चय से **मए**–मैंने **धम्मे**–धर्म **पण्णत्ते**–प्रतिपादन किया है **इणामेव**–यह प्रत्यक्ष **निग्गंथे**–निर्ग्रन्थ **पावयणे**–प्रवचन, द्वादशाङ्गरूप **सच्चे**–सत्य है **अणुत्तरे**–अनुत्तर अर्थात् सबसे उत्तम है **पडिपुण्णे**–प्रतिपूर्ण है **केवले**–अद्वितीय है **संसुद्धे**–संशुद्ध है **णेआउए**–मोक्ष का प्रापक होने से नैयायिक अर्थात् सर्वथा न्याय-पूर्ण है **सल्ल-कत्तणे**–माया, नियाण और मिथ्यात्व रूपी शल्य-कर्म का छेदन या विनाश करने वाला होता है **सिद्धि-मग्गे**–सिद्धि का मार्ग है **मुत्ति-मग्गे**–मुक्ति (कर्म-क्षय करने) का मार्ग है **निज्जाण-मग्गे**–मोक्ष का मार्ग है **निव्वाण-मग्गे**–सांसारिक कर्मों के विनाश करने का मार्ग है **अवितहं**–यथार्थ है **अविसंदिद्धं**–सन्देह रहित या अव्य-वच्छिन्न है **सव्वदुक्ख-प्पहीणमग्गे**–सब दुःखों के क्षीण होने का मार्ग है। **इत्थं**–इस प्रकार **ठिया**–निर्ग्रन्थ-प्रवचन में स्थिर **जीवा**–जीव **सिज्झंति**–सिद्ध होते हैं **बुज्झंति**–बुद्ध होते हैं **मुच्चंति**–मुक्त होते हैं **परिनिव्वायंति**–सांसारिक दुःखों का परित्याग होने से शान्त-चित्त हो जाते हैं और **सव्वदुक्खाणं**–सब दुःखों के **अंतं करेंति**–अन्त करने वाले होते हैं ।

मूलार्थ—हे दीर्घजीवी श्रमणो ! इस प्रकार मैंने धर्म प्रतिपादन किया है । यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत्य है, सर्वोत्तम है, प्रतिपूर्ण है, अद्वितीय है, संशुद्ध है, मोक्ष-प्रद होने से नैयायिक है, माया, नियाण और मिथ्यात्वरूपी शल्य-कर्म का विनाश करने वाला है, सिद्धि-मार्ग है, मुक्ति-मार्ग है, निर्याण-मार्ग है, निर्वाण-मार्ग है, यथार्थ है, सन्देह-रहित है, अव्यवच्छिन्न है, सब दुःखों के क्षीण करने का मार्ग है । इस मार्ग में स्थिर जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, शान्त चित्त होते हैं और सब दुःखों को नाश करते हैं ।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने साधु और साध्वियों को आमन्त्रित कर निर्ग्रन्थ-प्रवचन का

माहात्म्य वर्णन किया। जैसे–हे चिरजीवी श्रमणो ! जिन आत्माओं ने बाह्य (धन धान्यादि) और आभ्यन्तर (कषायादि) ग्रन्थ छोड़ दिये हैं, उनके लिये यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन–द्वादशाङ्ग-वाणी—

१–सत्य है, क्योंकि यह हितकारी और सत्य मार्ग दिखाता है।

२–अनुत्तर है, क्योंकि यह यथावस्थित वस्तुओं का प्रतिपादक है अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप में वर्णन करता है।

३–प्रतिपूर्ण है, क्योंकि यह अपवर्ग के समस्त गुणों से पूर्ण है।

४–केवल है, क्योंकि यह अद्वितीय है और इससे बढ़कर और कोई नहीं।

५–संशुद्ध है, क्योंकि यह सर्व-विषयक है और कलङ्क-रहित है।

६–नैयायिक है, नयनशीलम्–नैयायिकम्–मोक्ष-प्रापकं न्यायोपपन्नं वा–मोक्ष-प्राप्ति का कारण है।

७–सिद्धि-मार्ग अर्थात् हितार्थ-प्राप्ति का मार्ग है।

८–मुक्ति-मार्ग अर्थात् कर्म से मुक्त होने का मार्ग है।

९–निर्याण-मार्ग, 'यातीति यानम्, नितरामपुनरावर्तनेन यानं निर्याणम्–मोक्ष-पदम्, तस्य मार्गो निर्याण-मार्गः, अर्थात् मोक्ष का मार्ग है।

१०–निर्वाण-मार्ग है, क्योंकि इसके आश्रित होकर आत्मा एकान्त सुख का अनुभव करता है। अतः यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन सब दुःखों से छुटकारा पाने का मार्ग है।

११–यह अविसन्दिग्ध–अव्यवच्छिन्न है अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में इसकी सत्ता रहती है।

इसमें स्थिर बुद्धि से स्थित जीव अणिमा आदि लब्धियों की प्राप्ति करते हैं, केवल-ज्ञान की प्राप्ति करते हैं, सब प्रकार के कर्मों से विमुक्त होते हैं, सब प्रकार के कर्म-कलङ्क से रहित होने से शान्त-चित्त होते हैं और उनके सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख नष्ट हो जाते हैं, इत्यादि श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने निर्ग्रन्थ-प्रवचन का माहात्म्य वर्णन किया। निर्ग्रन्थ-प्रवचन में मुख्य-रूप से दो विषयों का वर्णन किया गया है–श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म। ये दोनों ही आत्मा के कल्याण-कारक हैं।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन उस शास्त्र को कहते हैं जिसमें निर्ग्रन्थ अर्थात् श्रमण-धर्म

का प्रवचन-विशिष्ट रूप से निरूपण किया गया है। इसका विग्रह इस प्रकार है "निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थम्, प्रवचनम्–प्रकर्षेणाभिविधिनोच्यन्ते जीवादयः पदार्था यस्मिंस्तत् प्रवचनम्–शास्त्रमित्यर्थः।

अब सूत्रकार वर्णन करते हैं कि श्री भगवान् ने इसके अनन्तर क्या कहा :—

जस्स णं धम्मस्स निग्गंथे सिक्खाए उवट्ठिए विहरमाणे पुरादिगिंच्छाए पुरापिवासाए पुरावाताऽऽत-वेहिं पुरापुट्ठे विरूव-रूवेहिं परिसहोवसग्गेहिं उदिण्ण-कामजाए विहरिज्ञा से य परक्कमेज्ञा से य परक्कममाणे पासेज्जा जे इमे उग्ग-पुत्ता महा-माउया, भोग-पुत्ता मह - माउया, तेसिं अण्णत्तरस्स अतिजायमाणस्स निज्जाय-माणस्स पुरओ महं दासी-दास-किंकर-कम्मकर-पुरि-साणं अंते परिक्खितं छत्तं भिगारं गहाय निग्गच्छंति।

यस्य नु धर्मस्य निर्ग्रन्थः शिक्षाया उपस्थितो विहरन् पुरा जिघित्सया पुरा पिपासया पुरा वातातपाभ्यां स्पृष्टो विरूपरूपैश्च परीषहोपसर्गैरुदीर्ण-कामजातो विहरेत्, स च पराक्रमेत्, स च पराक्रमन् पश्येत्–य इमे उग्र-पुत्रा महा-मातृकाः, भोग-पुत्रा महा-मातृकाः, तेषामन्यतरमतियान्तं निर्यान्तं पुरतो महद्दासी-दास-किङ्कर-कर्मकर-पुरुषाणामन्ते परिक्षिप्तम्, छत्रं भृङ्गारञ्च गृहीत्वा निर्गच्छन्तम्।

पदार्थान्वयः—**जस्स**–जिस **णं**–वाक्यालङ्कारार्थ है **धम्मस्स**–धर्म की **सिक्खाए**–शिक्षा के लिए **निग्गंथे**–निर्ग्रन्थ **उवट्ठिए**–उपस्थित होकर **विहरमाणे**–

विचरता हुआ **पुरा**—पूर्व **दिगिंच्छाए**—भूख से **पुरा**—पहले **पिवासाए**—प्यास से **पुरा**—पहले **वाताऽऽतवेहिं**—वायु और आतप से **पुरा**—पूर्व **पुट्ठे**—स्पृष्ट अथवा दुःखित होकर तथा **विरूव-रूवेहिं**—नाना प्रकार के **परिसहोवसग्गेहिं**—परिषह और उपसर्गों से पीड़ित होने से **उदिण्ण-कामजाए**—उसके चित्त में काम-वासनाओं का उदय हो जाय तथा वह इस प्रकार **विहरिज्जा**—विचरण करे किन्तु यह होते हुए भी **से य**—वह **परक्कमेज्जा**—संयम-मार्ग में पराक्रम करता है **से य**—वह फिर **परक्कममाणे**—संयम-मार्ग में पराक्रम करता हुआ उनको **पासेज्जा**—देखे **जे**-जो **इमे**—ये **उग्गपुत्ता**—उग्रकुल के पुत्र हैं **महामाउया**—जिनकी बड़ी कुलवती माता हैं और उन को जो **भोगपुत्ता**—भोगपुत्र हैं **महामाउया**—जिनकी बड़ी कुलवती माता हैं **तेसिं**—उन में से **अण्णतरस्स**—किसी एक को **अतिजायमाणस्स**—घर में आते हुए **वा**—अथवा **निज्जायमाणस्स**—घर से बाहर निकलते हुए जिसके **पुरओ**—आगे **महं**—बहुत से **दासी**—दासी **दास**—दास **किंकर**—किंकर **कम्मकर**—कर्मकर **पुरिसाणं**—पुरुषों के **अंते**—बीच में **परिक्खित्तं**—घिरा हुआ है और **छत्तं**—छत्र **भिंगारं**—भृङ्गारी **गहाय**—ग्रहण कर **निग्गच्छंति**—निकलते हुए को (देखकर)।

मूलार्थ—जिस (निर्ग्रन्थ-प्रवचन) धर्म की शिक्षा के लिए उपस्थित हो कर विचरता हुआ साधु यदि भूख, प्यास, वात और आतप आदि परीषहों से पीड़ित हो और उसके चित्त में काम-विकारों का उदय हो जाय तब भी वह संयम-मार्ग में पराक्रम करे और संयम-मार्ग में पराक्रम करता हुआ भी महामातृक उग्रपुत्र और भोगपुत्रों को देखता है तथा उनमें से किसी एक को अनेक दास, दासी, किंकर और कर्मकर पुरुषों से घिरे हुए, छत्र और भृङ्गारक धारण कर घर से बाहर निकलते और घर में प्रवेश करते देखता है।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि किन २ को देखकर साधु निदान कर्म करता है। जो व्यक्ति निर्ग्रन्थ-प्रवचन-रूप धर्म ग्रहण करने, आसेवन करने तथा ज्ञान और आचार विषयक शिक्षा ग्रहण करने के लिए उपस्थित हुआ है और उन शिक्षाओं को उचित रीति से पालन भी करता है तथा जिसने एक बार सम्पूर्ण परीषहों को सहन कर लिया हो, अब यदि उसको परीषहों का अनुभव होने लगे और उसके चित्त में काम-वासना का उदय हो जाय किन्तु फिर भी

वह संयम-मार्ग में पराक्रम करता हुआ विचरण करे और विचरण करते हुए महा-मातृक—जिनकी माताएं तथा, उपलक्षण से, पिता उच्च वंश के तथा रूप-शील आदि गुणों से सम्पन्न हैं, उग्र-पुत्र—उग्रा नाम 'आदिदेवेन रक्षकत्वेन स्थापितास्तद्वंशजास्तेषां पुत्राः' अर्थात् आदि देव के रक्षक रूप से नियत किए हुए 'उग्र' वंश के पुत्र, और भोग-पुत्र–'आदिदेवेनावस्थापितो यो गुरुवंशस्तेषां पुत्राः' आदि देव के गुरु रूप से नियत किये हुए 'भोग' कुल के पुत्रों–को देखे अथवा उनमें से किसी एक को अनेक दास (अपने ही घर में उत्पन्न सेवक), दासी, किंकर (खरीद कर लाये हुए) और कर्मकरों (स्वामी को पूछकर काम करने वालों) से घिरा हुआ और छत्र, भृङ्गारी और झारी लेकर घर में जाते हुए और घर से बाहर निकलते हुए देखे अर्थात् किसी ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्ति को देखे तो वह निदान कर्म करता है ।

इस सूत्र में 'उग्रपुत्राः' 'भोगपुत्राः' के साथ साथ कोई 'महा-साउया (महास्वादुकाः)' पाठ भी पढ़ते हैं जिसका अर्थ होता है कि जो कुमार लीला-विलास के अत्यन्त प्रेमी हैं । सूत्रगत "पुरादिगिंछाय" शब्द की वृत्ति में वृत्तिकार लिखते हैं—"पुराप्रेतनं-चिन्तनकरणात्पूर्वम् दिगिंछाएत्ति–इह 'अदिंछति' इति 'देशी' वचनेन बुभुक्षोच्यते । सैवात्यन्तव्याकुलता-हेतुरप्यसंयमभीरुतयाहार-परिपाकादि-वाञ्छाविनिवर्तिनी तद्भावस्तत्ता तया । एवं पुरा पिवासेत्ति–पातुमिच्छा पिपासा तद्भावस्तत्ता तया इत्यादि" अर्थात् 'देशी' प्राकृत में 'दिगिंच्छा' शब्द का बुभुक्षा अर्थ है ।

सूत्र का तात्पर्य इतना ही है कि जब परीषहों का अनुभव किसी को होने लगता है तो उसके चित्त में काम-वासना की उत्पत्ति हो जाती है । परिणाम यह होता है कि ऐश्वर्य-शाली व्यक्तियों को देखकर उसका चित्त संकल्पों की माला गूंथने लग जाता है ।

अब सूत्रकार पूर्व-सूत्र से ही अन्वय रखते हुए कहते हैं :—

तदा णंतरं च णं पुरओ महाआसा आसवरा उभओ तेसिं नागा नागवरा पिट्ठओ रहा रहवरा संगेल्लि से तं उद्धरिय सेय छत्ते अब्भुग्गयं भिंगारे पग्गहिय

तालियंटे पवियन्न सेय-चामरा बाल-वीयणीए अभिक्खणं अभिक्खणं अतिजाति य निज्जाति य। सप्पभा स पुव्वावरं च णं ण्हाए (कय)बलिकम्मे जाव सव्वालंकार-विभूसिए महती महालियाए कुडागार-सालाए महति महालयंसि सिंहासणंसि जाव सव्व रात्तिणीएणं जोइणा ज्झियायमाणेणं इत्थि-गुम्म-परिवुडे महारवे हय-नट्ट-गीए-वाइय-तंतीतल-तालतुडिय-घण-मुइंग-मद्दल-पडु-प्पवाइ-रवेणं उरालाइं माणुसगाइं काम-भोगाइं भुंजमाणे विहरति ।

ततोऽनन्तरं पुरतो महाश्वा अश्व-प्रवरा उभयतस्तेषां नागा-नाग-वराः पृष्ठतो रथा रथ-वराः संगेल्लिः(रथ-समुदायः)अथ च श्वेतमुद्धृतञ्छत्रमुद्गतं भृङ्गारं प्रतिगृहीतं तालवृन्तं वीज्यमानानि श्वेतचामराणि बाल-व्यजनानि, अभीक्ष्णमभीक्ष्णमतियान्ति, निर्यान्ति, सप्रभाः सपूर्वापरं स्नाताः कृत-बलिकर्माणो यावत्सर्वालङ्कार-विभूषिता महत्या महत्यां कूटाकार-शालायां महतो महति सिंहासने यावत्सर्वरात्रिकेन ज्योतिषा ध्मायमाने स्त्रीगुल्म-परिवृताः, महता रवेणाहत-नाट्य-गीत-वादित्र-तन्त्री-तल-तालत्रुटित-घन-मृदंग-मर्द्दल-पटु-प्रवादितरवेणोदारान् मानुषकान् काम-भोगान् भुञ्जाना विहरन्ति ।

पदार्थान्वयः—तदाणंतरं च णं—इसके अनन्तर उन उग्र-पुत्रादि के पुरओ—आगे महाआसा—बड़े २ घोड़े आसवरा—श्रेष्ठ घोड़े तथा तेसिं—उनके उभओ—दोनों ओर नागा—हाथी और नागवरा—श्रेष्ठ हाथी पिट्ठओ—पीछे रहा—रथ और रहवरा—प्रधान रथ तथा संगेल्लि—रथों का समुदाय है से तं—और उन्होंने उद्धरिय—

ऊंचा किया हुआ **सेत छत्ते**–श्वेत छत्र धारण किया **अब्भुग्गयं भिंगारे**–भृङ्गारी ली है **पग्गहिय तालयंटे**–तालवृन्त ग्रहण किया हुआ है **सेय चामरा**–श्वेत चमर और **बालवीयणीए**–छोटे २ पङ्खे **पवियन्न**–डुलाये जा रहे हैं **अभिक्खणं** २–बार २ **अतिजाति य**–भीतर जाते हैं और **निज्जाति य**–बाहर निकलते हैं **सप्पभा**–कान्तिमान् हैं **स पुव्वावरं च णं**–पहले विधिपूर्वक **एहाए**–स्नान किया (कय-) **बलिकम्मे**–बलिकर्म तथा भोजनादि क्रियाएं कीं **जाव**–यावत् **सव्वालंकार-विभूसिए**–सब अलङ्कारों से विभूषित हो कर **महती महालियाए**–बड़ी से बड़ी **कुडागार-सालाए**–कूटाकार शाला में **महति महालयंसि**–बड़े से बड़े विस्तार वाले **सिंहासणंसि**–सिंहासन पर **जाव**–यावत् **सव्व-रात्तिणीएणं**–सारी रात्रि के **जोइणा-ज्झियायमाणेणं**–प्रकाश में अर्थात् दीपक की रोशनी में **इत्थि-गुम्म-परिवुडे**–स्त्रियों के समूह से घिरे हुए रहते हैं **महता रवे**–बड़े शब्द से **हय**–ताडित **नट्ट**–नाच **गीए**–गाना **वाइय**–वादित्र **तंती**–तंत्री **तल**–हाथों की तलियां **ताली**–कांशी आदि ताल **तुडिय**–त्रुटित नाम का वाद्य विशेष **घन**–घन (मेघ समान ध्वनिवाला वाद्य विशेष) **मुइंग**–मृदंग **मद्दल**–मर्दल **पटु**–कला-कुशल व्यक्तियों से **प्पवाइ-रवेणं**–उत्पादित ध्वनि से **उरालाइं**–श्रेष्ठ **माणुसगाइं**–मनुष्य सम्बन्धी **काम-भोगाइं**–काम-भोगों को **भुंजमाणे**–भोगते हुए **विहरति**–विचरण करते हैं ।

मूलार्थ—इसके अनन्तर उसके आगे बड़े २ और श्रेष्ठ घोड़े हैं। दोनों ओर बड़े और प्रधान हाथी हैं। पीछे बड़े २ और सर्वोत्तम रथ और रथों का समूह है। उसके ऊपर छत्र ऊंचा किया हुआ है। हाथ में झारी ली हुई हैं। तालवृन्त के पंखों से वायु की जा रही है। श्वेत चमर डुलाए जा रहे हैं। इस प्रकार जब वह घर में प्रवेश करता है या घर से बाहर निकलता है तो अत्यन्त देदीप्यमान दिखाई देता है। विधि-पूर्वक स्नान, बलि कर्म और भोजन कर सब प्रकार के भूषणों से विभूषित रहता है। फिर अत्यन्त विस्तृत कूटाकार शाला में अत्यन्त ऊंचे और विस्तीर्ण सिंहासन पर बैठा रहता है। वह शाला सारी रात्री जाज्वल्यमान दीपकों से प्रकाशित हो रही है। उसमें वह स्त्रियों के समूह से परिवृत होता हुआ बड़े शब्द से ताडित नाट्य, गीत, वादित्र, तन्त्री, ताल, त्रुटित, घन, मृदङ्ग और मर्दल आदि वाद्य विशेषों की कला-कुशल व्यक्तियों से

उत्पादित ध्वनि में मनुष्य सम्बन्धी उत्तमोत्तम को काम-भोगों भोगता हुआ विचरता है ।

टीका—इस सूत्र में उन उग्रकुल और भोगकुल के पुत्रों की ऋद्धि का वर्णन किया गया है। जैसे—जब वे उग्रकुलादि के पुत्र अपने घर से बाहर निकलते हैं या घर में प्रवेश करते हैं तब उनके साथ घोड़े, हाथी और रथों का समुदाय होता है और छत्रादि माङ्गलिक पदार्थ भी साथ होते हैं । जिस कूटाकार शाला में निवास करते हैं वह सारी रात्रि दीपकों के प्रकाश से उज्ज्वल रहती है । वे अनेक कामिनियों से परिवृत रहते हैं और उस शाला में सदैव नाटक होते हैं और नाना प्रकार के वादित्र (बाजे) बजते रहते हैं । इस तरह वे मनुष्य सम्बन्धी उत्तमोत्तम भोगों को भोगते हुए विचरते हैं ।

'कूटाकार-शाला' के विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—"कूटाकारशालायामिति-कूटस्येव गिरिशिखरस्येवाकारो यस्याः सा कूटाकारा, यस्या उपर्याच्छादनं गिरिशिखराकारं सा कूटाकारशालेति भावः । कूटाकारासौ शाला च कूटाकार-शाला । अथवा कूटाकारेण शिखरीकृत्योपलक्षिता शाला कूटाकारशाला, उपलक्षणञ्चैतत्प्रासादादीनाम् । कूटाकार-शाला-ग्रहणं निर्जनत्वेन प्रधान-भोगाङ्गत्वाख्यापनार्थम्" । अर्थात् जिसकी छत पर्वत की चोटी के समान हो, उसको कूटाकार-शाला कहते हैं । निर्जनता के कारण कूटाकार-शाला का ग्रहण किया गया है, क्योंकि इस में विशेष भोगों का भोग होता है । शेष सूत्रार्थ सुगम ही है ।

उक्त सूत्र से सम्बन्ध रखते हुए ही सूत्रकार अब कहते हैं :—

तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेइ—भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो ? किं उवणेमो ? किं आहरेमो ? किं आविद्धामो ? किं भे हिय इच्छियं ? किं ते आसगस्स सदति ? जं पासित्ता णिग्गंथे णिदाणं करेति ।

तस्यन्वेकमप्याज्ञापयतो यावच्चत्वारः पञ्च वानुक्ता एवाभ्यु-

पतिष्ठन्ति-भण देवानां प्रिय ! किं करवाम ? किमुपनयाम ? किमाहारयाम ? किमातिष्ठाम ? किं भवतां हृदिच्छितम् ? किं तवास्यकस्य स्वदते ? यद्दृष्ट्वा निर्ग्रन्थो निदानं करोति ।

पदार्थान्वयः—**तस्स णं**-उसके **एगमवि**-एक दास को भी **आणवेमाणस्स**-आज्ञा करने पर **जाव**-यावत् **चत्तारि**-चार **पंच**-पांच **अवुत्ता चेव**-बिना कहे ही **अब्भुट्ठेइ**-कार्य करने के लिए उपस्थित हो जाते हैं **देवाणुप्पिया**-हे देव-प्रिय ! **भण**-कहिए **किं करेमो**-हम आपके लिये क्या करें ? **किं आहरेमो**-क्या भोजन आपको करावें ? **किं उवनेमो**-क्या वस्तु आपके लिये लावें **किं आविट्ठामो**-कहिए क्या करें **किं भे हिय इच्छियं**-आपके हृदय में क्या इच्छा है ? **किं भे आसगस्स सदति**-आपके मुख को कौनसी वस्तु स्वादिष्ट लगती है **जं**-जिसको **पासित्ता**-देख कर **णिग्गंथे**-निर्ग्रन्थ **णिदाणं**-निदान कर्म **करेति**-करता है ।

मूलार्थ—उसके एक दास को बुलाने पर चार या पांच अपने आप बिना बुलाये ही उपस्थित हो जाते हैं और कहने लगते हैं "हे देव-प्रिय ! कहिए हम क्या करें ? क्या भोजन आपको करावें ? कौनसी वस्तु लावें ? शीघ्र कहिए, क्या करें ? आपके हृदय में क्या इच्छा है ? आपके मुख को कौनसी वस्तु स्वादिष्ट लगती है, जिसको देख कर निर्ग्रन्थ निदान कर्म करता है ।

टीका—इस सूत्र में प्रकट किया गया है कि उक्त उग्रपुत्र और भोगपुत्रों को देख कर भिक्षुक भी निदान कर्म कर बैठता है । उन उग्र और भोग पुत्रों का इतना ऐश्वर्य और प्रभाव होता है कि वे जब किसी आवश्यक कार्य के लिये केवल एक सेवक को बुलाते हैं तो चार या पांच बिना बुलाये हुए उत्सुकता से स्वयं उपस्थित हो जाते हैं और कहने लगते हैं कि हमारा अहोभाग्य है कि हमें आपकी सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, अतः हे देव-प्रिय ! आज्ञा करिए हम आपके लिए क्या करें ? कौन आहार आपको करावें ? क्या वस्तु आपकी सेवा में उपस्थित करें ? आपके हृदय में किस वस्तु की इच्छा है ? कौनसा पदार्थ आपके पवित्र मुख को स्वादिष्ट लगता है ? इस प्रकार के उसके ऐश्वर्य को देखकर निर्ग्रन्थ निदान कर्म करता है । निदान शब्द का अर्थ आदि कारण होता है ।

अब सूत्रकार निर्ग्रन्थ के निदान कर्म के विषय में कहते हैं :—

जइ इमस्स तव-नियम-बंभचेर-वासस्स तं चेव जाव साहु। एवं खलु समणाउसो निग्गंथे णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अण्णतरे देव-लोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति। महड्ढिएसु जाव चिरट्ठितिएसु से णं तत्थ देवे भवति महड्ढिए जाव चिरट्ठितिए। ततो देवलोगाओ आउ-क्खएणं भव-क्खएणं ठिइ-क्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता जे इमे उग्ग-पुत्ता महा-माउया भोग-पुत्ता महा-माउया तेसिं णं अन्नतरंसि कुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाति ।

यद्यस्य तपो-नियम-ब्रह्मचर्य-वासस्य तच्चैव यावत्साधु । एवं खलु श्रमणाः ! आयुष्मन्तः ! निर्ग्रन्थो निदानं कृत्वा तत्स्थानमनालोच्य (तस्मात्) अप्रतिक्रान्तः कालमासे कालं कृत्वान्यतरस्मिन् देव-लोकेषु देवतयोपपत्ता भवति । महर्द्धिकेषु यावच्चिरस्थितिकेषु स च तत्र देवो भवति महर्द्धिको यावच्चिर-स्थितिकः। ततो देव-लोकादायुःक्षयेण भव-क्षयेण स्थिति-क्षयेणा-नन्तरं चयं त्यक्त्वा य इम उग्र-पुत्रा महा-मातृका भोग-पुत्रा महा-मातृकास्तेषां न्वन्यतरस्मिन्कुले पुत्रतया प्रत्यायाति ।

पदार्थान्वयः—**जइ**—यदि **इमस्स**—इस **तव**—तप **नियम**—नियम **बंभचेर-वासस्स**—ब्रह्मचर्य्य-वास का **तं चेव**—पूर्वोक्त ही फल है **जाव**—यावत् **साहु**—ठीक है । **समणाउसो**—हे चिरजीवी श्रमणो ! **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय से **निग्गंथे**—निर्ग्रन्थ **णिदाणं**—निदान कर्म **किच्चा**—करके **तस्स**—उस **ठाणस्स**—स्थान का **अणा-**

लोइय–बिना आलोचन किये हुए और उस स्थान से अप्पडिक्कंते–बिना पीछे हटे कालमासे–मृत्यु के समय कालं किच्चा–काल करके देव-लोएसु–देव-लोकों में से अण्णतरे–किसी एक लोक में देवत्ताए–देवत्व से उववत्तारो–उत्पन्न भवति–होता है। महड्डिएसु–महाऋद्धि वाले जाव–यावत् चिरट्ठितिएसु–चिरस्थिति वाले देवलोक में से णं–वह तत्थ–वहां महड्ढिए–महाऋद्धि वाला जाव–यावत् चिरट्ठितिए–और चिर-स्थिति वाला देवे–देव भवति–होता है ततो–इसके अनन्तर देवलोगाओ–उस देवलोक से आउ-क्खएणं–आयु-क्षय के कारण भव-क्खएणं–देव-भव के क्षय के कारण ठिइ-क्खएणं–देव-स्थिति के क्षय के कारण अणंतरं–बिना अन्तर के चयं–देव-शरीर को चइत्ता–छोड़ कर जे–जो इमे–ये उग्ग-पुत्ता–उग्रकुल के पुत्र हैं महा-माउया–महा-मातृक हैं भोग-पुत्ता–भोगपुत्र महा-माउया–महा-मातृक तेसिं णं–उनके अन्नतरंसि–किसी एक कुलंसि–कुल में पुत्तत्ताए–पुत्रत्व से पच्चायाति–उत्पन्न हो जाता है।

मूलार्थ—यदि इस तप, नियम और ब्रह्मचर्य का पूर्वोक्त फल है यावत् वह ठीक है। हे चिरञ्जीवी श्रमणो! इस प्रकार निर्ग्रन्थ निदान कर्म करके उस स्थान का बिना आलोचन किये उससे बिना पीछे हटे मृत्यु के समय काल कर के किसी एक देव-लोक में देवत्व से उत्पन्न हो जाता है। महर्द्धिक यावत् चिर-स्थिति वाले देवलोक में वह महर्द्धिक और चिर-स्थिति वाला देव हो जाता है। वह फिर उस देव-लोक से आयु, भव और स्थिति के क्षय होने के कारण बिना किसी अन्तर के देव-शरीर को त्यागकर जो ये महा-मातृक उग्र और भोग कुलों के पुत्र हैं उनमें से किसी एक के कुल में पुत्र-रूप से उत्पन्न होता है।

टीका—इस सूत्र से ज्ञात होता है कि जब निर्ग्रन्थ उक्त उग्र और भोग पुत्रों को देखकर अपने चित्त में संकल्प करता है कि यदि मेरे ग्रहण किये हुए इस तप, संयम, नियम और ब्रह्मचर्य-व्रत का कोई विशेष फल है तो मैं भी समय आने पर अवश्य ऐसे सुखों का अनुभव करूंगा, और इस संकल्प के विषय में न तो गुरु से कोई आलोचना ही करता है और नांही अपनी भूल स्वीकार कर इस अनिष्ट कर्म की शुद्धि के लिये तप आदि से प्रायश्चित्त ही करता है तो उसका फल यह होता है कि मृत्यु के समय काल के वश हो कर वह भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमा-

निक किसी एक देव-योनि में महर्द्धिक देवों में देव-रूप से उत्पन्न हो जाता है । वहां वह स्वयं भी महर्द्धिक और चिर-स्थिति वाला बन जाता है । जब उसके देव-लोक में सञ्चित आयु, स्थिति और भव कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं तो वह बिना किसी अन्तर के देव शरीर को छोड़ कर जो ये महा-मातृक उग्र और भोग कुलों के पुत्र हैं उनमें से किसी एक कुल में पुत्र-रूप से उत्पन्न हो जाता है ।

सूत्रकार फिर इसी से अन्वय रखते हुए कहते हैं :—

से णं तत्थ दारए भवति सुकुमाल-पाणि-पाए जाव सरूवे । तते णं से दारए उम्मुक्क-बालभावे विण्णाय-परिणायमित्ते जोवणगमणुप्पत्ते सयमेव पेइयं पडिवज्जति । तस्स णं अतिजायमाणस्स वा पुरओ जाव महं दासी-दास जाव किं ते आसगस्स सदति ।

स नु तत्र दारको भवति, सुकुमार-पाणि-पादो यावत् सरूपः । ततो नु स दारक उन्मुक्त-बालभावो विज्ञान-परिणत-मात्रो यौवनकमनुप्राप्तः स्वयमेव पैतृकं प्रतिपद्यते । तस्य नु अतियातो (निर्यातः) वा पुरतो महद्दासी-दासा यावत्किं तवास्यकस्य स्वदते (इत्यादि) ।

पदार्थान्वयः—**से** वह **णं**—वाक्यालङ्कारे **तत्थ**—वहां पर **दारए भवति**—बालक होता है । **सुकुमाल-पाणि-पाए**—जिसके हाथ और पैर सुकुमार होते हैं **जाव**—यावत् **सरूवे**—रूप-सम्पन्न होता है **तते णं**—इसके अनन्तर **से**—वह **दारए**—दारक **उम्मुक्क-बाल-भावे**—बाल-भाव को छोड़ कर **विण्णाय-परिणायमित्ते**—विज्ञान में परिपक्व होकर और **जोवणगमणुपत्ते**—यौवन को प्राप्त कर **सयमेव**—अपने आप ही **पेइयं**—पैतृक दाय भाग को **पडिवज्जति**—प्राप्त कर लेता है फिर **तस्स णं**—उसके **अतिजायमाणस्स**—घर में प्रवेश करते हुए **पुरओ**—आगे **महं**—बहुत से **दासी-दास**—दास और दासियां **जाव**—यावत् **किं**—क्या **ते**—आपके **आसगस्स**—मुख को

सदति-अच्छा लगता है इत्यादि प्रार्थना करने के लिए तत्पर रहते हैं ।

मूलार्थ—वह वहां रूप-सम्पन्न और सुकुमार हाथ-पैर वाला बालक होता है । तदनन्तर वह बाल-भाव को छोड़ कर विज्ञ-भाव और यौवन को प्राप्त कर अपने आप ही पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी बन जाता है । फिर वह घर में प्रवेश करते हुए (और घर से बाहर निकलते हुए) अनेक दास और दासियों से घिरा रहता है और वे दास और दासियां पूछते हैं कि श्रीमान् को कौनसा पदार्थ अच्छा लगता है ।

टीका—इस सूत्र में निदान कर्म का फल दर्शाया गया है । जब वह उक्त कुलों से किसी एक कुल में बालक-रूप से उत्पन्न होता है तो उसकी आकृति अत्यन्त सुन्दर होती है और हाथ और पैर अत्यन्त सुकुमार होते हैं । वह नाना प्रकार के स्वस्तिकादि लक्षणों से अलंकृत होता है । उसका अवयव-संस्थान संगठित होता है । उसका शरीर सर्वाङ्ग-परिपूर्ण होता है । वह चन्द्रवत् प्रिय-दर्शन होता है । सौभाग्य-सम्पन्न होने से वह प्रत्येक जन को आकर्षण करने वाला होता है । उसमें बुद्धि विशेष होती है जो हर एक कार्य में सफल होती है, अतः वह विज्ञानपूर्ण या विज्ञक हो जाता है । जब वह युवा होता है तब अपने आप ही पैतृक सम्पत्ति को ग्रहण कर उसका स्वामी बन जाता है। फिर वह घर में प्रवेश करते समय और घर से बाहर निकलते समय अनेक दास और दासियों से परिवृत होता है और जब वह पूर्वोक्त कुमारों के समान किसी कार्य के लिए एक सेवक को बुलाता है तो चार या पांच बिना कहे ही उपस्थित हो जाते हैं और उसके मुख से निकली हुई आज्ञा को पालन करने में अपना सौभाग्य समझते हैं और प्राप्त आज्ञा का तत्काल पालन करते हैं तथा और आज्ञाओं को सुनने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं । कहते हैं कि हे स्वामिन् ! आपको किस पदार्थ की रुचि है हम हमेशा आपकी सेवा में उपस्थित हैं कृपया आज्ञा कीजिए । इस प्रकार वह निर्ग्रन्थ उस निदान कर्म के फल को मनुष्य जन्म में भोगते हुए विचरता है ।

अब सूत्रकार निदान कर्म के धर्म के विषय में कहते हैं :—

तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजातस्स तहारूवे

समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलि-पन्नत्तं धम्म-मातिक्खेज्जा ? हंता ! आइक्खेज्जा, से णं पडिसुणेज्जा णो इणट्ठे समट्ठे। अभविए णं से तस्स धम्मस्स सवणाए। से य भवइ महिच्छे महारंभे महा-परिग्गहे अहम्मिए जाव दाहिणगामी नेरइय आगमिस्साणं दुल्लह-बोहिए यावि भवति। तं एवं खलु समणाउसो तस्स णिदाणस्स इमेतारूवे फल-विवागे जं णो संचाएति केवलि-पन्नत्तं धम्मं पडिसुणित्तए।

तस्य नु तथा-प्रकारस्य पुरुष-जातस्य तथा-रूपः श्रमणो वा माहनो वा उभय-कालं केवलि-प्रज्ञप्तं धर्ममाख्यायात्? हन्त! आख्यायात्, स च प्रतिश्रूयान्नायमर्थः समर्थः। अभव्यो नु स तस्य धर्मस्य श्रवणाय। स च भवति महेच्छो महारम्भो महा-परिग्रहोऽधार्मिको यावद् दक्षिणगामि-नैरयिक आगमिष्यति दुर्लभ-बोधिकश्चापि भवति। तदेवं खलु श्रमणाः! आयुष्मन्तः! तस्य निदानस्यायमेतादृग्रूपः फल-विपाको यन्नैव शक्नोति केवलि-प्रज्ञप्तं धर्मं प्रतिश्रोतुम्।

पदार्थान्वयः—**तस्स णं**—उस **तहप्पगारस्स**—उस तरह के **पुरिसजातस्स**—पुरुष को **तहारूवे**—तथारूप **समणे**—श्रमण **वा**—अथवा **माहणे**—श्रावक **उभओ कालं**—दोनों समय **केवलि-पन्नत्तं**—केवलि-प्रतिपादित **धम्मं**—धर्म **आतिक्खेज्जा**—कहे ? **हंता**—हां ! **आइक्खेज्जा**—कहे किन्तु **से णं**—वह पुरुष **पडिसुणेज्जा**—उसको सुने या अङ्गीकार करे **णो इणट्ठे समट्ठे**—यह सम्भव नहीं **से**—वह **तस्स**—उस **धम्मस्स**—धर्म को **सवणाए**—सुनने के **अभविए णं**—अयोग्य है। **से य**—वह तो **महिच्छे**—उत्कट

इच्छाओं वाला **महारंभे**—बड़े २ हिंसा के कार्यों को आरम्भ करने वाला **महा-परिग्गहे**—बड़े परिग्रह (ममता) वाला **अहम्मिए**—अधार्मिक **जाव**—यावत् **दाहिणगामी**—दक्षिणगामी **नेरइय**—नैरयिक और **आगमिस्साणं**—आगामी जन्म में **दुल्लभ-बोहिए यावि**—दुर्लभ-बोधि वाला भी **भवइ**—होता है । **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय से **समणाउसो**—हे चिरजीवी श्रमणो ! **तस्स**—उस **णिदाणस्स**—निदान कर्म का **इमे**—यह **एयारूवे**—इस प्रकार का **फल-विवागे**—पाप-फल-रूप विपाक (परिणाम) है **जं**—जिससे **केवलि-पन्नत्तं**—केवली भगवान् के प्रतिपादित **धम्मं**—धर्म **पडिसुणित्तए**—सुनने के लिए **णो संचाएति**—समर्थ नहीं हो सकता ।

मूलार्थ—क्या इस प्रकार के पुरुष को तथा-रूप श्रमण या माहन (श्रावक) दोनों समय केवलि-प्रतिपादित धर्म सुनावे ? हां ! कथन करे, किन्तु यह सम्भव नहीं कि वह उस धर्म को सुने क्योंकि वह उस धर्म के सुनने के योग्य नहीं । वह तो उत्कट इच्छा वाला बड़े २ कार्यों को आरम्भ करने वाला, अधार्मिक, दक्षिण-पथ-गामी नारकी और दूसरे जन्म में दुर्लभ-बोधी होता है । हे चिरजीवी श्रमणो ! इस प्रकार उस निदान कर्म का इस प्रकार पाप-रूप फल होता है कि जिससे आत्मा में केवलि-प्रतिपादित धर्म सुनने की शक्ति नहीं रहती ।

टीका—इस सूत्र में उक्त निदान कर्म का धर्म-विषयक फल वर्णन किया गया है । श्री गौतम स्वामी ने श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से प्रश्न किया कि हे भगवन ! क्या इस प्रकार निदान कर्म वाला भोगी पुरुष तथा-रूप श्रमण या श्रावक से दोनों समय केवलि-प्रतिपादित धर्म सुन सकता है ? भगवान् ने उत्तर दिया कि हे गौतम ! श्रमण या श्रमणोपासक उसको धर्म तो सुना सकते हैं किन्तु वह निदान कर्म के कारण धर्म सुन नहीं सकेगा । हे आयुष्मन् ! श्रमण ! उस निदान का इस प्रकार का पाप-रूप फल होता है कि उसका करने वाला केवलि-प्रतिपादित धर्म के सुनने के अयोग्य ही हो जाता है, अतः निदान कर्म सर्वथा हेय रूप है, इसके तीन भेद होते हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, यहां उत्कृष्ट निदान कर्म के करने वाला जीव ही धर्म श्रवण करने के अयोग्य बताया गया है, शेष नहीं । मध्यम और जघन्य रस वाले जीव निदान कर्म के उदय होने के पश्चात् धर्म-श्रवण

या सम्यक्त्वादि की प्राप्ति कर सकते हैं, इस में कृष्ण वासुदेव या द्रौपदी आदि के अनेक शास्त्रीय प्रमाण विद्यमान हैं ।

अब सूत्रकार द्वितीय निदान कर्म का विषय वर्णन करते हैं :—

एवं खलु समणाउसो मए धम्मे पण्णत्ते इणमेव निग्गंथे पावयणे जाव सव्व-दुक्खाणं अंतं करेंति । जस्स णं धम्मस्स निग्गंथी सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणी पुरा दिगिंच्छाए उदिण्ण-काम-जाया विहरेज्जा सा य परक्कमेज्जा सा य परक्कममाणी पासेज्जा से जा इमा इत्थिया भवति एगा एगजाया एगाभरण-पिहिणा तेल्ल-पेला इवा सुसंगोपिता चेल-पेला इवा सुसंपरिगहिया रयण-करंडक समाणी, तीसे णं अतिजायमाणीए वा निज्जायमाणीए वा पुरतो महं दासी-दास चेव किं भे आसगस्स सदति जं पासित्ता णिग्गंथी णिदाणं करेति ।

एवं खलु श्रमणाः ! आयुष्मन्तः ! मया धर्मः प्रज्ञप्तः, इदमेवनिर्ग्रन्थ-प्रवचनं सर्व-दुःखानामन्तं करोति। यस्य नु धर्मस्य निर्ग्रन्थी शिक्षाया उपस्थिता विहरन्ती पुरा जिघित्सया उदीर्ण-काम-जाता विहरेत्, सा च पराक्रमेत्, सा च पराक्रमन्ती पश्येत्—अथ यैषा स्त्री भवत्येका, एक-जाया, एकाभरण-पिधाना, तैल-पेटेव सुसंगोपिता, चैल-पेटेव सुसंपरिग्रहीता, रत्नक-रण्डक समाना, तस्या अतियान्त्या निर्यान्त्या वा पुरतो महद्दासी-दासाश्चैव (भवन्ति) किं भवत्या आस्यकस्य स्वदते यद् दृष्ट्वा

निर्ग्रन्थी निदानं करोति ।

पदार्थान्वयः—समणाउसो—हे चिरजीवी श्रमणो ! **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय से **मए**—मैंने **धम्मे**—धर्म **पएणत्ते**—प्रतिपादन किया है **इणमेव**—यही **निग्गंथे**—निर्ग्रन्थ **पावयणे**—प्रवचन **जाव**—यावत् **सव्वदुक्खाणं**—सब दुःखों का **अंतं**—अन्त **करेति**—करता है । **जस्स णं**—जिस **धम्मस्स**—धर्म की **सिक्खाए**—शिक्षा के लिए **उवट्ठिया**—उपस्थित **निग्गंथी**—निर्ग्रन्थी **विहरमाणी**—विचरती हुई **पुरादिगिंच्छाए**—पूर्व क्षुधा से **उदिएण-काम-जाया**—जिस में काम-वासना का उदय हो गया है **विहरेज्जा**—ऐसी होकर विचरण करे **य**—और **सा**—वह **परक्कमेज्जा**—संयम क्रिया में पराक्रम करती है **य**—और फिर **सा**—वह **पराक्कममाणी**—पराक्रम करती हुई **पासेज्जा**—देखे **से**—अथ **जा**—जो **इमा**—यह **इत्थिया**—स्त्री **भवति**—है जो **एगा एगजाया**—अकेली और सपत्नी से रहित है **एगाभरण-पिहिणा**—और एक जाति के भूषण और वस्त्र पहने हुए है **तेल्ल-पेल्ला इवा**—तेल की पेटी के समान **सुसंगोपिता**—भली प्रकार रक्षित है **चेल-पेला इवा**—वस्त्रों की पेटी की तरह **सुसंपरिगहिया**—भली भांति ग्रहण की हुई **रयण-करंडग-समाणी**—रत्नों के डब्बे के समान अत्यन्त प्रिय है अतः **तीसे णं**—उसके **अतिजायमाणीए**—घर में प्रवेश करते हुए **निज्जायमाणीए वा**—घर बाहर निकलते हुए **महं**—बहुत से **दासी**—दासी **दास**—दास **च**—पुनः **एव**—अवधारण अर्थ में है **किं**—क्या **भे**—आपके **आसगस्स**—मुख को **सदति**—अच्छा लगता है **जं**—जिसको **पासित्ता**—देखकर **णिग्गंथी**—निर्ग्रन्थी **णिदाणं**—निदान कर्म **करेति**—करती है ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! इस प्रकार मैंने धर्म प्रतिपादन किया है । यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत्य है और सब दुःखों को विनाश करता है । जिस धर्म की शिक्षा के लिए उपस्थित निर्ग्रन्थी विचरती हुई पूर्व बुभुक्षा के कारण से उदीर्ण-कामा (काम भोगों की उत्कट इच्छा होने से) होकर भी संयम मार्ग में पराक्रम करती है और फिर पराक्रम करती हुई स्त्री-गुणों से युक्त किसी स्त्री को देखती है जो अपने पति की एक ही पत्नी है, जिसने एक ही जाति के वस्त्र और आभूषण पहने हुए हैं, जो तेल की पेटी के समान अच्छी प्रकार से रक्षित है और वस्त्र की पेटी की तरह भली भांति ग्रहण की गई है, जो रत्नों की

पिटारी के समान आदरणीय और प्यारी है तथा जो घर के भीतर और घर से बाहर जाते हुये अनेक दास और दासियों से घिरी रहती है और जिसकी दास लोग हर समय प्रार्थना करते रहते हैं कि आपको कौनसा पदार्थ अच्छा लगता है, उसको देखकर निर्ग्रन्थी निदान कर्म करती है।

टीका—पहले किसी सूत्र में निर्ग्रन्थ के निदान कर्म का विषय वर्णन किया गया था। इस सूत्र में निर्ग्रन्थी के निदान-कर्म का विषय वर्णन किया गया है, श्री भगवान् कहते हैं कि हे आयुष्मन् ! श्रमण ! मैंने जिस निर्ग्रन्थ-प्रवचन-रूप धर्म का प्रतिपादन किया है उस धर्म की शिक्षा के लिये उपस्थित हो कर निर्ग्रन्थी यदि क्षुधा आदि परिषहों से पीड़ित हो कर काम-वासना की वशवर्तिनी हो जाय और स्त्री-गुणों से युक्त किसी स्त्री को, जो अपने पति की केवल एक ही पत्नी हो, जिसके शरीर पर एक ही जाति के वस्त्र और आभूषण हों, जिसका पति उसकी रक्षा इस प्रकार करता हो जिस प्रकार सौराष्ट्र देश में मिट्टी के तेल के पात्र की की जाती है, जो अच्छे २ वस्त्रों की पेटी के समान भली भांति ग्रहण की गई हो तथा जो रत्नों की पिटारी के समान अपने पति की प्यारी हो और जो घर के भीतर और घर से बाहर जाते हुए अनेक दास और दासियों से घिरी हो, जिसके एक दास अथवा दासी के बुलाने पर चार या पांच बिना बुलाए हुए ही उपस्थित होकर उत्सुकता से आज्ञा-पालन की प्रतीक्षा करते हैं और विनय-पूर्वक पूछते हैं कि श्रीमती जी को कौनसा पदार्थ अच्छा लगता है। उसको देखकर निग्रन्थी निदान करती है।

अब सूत्रकार वर्णन करते हैं कि देखने से निदान कर्म किस प्रकार हो जाता है :—

संति इमस्स सुचरियस्स तव-नियम-बंभचेर जाव भुंजमाणी विहरामि से तं साहुणी।

अस्त्यस्य सुचरितस्य, तप-नियम-ब्रह्मचर्यस्य—यावद् भुञ्जाना विहरामि, तदेत्साधु।

पदार्थान्वयः—इमस्स—इस सुचरियस्स—सदाचार का तव—तप, नियम—

नियम बंभचेर-ब्रह्मचर्य का यदि कोई विशेष फल संति-है तो जाव-यावत् इसी प्रकार के सुखों को भुंजमाणी-भोगती हुई विहरामि-मैं भी विचरण करूं से तं साहुणी-यह आशा ठीक है ।

मूलार्थ—इस पवित्र आचार, तप, नियम और ब्रह्मचर्य का कोई विशेष फल है तो मैं भी इसी प्रकार के सुखों का अनुभव करूंगी । यही आशा ठीक है ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि जब साध्वी उक्त स्त्री को देखती है तो अपने चित्त में आशा करने लगती है इस तप, नियम और ब्रह्मचर्य के फल-रूप इसी प्रकार के सुखों का अनुभव करूं । यह आशा ही निदान कर्म होता है ।

अब सूत्रकार उक्त निदान कर्म का फल कहते हैं :—

एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथी णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देव-लोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति । महड्ढिएसु जाव सा णं तत्थ देवे भवति । जाव भुंजमाणी विहरति । तस्स णं ताओ देव-लोगाओ आउ-क्खएणं भव-क्खएणं ठिइ-क्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता जे इमे भवंति उग्गपुत्ता महासाउया, भोगपुत्ता महामाउया एतेसिं णं अण्णत्तरंसि कुलंसि दारियत्ताए पच्चायाति । सा णं तत्थ दारिया भवति सुकुमाला जाव सरूवा ।

एवं खलु श्रमणायुष्मन् ! निर्ग्रन्थी निदानं कृत्वा तत्स्थान-मनालोच्य (ततः) अप्रतिक्रान्ता कालमासे कालं कृत्वान्यतरेषु देवलोकेषु देवतयोपपत्री भवति । महर्द्धिकेषु यावत्सा नु तत्र देवो भवति जाव भुञ्जाना विहरति । सा नु तस्माद्देव-लोका-

दायुःक्षयेण भव-क्षयेण स्थिति-क्षयेणानन्तरं चयं त्यक्त्वा य इमे भवन्त्युग्र-पुत्रा महा-स्वादुका भोग-पुत्रा महा-मातृका एतेषान्व-न्यतरस्मिन् कुले दारिकातया प्रत्यायाति । सा नु तत्र दारिका भवति सुकुमारा यावत् सरूपा ।

पदार्थान्वयः—**समणाउसो**—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय से **निग्गंथी**—निर्ग्रन्थी **णिदाणं**—निदान कर्म **किच्चा**—करके **तस्स**—उस **ठाणस्स**—स्थान के **अणालोइय**—बिना आलोचना किये और उस स्थान से **अप्पडिक्कंते**—बिना पीछे हटे **कालमासे**—मृत्यु के समय **कालं किच्चा**—काल करके **अण्णत्तरेसु देवलोएसु**—देवलोकों में से किसी एक देवलोक में **देवत्ताए**—देवरूप से **उववत्तारो भवति**—उत्पन्न होती है **महड्डिएसु**—महर्द्धिक देवों में **जाव**—यावत् **सा णं**—वह **तत्थ**—वहां **देवे भवति**—देव हो जाती है **जाव**—यावत् **भुंजमाणी**—सुखों को भोगती हुई **विहरति**—विचरण करती है । **तस्स णं**—फिर वह निदान कर्म वाली साध्वी **ताओ**—उस **देव-लोगाओ**—देव-लोक से **आउ-क्खएणं**—आयु-क्षय के कारण **भव-क्खएणं**—देव-भव के क्षय होने के कारण **ठिइ-क्खएणं**—देव-लोक में स्थिति क्षय होने के कारण **अणंतरं**—बिना किसी अन्तर के **चयं**—देव-शरीर को **चइत्ता**—छोड़कर **जे**—जो **इमे**—ये **उग्गपुत्ता**—उग्र पुत्र **महा-साउया**—भोगों के अनुरागी और **भोगपुत्ता**—भोगपुत्र **महा-माउया**—महा-मातृक **भवंति**—हैं **एतेसिं णं**—इनमें से **अण्णतरंसि**—किसी एक **कुलंसि**—कुल में **दारियत्ताए**—कन्या-रूप से **पच्चायाति**—उत्पन्न होती है । फिर **सा**—वह **तत्थ**—वहां **दारिया**—बालिका **सुकुमाला**—सुकुमारी और **सरूवा**—रूपवती **भवति**—होती है ।

मूलार्थ—**हे आयुष्मन् ! श्रमण ! इस प्रकार निर्ग्रन्थी निदान कर्म करके और उसका बिना गुरु से आलोचन किये तथा बिना उससे पीछे हटे मृत्यु के समय काल करके देव-लोकों में से किसी एक में देव-रूप से उत्पन्न हो जाती है । वह ऐश्वर्यशाली देवों में देव हो जाती है । वहां सम्पूर्ण दैविक सुखों का अनुभव करती हुई विचरती है । फिर वह देव-लोक से आयु, भव और स्थिति के क्षय होने के कारण बिना अन्तर के देव शरीर को छोड़ कर, जो ये उग्र और**

भोग कुलों के महामातृक और भोगों के अनुरागी पुत्र हैं उनमें से किसी एक के कुल में कन्या-रूप से उत्पन्न हो जाती है। वहां वह सुकुमारी और रूपवती बालिका होती है।

टीका—पहले किसी सूत्र में बताया गया है कि निर्ग्रन्थ निदान कर्म करने से उग्र या भोग कुल में पुत्र-रूप से उत्पन्न होता है। यहां बताया जाता है कि ठीक उसी प्रकार निर्ग्रन्थी निदान कर्म करके उक्त कुलों में से किसी एक में कन्या-रूप से उत्पन्न होती है। उसके हाथ और पैर सुकुमार होते हैं और वह अच्छी रूप-वती होती है, क्योंकि तप करते हुए जिस प्रकार के संकल्प उसके चित्त में उत्पन्न हुए थे ठीक उसी प्रकार उसको फल-प्राप्ति भी हो जाती है। किन्तु यह सब तप और संयम का ही फल होता है कि उसको यथा-अभिलषित फल की प्राप्ति होती है। यदि सांसारिक व्यक्ति इस प्रकार के संकल्प करें तो उनका पूर्ण होना सम्भव नहीं। ऐसे तो संसार में हर एक व्यक्ति मन के लड्डू खाता ही रहता है।

अब सूत्रकार उक्त विषय से ही सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

तते णं तं दारियं अम्मापियरो आमुक्कबाल-भावं विण्णय-परिणयमित्तं जोव्वणगमणुप्पत्तं पडिरूवेण सुक्केण पडिरूवस्स भत्तारस्स भारियत्ताए दलयंति। सा णं तस्स भारिया भवति एगा एगजाया इट्ठा कंता जाव रयण-करंडग-समाणा। तीसे जाव अतिजायमाणीए वा निज्जाय-माणीए वा पुरतो महं दासी-दास जाव किं ते आस-गस्स सदति।

ततस्तां दारिकामम्बा-पितरावामुक्तबालभावां विज्ञान-परि-णत-मात्रां यौवनकमनुप्राप्तां प्रतिरूपेण शुल्केन प्रतिरूपाय भर्त्रे भार्यातया दत्तः। सा नु तस्य भार्या भवति, एका, एक-

जाया, इष्टा कान्ता यावद् रत्न-करण्डक-समानी । तस्या याव-दतियान्त्या निर्यान्त्या वा पुरतो महान्तो दासीदासाः, जाव किं त आस्यकस्य स्वदते ।

पदार्थान्वयः—**तते णं**—इसके अनन्तर **तं**—उस **दारियं**—कन्या को **अम्मा-पियरो**—उसके माता-पिता **आमुक्कबाल-भावं**—जब वह बाल-भाव को छोड़ देती है और **विण्णय-परिणयमित्ते**—जब उसका ज्ञान परिपक्व हो जाता है और **जोवणगमणुपत्तं**—वह युवती हो जाती है तो **पडिरूवेण**—कन्या के योग्य **सुक्केण**—दहेज के साथ **पडि-रूवस्स**—उसके योग्य **भत्तारस्स**—भर्ता को **भारियत्ताए**—भार्या रूप से **दलयंति**—देते हैं । फिर **सा णं**—वह **तस्स**—उसकी **भारिया**—भार्या **भवति**—हो जाती है **एगा एगजाया**—वह अपने पति की एक ही पत्नी होती है उसकी कोई सपत्नी नहीं होती **इट्ठा**—अपने पति की प्रेयसी और **कांता**—बल्लभा होती है और **रयण-करंडग समाणा**—रत्नों की पिटारी के समान मनोहर और प्यारी होती है **जाव**—यावत् **तीसे**—उसके साथ **अतिजायमाणीए वा**—घर में प्रवेश करते हुए तथा **निज्जायमाणीए वा**—घर से बाहर निकलते हुए **महं**—बहुत से **दासी-दास**—दास और दासियां होते हैं **जाव**—यावत् **ते**—आपके **आसगस्स**—मुख को **किं**—क्या **सदति**—अच्छा लगता है ।

मूलार्थ—इसके अनन्तर जब कन्या बाल-भाव को छोड़ कर विज्ञान में परिपक्व हो जाती है और युवावस्था में पदार्पण करती है तो उसके माता-पिता तदुचित दहेज के साथ उसको उसके समान भर्ता को दे देते हैं । वह उसकी भार्या हो जाती है । वह अपने पति की एक मात्र पत्नी होती है अर्थात् घर में उसकी सपत्नी नहीं होती । वह अपने पति की प्रेयसी और बल्लभा होती है । वह रत्नों की पेटी के समान मनोहर और प्यारी होती है । जिस समय वह घर के भीतर और घर से बाहर जाती है तो उसके साथ अनेक दास और दासियां होते हैं और वे प्रार्थना में रहते हैं कि आपको कौनसा पदार्थ रुचिकर है ।

टीका—जब वह कन्या बाल-भाव को छोड़कर युवावस्था में पदार्पण करती है और बुद्धिमती तथा ज्ञान-शालिनी हो जाती है तब उसके माता पिता उसको युवती हुई जान कर अपने समान कुल और शील वाले किसी युवक को, तदुचित

दहेज के साथ भार्या-रूप से दे देते हैं। उस दिन से वह उसकी भार्या हो जाती है। उसकी कोई सपत्नी नहीं होती। वह अपने पति की प्रेयसी और प्राण-प्रिया होकर रहती है। शेष सब वर्णन मूलार्थ में स्पष्ट है।

सूत्र में "पडिरूवेण सुक्केणं पडिरूवस्स भत्तारस्स" वाक्य का अर्थ इस प्रकार है—"प्रतिरूपेण—स्वरूपत उभयकुलोचितेन पाणिग्रहणसमये शुल्केन—देयधनादिना सह, प्रतिरूपाय—रूपवयःप्रभृतिगुणेषु समानाय भर्त्रे भार्यातया दत्तः (पितरौ)।

अब सूत्रकार वर्णन करते हैं कि इस निदान कर्म करने का उसके धर्म पर क्या प्रभाव पड़ा :—

तीसे णं तहप्पगाराए इत्थियाए तहारूवे समणे माहणे वा उभय-कालं केवलि-पण्णत्तं धम्मं आइक्खेज्जा? हंता ! आइक्खेज्जा, सा णं भंते ! पडिसुणेज्जा णो इणट्ठे समट्ठे, अभविया णं सा तस्स धम्मस्स सवणयाए, सा च भवति महिच्छा, महारंभा, महा-परिग्गहा अहम्मिया जाव दाहिणगामिए णेरइए आगमिसाए दुल्लभ-बोहियावि भवति। एवं खलु समणाउसो! तस्य निदाणस्स इमेयारूवे पाव-कम्म-फल-विवागं जं णो संचाएति केव-लि-पण्णत्तं पडिसुणित्तए।

तस्या स्तथाप्रकारायाः स्त्रियस्तथा-रूपः श्रमणो माहनो वोभय-कालं केवलि-प्रज्ञप्तं धर्ममाख्यायात् ? हन्त ! आख्या-यात्, सा नु भदन्त ! प्रतिश्रूयान्नायमर्थः समर्थः, अभव्या नु सा तस्य धर्मस्य श्रवणाय, सा च भवति महेच्छा, महा-रम्भा, महा-परिग्रहा, अधार्मिकी, यावद्दक्षिणगामनी नैरयिका

आगमिष्यति दुर्लभ-बोधिका चापि भवति । एवं श्रमणायुष्मन् ! तस्य निदानस्यैतादृग्-रूपः पाप-कर्म-फल-विपाको यन्नो शक्नोति केवलि-प्रज्ञप्तं प्रतिश्रोतुम् ।

पदार्थान्वयः—**तीसे गं**—उस **तहप्पगाराए**—उस प्रकार की **इत्थियाए**—स्त्री को **तहा-रूवे**—तथा-रूप **समणे**—श्रमण **वा**—अथवा **माहणे**—माहन या श्रावक **उभय-कालं**—दोनों समय **केवलि-पण्णत्तं**—केवलि-प्रतिपादित **धम्मं**—धर्म **आइक्खेज्जा**—कहे **हंता**—हां ! **आइक्खेज्जा**—कहे किन्तु **भंते**—हे भगवन् ! **सा**—वह स्त्री धर्म **पडिसुणेज्जा**—सुने **णो इणट्ठे समट्ठे**—यह बात सम्भव नहीं **सा**—वह स्त्री **तस्स**—उस **धम्मस्स**—धर्म **सवणयाए**—सुनने के लिये **अभविया**—अयोग्या है **णं**—वाक्यालङ्कार के लिए है । **सा च**—वह तो **भवति**—होती है **महिच्छा**—उत्कट इच्छाओं वाली **महारंभा**—बड़े २ कार्यों (हिंसा-युक्त) को आरम्भ करने वाली **महा-परिग्गहा**—बड़े परिग्रह (ममता) वाली **अहम्मिया**—अधार्मिक **जाव**—यावत् **दाहिणगामिए**—दक्षिण-गामी **नेरइया**—नारकी और **आगमिसाए**—भविष्य में **दुल्लभबोहियावि**—दुर्लभ-बोध वाली **भवति**—होती है **समणाउसो**—हे आयुष्मन् श्रमण ! **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय से **तस्स**—उस **निदाणस्स**—निदान कर्म का **इमेयारूवे**—इस प्रकार का **पावकम्म**—पाप-कर्म का **फल**—फल **विवागं**—विपाक होता है **जं**—जिससे **केवलि-पण्णत्तं**—केवली भगवान् के कहे हुए **धम्मं**—धर्म को **पडिसुणित्तए**—सुनने के लिये भी **नो संचाएति**—समर्थ नहीं होती ।

मूलार्थ—उस इस प्रकार की स्त्री को क्या तथा-रूप श्रमण अथवा श्रावक केवली के प्रतिपादित धर्म को कहे ? हां ! कहे किन्तु वह उसको सुने यह बात सम्भव नहीं । वह उस धर्म को सुनने के अयोग्य है, क्योंकि वह तो उत्कट इच्छा वाली, बड़े २ कार्य आरम्भ करने वाली, बड़े परिग्रह वाली, अधार्मिक, दक्षिणगामी नारकी और भविष्य में दुर्लभ-बोधि कर्म के उपार्जन करने वाली हो जाती है । हे आयुष्मन् श्रमण ! इस प्रकार निदान कर्म का यह पाप-रूप-फल-विपाक होता है कि उसके करने वाली स्त्री में केवलि-भाषित धर्म सुनने की भी शक्ति नहीं रहती ।

टीका—इस सूत्र में निर्ग्रन्थी के किये हुए निदान कर्म का फल वर्णन

किया गया है, जो निदान कर्म करती है वह किसी श्रमण या श्रावक का संयोग मिलने पर भी धर्म सुनने के लिये सावधान नहीं हो सकती, क्योंकि उसकी आत्मा धर्म-श्रवण से पराङ्मुख होकर केवल विषयानन्द की ओर ही दौड़ती है। उसके संकल्प महारम्भ और महा-परिग्रह में लगे रहते हैं। इसके कारण वह आगामी काल के लिए दुर्लभ-बोधि-कर्म की उपार्जना कर लेती है। मृत्यु के अनन्तर वह दक्षिण-गामिनी नारकिणी होती है। यह सब फल उस काम-वासना वाले निदान कर्म का ही होता है। अतः निदान कर्म सर्वथा त्याज्य है। शेष स्पष्ट ही है।

अब सूत्रकार तीसरे निदान कर्म के विषय में कहते हैं:—

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते इणामेव निग्गंथे पावयणे जाव अंतं करेति। जस्स णं धम्मस्स सिक्खाए निग्गंथे उवट्ठिते विहरमाणे पुरादिगिंच्छाए जाव से य परक्कममाणे पासिज्जा इमा इत्थिका भवति एगा एगजाया जाव किं ते आसगस्स सदति। जं पासित्ता निग्गंथे णिदाणं करेति।

एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! मया धर्मः प्रज्ञप्त इदमेव निर्ग्रन्थ-प्रवचनं यावदन्तं करोति। यस्य धर्मस्य निर्ग्रन्थः शिक्षायै उपस्थितो विहरन् पुराजिघित्सया यावत्स च पराक्रमन् पश्येदेषा स्त्री भवत्येकैकजाया यावत्किन्त आस्यकस्य स्वदते यद्दृष्ट्वा निर्ग्रन्थो निदानं करोति।

पदार्थान्वयः—**समणाउसो**—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय से **मए**—मैंने **धम्मे**—धर्म **पण्णत्ते**—प्रतिपादन किया है **इणामेव**—यही **निग्गंथे**—निर्ग्रन्थ **पावयणे**—प्रवचन **जाव**—यावत् सब दुःखों का **अंतं करेति**—अन्त करता है

जस्स णं–जिस धर्म की **सिक्खाए**–शिक्षा के लिये **उवट्ठिता**–उपस्थित हो कर **विहरमाणे**—विचरता हुआ **निग्गंथे**–निर्ग्रन्थ **पुरा दिगिंच्छाए**–पूर्व बुभुक्षा (भूख) से **जाव**–यावत् काम-भोगों की इच्छा के उदय होने पर भी **परक्कमाणे**–पराक्रम करता हुआ **पासेज्जा**–देखे **इमा**–यह **इत्थिया**–स्त्री **भवति**–है **एगा**-एक **एग-जाया**–सपत्नी-रहित (और दास-दासियों से परिवृत) है **जाव**–यावत् वे दास प्रार्थना में हैं कि **ते**–आपके **आसगस्स**–मुख को **किं**–क्या **सदति**–अच्छा लगता है। **जं**–उसको **पासित्ता**–देखकर **निग्गंथे**–निर्ग्रन्थ **णिदाणं**–निदान कर्म **करेति**–करता है।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् श्रमण ! इस प्रकार मैंने धर्म प्रतिपादन किया है। यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन सब दुःखों का विनाश करने वाला है। जिस धर्म की शिक्षा के लिये उपस्थित हो कर विचरता हुआ निर्ग्रन्थ चिन्ता से पूर्व भूख आदि परीषहों को सहन करता हुआ और पराक्रम करता हुआ देखता है कि यह स्त्री अकेले ही अपने घर का ऐश्वर्य लूट रही है, इसकी कोई सपत्नी (सौकन) नहीं है। इसके दास और दासियां हमेशा इसकी प्रार्थना करते हैं कि आपके मुख को कौनसा पदार्थ रुचिकर है। उसको देखकर निर्ग्रन्थ निदान कर्म करता है।

टीका—इस सूत्र में भी पिछला ही वर्णन रूपान्तर से कहा गया है। श्री भगवान् कहते हैं "हे आयुष्मन् ! श्रमण ! मैंने श्रुत और चारित्र रूप धर्म का वर्णन किया है। इस धर्म की शिक्षा के लिए उपस्थित होकर परीषहों को सहन करता हुआ निर्ग्रन्थ यदि किसी पुण्य-पुञ्ज से लदी हुई और इसी कारण से सम्पूर्ण सांसारिक सुखों का अनुभव करती हुई किसी स्त्री को देखे, जो चारों ओर से दास और दासियों से घिरी हो, जिसके एक दास या दासी को बुलाने पर चार-पांच बिना बुलाये उपस्थित हो जाय और उसके मुख से निकली हुई आज्ञा की प्रतिक्षा में रहें, जो अपने पति की प्राण-प्यारी और उसकी यथोचित पालना में हो उसको देखकर निर्ग्रन्थ निदान कर्म करता है।

अब सूत्रकार इस निदान कर्म का विषय कहते हैं:—

दुक्खं खलु पुमत्ताए जे इमे उग्गपुत्ता महामा-

उग्गा भोगपुत्ता महामाउया एतेसिं णं अण्णतरेसु उच्चाव-एसु महा-समर-संगामेसु उच्चावयाइं सत्थाइं उरसि चेव पडिसंवेदेति । तं दुक्खं खलु पुमत्ताए । इत्थि-तणयं साहु । जइ इमस्स तव-नियम-बंभचेर-वासस्स फलवित्ति-विसेसे अत्थि वयमवि आगमेस्साणं इमेतारूवाइं उरा-लाइं इत्थि-भोगाइं भुंजिस्सामो सेतं साहु ।

दुःखं खलु पुरुषत्वम् । य इमे उग्रपुत्रा महामातृका भोगपुत्रा महामातृका एतेषामन्यतरेषूच्चावचेषु महा-समर-संग्रा-मेषूच्चावचानि शस्त्राण्युरसि चैव प्रतिसंविदन्ति; तद्दुःखं खलु पुरुषत्वम्, स्त्री-तनूरेव साधु । यद्यस्य तपोनियम-ब्रह्मचर्य-वासस्य फल-वृत्ति-विशेषोऽस्ति वयमप्यागमिष्यति (काले) एत-द्रूपानुदारान् स्त्री-भोगान्भोक्ष्यामहे । तदेतत्साधु ।

पदार्थान्वयः—**पुमत्ताए**—संसार में पुरुष होना **दुक्खं खलु**—कष्ट-प्रद है । **जे**—जो **इमे**—ये **उग्गपुत्ता**—उग्र-पुत्र **महामाउया**—महा-मातृक हैं **भोग-पुत्ता**—भोग-पुत्र **महामाउया**—महामातृक हैं **एतेसिं**—इनकी **णं**—वाक्यालङ्कारे **अण्णतरेसु**—किसी एक **उच्चाएसु**—ऊंचे नीचे **महा-समर-संगामेसु**—बड़े भारी युद्ध में **उच्चावयाइं**—छोटे अथवा बड़े **सत्थाइं**—शस्त्र **उरसि**—छाती में लगे हुए **पडिसंवेदेति**—कष्टों का अनुभव कराते हैं **तं**—अतः **खलु**—निश्चय से **च**—और **एव**—समुच्चय और अवधारण अर्थ में हैं **पुमत्ताए**—पुरुषत्व **दुक्खं**—कष्ट कर है **इत्थि-तणयं साहु**—स्त्रीत्व ही अच्छा है (क्योंकि स्त्री को कोई भी सांग्रामिक कष्ट नहीं देखना पड़ता) । अतः **जइ**—यदि **इमस्स**—इस **तव**—तप **नियम**—नियम और **बंभचेर-वासस्स**—ब्रह्मचर्य-वास का **फल-वित्तिविसेसेऽत्थि**—विशेष फल है तो **वयमवि**—हम भी **आगमेस्साणं**—आगामी काल में **जाव**—यावत् **इमेतारूवाइं**—इन इस प्रकार के **उरालाइं**—श्रेष्ठ **इत्थि-भोगाइं**—

स्त्री-भोगों को भुंजिस्सामो–भोगेंगे । से तं–यही साहु–ठीक है अर्थात् यह हमारा विचार बहुत ही अच्छा है ।

मूलार्थ—संसार में पुरुषत्व, निश्चय ही, कष्टकर है । जो ये उग्रपुत्र महामातृक हैं और भोगपुत्र महामातृक हैं उनको किसी न किसी बड़े या छोटे महायुद्ध में छोटे या बड़े शस्त्र से छाती में विद्ध होना पड़ता है । अतः पुरुष होना महाकष्ट है और स्त्री होना अत्युत्तम । यदि इस तप, नियम और ब्रह्मचर्य-वास का कुछ विशेष फल है तो हम भी आगामी काल में यावत् इस प्रकार के प्रधान स्त्रियों के काम-भोगों को भोगते हुए विचरण करेंगे । यह हमारा विचार श्रेष्ठ है ।

टीका—इस सूत्र में दिखाया गया है कि निर्ग्रन्थ तृतीय निदान-कर्म किस प्रकार करता है । जब निर्ग्रन्थ पूर्व-वर्णित स्त्री को देखता है तो मन में विचार करने लगता है कि संसार में पुरुष होना निस्सन्देह कष्टकर है क्योंकि पुरुष को अनेक उच्च–महापुरुषों से रचित और नीच–भिल्ल-किरातादियों से रचित संग्रामों में शतघ्नी (तोप) आदि उच्च और पत्थर आदि नीच अस्त्रों से विद्ध होकर अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं । अतः स्त्री होना ही ठीक है, क्योंकि उसे किसी भी संग्राम में नहीं जाना पड़ता । यदि हमारे इस तप, नियम और ब्रह्मचर्य का कोई विशेष फल है तो हम भी दूसरे जन्म में स्त्री-सम्बन्धी भोगों को ही भोगेंगे, क्योंकि स्त्रीत्व उत्तम है ।

अब सूत्रकार उक्त विषय से ही सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं:—

एवं खलु समणाउसो णिग्गंथे णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंते जाव अपडिवज्जित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति । से णं तत्थ देवे भवति महड्ढिए जाव विहरति । से णं ताओ देवलोगाओ आउ-क्खएणं भव-क्खएणं जाव अणंतरं चयं चइत्ता अण्णतरंसि कुलंसि दारियत्ताए पच्चायाति ।

एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! निर्ग्रन्थो निदानं कृत्वा तत्स्थानमनालोच्य (ततः) अप्रतिक्रान्तोऽप्रतिपद्य कालमासे कालं कृत्वान्यतरेषु देवलोकेषु देवतयोपपत्ता भवति । स नु तत्र देवो भवति, महर्द्धिको यावद्विहरति । स नु तस्माद्देव लोकादायुः-क्षयेण भव-क्षयेण यावदनन्तरं चयं त्यक्त्वान्यतरस्मिन्कुले दारिकातया प्रत्यायाति ।

पदार्थान्वयः—**एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय से, **समणाउसो**—हे आयुष्मन्! श्रमण ! **णिग्गंथे**—निर्ग्रन्थ **णिदाणं**—निदान कर्म **किच्चा**—कर **तस्स**—उस **ठाणस्स**—स्थान के विषय में **अणालोइय**—गुरु से बिना आलोचन किये और स्थान से **अप्पडिक्कंते**—बिना पीछे हटे और **अपडिवज्जित्ता**—अपने इस दोष को बिना अङ्गीकार किये **कालमासे**—मृत्यु के समय **कालं किच्चा**—काल करके **अण्णतरेसु**—किसी एक **देवलोएसु**—देव-लोक में **देवत्ताए**—देवरूप से **उववत्तारो भवति**—उत्पन्न होता है **से णं**—वह **तत्थ**—उस देव-लोक में देवों के साथ **देवे**—देव **भवति**—होता है **महड्डिए**—अत्यन्त ऐश्वर्य वाला **जाव**—यावत् देवताओं के साथ **विहरति**—विचरण करता है । **स च**—और फिर वह **ताओ**—उस **देवलोगाओ**—देव-लोक से **आउक्खएणं**—आयु-क्षय होने के कारण **भवक्खएणं**—देव-भव के क्षय होने के कारण **जाव**—यावत् **अणंतरं**—बिना अन्तर के **चयं**—देव-शरीर को **चइत्ता**—छोड़ कर **अण्णतरंसि**—किसी एक **कुलंसि**—कुल में **दारियत्ताए**—कन्या रूप से **पच्चायाति**—उत्पन्न होता है ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् श्रमण ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ निदान-कर्म करके और उस समय बिना गुरु से उसके विषय में आलोचना किये हुए, बिना उससे पीछे हटे और बिना अपने दोष को स्वीकार किये हुए या बिना प्रायश्चित्त धारण किये मृत्यु के समय काल करके किसी एक देव-लोक में देव-रूप से उत्पन्न होता है । वह वहां देवों के बीच में ऐश्वर्यशाली देव होकर विचरता है । तदनन्तर वह आयु और देव-भव के क्षय होने के कारण बिना अन्तर के देव-शरीर को छोड़कर किसी एक कुल में कन्या-रूप से उत्पन्न हो जाता है ।

टीका—जिस साधु ने स्त्रीत्व का निदान-कर्म किया हो वह उससे पीछे

न हटे तो वह मृत्यु के अनन्तर देव-लोक में चला जाता है । जब उसके देव-लोक की आयु के कर्म समाप्त हो जाते हैं तो फिर वह मनुष्य-लोक के किसी श्रेष्ठ कुल में कन्या-रूप से उत्पन्न हो जाता है । शेष सब स्पष्ट ही है ।

सूत्रकार फिर इसी से सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं:—

जाव तेणं तं दारियं जाव भारियत्ताए दलयति । सा णं तस्स भारिया भवति एगा एगजाया जाव तहेव सव्वं भाणियव्वं । तीसे णं अतिजायमाणीए वा निज्ञायमाणीए वा जाव किं ते आसगस्स सदति ।

यावत्तेन तां दारिकां यावद्भार्यातया ददति । सा नु तस्य भार्या भवति, एका, एकजाया यावत्तथैव सर्वं भणितव्यम् । तस्या अतियान्त्या निर्यान्त्या वा यावत्किंतवास्यकस्य स्वदते ।

पदार्थान्वयः—**जाव**—यावत् **तेणं**—उस दहेज आदि के साथ **तं**—उस **दारियं**—लड़की को उसके माता-पिता-भाई आदि **भारियत्ताए**—भार्या-रूप से (किसी सम कुल और वित्त वाले को) **दलयति**—देते हैं फिर **सा**—वह **तस्स**—उसकी **भारिया**—भार्या (पत्नी) **भवति**—हो जाती है **एगा**—अकेली **एगजाया**—सपत्नी रहित होती है **जाव**—यावत् शेष **सव्वं**—सब **तहेव**—जैसा पहले कहा जा चुका है उसी प्रकार **भाणियव्वं**—कहना चाहिये । **तीसे णं**—उसके **अतिजायमाणीए**—घर में प्रवेश करते हुए **निज्ञायमाणीए**—घर से बाहर निकलते हुए **जाव**—यावत् **ते**—आपके **आसगस्स**—मुख को **किं**—क्या **सदति**—अच्छा लगता है ।

मूलार्थ—उस कन्या को उसके माता-पिता और भाई-बन्धु तदुचित दहेज के साथ किसी सम कुल और वित्त वाले युवक को भार्या-रूप से देते हैं । वह उसकी एक और सपत्नी-रहित पत्नी हो जाती है । शेष सब पूर्ववत् जानना चाहिये । फिर जब वह घर के भीतर या घर से बाहर जाती है तो अनेक दास और दासियां प्रार्थना में रहती हैं कि आपके मुख को कौनसा पदार्थ स्वादिष्ट लगता है ।

टीका—इस सूत्र में कोई नयी व्याख्या करने के योग्य बात नहीं है। यह सब दूसरे निदान कर्म में आगया है।

अब सूत्रकार कहते हैं कि इस प्रकार निदान कर्म करके जब निर्ग्रन्थ स्त्री बन जाता है तो उसके धर्म के विषय में कैसा विचार होता है :—

तीसे णं तहाप्पगाराए इत्थिकाए तहारूवे समणे वा माहणे वा धम्मं आइक्खेज्जा ? हंता ! आइक्खेज्जा। जाव सा णं पडिसुणेज्जा णो इणट्ठे समट्ठे। अभविया णं सा तस्स धम्मस्स सवणताए। सा च भवति महिच्छा जाव दाहिणगामिए णेरइए आगमेसाणं दुल्लभ-बोहि-यावि। तं खलु समणाउसो तस्स णिदाणस्स इमेतारूवे पावए फल-विवागे भवति जं नो संचाएति केवलि-पण्णत्तं धम्मं पडिसुणित्तए।

तस्यास्तथा-प्रकारायाः स्त्रीकायाः (स्त्रियः) तथा-रूपः श्रमणो माहनो वा धर्ममाख्यायात् ? हन्त ! आख्यायात्, यावत्सा नु प्रतिश्रृणुयान्नायमर्थः समर्थः। अभव्या सा तस्य धर्मस्य श्रवणाय। सा च भवति महेच्छा यावद्दक्षिण-गामि-नैरयिकागमिष्यति दुर्लभ-बोधिका चापि। तदेवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! तस्य निदानस्यायमेतद्रूपः पापकः फल-विपाको भवति यन्नो शक्नोति केवलि-प्रज्ञप्तं धर्मं प्रतिश्रोतुम्।

पदार्थान्वयः—तीसे णं—उस तहाप्पगाराए—इस प्रकार की इत्थिकाए—स्त्री को तहारूवे—तथा-रूप समणे वा—श्रमण अथवा माहणे वा—श्रावक धम्मं—धर्म आइक्खेज्जा—कहे हंता—हां आइक्खेज्जा—कहे किन्तु जाव—यावत् सा णं—वह

पडिसुणेज्जा—सुने **णो इणट्ठे समट्ठे**—यह सम्भव नहीं क्योंकि **सा च**—वह स्त्री **तस्स**—उस **धम्मस्स**—धर्म को **सवणताए**—सुनने के लिये **अभविया**—अयोग्य है **सा च**—वह **महिच्छा**—उत्कट इच्छा वाली **जाव**—यावत् **दाहिणगामिए**—दक्षिण-दिशा-गामिनी **णेरइए**—नैरयिका और **आगमेसाणं**—भविष्य में **दुल्लभ-बोहियावि**—दुर्लभ-बोधिक कर्मों को उपार्जन करने वाली **भवति**—होती है । **समणाउसो**—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय से **तस्स**—उस **णिदाणस्स**—निदान कर्म का **इमेयारूवे**—यह इस प्रकार का **पावए**—पाप-रूप **फलविवागे**—फल-विपाक **भवति**—होता है **जं**—जिससे उसके करने वाले में **केवलि-पण्णत्तं**—केवली भगवान् के कहे हुए **धम्मं**—धर्म को **पडिसुणित्तए**—सुनने के लिए **नो संचाएति** शक्ति नहीं होती ।

मूलार्थ—क्या इस प्रकार की स्त्री को तथा-रूप श्रवण या श्रावक धर्म सुनावे ? हां, सुनावे । किन्तु यह बात सम्भव नहीं कि वह धर्म को सुने, क्योंकि वह धर्म सुनने के अयोग्य होती है । वह तो उत्कट इच्छाओं वाली होजाती है और दक्षिण दिशा की ओर जाने वाली नारकिणी तथा भविष्य में दुर्लभ-बोधिक कर्मों को इकट्ठा करने वाली होती है । हे आयुष्मन् श्रमण ! यह इस प्रकार का निदान-कर्म का पाप-रूप फल-विपाक है जिससे केवलि-भाषित धर्म को सुनने की शक्ति भी जाती रहती है ।

टीका—इस सूत्र का अर्थ भी दूसरे निदान कर्म के अन्तिम सूत्र से मिलता जुलता ही है । निदान कर्म करके निर्ग्रन्थ स्त्री हो जाता है और वह स्त्री फिर धर्म को सुन भी नहीं सकती, क्योंकि सांसारिक भोग-विलासों में फंसे रहने के कारण उसको बोधि-कर्म दुर्लभ हो जाता है जिसके कारण वह नरक में उत्पन्न होती है । अतः अपनी आत्मा की शुभ कामना करने वाले निर्ग्रन्थ को निदान-कर्म भूल कर भी नहीं करना चाहिए । यह सर्वथा त्याज्य है । शेष सब सुगम ही है ।

अब सूत्रकार चतुर्थ निदान-कर्म का वर्णन करते हैः—

एवं खलु समणाउसो मए धम्मे पण्णत्ते इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे सेसं तं चेव जाव अंतं करेति

जस्स णं धम्मस्स निग्गंथी सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणी पुरा दिगिंच्छाए पुरा जाव उदिण्णकामजाया विविहरेज्जा सा य परक्कमेज्जा सा य परक्कममाणी पासेज्जा जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया तेसिं णं अण्णयरस्स अइजायमाणे वा जाव किंते आसगस्स सदति जं पासित्ता णिग्गंथी णिदाणं करेति ।

एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! मया धर्मः प्रज्ञप्त इदमेव निर्ग्रन्थ-प्रवचनं सत्यं शेषं तच्चैव यावदन्तं करोति, यस्य नु धर्मस्य निर्ग्रन्थी शिक्षाया उपस्थिता विहरन्ती पुरा जिघित्सया पुरा यावदुदीर्ण-काम-जाता चापि विहरेत् । सा च पराक्रमेत् सा च पराक्रमन्ती पश्येद् य इम उग्रपुत्रा महामातृका भोगपुत्रा महामातृका स्तेषान्न्वन्यतरस्यातियातो वा यावत्किं ते आस्यकस्य स्वदते । तं दृष्ट्वा निर्ग्रन्थी निदानं करोति ।

पदार्थान्वयः—समणाउसो–हे आयुष्मन् ! श्रमण ! मए–मैंने एवं खलु–इस प्रकार निश्चय से धम्मे–धर्म पण्णत्ते–प्रतिपादन किया है इणमेव–यही णिग्गंथे पावयणे–निर्ग्रन्थ-प्रवचन सच्चे–सत्य है सेसं–शेष वर्णन तंचेव–पूर्ववत् है जाव–यावत् अंतं करेति–सब दुःखों का अन्त करने वाला होता है जस्स णं–जिस धम्मस्स–धर्म की सिक्खाए–शिक्षा के लिये उवट्ठिया–उपस्थित होकर विहरमाणा–विचरती हुई निग्गंथी–निर्ग्रन्थी पुरादिगिंच्छाए–पूर्व बुभुक्षा से पुरा–पूर्व जाव–यावत् उदिण्णकामजायावि–काम-वासना के उदय होने से विहरेज्जा–विचरे य–और सा–फिर वह परक्कमेज्जा–पराक्रम करे य–और सा–वह परक्कममाणी–पराक्रम करती हुई पासेज्जा–देखे कि जे–जो इमे–ये उग्गपुत्ता–उग्र-पुत्र महामाउया–महामातृक हैं भोगपुत्ता–भोग-पुत्र महामाउया–महामातृक हैं तेसिं

णं–उनमें से अएणयरस्स–किसी एक के अइजायमाणे वा–घर के भीतर (अथवा घर से बाहर) जाते हुए जाव–यावत् ते–आपके आसगस्स–मुख को किं सदति–कौनसा पदार्थ अच्छा लगता है जं–जिसको पासित्ता–देखकर निग्गंथी–निर्ग्रन्थी णिदाणं–निदान-कर्म करेति–करती है ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! मैंने इस प्रकार धर्म प्रतिपादन किया है । यही निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत्य है (शेष वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए) और सब दुःखों का अन्त करने वाला होता है । जिस धर्म की शिक्षा के लिये उपस्थित होकर विचरती हुई निर्ग्रन्थी पूर्व बुभुक्षा (भूख) से उदीर्ण-कामा होकर विचरे और फिर संयम में पराक्रम करे तथा पराक्रम करती हुई देखे कि जो ये उग्र और भोग कुलों के महामातृक पुत्र हैं उनमें से किसी एक के घर के भीतर (अथवा घर से बाहर) जाते हुए सेवक प्रार्थना करते हैं कि आपके मुख को क्या अच्छा लगता है उनको देखकर निर्ग्रन्थी निदान-कर्म करती है ।

टीका—इस सूत्र में भी सब वर्णन पूर्ववत् ही है ऐसी कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं, जो कुछ है भी वह मूल में ही स्पष्ट की गई है ।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि निर्ग्रन्थी केवल उक्त पुरुषों को देखने मात्र से ही किस प्रकार निदान कर्म करती है ? इसके समाधान में सूत्रकार स्वयं कहते हैं :—

दुक्खं खलु इत्थि-तणए, दुस्संचराइं गामंतराइं जाव सन्निवेसंतराइं । से जहा नामए अंब-पेसियाति वा मातुलिंग-पेसियाति वा अंबाडग-पेसियाति वा मंस-पेसियाति वा उच्छु-खंडियाति वा संबलि-फालियाति वा बहुजणस्स आसायणिज्जा पत्थणिज्जा पीहणिज्जा अभिलसणिज्जा एवामेव इत्थिकावि बहुजणस्स आसा-यणिज्जा जाव अभिलसणिज्जा, तं दुक्खं खलु इत्थि-

तणए पुमत्ताए णं साहू ।

दुःखं खलु स्त्रीतनूः, दुःसञ्चराणि ग्रामान्तराणि यावत्सन्निवेशान्तराणि । अथ यथानामकाम्र-पेशिकेति वा मातुलिङ्ग-पेशिकेति वा आम्रातिक-पेशिकेति वा मांस-पेशिकेति वा इक्षु-खण्डिकेति वा शाल्मलि-फलिकेति वा बहुजनस्यास्वादनीया, प्रार्थनीया, स्पृहणीया यावदभिलषणीयैवमेव स्त्रीकापि बहुजनस्यास्वादनीया यावदभिलषणीया । तद्दुःखं खलु स्त्रीतनूः, पुरुषत्वं नु साधु ।

पदार्थान्वयः—इत्थि-तणए—स्त्रीत्व संसार में दुक्खं खलु—कष्ट-रूप है क्योंकि गामंतराइं—एक गांव से दूसरे गांव में और सन्निवेसंतराइं—एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव में दुस्संचाराइं—स्त्रियों का जाना कठिन होता है अर्थात् स्त्री एक स्थान से दूसरे स्थान में स्वच्छन्दता और निःसङ्कोच-भाव से नहीं जा सकती क्योंकि से जहानामए—जिस प्रकार अंबपेसियाति—आम की फांक वा—अथवा मातुलिंग-पेसियाति—मातुलिङ्ग (बिजोरे के फल) की फांक वा—अथवा अंबाडग-पेसियाति—आम्रातक (एक फल जिसमें बहुत से बीज होते हैं) की फांक वा—अथवा मंस-पेसियाति—मांस की फांक वा—अथवा उच्छु-खंडियाति—इक्षु-खण्डिका अर्थात् गन्ने की पोरी वा—अथवा संबलि-फालियाति—शाल्मली वृक्ष की फली बहुजणस्स—बहुत से मनुष्यों की आसायणिज्जा—आस्वादनीय पत्थणिज्जा—प्रार्थनीय पीहणिज्जा—स्पर्धा करने के योग्य और अभिलसणिज्जा—अभिलषणीय होती है एवामेव—इसी प्रकार इत्थिकावि—स्त्री भी बहुजणस्स—बहुत से पुरुषों की आसायणिज्जा—आस्वादनीया और जाव—यावत् अभिलसणिज्जा—अभिलषणीया होती है तं—इस लिये इत्थि-तणए—स्त्रीत्व दुक्खं—कष्ट-रूप है पुमत्ताए णं—पुरुषत्व साहू—साधु है ।

मूलार्थ—संसार में स्त्री होना अत्यन्त कष्ट-प्रद है, क्योंकि स्त्रियों का एक गांव से दूसरे गांव और एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव में आना-जाना अत्यन्त

कठिन है। जैसे आम की फांक, मातुलिङ्ग (बिजोरे) की फांक, आम्रातक (बहुबीज फल) की फांक, मांस की फांक, गन्ने की पोरी और शाल्मलीक की फली बहुत से पुरुषों की आस्वादनीय, प्रार्थनीय, स्पृहणीय और अभिलषणीय होती है इसी प्रकार स्त्रियां भी बहुत से पुरुषों की आस्वादनीय और अभिलषणीय होती हैं, अतः स्त्रीत्व निश्चय से कष्ट-रूप है और पुरुषत्व साधु है।

टीका—इस सूत्र में निर्ग्रन्थी के निदान-कर्म का कारण बताया गया है। निर्ग्रन्थी पुरुषों को देखकर विचार करती है कि संसार में स्त्री होना बहुत ही बुरा है, क्योंकि उसको एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना बहुत दुष्कर होता है। कारण यह है कि जिस प्रकार एक मांसाहारी पक्षी कहीं मांस के टुकड़े को देखकर उसको प्राप्त करने की इच्छा से उसकी ओर झपटता है और जिस प्रकार आम्र फल, मातुलिङ्ग (बिजोरे) के फल, शाल्मलीक वृक्ष के फल और गन्ने की पोरी आदि स्वादिष्ट फलों को देख लोगों के मुंह में पानी आ जाता है वे उनको प्राप्त करने की उत्कट इच्छा करने लगते हैं इसी प्रकार कई दुष्ट आचरण वाले पुरुष भी स्त्री को देखकर ललचा जाते हैं और उसको बुरी दृष्टि से देखने लगते हैं, जिससे स्त्री को अपने सतीत्व की रक्षा का भय हमेशा बना रहता है, अतः उनको स्वच्छन्दता से इधर-उधर जाना दूभर हो जाता है। इसी लिये स्त्रीत्व कष्ट रूप है और पुरुषत्व साधु है। पुरुष हर एक स्थान पर स्वच्छन्दता और निर्भय होकर जाते हैं। उनको स्त्रियों के समान कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती।

अब सूत्रकार उक्त विषय से ही सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

जइ इमस्स तव-नियमस्स जाव अत्थि वयमवि णं आगमेस्साणं इमेयारूवाइं ओरालाइं पुरिस-भोगाइं भुंजमाणा विहरिस्सामो। सेतं साहू।

यद्यस्य तपोनियमस्य—यावदस्ति वयमपि न्वागमिष्यति (काले) इमानेतद्रूपानुदारान् पुरुष-भोगान् भुञ्जन्त्यो विहरिष्यामः। तदेतत्साधु।

पदार्थान्वयः—**जइ**–यदि **इमस्स**–इस **तव-नियमस्स**–तप और नियम का **जाव**–यावत् **अत्थि**–विशेष फल है तो **वयमवि**–हम भी **आगमेस्साणं**–भविष्य में **इमेयारूवाइं**–इन सब प्रकार के **ओरालाइं**–श्रेष्ठ **पुरिस-भोगाइं**–पुरुष-सम्बन्धी भोगों को **भुंजमाणा**–भोगती हुई **विहरिस्सामो**–विचरण करेंगी **सेतं साहु**–यह हमारा विचार ठीक है ।

मूलार्थ—यदि इस तप और नियम का कोई फल विशेष है तो हम भी भविष्य में इसी प्रकार के उत्तम पुरुष-भोगों को भोगते हुए विचरेंगी । यही ठीक है ।

टीका—इस सूत्र में भी कोई नई बात नहीं है । जैसे पहले के निदान कर्मों के विषय में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों ने अपने तप, नियम और ब्रह्मचर्य आदि व्रतों के फल-स्वरूप उग्र और भोग कुलों में उत्पन्न होने के संकल्प किये थे, इसी प्रकार यहां भी निर्ग्रन्थियों ने अपने व्रतों के फल-रूप पुरुषत्व की कामना की ।

अब सूत्रकार उनके इस संकल्प का फल बताते हैं :—

एवं खलु समणाउसो णिग्गंथी णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंता जाव अपडिवज्जिज्जा कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति । सा णं तत्थ देवे भवति महड्ढिए जाव महासुक्खे । सा णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता जे इमे भवंति उग्गपुत्ता तहेव दारए जाव किं ते आसग्गस्स सदति तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजातस्स जाव । अभविएणं से तस्स धम्मस्स सवणताए । से य भवति महिच्छे

जाव दाहिणगामिए जाव दुल्लभबोहिए यावि भवति । एव खलु जाव पडिसुणित्तए ।

एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! निर्ग्रन्थी निदानं कृत्वा तत्स्थानमनालोच्य (ततः) अप्रतिक्रान्ता यावदप्रतिपद्य कालमासे कालं कृत्वान्यतरेषु देव-लोकेषु देवतयोपपत्री भवति । सा तत्र देवो भवति महर्द्धिको यावन्महा-सौख्यः । सा च ततो देव-लोकादायुःक्षयेणानन्तरं चयं त्यक्त्वा य इमे भवन्ति उग्र-पुत्रास्तथैव दारको यावत्किं त आस्यकस्य स्वदते । तस्य नु तथाप्रकारस्य पुरुष-जातस्य यावत् । अभव्यः स तस्य धर्मस्य श्रवणाय । स च भवति महेच्छो यावद्दक्षिण-गामिको यावद् दुर्लभ-बोधिकश्चापि भवति । एव खलु यावत् प्रतिश्रोतुम् ।

पदार्थान्वयः—**समणाउसो**—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! **एवं खलु**—इस प्रकार **णिग्गंथी**—निर्ग्रन्थी **णिदाणं**—निदान-कर्म **किच्चा**—करके **तस्स**—उस **ठाणस्स**—स्थान पर **अणालोइय**—बिना उसके विषय में गुरु से आलोचना किये और उससे **अप्प-डिक्कंता**—बिना पीछे हटे और **जाव**—यावत् **अपडिवज्जिज्जा**—बिना प्रायश्चित्त ग्रहण किये **कालमासे**—मृत्यु के समय **कालं किच्चा**—काल करके **अण्णयरेसु**—किसी एक **देवलोएसु**—देव-लोक में **देवत्ताए**—देव-रूप से **उववत्तारो**—उत्पन्न **भवति**—होती है **सा णं**—वह **तत्थ**—वहां **महड्ढिए**—महा ऐश्वर्य वाला **जाव**—यावत् **महासुक्खे**—महा सुख वाला **देवे भवति**—देव होती है **सा णं**—वह फिर **ताओ**—उस **देवलो-गाओ**—देव-लोक से **आउक्खएणं**—आयुःक्षय होने के कारण **अणंतरं**—बिना किसी अन्तर के **चयं**—देव-शरीर को **चइत्ता**—छोड़ कर **जे**—जो **इमे**—ये **उग्गपुत्ता**—उग्रपुत्र **भवंति**—होते हैं **तहेव**—शेष वर्णन पूर्ववत् है अर्थात् उनमें से किसी एक के कुल में वह **दारए**—दारक (लड़का) होता है **जाव**—यावत् **ते**—आपके **आसगस्स**—मुख को **किं**—क्या **सदति**—अच्छा लगता है फिर **तस्स**—उस **तहप्पगारस्स**—उस प्रकार के **पुरिस-**

जातस्स–पुरुष को **जाव**–यावत् यदि कोई श्रमण या श्रावक धर्म सुनावे तो वह सुन नहीं सकता क्योंकि **से**–वह **तस्स**–उस **धम्मस्स**–धर्म के **सवणताए**–सुनने के **अभविए णं**–अयोग्य होता है किन्तु **से य**–वह तो **भवति**–हो जाता है **महिच्छे**–उत्कट इच्छाओं वाला और **दाहिणगामिए**–दक्षिणा दिशा के नरक में जाने वाला तथा **जाव**–यावत् **दुल्लभ-बोहिए यावि**–दूसरे जन्म में दुर्लभ-बोधि वाला **भवति**–होता है । **एवं खलु**–इस प्रकार वह निर्ग्रन्थी निदान-कर्म करके केवलि-भाषित धर्म को **जाव**–यावत् **पडिसुणित्तए**–सुनने के लिए भी समर्थ नहीं हो सकता ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! इस प्रकार निर्ग्रन्थी निदान-कर्म करके और उसका गुरु से उस समय बिना आलोचन किये, बिना उससे पीछे हटे तथा बिना प्रायश्चित्त ग्रहण किये मृत्यु के समय काल करके किसी एक देव-लोक में देव-रूप से उत्पन्न हो जाती है और वहां बड़े ऐश्वर्य और सुख वाला देव हो जाता है । फिर उस देव-लोक से आयु-क्षय होने के कारण बिना किसी अन्तर के देव-शरीर को छोड़कर जो ये उग्र-पुत्र हैं उनके कुल में बालक-रूप से उत्पन्न होता है । सेवक उसकी प्रार्थना करते हैं कि आपको कौनसा पदार्थ रुचिकर है । इस प्रकार का पुरुष केवलि-भाषित धर्म को सुनने के अयोग्य होता है । किन्तु वह बड़ी इच्छाओं वाला और दक्षिणगामी नैरयिक होता है और दुर्लभ-बोधिक कर्म की उपार्जना करता है । इस प्रकार हे आयुष्मन् ! श्रमण ! वह केवलि-प्रतिपादित धर्म को सुन भी नहीं सकता ।

टीका—इस सूत्र में भी सब वर्णन पूर्ववत् ही है जब वह निर्ग्रन्थी उक्त रीति से निदान-कर्म करती है और उसका आलोचन नहीं करती तो मृत्यु के अनन्तर किसी एक देव-लोक में देव-रूप से उत्पन्न हो जाती है । फिर वहां से आयु-क्षय होने के कारण मनुष्य लोक में उग्र आदि कुल में कुमार-रूप से उत्पन्न हो जाती है । वहां वह पुरुष ऐश्वर्य में इस प्रकार लीन हो जाती है कि उसमें केवलि-प्रतिपादित धर्म को सुनने तक की शक्ति अवशिष्ट नहीं रहती क्योंकि सांसारिक काम-भोग उसको धर्म की ओर से अन्धा बना देते हैं ।

अब सूत्रकार पांचवें निदान कर्म के विषय में कहते हैं :—

एवं खलु समणाउसो मए धम्मे पण्णत्ते इणमेव

निग्गंथ-पावयणे तहेव । जस्स णं धम्मस्स निग्गंथे वा (निग्गंथी वा) सिक्खाए उवट्ठिए विहरमाणे पुरा-दिगिंच्छाए जाव उदिण्ण-काम-भोगे विहरेज्जा, से य परक्कमेज्जा से य परक्कममाणे माणुस्सेहिं कामभोगेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा माणुस्सगा खलु काम-भोगा अधुवा अणितिया असासता सडण-पडण-विद्धंसण-धम्मा उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाणग-वंत-पित्त-सुक्क-सोणि-य-समुब्भवा दुरूव-उस्सास-निस्सासा दुरंत-मुत्त-पुरीस-पुण्णा वंतासवा पित्तासवा खेलासवा पच्छा पुरं च णं अवस्सं विप्पजहणिज्जा ।

एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! मया धर्मः प्रज्ञप्त इदमेव निर्ग्रन्थ-प्रवचनं तथैव । यस्य नु धर्मस्य निर्ग्रन्थो वा (निर्ग्रन्थी वा) शिक्षायै उपस्थितो विहरन् पुरा जिघित्सया यावदुदीर्ण-काम-भोगो विहरेत्, स च पराक्रमेत्, स च पराक्रमन् मानुष-केषु कामभोगेषु निर्वेदं गच्छेत्, मानुषका खलु कामभोगा अध्रवा अनित्या अशाश्वताः शटन-पतन-विध्वंसन-धर्मा उच्चार-प्रश्र-वण-श्लेष्म-यल्ल-सिंघाणक-वात-पित्त-शुक्र-शोणित-समुद्भवा दुरू-पोच्छ्वासनिश्वासा दुरन्त-मूत्र-पुरीष-पूर्णा वाताश्रवाः पित्ता-श्रवाः श्लेष्माश्रवाः पश्चात् पूर्वञ्च न्ववश्यं विप्रहेयाः ।

पदार्थान्वयः—समणाउसो—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! एवं खलु—इस प्रकार निश्चय से मए—मैंने धम्मे—धर्म पएणत्ते—प्रतिपादन किया है इणमेव—यही निग्गंथ-

पावयणे–निर्ग्रन्थ-प्रवचन **तहेव**–पूर्ववत् जानना चाहिए अर्थात् सत्य है और सब दुःखों का नाश करने वाला है **जस्स णं**–जिस **धम्मस्स**–धर्म की **सिक्खाए**–शिक्षा के लिए **उवट्ठिए**–उपस्थित होकर **विहरमाणे**–विचरता हुआ **निग्गंथे**–निर्ग्रन्थ **वा**–अथवा (**निग्गंथी**–निर्ग्रन्थी) **पुरादिगिंच्छाए**–पूर्व बुभुक्षा से **जाव**–यावत् **उदिण्ण-काम-भोगे विहरेज्जा**–काम-भोगों के उदय होने पर विचरण करे और **से य**–फिर वह **परक्कमेज्जा**–पराक्रम करे **य**–और **से**–वह **परक्कममाणे**–संयम-मार्ग में पराक्रम करता हुआ **माणुस्सेहिं**–मनुष्य-सम्बन्धी **काम-भोगेहिं**–काम-भोगों की ओर से **निव्वेयं**–निर्वेद (वैराग्य) को **गच्छेज्जा**–प्राप्त हो जाय, क्योंकि **माणुस्सगा खलु**–निश्चय ही मनुष्य-सम्बन्धी **काम-भोगा**–काम-भोग **अधुवा**–अनिश्चित हैं **अणि-तिया**–अनित्य अर्थात् क्षणिक हैं **असासया**–अशाश्वत अर्थात् विनाशी हैं **सडण**–सड़ना **पतण**–गलना और **विद्धंसणधम्मा**–नाश होना इनका धर्म है **उच्चार**–विष्ठा **पासवण**–मूत्र **खेल**–श्लेष्मा **जल्ल**–शरीर के मल और **सिंघाणग**–नासिका आदि के मल वाले होते हैं और **वंत**–वात **पित्त**–पित्त **सुक्क**–शुक्र **सोणिय**–शोणित (रुधिर) से **समुब्भवा**–उत्पन्न हुए होते हैं **दुरूव**–कुत्सित **उस्सास**–उच्छ्वास और **निस्सासा**–निश्वास वाले होते हैं। **दुरंत**–दुष्परिणाम वाले **मुत्त**–मूत्र और **पुरीस**–पुरीष–विष्ठा से **पुण्णा**–पूर्ण हैं **वंतासवा**–वमन के द्वार हैं **पित्तासवा**–इनसे पित्त गिरते हैं **खेलासवा**–श्लेष्म गिरती है **पच्छा**–मृत्यु के अनन्तर **च**–अथवा **पुरं**–बुढ़ापे से पहले **णं**–वाक्यालङ्कारे **अवस्सं**–अवश्य ही **विप्पजहणिज्जा**–त्याज्य हैं।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! इस प्रकार मैंने धर्म प्रतिपादन किया है, यही निर्ग्रन्थ-प्रवचन यावत्सत्य और सब दुःखों का नाश करने वाला है। जिस धर्म की शिक्षा के लिये उपस्थित होकर विचरता हुआ निर्ग्रन्थ (अथवा निर्ग्रन्थी) बुभुक्षा आदि यावत् काम-भोगों के उदय होते हुए भी संयम-मार्ग में पराक्रम करे और पराक्रम करते हुए मनुष्य-सम्बन्धी काम भोगों में वैराग्य को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वे अनियत हैं, अनित्य हैं और क्षणिक हैं, इनका सड़ना, गलना और विनाश होना धर्म है, इन भोगों का आधार-भूत मनुष्य-शरीर विष्ठा, मूत्र, श्लेष्म, मल, नासिका का मल, वमन, पित्त, शुक्र और शोणित से बना हुआ है। यह कुत्सित उच्छ्वास और निश्वासों से युक्त होता है, दुर्गन्ध-युक्त मूत्र और पुरीष पूर्ण है। यह वमन का द्वार है, इससे पित्त और

श्लेष्म सदैव निकलते रहते हैं। यह मृत्यु के अनन्तर या बुढ़ापे से पूर्व अवश्य छोड़ना पड़ेगा।

टीका—इस सूत्र में प्रकाश किया गया है कि निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों ने मनुष्य-सम्बन्धी काम-भोगों और मनुष्य-शरीर की अनित्यता का अनुभव किया और उससे उनको वैराग्य उत्पन्न हो गया। काम-भोगों के उदय होने पर उन्होंने विचार किया कि मनुष्य-सम्बन्धी काम-भोग और उनका आधार-भूत शरीर अनित्य, क्षणिक और विनाशी है। सड़ना, गलना और विध्वंस होना इसका स्वाभाविक धर्म है। यह मल, मूत्र, श्लेष्म, शुक्र और रक्त से बनता है। इस से दुर्गन्ध-मय निश्वास और उच्छ्वास निकलते ही रहते हैं। यह सदैव मूत्र और विष्ठा से पूर्ण रहता है। यह वमन का द्वार है। इससे श्लेष्म और पित्त सदैव निकलते ही रहते हैं। यह सर्वथा त्याज्य है, चाहे इसे मृत्यु के अनन्तर छोड़ो अथवा बुढ़ापे से ही पहले छोड़ दो, क्योंकि यह अध्रुव है अतः इसे छोड़ना ही अच्छा है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि उन्होंने विचारा कि मानुषिक काम-भोग और मनुष्य-शरीर अवश्य ही घृणास्पद है, अतः त्याज्य है।

अब सूत्रकार कहते हैं कि इसके बाद उन्होंने क्या विचारा :—

संति उड्ढं देवा देवलोगंसि तेणं तत्थ अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय(इ)२त्ता परियारेति अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्विय(इ)२त्ता परियारेति अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय(इ)२त्ता परियारेति। संति इमस्स तव-नियमस्स जाव तंचेव सव्वं भाणियव्वं जाव वयमवि आगमेस्साणं इमाइं एयारूवाइं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरामो। से तं साहू।

सन्त्यूर्ध्वं देवा देव-लोके ते नु तत्रान्येषां देवानां देवी-

रभियुञ्जन्ति, अभियुज्य परिचारयन्ति । आत्मना चैवात्मानं विकुर्वन्ति, विकृत्य परिचारयन्ति । आत्मीया देवीरभियुञ्जन्ति, अभियुज्य परिचारयन्ति । यद्यस्य तपोनियमस्य यावत्सर्वं तच्चैव भणितव्यं यावत् वयमप्यागमिष्यतीमानेतद्रूपान् भोग-भोगान् भुञ्जन्त्यो विहरामः । तदेतत्साधु ।

पदार्थान्वयः—**उड्ढं**–ऊपर **देवलोगंसि**–देव-लोक में **देवा**–देव **संति**–हैं **ते णं**–वे देव **तत्थ**–वहां **अण्णेसिं**–दूसरे **देवाणं**–देवों की **देवीओ**–देवियों को **अभिजुंजिय**–वश में करते हैं और **अभिजुंजिय(इ)त्ता**–वश में कर **परियारेति**–उपभोग में प्रवृत्त कराते हैं । दूसरे देव **अप्पणो चेव**–अपनी ही **अप्पाणं**–आत्मा को **विउव्विय**–वैक्रिय करते हैं और **विउव्विय(इ)त्ता**–वैक्रिय कर **परियारेति**–उपभोग में प्रवृत्त कराते हैं । दूसरे देव **अप्पणिज्जियाओ**–अपनी ही **देवीओ**–देवियों को **अभिजुंजिय**–वश में करते हैं और **अभिजुंजिय(इ)त्ता**–वश में कर **परियारेति**–उपभोग में प्रवृत्त कराते हैं । यदि **इमस्स**–इस **तवनियमस्स**–तप और नियम के **संति**–फल हैं **जाव**–यावत् **सव्वं**–सब **तंचेव**–पूर्वोक्त ही **भाणियव्वं**–कहना चाहिये **जाव**–यावत् **वयमवि**–हम भी **आगमेस्साणं**–भविष्य में **इमाइं**–इन **एयारूवाइं**–इस प्रकार के **दिव्वाइं**–दिव्य, देव-सम्बन्धी **भोग-भोगाइं**–भोगने योग्य भोगों को **भुंजमाणे**–भोगते हुए **विहरामो**–विचरें । **से तं**–यही **साधु**–साधु–श्रेष्ठ है ।

मूलार्थ—ऊर्ध्व देव-लोकों में देव हैं । उनमें से एक तो अन्य देवों की देवियों को वश में करके उनको उपभोग में प्रवृत्त कराते हैं, दूसरे अपनी ही आत्मा से वैक्रिय रूप बनाकर उनको उपभोग में प्रवृत्त कराते हैं, तीसरे अपनी ही देवियों को भोगते हैं । सो यदि इस तप, नियम का कुछ विशेष फल है तो हम भी आगामी काल में इस प्रकार के देव-सम्बन्धी भोगों को भोगते हुए विचरें । यह हमारा विचार सर्वोत्तम है । शेष सब वर्णन पूर्ववत् ही जानना चाहिये ('यावत्' शब्द कितने ही बार आचुका है, यह पूर्व-वर्णन का सूचक है) ।

टीका—इस सूत्र में देवों के परिचार (मैथुन-क्रीडा) का विषय वर्णन

किया है । कुछ देवता तो अन्य देवों की देवियों को अपने वश में करते हैं और वश में कर उनको मैथुन के लिये उद्यत कराते हैं । दूसरे अपनी आत्मा मे वैक्रिय करके अर्थात् देवी की विकुर्वणा करके उनसे मैथुन करते हैं । इसका व्याख्यान टीकाकार इस प्रकार करते हैं–"आत्मनैवात्मानं स्त्रीपुरुषरूपतया विकृत्येत्यर्थः" अर्थात् अपनी ही आत्मा को स्त्री और पुरुष दो भिन्न आकृतियों में परिवर्तन करके काम-चेष्टा करते हैं । किन्तु 'भगवती' सूत्र में लिखा है कि एक ही समय में एक जीव दो वेदों–स्त्री पुरुष सम्बन्धी उपभोग की इच्छाओं का अनुभव नहीं कर सकता । सो इस विषय में परम्परा से यही प्रसिद्धि चली आती है कि पुरुष तो पुरुषलिङ्ग की विकुर्वणा–शारीरिक परिवर्तन करते हैं और उनकी आत्मीया देवियां स्त्रीलिङ्ग की, और इस प्रकार वे परस्पर मैथुन-उपभोग में प्रवृत्त होते हैं । यह तत्त्व बहुश्रुत-गम्य है । एक देव ऐसे हैं जो अपनी ही देवियों के साथ उक्त उपभोग कर सन्तुष्ट रहते हैं ।

देवों के इस प्रकार के स्वेच्छा-पूर्वक आनन्द-विहार को देखकर निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के चित्त में यह विचार उत्पन्न हुआ कि देव ही धन्य हैं । अतः यदि हमारे इस तप-नियम का कोई विशेष फल है तो हम भी भविष्य में इन्हीं देव-सम्बन्धी तीन प्रकार की काम-क्रीडाओं का उपभोग करते हुए विचरें ।

अब सूत्रकार उक्त विषय से ही सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

एवं खलु समणाउसो निग्गंथो वा (निग्गंथी वा) णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तं जहा–महड्ढिएसु महज्जुइएसु जाव पभासमाणे अण्णेसिं देवाणं अण्णं देविं तं चेव जाव परियारेति । से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं तं चेव जाव पुमत्ताए पच्चायाति जाव किं ते आसगस्स सदति ।

एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! निर्ग्रन्थो वा (निर्ग्रन्थी वा) निदानं कृत्वा तत्स्थानमनालोच्य (ततः) अप्रतिक्रान्तः कालमासे कालं कृत्वान्यतरेषु देव-लोकेषु देवतयोपपत्ता भवति। तद्यथा–महर्द्धिकेषु महाद्युतिकेषु यावत् प्रभासमानोऽन्येषां देवानाम् अन्यां देवीं यावत् परिचारयति। स नु ततो देवलोकादायुःक्षयेण तच्चैव यावत् पुंस्तया प्रत्यायाति यावत् किं त आस्यकस्य स्वदते।

पदार्थान्वयः—समणाउसो–हे आयुष्मन् ! श्रमण ! एवं खलु–इस प्रकार निश्चय से निग्गंथो वा–निर्ग्रन्थ अथवा (निग्गंथी–निर्ग्रन्थी) णिदाणं किच्चा–निदान-कर्म कर तस्स ठाणस्स–उसका उस समय अणालोइय–बिना आलोचन किये और उससे अप्पडिक्कंते–बिना पीछे हटे कालमासे–मृत्यु के समय कालं किच्चा–काल करके अण्णतरेसु–किसी एक देवलोएसु–देव-लोक में देवत्ताए–देव-रूप से उववत्तारो भवति–उत्पन्न होता है। तं जहा–जैसे–महड्ढिएसु–महा ऐश्वर्यशाली और महज्जुइएसु–अत्यन्त सुन्दर कान्ति वाले देवों के बीच में जाव–यावत् पभासमाणे–शोभायमान होता हुआ विचरता है और अण्णेसि–दूसरे देवाणं–देवों की अण्णं–दूसरी देविं–देवी को तंचेव–पूर्ववत् ही तीनों प्रकार की देवियों को जाव–यावत् परियारेति–मैथुन-उपभोग में प्रवृत्त कराता है से णं–फिर वह ताओ–उस देवलोगाओ–देव-लोक से आउक्खएणं–आयु-क्षय होने के कारण तंचेव–शेष पूर्ववत् अर्थात् भव-क्षय आदि के कारण भोग और उग्र कुलों में से किसी एक में पुमत्ताए–पुरुष रूप से पच्चायाति–उत्पन्न होता है जाव–यावत् ते–आपके आसगस्स–मुख को किं–क्या सदति–अच्छा लगता है।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! इस प्रकार निदान कर्म करके निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी बिना उसी समय उसकी आलोचना किये और बिना उससे पीछे हटे मृत्यु के समय, काल करके, देव-लोकों में से किसी एक में देव-रूप से उत्पन्न होता है, वह वहां महा ऐश्वर्यशाली और महाद्युति वाले देवों में प्रकाशित होता हुआ अन्य देवों की देवियों से पूर्वोक्त तीनों प्रकार से मैथुन-उपभोग

करता हुआ विचरता है । फिर उस देव-लोक से आयु क्षय होने के कारण पूर्ववत् पुरुष-रूप से उत्पन्न होता है और दास-दासियां प्रार्थना करती हैं कि आपके मुख को क्या अच्छा लगता है ।

टीका—जिस प्रकार पहले और दूसरे निदान-कर्मों में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों ने उग्र आदि कुलों में उत्पन्न होने की इच्छा प्रकट की थी और उनको तदनुसार फल की प्राप्ति भी हुई इसी प्रकार यहां उन्होंने देव-लोक में उत्पन्न हो कर दैविक भोगों के अनुभव की कामना की और तदनुसार ही उनको देव-लोक में तीनों प्रकार की देवियों का उपभोग प्राप्त हुआ । जब उनके शुभ कर्म उपभोग की अग्नि से भस्म हो गये तो उनको मनुष्य लोक में आकर पूर्वोक्त कुमारों के समान पौद्गलिक (सांसारिक) सुखों की प्राप्ति हुई । शेष सब वर्णन पूर्ववत् है ।

अब सूत्रकार कहते हैं कि निदान कर्म करने का धर्म की ओर क्या प्रभाव पड़ा :—

तस्स णं तहाप्पगारस्स पुरिस-जातस्स तहा-रूवे समणे वा माहणे वा जाव पडिसुणिज्जा ? हंता ! पडिसुणिज्जा । से णं सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा णोतिणट्ठे समट्ठे । अभविएणं से तस्स सद्दहणताए । से य भवति महिच्छे जाव दाहिणगामि णेरइए आगमेस्साणं दुल्लभ-बोहिए यावि भवति । एवं खलु समणाउसो तस्स णिदाणस्स इमेतारूवे पावए फल-विवागे जं णो संचाएति केवलि-पण्णत्तं धम्मं सद्दहित्तए पत्तियत्तए वा रोइत्तए वा ।

तस्य नु तथा-प्रकारस्य पुरुष-जातस्य तथा-रूपः श्रमणो वा माहनो वा यावत् प्रतिश्रृणुयात् ? हन्त ! प्रतिश्रृणुयात् । स नु

श्रद्दध्यात्, प्रतीयात्, रुचिं दध्यान्नायमर्थः समर्थः । अभव्यः स श्रद्धानतायै । स च भवति महेच्छो यावद्दक्षिणगामी नैरयिक आगमिष्यति दुर्लभ-बोधिकश्चापि भवति । एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! तस्य निदानस्यैष एतद्रूपः पापकः फलविपाको यन्न शक्नोति केवलि-प्रज्ञप्तं धर्म्मं श्रद्धातुं प्रत्येतुं वा रोचितुं वा ।

पदार्थान्वयः—**तस्स णं**–उस **तहाप्पगारस्स**–उस प्रकार के **पुरिस-जातस्स**–पुरुष को **तहारूवे**–तथा-रूप **समणे**–श्रमण **वा**–अथवा **माहणे**–माहन या श्रावक **जाव**–यदि धर्म कहे तो क्या **पडिसुणिज्जा**–वह सुनेगा ? **हंता**–हां, **पडि-सुणिज्जा**–वह सुन तो लेगा किन्तु **से णं**–वह **सद्दहेज्जा**–उस पर श्रद्धा करे **पत्तिएज्जा**–उस पर विश्वास करे और **रोएज्जा**–अच्छा माने **णो तिणट्ठे समट्ठे**–यह बात सम्भव नहीं **से**–वह **तस्स**–उस धर्म पर **सद्दहणत्ताए**–श्रद्धा करने के **अभविए णं**–अयोग्य होता है **य**–और **से**–वह **महिच्छे**–बड़ी २ इच्छाओं वाला **भवति**–हो जाता है **जाव**–यावत् **दाहिणगामि णेरइए**–दक्षिण-गामी नारकी **य**–और **आगमेस्साणं**–आगामी काल में **दुल्लभ-बोहियावि**–दुर्लभ-बोधिक भी **भवति**–हो जाता है । **समणाउसो**–हे आयुष्मन् ! श्रमण ! **एवं खलु**–इस प्रकार निश्चय से **तस्स**–उस **णिदाणस्स**–निदान-कर्म का **इमेयारूवे**–यह इस प्रकार का **पावए**–पाप-रूप **फल-विवागे**–फल-विपाक होता है कि **जं**–जिसके कारण उक्त कर्म करने वाला **केवलि-पण्णत्तं**–केवली भगवान् के कहे हुए **धम्मं**–धर्म में **सद्दहित्तए**–श्रद्धा करने की **पत्तियत्तए**–विश्वास करने की **वा**–अथवा **रोइत्तए**–रुचि रखने की **णो संचाएति**–भी शक्ति नहीं रख सकता ।

मूलार्थ—यदि इस प्रकार के पुरुष को कोई तथा-रूप श्रमण या श्रावक धर्म कथा सुनावे तो वह सुन लेगा ? हां, सुन तो लेगा किन्तु यह सम्भव नहीं कि वह उसमें श्रद्धा, विश्वास और रुचि करे, क्योंकि निदान-कर्म के प्रभाव से वह श्रद्धा करने के अयोग्य हो जाता है । वह तो बड़ी २ इच्छाओं वाला हो जाता है और परिणाम में दक्षिण-गामी नारकी तथा जन्मान्तर में दुर्लभ-बोधिक होता

है । हे आयुष्मन् ! श्रमण ! उस निदान-कर्म का इस प्रकार पाप-रूप फल-विपाक होता है कि जिससे वह केवली भगवान् के कहे हुए धर्म में श्रद्धा, विश्वास और रुचि की शक्ति भी नहीं रखता ।

टीका—इस सूत्र में कहा गया है कि जो व्यक्ति निदान-कर्म करता है उसकी सारी आत्मिक शक्तियां नष्ट हो जाती हैं । उसमें इतनी शक्ति भी नहीं रहती कि वह केवलि-भाषित धर्म में श्रद्धा भी कर सके । निदान-कर्म के प्रभाव से उसकी आत्मा में महा-मोहनीय कर्म के परमाणुओं का विशेष रूप से उदय होना प्रारम्भ हो जाता है, जो धर्म में श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न नहीं होने देते । अतः आर्य पुरुषों को उक्त कर्म का त्याग करना ही श्रेयस्कर है ।

अब सूत्रकार छठे निदान कर्म का वर्णन करते हैं :—

एवं खलु समणाउसो मए धम्मे पण्णत्ते तं चेव । से य परक्कमेज्जा परक्कममाणे माणुस्सएसु काम-भोगेसु निव्वेदं गच्छेज्जा; माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा अणितिया । तहेव जाव संति उड्ढं देवा देवलोगंसि ते णं तत्थ णो अण्णेसिं देवाणं अण्णं देविं अभिजुंजिय परियारेति । अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्वित्ता परियारेति । अप्पणिज्जियावि देवीए अभिजुंजिय परियारेति । जइ इमस्स तव-नियम—तं चेव सव्वं जाव से णं सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा—णो तिणट्ठे समट्ठे ।

एवं खलु, श्रमण ! आयुष्मन् ! मया धर्मः प्रज्ञप्तः—तच्चैव स च पराक्रमेत्, पराक्रमन् मानुषकेषु काम-भोगेषु निर्वेदं गच्छेत्; मानुषकाः खलु काम-भोगा अध्रुवा अनित्याः । तथैव

यावत्सन्त्यूद्र्ध्वं देवा देवलोकेषु, ते नु तत्र नान्येषां देवाना-मन्यां देवीमभियुज्य परिचारयन्ति। आत्मना चैवात्मानं विकृत्य परिचारयन्ति। यद्यस्य तपोनियम-तच्चैव सर्वम्, यावत्स च श्रद्दध्यात् प्रतीयात् रुचिं दध्यान्नायमर्थः समर्थः।

पदार्थान्वयः—**समणाउसो**—हे आयुष्मन्! श्रमण! **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय से **मए**—मैंने **धम्मे**—धर्म **पण्णत्ते**—प्रतिपादन किया है **तं चेव**—शेष वर्णन पूर्व-सूत्रों के समान ही है। **से य**—और वह निर्ग्रन्थ **परक्कमेज्जा**—कामोदय होने पर भी संयम-मार्ग में पराक्रम करे **परक्कममाणे**—और पराक्रम करते हुए **माणुस्सएसु**—मनुष्य-सम्बन्धी **काम-भोगेसु**—काम-भोगों में **निव्वेदं गच्छेज्जा**—वैराग्य को प्राप्त हो जाय क्योंकि **माणुस्सगा**—मनुष्यों के **खलु**—निश्चय से **काम-भोगा**—काम-भोग **अधुवा**—अध्रुव-अनियत हैं **अणितिया**—विनाश-शील हैं—**तहेव**—शेष सब वर्णन पूर्ववत् ही है **जाव**—यावत् **उड्ढं**—ऊपर **देवलोगंसि**—देव-लोक में **देवा**—देव **संति**—हैं **ते**—वे **तत्थ**—वहां **अण्णेसिं**—अन्य **देवाणं**—देवों की **देविं**—देवियों को **णो अभि-जुंजिय परियारेति**—अपने वश में करके नहीं भोगते हैं किन्तु **अप्पणो चेव**—अपनी ही आत्मा से **अप्पाणं**—अपने आप को **विउव्विता**—स्त्री और पुरुष दो भिन्न शरीरों में भिन्न कर **परियारेति**—उपभोग करते हैं और **अप्पणिज्जियावि**—अपनी ही **देवीए**—देवियों को **अभिजुंजिय परियारेति**—अपने वश में करके उपभोग के लिये प्रवृत्त कराते हैं। **जइ**—यदि **इमस्स**—इस **तव**—तप **नियम**—नियम आदि **तं चेव**—पहले कहे हुए व्रतों का फल-विशेष है तो **जाव**—यावत् हम भी दैविक भोग भोगें इत्यादि **से णं**—वह फिर श्रमण या श्रावक से धर्म सुनकर उसमें **सद्दहेज्जा**—श्रद्धा रखे **पत्तिएज्जा**—विश्वास करे **रोएज्जा**—रुचि करे **णो तिणट्ठे समट्ठे**—यह बात सम्भव नहीं।

मूलार्थ—**हे आयुष्मन्! श्रमण! इस प्रकार मैंने धर्म प्रतिपादन किया है। शेष वर्णन पहले सूत्रों के समान ही है। वह संयम मार्ग में पराक्रम करे और पराक्रम करता हुआ मनुष्य-सम्बन्धी काम-भोगों में विरक्त होता है, क्योंकि मनुष्यों के काम-भोग अनियत और विनाशी हैं। ऊपर देव-लोक**

में जो देवता हैं वे अन्य देवों की देवियों के साथ मैथुनोपभोग नहीं करते, किन्तु अपनी ही आत्मा से देव और देवियों के भिन्न स्वरूप धारण कर काम-क्रीडा करते हैं अथवा अपनी २ देवियों को वश में कर उनको कामोपभोगों में प्रवृत्त कराते हैं । यदि इस तप-नियम इत्यादि सब पूर्ववत् ही है । वह व्यक्ति केवलि-भाषित धर्म पर श्रद्धा करे, विश्वास करे और उसमें रुचि करे, यह सम्भव नहीं अर्थात् वह धर्म पर श्रद्धा आदि नहीं कर सकता ।

टीका—इस सूत्र में कहा गया है कि निदान कर्म करने वाले ने अपने चित्त में विचार किया कि देव-लोक में ऐसे भी देव हैं जो दूसरों की देवियों के साथ प्रेम-लीला नहीं करते, किन्तु अपनी आत्मा से ही देव और देवियों के दो भिन्न स्वरूप बनाकर परस्पर उपभोग करते हैं अथवा अपनी ही देवियों के साथ उपभोग कर सन्तुष्ट रहते हैं । यदि मेरे इस तप और नियम का कोई फल है तो मैं भी उक्त दोनों प्रकार की क्रीड़ाओं का करने वाला देव बनूं । वह तप आदि के प्रभाव से उसी प्रकार का देव बन जाता है । जब उसके दैविक कर्म क्षय हो जाते हैं तो वह पुनः मर्त्यलोक में उग्र या भोग कुल में पुत्र-रूप से उत्पन्न हो जाता है । वहां उसको सांसारिक उपभोगों की सारी सामग्री मिल जाती है, उस में फंस कर वह फिर केवलि-प्रतिपादित धर्म में श्रद्धा, विश्वास और रुचि नहीं कर सकता, क्योंकि उक्त कर्म के प्रभाव से उसके चित्त में मोहनीय-कर्म का प्रबल उदय होने लगता है, जिसके कारण उसके चित्त से धर्म की भावना ही उड़ जाती है ।

यह निदान-कर्म का ही फल है कि उसको जैन-दर्शन पर श्रद्धा नहीं होती। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या उसकी श्रद्धा किसी अन्य धर्म पर भी हो सकती है ? इसका उत्तर स्वयं सूत्रकार देते हैं :—

अण्णरुइ रुइ-मादाए से य भवति । से जे इमे आरणिया आवसहिया गामांतिया कण्हुइ रहस्सिया णो बहु-संजया णो बहु-विरया सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु अप्पणा सच्चा-मोसाइं एवं विपडिवदंति अहं ण हंतव्वो

अण्णे हंतव्वा अहं ण अज्झावेतव्वो अण्णे अज्झावेतव्वा अहं ण परियावेयव्वो अण्णे परियावेयव्वा अहं ण परिघेतव्वो अण्णे परिघेतव्वा अहं ण उवद्दवेयव्वो अण्णे उवद्दवेयव्वा । एवामेव इत्थिकामेहिं मुच्छिया गढिया गिद्धा अज्झोववण्णा जाव कालमासे कालं किच्चा अण्णतराइं असुराइं किव्विसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति । ततो विमुच्चमाणा भुज्जो एल-मूयत्ताए पच्चायंति । एवं खलु समणाउसो तस्स णिदाणस्स जाव णो संचाएति केवलि-पण्णत्तं धम्मं सद्दहित्तए वा ।

अन्यत्ररुची रुचि-मात्रया स च भवति । अथ य इम आरण्यका आवसथिका ग्रामान्तिका क्वचिद् राहसिका न बहु-संयता न बहु-विरताः सर्व-प्राणि-भूत-जीव-सत्त्वेष्वात्मनः सत्यमृषे विप्रतिवदन्ति । अहं न हन्तव्योऽन्ये हन्तव्या अहन्नाज्ञापयितव्योऽन्य आज्ञापयितव्या अहन्न परितापयितव्योऽन्ये परितापयितव्या अहन्न परिगृहीतव्योऽन्ये परिगृहीतव्या अहन्नोपद्रवितव्यो ऽन्य उपद्रवितव्याः । एवमेव स्त्री-कामेषु मूर्च्छिता ग्रथिता गृद्धा अध्युपपन्ना यावत्कालमासे कालं कृत्वासुराणां किल्बिषकानां स्थानेषूपपत्तारो भवन्ति । ततो विमुच्यमाना भूय एड-मूकत्वेन प्रत्यायान्ति । एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! तस्य निदानस्य यावन्न शक्नोति केवलि-प्रज्ञप्तं धर्मं श्रद्धातुं वेत्यादि ।

पदार्थान्वयः—**अएणरुइ**—उसकी जैन-दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में रुचि होती है और फिर वह **रुइ-मादाए**—रुचि की मात्रा से **से य भवति**—वह नीचे लिखे पुरुषों के समान हो जाता है, जैसे—**से**—अथ **जे**—जो **इमे**—ये प्रत्यक्ष **आरणिया**—अरण्य (जङ्गल) में रहते हैं **आवसहिया**—पत्तों की झोपड़ियों में रहने वाले हैं **गामंतिया**—ग्राम के समीप रहने वाले हैं **कएहुइ रहस्सिया**—किसी भी कार्य में रहस्य रखने वाले हैं **णो बहु-संजया**—द्रव्य से भी बहुत संयत नहीं होते अर्थात् उनका चित्त इस प्रकार चञ्चल होता है कि द्रव्यों की ओर से भी उसको अपने वश में नहीं रख सकते **सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु**—सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व विषयक हिंसा से भी **णो बहु-विरया**—जो निवृत्त नहीं हुए हैं **अप्पणा**—अपने **सच्चा-मोसाइं**—सच और झूठ को **एवं**—इस प्रकार **विपडिवदंति**—झगड़ों से दूसरों के मत्थे मढ़ देते हैं और कहते हैं कि **अहं ण हंतव्वो**—मुझे मत मारो **अएणे हंतव्वा**—दूसरों को मारना चाहिये **अहं ण अज्झावेतव्वो**—मुझे आदेश मत करो **अएणे अज्झावेतव्वा**—दूसरों को आदेश करना चाहिए **अहं ण परियावेयव्वो**—मुझको पीड़ित मत करो **अएणे परियावेयव्वा**—दूसरों को पीड़ित करो **अहं ण परिघेतव्वो**—मुझे मत पकड़ो **अएणे परिघेतव्वा**—दूसरों को पकड़ना चाहिए **अहं ण उवद्दवेयव्वो**—मुझे मत दुखाओ **अएणे उवद्दवेयव्वा**—दूसरों को दुखाओ। इस प्रकार के प्राणातिपात, मृषापाद और अदत्तादान से जिसकी निवृत्ति नहीं हुई है और जो **एवामेव**—इसी तरह **इत्थिकामेहिं**—स्त्री-सम्बन्धी काम-भोगों में **मुच्छिया**—मूर्च्छित हैं **गढिया**—बन्धे हुए हैं **गिद्धा**—लोलुप हैं और **अज्झोववएणा**—अत्यन्त आसक्त या लिप्त हैं वे **कालमासे**—मृत्यु के समय **कालं किच्चा**—काल करके **अण्णतराइं**—किसी एक **असुराइं**—असुर कुमारों के **वा**—अथवा **किब्बिसियाइं**—किल्बिष देवों (नीच जाति के अधम देवों की एक जाति) के **ठाणाइं**—स्थानों में **उववत्तारो भवंति**—उत्पन्न हो जाते हैं **ततो**—इसके बाद **ते**—वे **विमुच्चमाणा**—उस स्थान से छूट कर **भुज्जो**—पुनः-पुनः **एल-मूयत्ताए**—भेड़ के समान अस्पष्टवादी हो कर अथवा गूंगेपन से **पच्चायंति**—उत्पन्न होते हैं। **समणाउसो**—हे आयुष्मन्! श्रमण! **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय से **तस्स**—उस **णिदाणस्स**—निदान-कर्म का **जाव**—यावत् यह फल होता है कि उसके करने वाले व्यक्ति में **केवलि-पएणत्तं**—केवलि-भाषित **धम्मं**—धम

में **सद्दहित्तए–श्रद्धा करने की वा–अथवा विश्वास और रुचि करने की भी नो संचाएति–शक्ति नहीं रहती ।**

मूलार्थ—उसकी जैन-दर्शन से अन्य दर्शनों में रुचि होती है, उस रुचि-मात्रा से वह इस प्रकार का हो जाता है जैसे ये अरण्य-वासी तापस, पर्ण-कुटियों में रहने वाले तापस, ग्राम के समीप रहने वाले तापस और गुप्त कार्य करने वाले तापस जो बहु-संयत नहीं हैं, जो बहुत विरत नहीं हैं और जिन्होंने सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों की हिंसा से सर्वथा निवृत्ति नहीं की और अपने आप सत्य और मिथ्या से मिश्रित भाषा का प्रयोग करते हैं और अपने दोषों का दूसरों पर आरोपण करते हैं, जैसे—मुझे मत मारो, दूसरों को मारो; मुझे आदेश मत करो, दूसरों को आदेश करो; मुझको पीड़ित मत करो, दूसरों को पीड़ित करो; मुझको मत पकड़ो, दूसरों को पकड़ो; मुझको मत दुखाओ, दूसरों को दुखाओ; इस प्रकार हिंसा, मृषावाद और अदत्तादान में लगे रहते हैं और इनके साथ २ स्त्री-सम्बन्धी काम-भोगों में मूर्च्छित रहते हैं, बन्धे रहते हैं, लोलुप और अत्यन्त आसक्त रहते हैं वे मृत्यु के समय काल करके किसी एक असुर-कुमार या किल्विष-देवों के स्थानों में उत्पन्न हो जाते हैं । फिर वे उन स्थानों से छूटकर पुनः-पुनः भेड़ के समान मूक (अस्पष्टवादी या गूंगा) बन कर मर्त्य-लोक में उत्पन्न होते हैं । हे आयुष्मन् ! श्रमण ! उस निदान-कर्म का पाप रूप यह फल हुआ कि उसके करने वाला केवली भगवान् के प्रतिपादित धर्म में भी श्रद्धा, विश्वास और रुचि नहीं कर सकता अर्थात् उसमें सम्यक् धर्म पर श्रद्धा करने की शक्ति भी नहीं रहती ।

टीका—इस सूत्र में कहा गया है कि एक बार निदान-कर्म करने के अनन्तर जब वह व्यक्ति पुनः मर्त्य-लोक में आता है तो वह जैन-दर्शन के सिद्धान्तों में रुचि भी उत्पन्न नहीं कर सकता किन्तु उसकी रुचि अन्य दर्शनों में ही होती है । फिर वह उस रुचि की मात्रा से इस प्रकार हो जाता है जैसे ये कन्द-मूलादि-भक्षी अरण्य-वासी तापस हैं, कुटिया बनाकर वन में रहने वाले तापस हैं, ग्राम के समीप रहने वाले तापस और गुप्त-कार्य करने वाले तापस हैं, जो भाव से तो असंयत होते ही हैं किन्तु सम्यग्-दर्शन के बिना द्रव्य से भी अधिक संयत नहीं

होते, जो प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों की हिंसा से भी सर्वथा निवृत्त नहीं हुए हैं, पुनः-पुनः मिश्रित-भाषा का उपदेश करते हैं और पाप तथा दोष-पूर्ण भाषण करते हैं। जैसे—मैं ब्राह्मण हूं, इसलिए मुझको मृत्यु दण्ड मत दो, यह दण्ड शूद्रादि के योग्य है, उन्हीं को देना चाहिए। उनका पाप केवल प्राणायाम से ही उड़ जाता है। क्षुद्र जन्तुओं के मारने से चाहे हड्डी २ में पाप क्यों न भर गया हो, केवल ब्राह्मणों को भोजन कराने से ही वह पाप दूर हो जाता है, जो ऐसा अपलाप करते हैं, इसी प्रकार जो कहते हैं कि मुझे किसी कार्य की आज्ञा मत दो, दूसरों को ही आज्ञा देनी चाहिए; मुझको परि-पीडन मत करो, दूसरों को करो; मुझको मत पकड़ो, दूसरों को ही पकड़ो; मुझको दुःख मत पहुंचाओ, दूसरों को पहुंचाओ; इस तरह से हिंसा, उपलक्षण से, मृषावाद, अदत्तादान या चौर्य-कर्म में जो लगे रहते हैं और इनके साथ २ स्त्री सम्बन्धी काम-भोगों में मूर्च्छित, बद्ध, लोलुप और परम आसक्त हैं, जिनका मन तापस की प्रव्रज्या (भिक्षुत्व स्वीकार करने) से पूर्व अथवा प्रव्रज्या ग्रहण करने के अनन्तर सदैव देव-लोकों के कामोपभोगों में बिलकुल आसक्त हैं, वे इस अज्ञान के कारण असुर-कुमार या किल्बिष-देवों में उत्पन्न हो जाते हैं और फिर वहां से मृत्यु होने के पश्चात् मनुष्य-लोक में भेड़ के समान अस्पष्ट-वादी या गूंगे होकर उत्पन्न होते हैं और अनन्त समय तक अनादि संसार-चक्र में परिभ्रमण करने लगते हैं। अतः श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी जी कहते हैं कि हे आयुष्मन्! श्रमण! उस निदान कर्म का यह पाप-रूप फल हुआ कि उसके करने वाले की केवलि-भाषित धर्म में श्रद्धा ही नहीं रहती। अतः यह कर्म सर्वथा त्याज्य है।

यद्यपि अन्य तीर्थिक—जैनेतर मतों के मानने वाले लोगों में से बहुत से भुक्त-भोगी होकर पिछली अवस्था में ही प्रव्रजित होना श्रेष्ठ समझते हैं, सम्यग्दर्शन के अभाव से उनकी प्रव्रज्या अज्ञान-जनित कषायों को उत्पन्न करने वाली होती है, इसी लिए उनकी क्रियाएं उपर्युक्त रूप से वर्णन की गई हैं।

यहां हम इस बात का ध्यान दिलाना भी आवश्यक समझते हैं कि यदि ये छः निदान कर्म इसी क्रम से किये जायं तभी सम्यक्त्व की प्राप्ति में बाधक हो कर उसकी प्राप्ति नहीं होने देते किन्तु यदि प्रकारान्तर से किये जायं तो उसकी प्राप्ति-

में किसी तरह की बाधा उत्पन्न नहीं करते, जैसा कि द्रौपदादि के विषय में प्रसिद्ध है । तथा यदि किसी ने यह 'निदान' किया कि मैं भवान्तर—दूसरे लोक या दूसरे जन्म में धनी हो जाऊं तो वह धनी होने के पश्चात् सम्यक्त्वादि की प्राप्ति कर सकता है किन्तु इन सब बातों में अन्तःकरण के अध्यवसायों—मन के संकल्पों—की ही विशेषता है । इसी प्रकार कृष्ण-श्रेणिक के विषय में भी जानना चाहिए । इस कथन का सार यह निकला कि जो कामासक्ति से निदान कर्म करता है उसको सम्यक्त्वादि की प्राप्ति में अवश्य बाधाओं का सामना करना पड़ता है, औरों को नहीं ।

अब सूत्रकार क्रम-प्राप्त सातवें निदान कर्म का वर्णन करते हैं :—

एवं खलु समणाउसो मए धम्मे पण्णत्ते । जाव माणुसगा खलु कामभोगा अधुवा, तहेव । संति उड्ढं देवा देवलोगंसि । णो अण्णेसिं देवाणं अण्णे देवे अण्णं देविं अभिजुंजिय परियारेति, णो अप्पणो चेव अप्पाणं वेउव्विय परियारेंति, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय परियारेंति । संति इमस्स तव-नियमस्स, तं सव्वं । जाव एवं खलु समणाउसो निग्गंथो वा निग्गंथी वा णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंते तं जाव विहरति ।

एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! मया धर्मः प्रज्ञप्तः । यावन्मानुषकाः खलु काम-भोगा अध्रुवाः, तथैव । सन्त्यूर्ध्वं देवा देवलोकेषु । नान्येषां देवानामन्यो देवोऽन्यां देवीमभियुज्य परिचारयति, ते नात्मनैवात्मानं विकृत्य परिचारयन्ति । आत्मीया देव्योऽभियुज्य परिचारयन्ति । सन्त्यस्य तपोनियमस्य—तत्सर्वम्,

यावत्खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! निर्ग्रन्थः (निर्ग्रन्थी वा) निदानं कृत्वा तत्स्थानमनालोच्य (ततः) अप्रतिक्रान्तः–तद् यावद् विहरति ।

पदार्थान्वयः—**समणाउसो**–हे आयुष्मन् ! श्रमण ! **एवं खलु**–इस प्रकार **मए**–मैंने **धम्मे**–धर्म **पण्णत्ते**–प्रतिपादन किया है । **जाव**–यावत् **माणुसगा**–मनुष्य सम्बन्धी **खलु**–निश्चय से **काम-भोगा**–काम-भोग **अधुवा**–अनियत हैं **तहेव**–शेष सब वर्णन पूर्ववत् ही है । **उ**–ऊपर **देवलोगंसि**–देव-लोक में **देवा**–देव **संति**–हैं । वे **अण्णंसि**–दूसरे **देवाणं**–देवों की **अण्णे देवे**–दूसरा देव **अण्णं**–दूसरी **देविं**–देवी को **अभिजुंजिय**–अपने वश में करके **णो परियारेति**–उनको मैथुन में प्रवृत्त नहीं करते **अप्पणो चेव**–अपनी ही **अप्पाणं**–आत्मा को **वेउव्विय**–वैक्रिय करके उसके साथ **णो परियारेंति**–मैथुन-क्रिया नहीं करते किन्तु **अप्पणिज्जियाओ**–केवल अपनी ही **देवीओ**–देवियों को **अभिजुंजिय**–अपने वश में करके **परियारेंति**–भोगते हैं । यदि **इमस्स**–इस **तवोनियमस्स**–तप और नियम के फल **संति**–हैं **तं**–वह **सव्वं**–सब पहले के समान ही जानना चाहिए । **जाव**–यावत् **एवं खलु**–इस प्रकार **निग्गंथो**–निर्ग्रन्थ **वा**–अथवा **निग्गंथी**–निर्ग्रन्थी **वा**–समुच्चय अर्थ में है **णिदाणं**–निदान **किच्चा**–करके फिर **तस्स**–उस **ठाणस्स**–स्थान पर **अणालोइय**–बिना आलोचना किये **अप्पडिक्कंते**–उससे बिना पीछे हटे **तं जाव**–शेष पूर्ववत् ही है **विहरइ**–देव-रूप से विचरण करता है ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! इस प्रकार मैंने धर्म प्रतिपादन किया है । यावत् मनुष्यों के काम-भोग अनियत हैं, शेष पूर्ववत् ही है । ऊर्ध्व देव-लोक में जो देव हैं वे अन्य देवों की देवियों से काम-उपभोग नहीं करते, अपनी ही आत्मा से विकुर्वणा (प्रकट) की हुई देवियों से भी मैथुन-क्रिया नहीं करते किन्तु अपनी ही देवियों को वश में कर उनको मैथुन में प्रवृत्त करते हैं । यदि इस तप-नियम आदि का कोई फल है तो मैं भी देव-लोक में अपनी ही देवी से काम-क्रीडा करने वाला बनूं । वह इस अपनी भावना के अनुसार देव बन जाता है इत्यादि सब पूर्ववत् ही जान लेना चाहिए । हे आयुष्मन् ! श्रमण ! निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी इस प्रकार निदान-कर्म करके बिना उसी स्थान पर उसकी

आलोचना किये और उससे बिना पीछे हटे कालमास में, काल करके, देवरूप से विचरता है ।

टीका—इस सूत्र में बताया गया है कि सातवें निदान-कर्म में निर्ग्रन्थ ने उक्त तीनों प्रकार की दैविक काम-क्रीडाओं में से केवल तीसरी क्रीडा का संकल्प किया । वह उसी स्थान पर उसकी आलोचना न करने से तथा उसके लिये प्रायश्चित्त न करने के कारण मृत्यु होने पर देव बन जाता है और फिर पूर्वोक्त दैविक ऐश्वर्य उपभोग करता है इत्यादि सब पूर्ववत् ही है ।

अब सूत्रकार इसी से सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

से णं तत्थ णो अण्णेसिं देवाणं अण्णं देविं अभिजुंजिय परियारेति, णो अप्पणा चेव अप्पाणं वेउव्विय परियारेति, अप्पणिज्जाओ देवीओ अभिजुंजिय परियारेति, से णं ततो आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं—तहेव वत्तव्वं । णवरं हंता सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा, से णं सील-व्वत-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं पडिवज्जेज्जा णो तिणट्ठे समट्ठे, से णं दंसण-सावए भवति ।

स नु तत्र नान्येषां देवानामन्यां देवीमभियुज्य परिचारयति, नात्मनैवात्मानं विकृत्य परिचारयति, आत्मीयां देवीमभियुज्य परिचारयति । स नु तत आयुःक्षयेण, भव-क्षयेण स्थिति-क्षयेण—तथैव वक्तव्यम्—नवरं हन्त ! श्रद्दध्यात्, प्रतीयेत, रुचिं दध्यात् । स नु शीलव्रत-गुण-विरमण-प्रत्याख्यान-पौषधोपवासानि प्रतिपद्येत नायमर्थः समर्थः । स च दर्शन-श्रावको भवति ।

पदार्थान्वयः—**से**-वह **णं**-वाक्यालङ्कारे **तत्थ**-वहां **अण्णेसिं**-दूसरे **देवाणं**-देवों की **अण्णं**-दूसरी **देविं**-देवी को **अभिजुंजिय**-वश में कर **णो परियारेति**-मैथुन नहीं करते **अप्पणा चेव**-अपनी ही आत्मा से **अप्पाणं**-अपने आप को **वेउव्विय**-विकृत कर-स्त्री-रूप में प्रकट कर **णो परियारेति**-मैथुन नहीं करता किन्तु **अप्पणिज्जाओ**-अपनी ही **देवीओ**-देवी को **अभिजुंजिय**-आलिङ्गन कर **परियारेति**-उसके साथ काम-क्रीड़ा करता है **से णं**-वह फिर **ततो**-इसके अनन्तर देव-लोक से **आउक्खएणं**-आयु क्षय होने के कारण **भवक्खएणं**-देव-भव के क्षय होने के कारण **ठिइक्खएणं**-देव-लोक में स्थिति के क्षय होने के कारण **तहेव**-शेष पूर्ववत् **वत्तव्वं**-कहना चाहिए **णवरं**-विशेषता इतनी ही है कि **हंता**-हां ! श्रुत और चारित्र-धर्म में वह **सद्दहिज्जा**-श्रद्धा करे **पत्तिएज्जा**-प्रतीति अर्थात् विश्वास करे **रोएज्जा**-रुचि करे किन्तु वह **सीलवय**-शील-व्रत **गुण**-गुण-व्रत **वेरमण**-विरमण-सावद्य योग की निवृत्ति-रूप सामायिक व्रत **पच्चक्खाण**-प्रत्याख्यान अर्थात् पाप के त्याग की प्रतिज्ञा या संकल्प **पोसहोववासाइं**-पौषध-एक दिन और रात पाप-पूर्ण क्रियाओं को छोड़ कर निराहार रूप से धर्म-स्थान में विधि पूर्वक निवास और उपवास को **पडिवज्जेज्जा**-ग्रहण करे **णो तिणट्ठे समट्ठे**-यह बात सम्भव नहीं **से णं**-वह **दंसण-सावए**-दर्शन-श्रावक **भवति**-होता है ।

मूलार्थ—वह वहां अन्य देवों की देवियों के साथ मैथुन-क्रीडा नहीं करता, नाहीं अपने आत्मा से स्त्री और पुरुष के रूप विकुर्वणा कर अपनी काम-तृष्णा को बुझाता है, किन्तु अपनी ही देवी के साथ मैथुन कर सन्तुष्ट रहता है, तदनन्तर वह आयु, भव, और स्थिति के क्षय होने से देव-लोक से उग्रादि कुलों में उत्पन्न होता है इत्यादि सब वर्णन पूर्वोक्त निदान कर्मों के समान ही है, विशेषता केवल इतनी ही है कि वह केवलि-भाषित धर्म में श्रद्धा, विश्वास और रुचि करने लग जाता है, किन्तु यह सम्भव नहीं कि वह शील, गुण, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवासादि व्रतों को ग्रहण करे । वह दर्शन-श्रावक हो जाता है ।

टीका—इस सूत्र में सातवें निदान-कर्म का फल वर्णन किया गया है । पूर्वोक्त निदान-कर्म कर वह निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी देव-लोक में अपने संकल्पों के अनुसार सुखों का अनुभव करता है । वह पूर्वोक्त दैविक ऐश्वर्य का अच्छी तरह

उपभोग करता है । शेष सब वर्णन पूर्ववत् ही है किन्तु विशेषता केवल इतनी ही है कि वह केवलि-भाषित धर्म पर श्रद्धा, विश्वास और रुचि करने लग जाता है किन्तु वह शील-व्रत, गुण-व्रत, विरमण, प्रत्याख्यान तथा अष्टमी आदि पर्व-दिनों में पौषधोपवासादि क्रियाएं ग्रहण नहीं कर सकता । यह फल उसको उक्त निदान-कर्म का मिलता है कि तापस से वह केवल दर्शन-श्रावक ही रह जाता है अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति की अपेक्षा से या सम्यक्त्व के आश्रित होने से उसको दर्शन-श्रावक कहते हैं । इसके विषय में वृत्तिकार लिखते हैं "सम्यक्त्वं तदाश्रित्य श्रावको निगद्यते" अर्थात् सम्यक्त्व के आश्रित होने के कारण उसको दर्शन-श्रावक कहा जाता है ।

फिर सूत्रकार इसी से सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

अभिगत-जीवाजीवे जाव अट्ठि-मिञ्जा-पेमाणुराग-रत्ते अयमाउसो निग्गंथ-पावयणे अट्ठे एस परमट्ठे सेसे अणट्ठे । सेणं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूइं वासाइं समणोवासग-परियागं पाउणइ बहूइं वासाइं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति । एवं खलु समणाउसो तस्स णिदा-णस्स इमेयारूवे पावए फल-विवागे जं णो संचाएति सीलव्वय-गुणव्वय-पोसहोववासाइं पडिवज्जित्तए ।

अभिगत-जीवाजीवो यावदस्थिमज्जाप्रेमानुरागरक्तोऽयम्, आयुष्मन्! निर्ग्रन्थ-प्रवचनोऽर्थः परमार्थः शेषोऽनर्थः । स नु एत-द्रूपेण विहारेण विहरन् बहूनि वर्षाणि श्रमणोपासक-पर्यायं पाल-यति बहूनि वर्षाणि पालयित्वा कालमासे कालं कृत्वान्यतरेषु देव-लोकेषु देवतयोपपत्ता भवति । एवं खलु श्रमण! आयुष्मन्!

तस्य निदानस्यैतद्रूपः पापकः फल-विपाको यन्न शक्नोति शील-व्रत-गुणव्रत-पौषधोपवासानि प्रतिपत्तुम् ।

पदार्थान्वयः—**अभिगतजीवाजीवे**—जो जीव और अजीव को जानता है **जाव**—यावत् श्रावक के गुणों से युक्त है अतः **अट्ठिमिज्जा**—हड्डी और मज्जा में **पेमाणुरागरत्ते**—धर्म के प्रेम-राग से अनुरक्त है **आउसो**—हे आयुष्मन् ! **अयं**—यह **निग्गंथ-पावयणे**—निर्ग्रन्थ-प्रवचनरूप धर्म ही **अट्ठे**—सार्थक और सत्य है **परमट्ठे**—यही परमार्थ है **सेसे**—शेष **अणट्ठे**—अनर्थ अर्थात् मिथ्या है, संसार-वृद्धि के कारण **से णं**—फिर वह **एतारूवेणं**—इस प्रकार के **विहारेणं**—विहार से **विहरमाणे**—विचरता हुआ **बहूइं**—बहुत **वासाइं**—वर्ष तक **समणोपासग**—श्रमणोपासक **परियागं**—पर्याय को **पाउणइ**—पालन करता है फिर **बहूइं**—बहुत **वासाइं**—वर्ष तक **परियागं**—श्रमणोपासक के पर्याय को **पाउणित्ता**—पालन कर **कालमासे**—मृत्यु के समय **कालं किच्चा**—काल करके **अण्णतरेसु**—किसी एक **देवलोएसु**—देव-लोक में **देवत्ताए**—देवरूप से **उववत्तारो भवति**—उत्पन्न होता है । **समणाउसो**—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! **एवं खलु**—इस प्रकार **तस्स**—उस **णिदाणस्स**—निदान का **इमेयारूवे**—यह इस प्रकार का **पावए**—पापरूप **फलविवागे**—फल-विपाक होता है **जं**—जिससे **सीलव्वय**—शील-व्रत **गुणव्वय**—गुण-व्रत और **पोसहोववासाइं**—पौषधोपवास आदि **पडिवज्जित्तए**—ग्रहण करने की **णो संचाएति**—शक्ति नहीं रहती अर्थात् उस निदान कर्म के प्रभाव से श्रावक के बारह व्रतों के धारण करने की शक्ति, निदान-कर्म करने वाले में, नहीं रहती, अपितु वह दर्शन-श्रावक ही रह जाता है ।

मूलार्थ—वह जीव और अजीव को जानता है और श्रावक के गुणों से सम्पन्न होता है, उसकी हड्डी और मज्जा में धर्म का अनुराग कूट २ कर भरा रहता है, हे आयुष्मन् ! यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन ही सत्य और परमार्थ है । शेष सब अनर्थ है । इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक के पर्यायों का पालन करता है और फिर उस पर्याय का पालन कर मृत्यु के समय काल करके किसी एक देव-लोक में देव-रूप से उत्पन्न होता है । हे आयुष्मन् ! श्रमण ! इस प्रकार उस निदान-कर्म का पाप-रूप फल-विपाक होता है, जिससे उसके करने वाले व्यक्ति में शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौष-

धोपवासादि के ग्रहण करने की भी शक्ति उत्पन्न नहीं होती ।

टीका—इस सूत्र में संक्षेप से श्रावक के गुणों का वर्णन किया है । वह निदान-कर्म करने वाला श्रावक जीव और अजीव को जानमे वाला होता है । उसकी हड्डी और मज्जा कोने २ में धर्म के राग से रंगी होती है । हड्डियों के बीच में जो चिकना पदार्थ होता है उसको मज्जा कहते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि उसके रोम २ में धर्मानुराग भरा रहता है । श्री भगवान् की वाणी पर उसकी बड़ी श्रद्धा और भक्ति होती है । इसी कारण वह 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' को ही सर्वत्र और सत्य-रूप देखता है । शेष जितनी भी सांसारिक क्रियाएं हैं उनको वह तुच्छ दृष्टि से देखता है । इस प्रकार बहुत वर्षों तक दर्शन-श्रावक की वृत्ति को भली भांति पालन कर मृत्यु के अनन्तर वह देव-लोक में उत्पन्न हो जाता है । श्री भगवान् कहते हैं कि हे आयुष्मन् ! श्रमण ! उस निदान कर्म के कारण से वह श्रावक के द्वादश व्रतों को ग्रहण नहीं कर सकता । यही उसका पाप-रूप फल-विपाक है । श्रावक-वृत्ति का कुछ वर्णन आठवें निदान-कर्म के अधिकार में किया जायगा । वृत्तिकार इस विषय में इस तरह लिखते हैं :—

"एवंविधगुणविशिष्टः स बहूनि वर्षाणि श्रमणोपासकपर्यायं परिपालयति । केवलेनापि सम्यक्त्वेन श्रावक उच्यत इत्याकूतम् । अतएव भरतोऽपि दर्शन-श्रावक उच्यते, अस्यामेव क्रियायां प्रधानतरत्वात् ।" भरत भी दर्शन-श्रावक कहा जाता है, शेष वर्णन सुगम ही है ।

अब सूत्रकार आठवें निदान-कर्म का वर्णन करते हैं :—

एवं खलु समणाउसो मए धम्मे पण्णत्ते तं चेव सव्वं जाव । से य परक्कममाणे दिव्वमाणुस्सएहिं कामभोगेहिं निव्वेदं गच्छेज्जा माणुस्सगा कामभोगा अधुवा जाव विप्पजहणिज्जा दिव्वावि खलु कामभोगा अधुवा, अणितिया असासया चलाचलणधम्मा पुणरागमणिज्जा पच्छापुव्वं च णं अवस्सं विप्पजहणिज्जा । संति इमस्स

तवनियमस्स जाव आगमेस्साणं जे इमे भवंति उग्ग-पुत्ता महामाउया जाव पुमत्ताए पच्चायंति तत्थ णं समणोवासए भविस्सामि । अभिगय-जीवाजीवे जाव उवलद्ध-पुण्ण-पावे फासुयएसणिज्जं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभेमाणे विहरिस्सामि । सेतं साहू ।

एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! मया धर्मः प्रज्ञप्त-स्तच्चैव सर्वं यावत् । स च पराक्रमन् दिव्य-मानुषकेषु काम-भोगेषु निर्वेदं गच्छेत्, मानुषकाः काम-भोगा अध्रुवा यावद् विप्र-हेयाः, दिव्या अपि खलु काम-भोगा अध्रुवा अनित्या अशाश्वता-श्चलाचलधर्माणः पुनरागमनीयाः पश्चात्पूर्वश्च न्ववश्यं विप्रहेयाः । सन्त्यस्य तपोनियमादेर्यावदागामिष्यति य इमे भवन्त्युग्रपुत्रा महामातृका यावत्पुंस्त्वेन प्रत्यायान्ति तत्र श्रमणोपासको भवि-ष्यामि (भूयासम्), अभिगतजीवाजीव उपलब्ध-पाप-पुण्यो यावत्प्रासुकैषणीयमशनं पानं खादिमं स्वादिमं प्रतिलाभयन् विहरिष्यामि । तदेतत्साधु ।

पदार्थान्वयः—समणाउसो—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! एवं खलु—इस प्रकार निश्चय से मए—मैंने धम्मे—धर्म पण्णत्ते—प्रतिपादन किया है तंचेव सव्वं – शेष सब पूर्ववत् ही है जाव—यावत् से य—वह फिर परक्कममाणे—संयम-मार्ग में पराक्रम करते हुए दिव्वमाणुसएहिं—देव और मनुष्य सम्बन्धी कामभोगेहिं—काम-भोगों में निव्वेदं गच्छेज्जा—वैराग्य-प्राप्ति करे, माणुसगा—मनुष्यों के कामभोगा—काम-भोग खलु—निश्चय से अधुवा—अनिश्चित हैं जाव—यावत् विप्पजहणिज्जा—त्यागने योग्य हैं दिव्वावि—देव-सम्बन्धी भी कामभोगा—काम-भोग खलु—निश्चय से अधुवा—अनियत हैं अणितिया—अनित्य हैं असासया—अशाश्वत अर्थात् विनाश-

शील हैं **चलाचलणधम्मा**–चलाचल धर्म वाले अर्थात् अस्थिर हैं **पुणरागमणिज्जा**–बार २ आते रहते हैं अतः **पच्छा**–मृत्यु के बाद **च**–या **पुव्वं**–बुढ़ापे से पहले **अवस्सं**–अवश्य **विप्पजहणिज्जा**–त्याज्य हैं अतः यदि **इमस्स**–इस **तवनियमस्स**–तप और नियम का **जाव**–यावत् फल-विशेष **संति**–हैं तो **आगमेस्साणं**–आगामी काल में **जे**–जो **इमे**–ये **उग्गपुत्ता**–उग्र-पुत्र **महामाउया**–महामातृक **भवंति**–हैं **जाव**–यावत् उनके किसी एक कुल में **पुमत्ताए**–पुरुष-रूप से **पच्चायंति**–उत्पन्न होते हैं **तत्थणं**–वहां **समणोवासए**–श्रमणोपासक **भविस्सामि**–बन जाऊं । **अभिगत-जीवाजीवे**–जीव और अजीव को जानता हुआ **उवलद्ध-पुण्णपावे**–पाप और पुण्य को उपलब्ध करता हुआ **जाव**–यावत् **फासुयएसणिज्जं**–अचित्त और निर्दोष **असणं**–अन्न **पाणं**–पानी **खाइमं**–खाद्य पदार्थ और **साइमं**–स्वादिम पदार्थों को **पडिलाभेमाणे**–देता हुआ **विहरिस्सामि**–विचरूं **सेतं साहू**–यह मेरा विचार ठीक है ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! इस प्रकार मैंने धर्म प्रतिपादन किया है । शेष वर्णन पूर्ववत् ही जान लेना चाहिए । इस धर्म में पराक्रम करते हुए निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी को देव और मनुष्य सम्बन्धी काम-भोगों की ओर वैराग्य उत्पन्न हो जाय, क्योंकि मनुष्यों के काम-भोग अनित्य हैं, इसी प्रकार देवों के काम-भोग भी अनिश्चित, अनियत और विनाश-शील हैं और चलाचल धर्म वाले अर्थात् अस्थिर तथा अनुक्रम से आने और जाते रहते हैं । मृत्यु के पश्चात् अथवा बुढ़ापे से पूर्व ही अवश्य त्याज्य हैं । यदि इस तप और नियम का कुछ फल-विशेष है तो आगामी काल में ये जो महामातृक उग्र आदि कुलों में पुरुष रूप से उत्पन्न होते हैं उन में से किसी एक कुल में मैं भी उत्पन्न हो जाऊं और श्रमणोपासक बनूं । फिर मैं यावत् जीव, अजीव, पुण्य और पाप को भली भांति जानता हुआ यावत् अचित्त और निर्दोष अन्न, पानी, खादिम और स्वादिम पदार्थ को मुनियों को देता हुआ विचरण करूं । यह मेरा विचार ठीक है ।

टीका—इस सूत्र में क्रम-प्राप्त आठवें निदान-कर्म का वर्णन किया गया है । श्री भगवान् कहते हैं कि मेरे कथन किये हुए धर्म पर चलते हुए यदि

किसी व्यक्ति के चित्त में मानुषिक और दैविक काम-भोगों की ओर से वैराग्य पैदा हो जाय और वह अपने मन में विचारने लगे कि यदि मैं उग्र आदि कुलों में उत्पन्न होकर श्रमणोपासक बनूं तो बहुत ही अच्छा है, क्योंकि श्रमणोपासक-वृत्ति मेरे विचार में बहुत ही अच्छी है। किन्तु मैं नाम-मात्र का श्रमणोपासक नहीं बनना चाहता अपितु जितने भी श्रमणोपासक के गुण हैं उनसे सम्पन्न ही श्रमणोपासक बनूं तभी श्रेयस्कर है। मैं अन्य श्रमणोपासकों के समान जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध और मोक्ष इन विषयों में चतुर बन जाऊं तथा किसी भी आपत्ति के आ जाने पर देवों की भी सहायता न चाहूं। इतना आत्म-बल मुझको प्राप्त हो कि मैं अपने लिए सब कुछ अपने आप ही उत्पन्न कर सकूं। श्रमणोपासकों के गुणों में यह भी एक गुण है अतः इसी के विषय में वृत्तिकार लिखते हैं "असहेज्जेति" "अविद्यमानं साहाय्यं–परसहायकमत्यन्तसमर्थत्वाद्यस्य स असहाय्यः—आपद्यपि देवादिसहायकानपेक्षः स्वयं कृतं कर्म स्वयमेव भोक्तव्यमित्यर्थः"। मैं अनेक प्रकार की कुतीर्थियों की प्रेरणा होने पर भी सम्यक्त्व से विचलित हो कर दूसरों की सहायता की अपेक्षा न रखूं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस तरह दूसरे श्रमणोपासक सम्यक्त्व में इतने दृढ़ रहते हैं कि उनको देव भी उससे चलायमान नहीं कर सकते इसी प्रकार मैं भी उसमें दृढ रहूं। जैसे वे निर्ग्रन्थ-प्रवचन में निःशङ्क, निराकाङ्क्ष और सब तरह से सन्देह रहित हैं, निर्ग्रन्थ-प्रवचन के तत्त्व को जानते हैं, उसके अर्थ से परिचित हैं, अर्थों को स्थविर और आचार्यों से पूछकर निश्चित करते हैं और अनुभव द्वारा अर्थों का निर्णय करते हैं, जैसे उनका आत्मा, शरीर, अस्थि, मज्जा और अङ्ग २ धर्म के राग में कुसुम्भ-पुष्प के समान रंगा होता है, और वे निर्ग्रन्थ प्रवचन को अपना ध्येय समझते हैं और सदैव इस बात का प्रचार करते हैं कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ है और यही मोक्ष का कारण होने से परमार्थ है, इसके अतिरिक्त संसार में जितने भी धन, धान्य, परिवार आदि और अन्य कु-प्रवचन (शास्त्र) हैं वे सब अनर्थ हैं और अनर्थ-मूलक हैं, अपने हृदय को स्फटिक के समान निर्मल रखते हैं, भिक्षुओं को दान देने के लिये अपने द्वार हमेशा खुले रखते हैं,—जिस से उनका औदार्य और दानाति-

शय (बहुत दान देना) सिद्ध होता है—निर्भय हैं, विश्वस्त कुलों में निर्बाध प्रवेश करते हैं, अविश्वस्त कुलों की ओर पैर भी नहीं बढ़ाते हैं और चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णमासी आदि पर्व-दिनों में नियम से प्रतिपूर्ण पौषधोपवास करते हैं और श्रमण निर्ग्रन्थों को निर्जीव और निर्दोष अन्न, पानी, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, कम्बल, रजोहरण, औषध, प्रतिहारक, पीठ-फलक, शय्या, संस्तारक तथा मुनियों के ग्रहण करने योग्य अन्य पदार्थ दान देते हुए विचरण करते हैं और यथाशक्ति तपः-कर्म भी ग्रहण करते हैं उसी प्रकार मैं भी उपर्युक्त सब गुणों से युक्त श्रमणोपासक बनूं ।

अब सूत्रकार उक्त विषय से ही सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

एवं खलु समणाउसो निग्गंथो वा निग्गंथी वा णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय जाव देव-लोएसु देवत्ताए उववज्जन्ति जाव किं ते आसगस्स सदति ।

एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! निर्ग्रन्था वा निर्ग्रन्थ्यो वा निदानं कृत्वा तत्स्थानमनालोच्य यावद्देव-लोकेषु देवतयोत्पद्यन्ते यावत्किं त आस्यकस्य स्वदते ।

पदार्थान्वयः—**समणाउसो**–हे आयुष्मन् ! श्रमण ! **एवं खलु**–इस प्रकार निश्चय से **निग्गंथो**–निर्ग्रन्थ **वा**–अथवा **निग्गंथी**–निर्ग्रन्थी **निदाणं**–निदान-कर्म **किच्चा**–करके **तस्स**–उस **ठाणस्स**–स्थान ही **अणालोइय**–बिना उसका आलोचन किये **जाव**–यावत् **देवलोएसु**–देव-लोकों में **देवत्ताए**–देव-रूप से **उववज्जंति**–उत्पन्न हो जाते हैं **जाव**–यावत्–सब वर्णन पूर्व सूत्रों के अनुसार जान लेना चाहिए **ते**–आपके **आसगस्स**–मुख को **किं सदति**–क्या अच्छा लगता है किसी २ प्रति में निम्न-लिखित पाठ अधिक मिलता है :—(**जाव**–यावत् **देवलोएसु**–देव-लोक में **देवत्ताए**–देव रूप से **उववत्तारो भवंति**–उत्पन्न होते हैं । **से णं**–वह फिर **ततो**–इसके अनन्तर **देवलोगाओ**–देवलोक से **आउक्खएणं** आयु क्षय होने के कारण **जाव**–यावत् **ते**–आपके **आसगस्स**–मुख को **किं सदति**–क्या अच्छा लगता है) ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थियां निदान-कर्म करके उसका उस स्थान पर बिना आलोचन किये—यावत् देव-लोक में देव-रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अनन्तर वे देव-लोक से आयु आदि क्षय होने के कारण यावत् उग्र-कुल में कुमार-रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। फिर पहले दूसरे आदि निदान-कर्म करने वालों के समान आपके मुख को कौन सा पदार्थ अच्छा लगता है—इत्यादि।

टीका—इस सूत्र में भी सब वर्णन पूर्ववत् ही है। जैसे—वे निदान-कर्म करने वाले निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी पहले देव-लोक में उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर अपने संकल्पों के अनुसार उग्र आदि कुलों में कुमार-रूप से उत्पन्न हो जाते हैं इत्यादि।

फिर सूत्रकार उक्त विषय से ही सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं:—

तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजातस्सवि जाव पडिसुणिज्जा ? हंता पडिसुणिज्जा से णं सद्दहेज्जा जाव ? हंता ! सद्दहेज्जा। से णं सीलवय जाव पोसहोववासाइं पडिवज्जेज्जा ? हंता ! पडिवज्जेज्जा। से णं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा णो तिणट्ठे समट्ठे।

तस्य नु तथाप्रकारस्य पुरुषजातस्यापि—यावत् प्रतिश्रृणुयात् ? हन्त ! प्रतिश्रृणुयात्। स नु श्रद्दध्यात् ? हन्त ! श्रद्दध्यात्। स नु शीलव्रत यावत् पौषधोपवासानि प्रतिपद्येत ? हन्त ! प्रतिपद्येत। स नु मुण्डो भूत्वा आगारादनागारितां प्रव्रजेत् नायमर्थः समर्थः।

पदार्थान्वयः—**तस्स**—उस **णं**-वाक्यालङ्कारे **तहप्पगारस्स**—उस तरह के **पुरिसजातस्सवि**—पुरुष को भी **जाव**—यावत् श्रमण या श्रावक यदि धर्म सुनावें तो क्या वह **पडिसुणिज्जा**—उसको सुनेगा ? **हंता**—गुरु कहते हैं हां, **पडिसुणिज्जा**—सुनेगा **से णं**—वह फिर **सद्दहेज्जा**—श्रद्धा करेगा ? **जाव**—यावत् विश्वास आदि करेगा ?

हंता–हां **सद्दहेज्जा**–श्रद्धा करेगा **से णं**–वह फिर **सील-वय**–शील-व्रत **जाव**–यावत् **पोसहोववासाइं**–पौषधोपवास आदि को **पडिवज्जेज्जा**–ग्रहण करेगा ? **हंता**–हां **पडिवज्जेज्जा**–ग्रहण करेगा **से णं**–वह फिर **मुंडे भवित्ता**–मुण्डित होकर **आगाराओ**–घर से निकल कर **अणगारियं**–अनगारिता (दीक्षा में) **पव्वएज्जा**–प्रव्रजित होगा **णो तिणट्ठे समट्ठे**–वह बात सम्भव नहीं है अर्थात् वह दीक्षा ग्रहण नहीं कर सकता।

मूलार्थ—इस प्रकार के उस पुरुष को यदि कोई श्रमण या श्रावक धर्म-कथा सुनावे तो क्या वह सुनेगा और उस पर श्रद्धा और विश्वास करेगा ? हां, करेगा। क्या वह शीलव्रत यावत्पौषधोपवास आदि व्रतों को ग्रहण करेगा ? हां, ग्रहण करेगा किन्तु यह सम्भव नहीं कि वह मुण्डित होकर घर से निकल दीक्षा ग्रहण कर सके।

टीका—इस सूत्र में कहा गया है कि निदान-कर्म करने के अनन्तर उग्रादि कुलों में उत्पन्न वह निर्ग्रन्थ धर्म सुनता है, उस पर श्रद्धा करता है, शील व्रत और पौषधोपवास आदि ग्रहण करता है किन्तु दीक्षा नहीं ले सकता, शेष सुगम ही है।

फिर सूत्रकार इसी से सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

से णं समणोवासए भवति अभिगतजीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे विहरइ। से णं एयारूवेण विहारेण विहरमाणे बहूणि वासाणि समणोवासग-परियागं पाउणित्ता बहुइं भत्ताइं पच्चक्खाइत्ता ? हंता पच्चक्खाइत्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहुइं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइत्ता आलोइय पडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति। एवं खलु समणाउसो तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावफलविवाके जेणं णो संचाएति

सव्वाओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगा-
रियं पव्वइत्तए ।

स नु श्रमणोपासको भवति । अभिगतजीवाजीवो यावत्प्रतिलाभयन् विहरति । स न्वेतद्रूपेण विहारेण विहरन् बहूनि वर्षाणि श्रमणोपासक-पर्यायं पालयति, पालयित्वा बहूनि भक्तानि प्रत्याख्याय ? हन्त ! प्रत्याख्याय आबाधायामुत्पन्नायामनुत्पन्नायां वा बहूनि भक्तान्यनशनानि छिनत्ति, छित्त्वा, आलोच्य प्रतिक्रान्तः समाधिं प्राप्तः कालमासे कालं कृत्वान्यतरेषु देवलोकेषु देवतयोपपत्ता भवति । एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! तस्य निदानस्यैतद्रूपः पाप-फल-विपाको येन नो शक्नोति सर्वतः सर्वथा मुण्डितो भूत्वागारादनागारितां प्रव्रजितुम् ।

पदार्थान्वयः—से णं–वह समणोवासए–श्रमणोपासक भवति–होता है अभिगतजीवाजीवे–जीव और अजीव को जानने वाला होता है जाव–यावत् और पूर्वोक्त जितने भी श्रमणोपासक के गुण कहे हैं उनसे सम्पन्न होता है तथा पडिलाभेमाणे–श्रमण निर्ग्रन्थों को आहार और जल आदि देता हुआ विहरइ–विचरता है से णं–वह फिर एयारूवेणं–इस प्रकार के विहारेणं–विहार से विहरमाणे–विचरता हुआ बहूणि वासाणि–बहुत वर्षों तक समणोवासग-परियागं–श्रमणोपासक के पर्याय को पाउणि–पालन करता है और पाउणित्ता–पालन कर बहुइं भत्ताइं–क्या बहुत भक्तों का पच्चक्खाइत्ता–प्रत्याख्यान कर ? गुरु कहते हैं हंता–हां, पच्चक्खाइत्ता–प्रत्याख्यान कर और आबाहंसि–व्याधि (रोग के) उप्पन्नंसि–उत्पन्न होने पर वा–अथवा अणुप्पन्नंसि–उत्पन्न न होने पर बहु भत्ताइं–बहुत से भक्तों के अणसणाइं–अनशन-व्रत को छेदेइ२त्ता–छेदन करता है और छेदन कर आलोइय–आलोचन कर पडिक्कंते–पाप से पीछे हट कर समाहिपत्ते–समाधि प्राप्त करके कालमासे–काल मास में कालं किच्चा–काल करके अण्णयरेसु–किसी

एक **देवलोएसु**–देव-लोक में **देवत्ताए**-देव-रूप से **उववत्तारो भवति**–उत्पन्न हो जाता है। **समणाउसो**–हे आयुष्मन् ! श्रमण ! **एवं खलु**–इस प्रकार निश्चय से **तस्स**–उस **णिदाणस्स**–निदान कर्म का **इमेयारूवे**–यह इस तरह का **पापफलविवागे**–पाप-रूप फल-विपाक है **जेणं**–जिससे वह निदान कर्म करने वाला **मुंडे भवित्ता**–मुण्डित होकर **आगाराओ**–घर से निकल कर **अणगारियं**–अनगार (गृह-रहित साधु) वृत्ति को **पव्वइत्तए**–स्वीकार करने को **णो संचाएति**–समर्थ नहीं होता अर्थात् दीक्षा ग्रहण नहीं कर सकता।

मूलार्थ—वह जीव और अजीव को जानने वाला श्रमणोपासक होता है। यावत् श्रमण और निर्ग्रन्थों को आहार और जल आदि देता हुआ विचरता है। फिर वह इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक के पर्याय को पालन करता है और पालन कर बहुत से भक्तों (भोजन) का प्रत्याख्यान (त्याग) कर देता है, रोगादि के उत्पन्न होने अथवा न होने पर बहुत से भक्तों के अनशन व्रत को छेदन कर और उसकी अच्छी तरह आलोचना कर पाप से पीछे हट जाता है और समाधि प्राप्त करता है; समाधि प्राप्त कर कालमास में काल करके किसी एक देव-लोक में देव-रूप से उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार, हे आयुष्मन् ! श्रमण ! उस निदान का इस प्रकार पाप रूप फल हुआ, जिससे उसका करने वाला सब प्रकार से मुण्डित होकर घर से निकल अनगार वृत्ति को ग्रहण करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता अर्थात् निदान-कर्म के प्रभाव से वह साधु-वृत्ति नहीं ले सकता।

टीका—इस सूत्र में आठवें निदान-कर्म का उपसंहार किया गया है। श्रावक-धर्म से युक्त हो कर वह श्रमणोपासक बन जाता है। उस में श्रमणोपासक के सब गुण विद्यमान होते हैं। इस प्रकार बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक के पर्याय को पालन करता हुआ वह अन्त समय अनशन-व्रत द्वारा मृत्यु प्राप्त कर समाधि पूर्वक किसी एक देव-लोक में देव-रूप से उत्पन्न हो जाता है। किन्तु उस निदान-कर्म के प्रभाव से सर्व-वृत्ति-रूप चारित्र धारण नहीं कर सकता, क्योंकि उसने चरित्रावरणीय (शुद्ध चरित्र को छिपाने वाले) कर्म का क्षयोपशम (नाश और शान्ति) भाव भली भांति नहीं किया जिससे वह घर से निकल कर अनगार-

वृत्ति ग्रहण कर सके। निर्ग्रन्थ-प्रवचन को ठीक समझते हुए भी उसके अनुसार सर्ववृत्ति-रूप चारित्र के धारण करने में उसके भावों में असमर्थता दीख पड़ती है। सिद्ध यह हुआ कि चाहे किसी प्रकार का निदान कर्म हो उसके छोड़ने में ही कल्याण है।

अब सूत्रकार क्रम-प्राप्त नवें निदान-कर्म का विषय कहते हैं :—

एवं खलु समणाउसो मए धम्मे पण्णत्ते जाव से य परक्कममाणे दिव्व-माणुस्सएहिं काम-भोगेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा, माणुसगा खलु काम-भोगा अधुवा असासया जाव विप्पजहणिज्जा दिव्वावि खलु काम-भोगा अधुवा जाव पुणरागमणिज्जा। संति इमस्स तवनियम जाव वयमवि आगमेस्साणं जाइं इमाइं भवंति अंत-कुलाणि वा पंत-कुलाणि वा तुच्छ-कुलाणि वा दरिद्द-कुलाणि वा किवण-कुलाणि वा भिक्खाग-कुलाणि वा एसिं णं अण्णतरंसि कुलंसि पुमत्ताए एस मे आया परियाए सुणीहड भविस्सति। से तं साहू।

एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! मया धर्मः प्रज्ञप्तः। यावत् स च पराक्रमन् दिव्य-मानुषकेषु काम-भोगेषु निर्वेदं गच्छेत्; मानुषकाः खलु काम-भोगा अध्रुवा अशाश्वता यावद् विप्रहेया दिव्या अपि खलु काम-भोगा अध्रुवा यावत्पुनरागमनीयाः। सन्ति अस्य तपोनियमादेर्यावद् वयमप्यागमिष्यति यानीमानि भवन्ति अन्त-कुलानि वा प्रान्त-कुलानि वा तुच्छ-कुलानि वा दरिद्र-

कुलानि वा कृपण-कुलानि वा भिक्षुक-कुलानि वा, एषामन्यतरस्मिन्कुले पुंस्त्वेनैष मे आत्मा पर्याये सुनिर्हृतो भविष्यति । तदेतत्साधु ।

पदार्थान्वयः—**समणाउसो**—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय से **मए**—मैंने **धम्मे**—धर्म **पएणत्ते**—प्रतिपादन किया है । **जाव**—यावत् **से य**—वह निर्ग्रन्थ **परक्कममाणे**—धर्म में पराक्रम करता हुआ **दिव्वमाणुस्सएहिं**—दिव्य और मनुष्यों के **काम-भोगेहिं**—काम-भोगों के विषय में **निव्वेयं**—वैराग्य-भाव को **गच्छेज्जा**—प्राप्त करे क्योंकि **माणुसगा**—मनुष्यों के **काम-भोगा**—काम-भोग **खलु**—निश्चय से **अधुवा**—अनिश्चित और **असासया**—अनित्य हैं **जाव**—यावत् किसी न किसी समय **विप्पजहणिज्जा**—त्याज्य हैं और **दिव्वावि**—देवों के **काम-भोगा**—काम-भोग **खलु**—निश्चय से **अधुवा**—अनिश्चित और **जाव**—यावत् **पुणरागमणिज्जा**—बार २ आने और जाने वाले होते हैं । यदि **इमस्स**—इस **तवनियम**—तप और नियम का विशेष फल **संति-है** तो **वयमवि**—हम भी **आगमेस्साणं**—आगामी काल में **जाइं**—जो **इमाइं**—ये **अंत-कुलाणि**—नीच-कुल **पंत-कुलाणि**—अधम-कुल **तुच्छ-कुलाणि**—दरिद्र-कुल **किवण-कुलाणि वा**—कृपण-कुल अथवा **भिक्खाग-कुलाणि**—भिक्षुक-कुल **भवंति**—हैं **एसिं णं**—इनमें से **अएणतरंसि**—किसी एक **कुलंसि**—कुल में **पुमत्ताए**—पुरुष-रूप से **एस**—यह **मे**—मेरी **आया**—आत्मा उत्पन्न हो जावे जिससे **परियाए**—संयम-पर्याय में **सुणीहड भविस्सति**—सुख-पूर्वक निकल सकेगी **से तं साहू**—यही ठीक है ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! इस प्रकार मैंने धर्म प्रतिपादन किया है । वह निर्ग्रन्थ धर्म में पराक्रम करता हुआ देव और मनुष्य सम्बन्धी काम-भोगों के विषय में वैराग्य प्राप्त करता है; मनुष्यों के काम-भोग अनिश्चित और अनित्य हैं, अतः किसी न किसी समय अवश्य छोड़ने होंगे, देवों के काम-भोग भी इसी तरह अनिश्चित और बार २ आने वाले होते हैं । यदि इस तप और नियम का कुछ फल विशेष है तो आगामी काल में जो ये नीच, अधम, तुच्छ, दरिद्र, कृपण और भिक्षुक कुल हैं इन में से किसी एक कुल में पुरुष-रूप से यह हमारी आत्मा उत्पन्न हो जाय जिससे यह दीक्षा के लिए सुख-पूर्वक निकल सकेगी । यही ठीक है ।

टीका—इस सूत्र में नवें निदान-कर्म का विषय वर्णन किया गया है । किसी निर्ग्रन्थ ने मन में विचार किया कि मोक्ष-मार्ग का साधन एक मात्र संयम-पर्याय ही है । किन्तु जब किसी व्यक्ति का किसी बड़े समृद्धि-शाली कुल में जन्म होता है तब उसके लिये संयम-मार्ग ग्रहण करने में अनेक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं । देव और मनुष्यों के काम-भोग अनिश्चित और विनाश-शील हैं, अतः मेरा जन्म किसी ऐसे कुल में हो जिससे दीक्षा ग्रहण करने के समय मुझे किसी भी विघ्न का सामना न करना पड़े । मेरा जन्म किसी नीच (अधम-वर्ण) कुल, अधम या कम परिवार वाले कुल, धन-हीन कुल, कृपण(कंजूस)-कुल या भिक्षुक-कुल में से किसी एक में हो, जिससे मेरी आत्मा दीक्षा के लिये सुगमता से निकल सके । मुझे दीक्षा की अत्यन्त अधिक रुचि है और वह तब ही पूर्ण हो सकती है जब मैं किसी ऐसे कुल में उत्पन्न होऊं, जहां से दीक्षा के लिये निकलते हुए मुझे किसी तरह की बाधाओं का सामना न करना पड़े ।

अब सूत्रकार इसी विषय से सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथो वा (निग्गंथी वा) णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंते सव्वं तं चेव । से णं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणागारियं पव्वइज्जा ? हंता, पव्वइज्जा । से णं तेणेव भव-ग्गहणेणं सिज्झेज्जा जाव सव्व-दुक्खाणं अंतं करेज्जा णो तिणट्ठे समट्ठे ।

एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! निर्ग्रन्थो वा (निर्ग्रन्थी वा) निदानं कृत्वा तत्स्थानमनालोच्य (ततः) अप्रतिक्रान्तः सर्वं तदेव । स नु मुण्डो भूत्वागारादनागारितां प्रव्रजेत् ? हन्त, प्रव्रजेत् । स नु तेनैव भव-ग्रहणे सिद्ध्येद् यावत्सर्वदुःखानामन्तं कुर्यान्नायमर्थः समर्थः ।

पदार्थान्वयः—**समणाउसो**–हे आयुष्मन् ! श्रमण ! **एवं खलु**–इस प्रकार **निग्गंथो वा**–निर्ग्रन्थ अथवा (**निग्गंथी वा**–निर्ग्रन्थी) **णिदाणं**–निदान-कर्म **किच्चा**–करके **तस्स ठाणस्स**–उसी स्थान पर **अणालोइय**–बिना उसका आलोचन किये उस से **अप्पडिक्कंते**–बिना पीछे हटे **सव्वं तं चेव**–शेष वर्णन सब पूर्ववत् है । **से णं**–वह **मुंडे भवित्ता**–मुण्डित होकर **आगाराओ**–घर से निकल कर **अणगारियं**–अनगारिता–साधु-वृत्ति **पव्वइज्जा**–ग्रहण करेगा ? गुरु कहते हैं **हंता**–हां, **पव्वइज्जा**–ग्रहण कर सकेगा । **से णं**–वह फिर **तेणेव**–उसी जन्म में **भवग्गहणे णं**–बार २ जन्म ग्रहण करने में **सिज्झेज्जा**–सिद्ध होगा अर्थात् बार २ जन्म-ग्रहण को रोक सकेगा और **जाव**–यावत् **सव्वदुक्खाणं**–सब दुःखों का **अंतं करेज्जा**–अन्त करेगा **णो तिणट्ठे समट्ठे**–यह बात सम्भव नहीं ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी निदान कर्म करके उसका उसी स्थान पर बिना आलोचन किये और उससे बिना पीछे हटे—शेष वर्णन पूर्ववत ही है । क्या वह मुण्डित हो कर और घर से निकल कर दीक्षा धारण कर सकता है ? हां, दीक्षा धारण कर प्रव्रजित हो सकता है । किन्तु वह उसी जन्म में भव-ग्रहण (बार २ जन्म-ग्रहण) को सिद्ध कर सके और सब दुःखों का अन्त कर सके, यह बात सम्भव नहीं ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि वह निदान-कर्म करने वाला व्यक्ति अपने संकल्पों के अनुसार उन्हीं कुलों में जन्म धारण करता है, जिनसे दीक्षा ग्रहण करते समय किसी प्रतिबन्धक के उपस्थित होने की संभावना न हो । तदनुसार ही वह दीक्षा ग्रहण कर भी लेता है, किन्तु निदान-कर्म करने का उसको यह फल मिलता है कि वह उसी जन्म में मोक्ष-प्राप्ति नहीं कर सकता, क्योंकि फल-स्वरूप वही कुल दीक्षा-ग्रहण में बाधक न होता हुआ भी मोक्ष प्राप्त करने में बाधक हो जाता है । यद्यपि उसके चित्त में संयम की रुचि अधिक थी तथापि उक्त कुलों में उत्पन्न होने की इच्छा-मात्र के कारण वह सब दुःखों का उसी जन्म में क्षय करने में समर्थ नहीं हो सकता । हां, इतना अवश्य है कि अन्य निदानों के समान यह निदान धर्म के मार्ग में प्रतिबन्धक नहीं होता। यही बात उत्तम, मध्यम और जघन्य निदानों के विषय में जाननी चाहिए । कहने का सारांश इतना ही है कि निदान-कर्म का परिणाम संकल्पों के अनुसार ही होता है ।

फिर सूत्रकार इसीसे सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

से णं भवति से जे अणगारा भगवंतो इरिया-समिया भासासमिया जाव बंभयारी तेणं विहारेणं विह-रमाणे बहूइं वासाइं परियागं पाउणइ२त्ता आबाहंसि वा उप्पन्नंसि वा जाव भत्ताइं पच्चक्खाएज्जा ? हंता पच्चक्खाएज्जा । बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदिज्जा ? हंता छेदिज्जा । आलोइय पडिक्कंते समाहिपत्ते काल-मासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उव-वत्तारो भवंति । एवं खलु समणाउसो तस्स निदाणस्स इमेयारूवे पापफलविवागे जं णो संचाएति तेणेव भवग्गहणे णं सिज्झेज्जा जाव सव्व-दुक्खाणमंतं करेज्जा ।

स च भवत्यथ येऽनगारा भगवन्त ईर्यासमिता यावद् ब्रह्म-चारिणस्तेन (तेषां) विहारेण विहरन् बहूनि वर्षाणि पर्यायं पाल-यति, पालयित्वा आबाधायामुत्पन्नायाम् (अनुत्पन्नायां वा) यावद् भक्तानि प्रत्याख्यायात्? हन्त ! प्रत्याख्यायात् । बहूनि भक्तान्य-शनानि छिद्यात्, हन्त ! छिद्यात्, छित्त्वालोच्य प्रतिक्रान्तः समाधिं प्राप्तः कालमासे कालं कृत्वान्यतरेषु देव-लोकेषु देवतयोपपत्ता भवति । एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! तस्य निदानस्यायमेतद्रूपः पाप-फल-विपाको यन्न शक्नोति तेनैव भव-ग्रहणे (सिद्ध्येत्) सिद्धिमेतुम्, यावत्सर्वदुःखानामन्तं (कुर्यात्) कर्तुम् ।

पदार्थान्वयः—से णं—वह भवति—होता है से—अथ जे—जो अणगारा—

अनगार भगवंतो-भगवन्त इरियासमिया-ईर्या-समिति वाले भासासमिया-भाषा-समिति वाले जाव-यावत् बंभयारी-ब्रह्मचर्य पालन करने वाले तेणं-उस इस प्रकार के विहारेणं-विहार से विहरमाणे-विचरते हुए बहूइं-बहुत वासाइं-वर्षों तक परि-यागं-सम्यक् पर्याय को पाउणइ-पालन करता है पाउणइत्ता-पालन कर आबाहंसि-पीड़ा या दुःख के उप्पन्नंसि-उत्पन्न होने पर वा-अथवा उत्पन्न न होने पर जाव-यावत् भत्ताइं-भक्तों को पच्चक्खाएज्जा-क्या वह प्रत्याख्यान करेगा हंता-हां पच्च-क्खाएज्जा-प्रत्याख्यान करेगा क्या वह फिर बहूइं-बहुत भत्ताइं-भक्तों के अणस-णाइं-अनशनव्रत को छेदिज्जा-छेदन करेगा ? हंता-हां, छेदिज्जा-छेदन करता है और छेदन कर आलोइय-गुरु से अपने पाप की आलोचना कर पडिक्कंते-पाप-कर्म से पीछे हटकर समाहिपत्ते-समाधि की प्राप्ति कर कालमासे-कालमास में कालं किच्चा-काल करके अण्णयरेसु-किसी एक देवलोएसु-देव-लोक में देवत्ताए-देवरूप से उववत्तारो भवंति-उत्पन्न होता है समणाउसो-हे आयुष्मन ! श्रमण ! एवं खलु-इस प्रकार निश्चय से तस्स-उस निदाणस्स-निदान कर्म का इमेयारूवे-यह इस प्रकार का पाप-फल-विवागे-पाप-रूप फल-विपाक होता है जं-जिससे वह तेणेव-उसी जन्म में भवग्गहणे-बार २ जन्म-ग्रहण करने में सिज्झेज्जा-सिद्धत्व प्राप्त करने में जाव-यावत् णं-वाक्यालंकारे सव्व-दुक्खाणं-सब दुःखों के अंतं करेज्जा-अन्त करने में णो संचाएति-समर्थ नहीं हो सकता ।

मूलार्थ—फिर वह उनके समान हो जाता है जो अनगार, भगवन्त, ईर्या-समिति वाले, भाषा-समिति वाले, ब्रह्मचारी होते हैं और वह इस विहार से विचरण करता हुआ बहुत वर्षों तक श्रमण-पर्याय पालन करता है और पालन कर व्याधि के उत्पन्न होने पर या न होने पर यावत् बहुत भक्तों के अनशन-व्रत को धारण करता है । फिर अनशन-व्रत का पालन कर अपने पाप की आलोचना कर पाप से पीछे हट के समाधि को प्राप्त कर काल-मास में काल करके किसी एक देव-लोक में देव-रूप हो जाता है । हे आयुष्मन् ! श्रमण ! इस प्रकार उस निदान-कर्म का पाप-रूप यह फल-विपाक होता है कि जिससे उसके करने वाला उसी जन्म में सिद्ध और सब दुःखों के अन्त करने में समर्थ नहीं हो सकता ।

टीका—इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि जब इस निदान-कर्म को

करने वाला व्यक्ति उसी जन्म में मोक्ष-प्राप्ति नहीं कर सकता तो वह भावितात्मा साधु बन जाता है। इसमें साथ ही संक्षेप से साधु के गुणों का भी वर्णन किया गया है। साधु अनगार, भगवन्त, ईर्या-समिति वाले, भाषा-समिति वाले, एषणा-समिति वाले, आदानभण्ड-मात्र-निक्षेपणा-समिति वाले, उच्चार-प्रश्रवण-श्लेष्म-सिंहाण-यल्ल-परिष्ठापन-समिति वाले, मनोगुप्ति वाले, वचनगुप्ति वाले, कायगुप्ति वाले, गुप्तेन्द्रिय, गुप्त-ब्रह्म-चारी, ममता-रहित, अकिञ्चन (धन धान्य रहित), कामक्रोधादि ग्रन्थी से रहित, कर्म-मार्ग का बन्ध (निरोध) करने वाले, कांश-पात्र के समान पानी के लेप से रहित, शङ्ख की तरह कर्मों के रंग से रहित, जीव के समान अप्रतिहत-गति (बाधा-रहित विचरण करने) वाले, शुद्ध सुवर्ण के समान आत्मा की शुद्धि वाले, दर्पण की तरह निर्मल-भाव वाले, कछुवे के समान गुप्त-इन्द्रिय वाले, पुष्कर (कमल) के समान निर्लेप, आकाश के समान आश्रय-रहित, वायु के समान निरालय (घर से रहित), चन्द्रमा के समान सौम्य लेश्या वाले, सूर्य के समान दीप्त तेज वाले, समुद्र के समान गम्भीरता वाले, पक्षियों के समान बन्धन-मुक्त विहार करने वाले, मेरु के समान स्थिर, परीषहों से विचलित न होने वाले, शरद् ऋतु के जल के समान शीतल और शुद्ध स्वभाव वाले, गैंडे के सींग के समान एक मुक्ति में ही ध्यान रखने वाले, भारंड पक्षी के समान अप्रमत्त हो कर चलने वाले, हाथी के समान परीषह-रूपी संग्राम में आगे होने वाले, धौरी वृषभ के समान संयम-भार को उठाने वाले, सिंह के समान दुर्जेय और कुतीर्थियों से हार न खाने वाले, शुद्ध अग्नि के समान तेज से प्रकाशित होने वाले और पृथिवी के समान सर्व-स्पर्श सहन करने वाले होते हैं। इन सब गुणों से युक्त ही साधु कहलाता है। जब उनको किसी रोग की उत्पत्ति होती है, अथवा जब वे अन्य किसी कारण से अपने जीवन की समाप्ति देखते हैं तब अनशन-व्रत धारण कर लेते हैं। साथ ही इससे पहले अपने अति-चार आदि पापों की भली भांति आलोचना कर लेते हैं और उन पापों के लिये यथोचित प्रायश्चित्त करके ही अनशन-व्रत लेते हैं। फिर समाधि को प्राप्त हो कर काल-मास में काल करके अन्यतर देव-लोक में उत्पन्न हो जाते हैं।

यह सब देखकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं कि हे आयुष्मन्! श्रमण! उस निदान-कर्म का यह पाप-रूप फल हुआ कि वह उसी जन्म में मोक्ष-प्राप्ति नहीं कर सकता अर्थात् सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों का

अन्त करके निर्वाण-प्राप्ति नहीं कर सकता। यद्यपि यह निदान-कर्म केवल सर्व-वृत्ति चारित्र के ही उद्देश्य से किया गया था तथापि उक्त कुलों में उत्पन्न होने की इच्छा ही प्रतिबन्धक हो कर मोक्ष-प्राप्ति नहीं होने देती । अतएव निदान-कर्म सर्वथा त्याज्य है।

"तेणेव" यहां सप्तमी के स्थान पर तृतीया का प्रयोग किया गया है, यह प्राकृत होने से दोषाधायक नहीं।

अब सूत्रकार निदान-रहित संयम का फल वर्णन करते हैं:—

एवं खलु समणाउसो मए धम्मे पण्णत्ते इणमेव निग्गंथ-पावयणे जाव से य परक्कमेज्जा सव्व-काम-विरत्ते, सव्व-राग-विरत्ते, सव्व-संगातीते, सव्वहा सव्व-सिणेहातिक्कंते, सव्व-चरित्त-परिवुड्ढे।

एवं खलु श्रमण ! आयुष्मन् ! मया धर्मः प्रज्ञप्तः इदमेव निर्ग्रन्थ-प्रवचनं यावत् स च पराक्रमेत्सर्व-काम-विरक्तः, सर्व-राग-विरक्तः, सर्व-सङ्गातीतः, सर्वथा सर्व-स्नेहातिक्रान्तः, सर्व-चरित्र-परिवृद्धः।

पदार्थान्वयः—**समणाउसो**—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय से **मए**—मैंने **धम्मे**—धर्म **पण्णत्ते**—प्रतिपादन किया है **इणमेव**—यही **निग्गंथ-पावयणे**—निर्ग्रन्थ-प्रवचन **जाव**—यावत् सब दुःखों का अन्त करने वाला है इत्यादि **से य**—वह **परक्कमेज्जा**—संयम मार्ग में पराक्रम करे और पराक्रम करता हुआ **सव्व-काम-विरत्ते**—सब कामों से विरक्त होता है **सव्व-राग-विरत्ते**—सब रागों से विरक्त होता है **सव्व-संगातीते**—सब के संग से पृथक् होता है **सव्वहा**—सर्वथा **सव्व-सिणेहातिक्कंते**—सब प्रकार के स्नेह से दूर होता है और **सव्व-चरित्त**—सब प्रकार के चरित्र से **परिवुड्ढे**—परिवृद्ध (दृढ़) होता है।

मूलार्थ—**हे आयुष्मन् ! श्रमण ! इस प्रकार मैंने धर्म प्रतिपादन किया**

है । यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन यावत् सब दुःखों का अन्त करने वाला होता है । वह संयम-अनुष्ठान में पराक्रम करता हुआ सब रागों से विरक्त होता है, सब कामों से विरक्त होता है सब तरह के संग से रहित होता है और सब प्रकार के स्नेह से रहित और सब प्रकार के चरित्र में परिवृद्ध (दृढ़) होता है ।

टीका—इस सूत्र में नौ निदान-कर्मों के अनन्तर अनिदान का विषय वर्णन किया गया है । श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी जी कहते हैं कि हे श्रमण ! आयुष्मन् ! मैंने इस प्रकार धर्म प्रतिपादन किया है । यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन सर्वोत्कृष्ट है । इनकी शिक्षा के अनुसार जो कोई निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी संयम मार्ग में पराक्रम करता है और उसमें प्रयत्न-शील हो कर सब प्रकार के काम-विकारों से अपने चित्त को हटा देता है, संग से भार रहित हो जाता है और सब तरह के स्नेह से दूर ही रहता है वह चारित्र-शुद्ध और निर्मल हो जाता है तथा उसका चरित्र दृढ़ या परिपक्व हो जाता है । कहने का तात्पर्य इतना ही है कि आत्मा काम-विकार, राग और स्नेह से रहित हो जाता है तब उसका चरित्र दर्पण के समान निर्मल हो जाता है ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त तीनों से निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है ? इसका समाधान सूत्रकार ने स्वयं ही कर दिया है कि निर्ग्रन्थ प्रवचन में दृढ़ विश्वास होने से सहज ही में इनसे निवृत्ति हो सकती है, क्योंकि जब किसी को निर्ग्रन्थ-प्रवचन में दृढ़ विश्वास हो जायगा तो वह आत्म-स्वरूप की खोज में लग जायगा और आत्मा को कर्म-बन्धन से विमुक्त करने के लिये तदुचित क्रियाओं में प्रयत्न-शील हो जायगा, जिसके कारण उसका आत्मा निरायास ही शुद्ध-बुद्ध-भाव को प्राप्त हो जायगा । सम्पूर्ण कथन का सारांश यह निकला कि निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर दृढ़ विश्वास करना चाहिए, जिससे राग आदि शत्रु दूर हों और अपनी आत्मा का कल्याण हो ।

अब सूत्रकार फिर इसी से सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

तस्स णं भगवंतस्स अणुत्तरेणं णाणेणं अणुत्तरेणं दंसणेणं अणुत्तरेणं परिनिव्वाणमग्गेणं अप्पाणं भावे-

माणस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवल-वरनाण-दंसणे समुपज्जेज्जा ।

तस्य नु भगवतोऽनुत्तरेण ज्ञानेनानुत्तरेण दर्शनेनानुत्तरेण परिनिर्वाणमार्गेणात्मानं भावयतोऽनन्तमनुत्तरं निर्व्याघातं निरावरणं कृत्स्नं प्रतिपूर्णं केवल-वर-ज्ञान-दर्शनं समुपपद्येत ।

पदार्थान्वयः—**तस्स णं**–उस **भगवंतस्स**–भगवान् के **अणुत्तरेणं**–अनुत्तर **णाणेणं**–ज्ञान से **अणुत्तरेणं**–सर्वोत्तम **दंसणेणं**–दर्शन से **अणुत्तरेणं**–श्रेष्ठ **परि-निव्वाणमग्गेणं**–कषायों के उपशम या क्षय मार्ग से **अप्पाणं**–अपनी आत्मा की **भावेमाणस्स**–भावना करते हुए अर्थात् अपनी आत्मा को संयम मार्ग में प्रवृत्त करते हुए को **अणंते**–अनन्त **अणुत्तरे**–सर्व-प्रधान **निव्वाघाए**–निर्व्याघात **निरावरणे**–आवरण-रहित **कसिणे**–सम्पूर्ण **पडिपुण्णे**–प्रतिपूर्ण **वर**–सर्व-श्रेष्ठ **केवल-नाण-दंसणे**–केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की **समुपज्जेज्जा**–उत्पत्ति हो जाती है ।

मूलार्थ—उस भगवान् को अनुत्तर ज्ञान से, अनुत्तर-दर्शन से और अनुत्तर शान्ति-मार्ग से अपनी आत्मा की भावना करते हुए अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की उत्पत्ति हो जाती है ।

टीका—इस सूत्र में निदान-रहित क्रिया का फल वर्णन किया गया है । जो उस भगवान् को मति-ज्ञानादि की अपेक्षा से श्रेष्ठ ज्ञान से, सर्वोत्तम दर्शन से, श्रेष्ठ चारित्र से, क्रोध आदि कषायों के विनाशक या शान्ति-कारक मार्ग से अर्थात् परिनिर्वाण-मार्ग से अपनी आत्मा में बसाता है या अपनी आत्मा की स्वयं भावना करता है अर्थात् उसको संयम मार्ग में लगाता है वह अनन्त विषय वाले या अपर्यवसित (सीमा या क्षय से रहित), अनन्त, सर्वोत्कृष्ट, करकुड्यादि के अभाव से निर्व्याघात, अज्ञानादि आवरण (आच्छादन–ढकने वाले) के अभाव से निरावरण, सकलार्थ-ग्राहक, पौर्णमासी के चन्द्रमा के समान निर्मल और दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखने वाले, सर्व-प्रधान केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की प्राप्ति कर

लेता है। सारांश यह निकला कि उक्त रीति से संयम-मार्ग में प्रवृत्त हो कर आत्मा सब कर्मों का क्षय कर लेता है और उससे उक्त ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति करता है। निदान कर्म उक्त ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति में बाधा उपस्थित करता है, अतः उसके रहते हुए इनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। किन्तु उससे रहित आत्मा उसी जन्म में उक्त ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति कर लेता है।

सूत्र में ज्ञान-दर्शन के इतने विशेषण दिये गये हैं उसका तात्पर्य केवल इनका मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यव ज्ञानों से भेद दिखाना है। यह चारों ज्ञान छद्मस्थ हैं। केवल 'ज्ञान' शब्द देने से इनका भी बोध न हो जाय, अतः इतने विशेषण देने की आवश्यकता पड़ी।

साथ ही इस बात का सूत्र में दिग्दर्शन कराया गया है कि पण्डित-बल-वीर्य ही इस काम में सफल-मनोरथ हो सकता है, दूसरा नहीं।

फिर सूत्रकार इसी विषय से सम्बन्ध रखते हुए कहते हैं :—

तते णं से भगवं अरहा भवति, जिणे, केवली, सव्वण्णु, सव्वदंसी, सदेवमणुयासुराए जाव बहूइं वासाइं केवलीपरियागं पाउणइ२त्ता अप्पणो आउसेसं आभोएइ२त्ता भत्तं पच्चक्खाएइ२त्ता बहूइं भत्ताइं अण-सणाइं छेदेइ२त्ता तओ पच्छा चरमेहिं ऊसास-नीसासेहिं सिज्झति जाव सव्व-दुक्खाणमंतं करेति।

ततो नु स भगवानर्हन् भवति, जिनः, केवली, सर्वज्ञः, सर्वदर्शी, सदेवमनुजासुरायां (परिषदि) यावद् बहूनि वर्षाणि केवलि-पर्यायं पालयति, पालयित्वात्मन आयुश्शेषमाभोगयति, आभोग्य भक्तं प्रत्याख्याति, प्रत्याख्याय बहूनि भक्तानि, अनशनानि छिनत्ति, छित्त्वा ततः पश्चात् चरमैरुच्छ्वास-निश्वासैः

सिद्ध्यति यावत्सर्वदुःखानामन्तं करोति ।

पदार्थान्वयः—ततेणं–इसके अनन्तर से–वह भगवं–भगवान् अरहा–अर्हन् भवति–होता है जिणे–जिन केवली–केवली सव्वण्णु–सर्वज्ञ और सव्वदंसी–सर्व-दर्शी होता है फिर वह सदेवमणुयासुराए–देव, मनुष्य और असुरों की परिषद् में जाव–यावत् उपदेश आदि देता है बहूइं–बहुत वासाइं–वर्षों तक केवली-परियागं–केवलि-पर्याय को पाउणइ२त्ता–पालन करता है और पालन करके अप्पणो–अपने आउसेसं–आयु-शेष को आभोएइ२त्ता–अवलोकन करता है और अवलोकन कर भत्तं–भक्त को पच्चक्खाएइ२त्ता–प्रत्याख्यान करता है और प्रत्याख्यान करके बहूइं–बहुत भत्ताइं–भक्तों के अणसणाइं–अनशन-व्रत को छेदेइ२त्ता–छेदन करता है और छेदन करके तओ पच्छा–तत्पश्चात् चरमेहिं–अन्तिम ऊसास-नीसासेहिं–उच्छ्वास और निश्वासों से सिज्झति–सिद्ध हो जाता है जाव–यावत् सव्वदुक्खाणं–सब दुःखों का अंतं करेति–अन्त करता है ।

मूलार्थ—तत्पश्चात् वह भगवान्, अर्हन्, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होता है । फिर वह देव, मनुष्य और असुरों की परिषद् में उपदेश आदि करता है । इस प्रकार बहुत वर्षों तक केवलि-पर्याय का पालन करके अपनी शेष आयु को अवलोकन कर भक्त का प्रत्याख्यान करता है और प्रत्याख्यान करके बहुत भक्तों के अनशन-व्रत का छेदन कर अन्तिम उच्छ्वास और निश्वासों द्वारा सिद्ध होता है और सब दुःखों का अन्त कर देता है ।

टीका—इस सूत्र में निदान-कर्म-रहित क्रिया का फल वर्णन किया गया है । जैसे–जब निदान-कर्म-रहित व्यक्ति के सब कर्म क्षय हो जाते हैं तो वह भगवान, अर्हन्, जिन, केवली, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है, क्योंकि कर्म-रहित व्यक्ति अनेक गुणों का भाजन बन जाता है । वह केवली भगवान् बनकर सब पर्यायों को सब जीवों को सब लोकों में देखता हुआ विचरता है । वह लोक में सब जीवों की गति, अगति, स्थिति, च्यवन, उपपात, तर्क, मानसिक भाव, भुक्त पदार्थ, पूर्व-आसेवित-दोष, प्रकट-कर्म, गुप्त-कर्म, मन, वचन और कर्म से किये जाने वाले कर्मों को देखता और जानता हुआ विचरता है । उसकी ज्ञान-शक्ति के सामने कुछ भी छिपा नहीं रह सकता, उसके द्वारा वह हमेशा पदार्थों में

होने वाली उत्पाद, व्यय और ध्रुव इन तीनों दशाओं को, काय-स्थिति और भव-स्थिति को, देवों के च्यवन को, देव और नारकियों के जन्म को, जीवों के मन के तर्क और मानसिक-चिन्ताओं को (यथा वदन्ति लोका अस्माकमिदं मनसि वर्तते) इत्यादि सब भावों को, केवली भगवान् होकर देखता है। वह फिर मनुष्य और देवों की सभा में बैठ कर सब जीवों के कल्याण के लिये पांच आस्रव और पांच संवरों का विस्तार-पूर्वक वर्णन करता है, क्योंकि जब किसी आत्मा को केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन उत्पन्न हो जाता है तो वह इस बात को अपना लक्ष्य बना कर उपदेश करता है कि जिस प्रकार मैंने अपना कल्याण किया है ठीक उसी प्रकार दूसरी आत्माओं का भी कल्याण होना चाहिए, अतएव वह सब को जीवाजीव का विस्तार-पूर्वक वर्णन सुनाता है।

वह अपने ज्ञान में अनशन, भुक्त, चोरी आदि नीच-कर्म, मैथुन आदि गुप्त-कर्म, कलह आदि प्रकट-कर्मों को सर्वज्ञ होने के कारण जान और देख लेता है। उससे जीवों के योग-संक्रमण, उत्तम उपयोग-शक्ति, ज्ञानादि गुण और हर्ष-शोक आदि पर्याय कुछ भी छिपा नहीं रहता।

इस प्रकार बहुत वर्षों तक केवलि-पर्याय का पालन करते हुए अपनी आयु को स्वल्प जान कर अनशन-व्रत धारण कर लेता है। फिर अनशन-व्रत के भक्तों को छेदन कर अन्तिम उच्छ्वास और निश्श्वासों से सिद्ध-गति को प्राप्त होता है।

यदि कोई प्रश्न करे कि 'निर्वाण-पद' किसे कहते हैं ? तो उत्तर में कहना चाहिए कि जिस समय आत्मा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्मों से मुक्त हो जाता है उसी अवस्था को 'निर्वाण' कहते हैं। निर्वाण-पद प्राप्त करने पर जितने भी कषाय हैं, जिनके कारण आत्मा संसार के बन्धन में फंसा रहता है, वे सब ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं और इसी कारण आत्मा के शारीरिक और मानसिक दुःखों का अन्त हो जाता है इसी लिये उसको निर्वाण कहते हैं। इसीका नाम मोक्ष भी है।

आत्मा तप और संयम के द्वारा ही उक्त पद की प्राप्ति करता है, क्योंकि आत्मा साधक है, तप और संयम साधन तथा निर्वाण-पद साध्य है। जब आत्मा सम्यक् साधनों से साध्य-पद प्राप्त कर लेता है तब वही सिद्ध, बुद्ध, अजर, अमर,

पारंगत, पर-आत्मा, सर्वज्ञ, सर्व-दर्शी, अनन्त-शक्ति-सम्पन्न, अक्षय, अव्यय और ज्ञान से विभु हो जाता है ।

अब सूत्रकार प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं :—

एवं खलु समणाउसो तस्स अणिदाणस्स इमेयारूवे कल्लाण-फल-विवागे जं तेणेव भवग्गहणे णं सिज्झति जाव सव्व-दुक्खाणं अंतं करेति ।

एवं खलु श्रमणाः ! आयुष्मन्तः ! तस्यानिदानस्यायमेतद्रूपः कल्याण-फलविपाको यत्तेनैव भव-ग्रहणे सिद्ध्यति यावत् सर्व-दुःखानामन्तं करोति ।

पदार्थान्वयः—**समणाउसो**—हे आयुष्मन्त ! श्रमणो ! **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय से **तस्स**—उस **अणिदाणस्स**—अनिदान का **इमेयारूवे**—यह इस प्रकार का **कल्लाण**—कल्याण-रूप **फल-विवागे**—फल-विपाक है **जं**—जिससे **तेणेव**—उसी जन्म में **भवग्गहणे णं**—भव-ग्रहण में **सिज्झति**—सिद्ध हो जाता है **जाव**—यावत् **सव्व-दुक्खाणं**—सब दुःखों का **अंतं**—अन्त **करेति**—करता है ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन्त ! श्रमणो ! उस निदान-रहित क्रिया का यह कल्याण रूप फल-विपाक होता है कि जिससे उसी जन्म में भव-ग्रहण से सिद्ध हो जाता है और सब दुःखों का अन्त कर देता है ।

टीका—इस सूत्र में भी पूर्व सूत्र से सम्बन्ध रखते हुए निदान-रहित कर्म का ही फल वर्णन किया गया है । जो व्यक्ति निदान रहित क्रिया करेगा उसको उसका यह उत्कृष्ट फल मिलेगा कि वह उसी जन्म में मोक्ष की प्राप्ति कर सकेगा, क्योंकि मोक्ष प्राप्ति में किये हुए कर्म ही प्रतिबन्धक होते हैं जब वे ही नहीं होंगे तो मोक्ष-प्राप्ति स्वतः हो जायगी । उच्च क्रियाओं का कल्याण-रूप फल अवश्य होता है । यहां संयम-रूपी उच्च क्रिया का यह फल हुआ कि उसका करने वाला उसी जन्म में निर्वाण-पद की प्राप्ति कर लेता है । इस कथन से यह भी सिद्ध हुआ कि निदान-कर्म-रहित संयम क्रिया ही कल्याण-रूप फल के देने वाली होती है ।

अब सूत्रकार भगवान् के उपदेश की सफलता के विषय में कहते हैं :—

तते णं बहवे निग्गंथा य निग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता तस्स ठाणस्स आलोयंति पडिक्कम्मंति जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवो-कम्मं पडिवज्जंति ।

ततो नु बहवो निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकादेनमर्थं श्रुत्वा, निशम्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दन्ते नमस्यन्ति, वन्दित्वा नत्वा तत्स्थानमालोचयन्ति प्रतिक्रामन्ति यावद् यथार्हं प्रायश्चित्तं तपः-कर्म प्रतिपद्यन्ते ।

पदार्थान्वयः—**तते णं**—इसके अनन्तर **बहवे**—बहुत से **निग्गंथा**—निर्ग्रन्थ **य**—और **निग्गंथीओ**—निर्ग्रन्थियां **समणस्स**—श्रमण **भगवओ**—भगवान् **महावीरस्स**—महावीर के **अंतिए**—पास से **एयमट्ठं**—इस अर्थ को **सोच्चा**—श्रवण कर और **णिसम्म**—हृदय में अवधारण कर **समणं**—श्रमण **भगवं**—भगवान् **महावीरं**—महावीर को **वंदंति**—वन्दना करते हैं और उनको **नमंसंति**—नमस्कार करते हैं **वंदित्ता**—वन्दना कर और **नमंसित्ता**—नमस्कार कर **तस्स ठाणस्स**—उसी स्थान पर **आलोयंति**—आलोचना करते हैं **पडिक्कम्मंति**—प्रतिक्रमण करते हैं अर्थात् पाप कर्मों से पीछे हट जाते हैं **जाव**—यावत् **अहारिहं**—यथायोग्य **पायच्छित्तं**—प्रायश्चित्त **तवो-कम्मं**—तपः-कर्म **पडिवज्जंति**—ग्रहण करते हैं ।

मूलार्थ—तत्पश्चात् बहुत से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियां श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से इस अर्थ को सुनकर और हृदय में विचार कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की वन्दना करते हैं उनको नमस्कार करते हैं। फिर वन्दना और नमस्कार कर उसी समय उसकी आलोचना करते हैं और पाप-कर्म से पीछे हट जाते हैं। यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त-रूप तप-कर्म में लग जाते हैं।

टीका—इस सूत्र में भगवान् के उपदेश की सफलता दिखाई गई है। श्री भगवान् महावीर स्वामी जी ने जब नौ प्रकार के निदान कर्म और उनके पाप-रूप फल का दिग्दर्शन कराया तब बहुत से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों ने संसार-भ्रमण से भय-भीत हो कर और उन निदान कर्मों का भयङ्कर फल जान कर श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में उपस्थित हो उनकी विधि-पूर्वक वन्दना की और उनको नत-मस्तक होकर नमस्कार किया। वन्दना और नमस्कार करने के अनन्तर उनके सम्मुख ही अपने किये हुए निदान कर्मों की आलोचना की और उससे पीछे हट कर उसकी विशुद्धि के लिये श्री भगवान् से ही यथायोग्य तपकर्म ग्रहण किया।

इस कथन से भली भांति सिद्ध होता है कि यदि किसी प्रकार से दोष लग जाय तो गुरु के पास जाकर उस दोष की आलोचना करनी चाहिए और उससे विशुद्ध होने के लिए प्रायश्चित्त अवश्य धारण करना चाहिए। जिस प्रकार रोग लगने पर उसको दूर करने के लिये वैद्य की शरण लेनी पड़ती है और उसकी औषध से आरोग्य-लाभ हो जाता है इसी प्रकार दोष लगने पर उसकी विशुद्धि के लिये गुरु की शरण लेनी चाहिए और प्रायश्चित-रूप औषध का अवश्य सेवन करना चाहिए। जिस प्रकार आरोग्य के सुखों को जानकर आत्मा उसकी प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करता ही रहता है ठीक उसी प्रकार जो आत्मा विशुद्ध आत्मा के गुणों को जानता है या विशुद्ध आत्मा के सुखों का अनुभव करता है वही आत्मा आलोचनादि द्वारा आत्म-विशुद्धि की ढूंढ में लग जाता है। कितने ही पुरुष अपने पापों को छिपाना ही अपनी योग्यता समझते हैं, किन्तु वह उनकी भूल है। वास्तव में पाप न करना ही प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता होती है। यदि भूल या असावधानी से कोई पाप-कर्म हो जाय तो आलोचनादि द्वारा उसकी शुद्धि कर लेनी ही उसकी योग्यता है।

यदि कोई कहे कि क्या श्री श्रमण भगवान् महावीर की परिषद् में इस प्रकार के निर्बल-आत्मा साधु भी थे जिन्होंने उक्त क्रिया की ? उत्तर में कहा जाता है कि बहुत से आत्माओं पर मोहनीय-कर्म की प्रकृतियां अपना काम कर जाती हैं इसमें कोई भी आश्चर्य की बात नहीं किन्तु इतना होने पर भी यदि उनका मन फिर सावधान हो जाय तो उनकी शूरता, वीरता और श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के वचनों पर दृढ़ता सिद्ध होती है, क्योंकि उन्होंने श्री भगवान् के उपदेश को सुनकर सभा

के समक्ष अपनी आत्मा की विशुद्धि की। ऐसी अवस्था में जब वह ग्यारहवें गुण स्थान से भी नीचे आ जाता है तो छठे और उससे पूर्व स्थानों की तो बात ही क्या है।

इस सूत्र से साधु और साध्वियों की विश्वास-दृढता और ऋजुता (सरल-पन) भली भांति सिद्ध हो जाती है, जो कि साधुता का परम गुण है।

इस सूत्र से यह शिक्षा मिलती है कि यदि किसी को कोई गुप्त या प्रकट दोष लग गया हो तो अपने वृद्धों के पास उसकी आलोचना करके अपनी आत्मा की अच्छी तरह विशुद्धि कर लेनी चाहिए। जिस प्रकार मुनियों ने अपनी आत्मा की विशुद्धि श्री भगवान् के पास की।

अब सूत्रकार प्रस्तुत का उपसंहार करते हुए कहते हैं:—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं बहूणं देवाणं बहूणं देवीणं सदेवमणुयासुराए परिसाए मज्झगए एव-माइक्खति एवं भासति एवं परूवेति आयतिठाणं णामं अज्जो! अज्झयणो सअट्ठं सहेउं सकारणं सुत्तं च अत्थं च तदुभयं च भुज्जो२ उवदंसेति त्ति बेमि।

आयतिठाणे णामं दसमी दसा समत्ता।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महा-वीरो राजगृहे नगरे गुणशिले चैत्ये बहूनां श्रमणानां बह्वीनां श्रमणीनां बहूनां श्रावकानां बह्वीनां श्राविकानां बहूनां देवानां बह्वीनां देवीनां सदेवमनुजासुरायां परिषदि मध्यगत एव-माख्याति एवं भाषते एवं प्ररूपयत्यायतिस्थानं नाम,

आर्याः ! अध्ययनं सार्थसहेतुकं सकारणं सूत्रञ्चार्थञ्च तदुभयञ्च भूयोभूय उपदर्शयतीति ब्रवीमि ।

आयतिस्थाना नाम दशमी दशा समाप्ता ।

पदार्थान्वयः—**तेणं कालेणं**—उस काल और **तेणं समएणं**—उस समय **समणे**—श्रमण **भगवं**—भगवान् **महावीरे**—महावीर **रायगिहे**—राजगृह **नगरे**—नगर में **गुणसिलए**—गुणशिल नामक **चेइए**—चैत्य में **बहूणं**—बहुत **समणाणं**—श्रमणों की **बहूणं**—बहुत **समणीणं**—श्रमणियों की **बहूणं**—बहुत **सावयाणं**—श्रावकों की **बहूणं**—बहुत **सावियाणं**—श्राविकाओं की **बहूणं**—बहुत **देवाणं**—देवों की **बहूणं**—बहुत **देवीणं**—देवियों की और फिर **सदेवमणुयासुराए**—देव, मनुष्य और असुरों की **परिसाए**—परिषद् में **मज्झगए**—बीच में **चेव**—समुच्चय अर्थ में है। **एवं**—इस प्रकार **आइक्खति**—प्रतिपादन करते हैं **एवं भासइ**—इस प्रकार वाग्योग से भाषण करते हैं **एवं परूवेति**—इस प्रकार निरूपण करते हैं **अज्जा**—हे आर्यो ! **आयतिठाणं**—आयति-स्थान—उत्तर काल में फल देने वाला **णामं**—नाम वाला **अज्झयणं**—अध्ययन **सअट्ठं**—अर्थ सहित **सहेउं**—हेतु के साथ **सकारणं**—अपवादादि कारण के साथ **सुत्तं**—गद्यरूप से पाठ **अत्थं च**—अर्थ के साथ **तदुभयं च**—सूत्र तथा अर्थ के साथ **च**—शब्द समुच्चय अर्थ में है **भुज्जो २**—पुनः २ **उवदंसेति**—उपदेश करते हैं अर्थात् उपदेश किया गया है **त्ति बेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूं। **आयतिठाणे णामं दसमी दसा**—आयति-स्थान नाम वाली दशवीं दशा **समत्ता**—समाप्त हुई ।

मूलार्थ—उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशिल नाम वाले चैत्य में बहुत से श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका, देव और देवियों के तथा देव, मनुष्य और असुरों की सभा के बीच में विराजमान हो कर इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं, इस प्रकार भाषण करते हैं, इस प्रकार फलाफल दिखाते हुए निरूपण करते हैं "हे आर्यो ! आयतिस्थान नामक दशा का अर्थ, हेतु और कारण के साथ, सूत्र अर्थ और तदुभय (उन दोनों) के साथ उपदेश किया गया है" इस प्रकार उपदेश का वर्णन कर सूत्रकार कहते हैं "इस प्रकार हे शिष्य ! मैं तुम्हारे प्रति कहता हूं" आयतिस्थान नामक दशमी दशा समाप्त हुई ।

टीका—इस सूत्र में प्रस्तुत दशा का उपसंहार किया गया है । अब-सर्पिणी काल का चतुर्थ आरक था। श्री भगवान् महावीर स्वामी उस समय विद्यमान थे। वे राजगृह नगर के गुणशील नामक चैत्य में विराजमान हो कर सारी जनता को उपदेशामृत पान करा रहे थे। उनके चारों ओर बहुत से श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका, देव, देवी और देव, मनुष्य और असुरों की परिषद् बैठी हुई थी। उस परिषद् के बीच में विराजमान हो कर श्री भगवान् इस प्रकार प्रतिपादन करने लगे, इस प्रकार निदान कर्म का फलाफल दिखाने लगे "हे आर्यो! जब कोई व्यक्ति पूर्वोक्त रीति से निदान-कर्म करता है तो उसको उसका पूर्वोक्त पाप-फल भोगना पड़ता है। यद्यपि सांसारिक वैभव और देवों की सम्पत्ति उसको प्राप्त हो जाती है तथापि सम्यक्त्वादि की प्राप्ति न होने से उसको दुर्गति के दुःखों को अनुभव करना ही पड़ता है। अतः उक्त कर्म करने वाला पापरूप फल की ही उपार्जना करता है इसका इतना विषम फल होता है कि जिन आत्माओं ने सम्यक्त्वादि गुणों की उपार्जना कर ली है वे भी निदान कर्म के प्रभाव से श्रमणोपासक, साधु और मोक्ष-भागी नहीं बन सकते। यह उनकी श्रमणोपासकत्व, साधुत्व और मोक्ष-पद की प्राप्ति का प्रतिबन्धक या बाधक बन जाता है। अतः यह हेय है।"

"किन्तु जो व्यक्ति निदान कर्म नहीं करते वे यदि कर्म-क्षय कर सकें तो उसी जन्म में निर्वाण-पद की प्राप्ति कर लेते हैं। उनके मार्ग में कोई प्रतिबन्धक नहीं होता है। निदान कर्म करने वाले को तो अन्य सब कर्मों के क्षय होने पर भी वही (निदान कर्म ही) बाधक रूप उपस्थित हो जाता है।"

इस प्रकार श्री श्रमण भगवान् महावीर ने देव, मनुष्य और असुरों की सभा में सार-पूर्ण उपदेश दिया। यद्यपि श्री भगवान् की भाषा अर्द्धमागधी ही है तथापि उनके अतिशय के माहात्म्य से प्रत्येक प्राणी अपनी २ भाषा में उसका आशय समझ जाता है। जिस प्रकार एक-रस मेघ (वर्षा) का जल प्रत्येक वृक्ष के अभिलषित रस में परिणत हो जाता है, इसी प्रकार भगवान् की भाषा के विषय में भी जानना चाहिए।

यहां प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि आयति स्थान किसे कहते हैं? उत्तर में कहा जाता है कि "आयतिर्नामोत्तरकालः 'आयतिस्तूत्तरः काल' इति वचनात्,

तस्य स्थानं पदमित्यर्थः" जिसका परिणाम उत्तर-काल अर्थात् जन्मान्तर में हो उसीको आयति-स्थान कहते हैं ।

श्री भगवान् ने इस दशा का वर्णन अर्थ, हेतु और कारण के साथ किया । आत्मागम की अपेक्षा सूत्र के साथ और व्याख्या की अपेक्षा अर्थ के साथ तथा तदु-भय (सूत्र और अर्थ) के साथ पुनः २ उक्त विषय का उपदेश किया । साथ ही यह भी बताया कि "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः" अर्थात् सम्यग् ज्ञान और सम्यक् क्रिया (चारित्र) से ही मोक्ष-पद की उपलब्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं । न केवल ज्ञान से ही मोक्ष हो सकता है न केवल क्रिया से ही, अपितु जब ज्ञान और क्रिया दोनों ही एक बार एकत्रित होते हैं तभी आत्मा मोक्ष-रूपी ध्येय में तल्लीन हो सकता है । अतः श्री भगवान् ने इस विषय पर विस्तृत उपदेश दिया कि हे आर्यो ! पण्डित-वीर्य से कर्म-क्षय कर सकते हो और बाल-वीर्य से संसार की वृद्धि तथा बाल और पण्डित-वीर्य से साध्य की ओर जा सकते हो । किन्तु पण्डित-वीर्य तभी हो सकता है जब निदान-रहित क्रियाएं की जाएंगी । फिर उसी पण्डित-वीर्य से आठ प्रकार के कर्मों को क्षय कर आत्मा मोक्ष-पद की प्राप्ति कर सकता है । इस प्रकार श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के बार २ के उपदेश को सुन कर सभा हर्षित होती हुई भगवान् की आज्ञा के अनुसार आराधना में तत्पर हो गई ।

श्री सुधर्म्मा स्वामी श्री जम्बू स्वामी के प्रति कहते हैं—हे शिष्य ! जिस प्रकार मैंने श्री भगवान् के मुख से श्री दशाश्रुत-स्कन्धसूत्र की आयति नाम वाली दशवीं दशा का अर्थ श्रवण किया था उसी प्रकार तुम्हारे प्रति कहा है । इसमें अपनी बुद्धि से मैंने कुछ भी नहीं कहा ।

दशवीं दशा समाप्त ।

सूत्रानुक्रमणिका।

दशाश्रुतस्कन्धसूत्र-शब्दार्थ-कोष

सङ्केत-शब्द—सा.=साहित्यिक अर्थ

अइवत्तित्ता=अतिक्रम कर २०५
अंड-उडं=अण्डों के समूह को ३३६
अंत-कुलाणि=नीच कुल ४७७
अंतरायं=(उपकारी के लाभ में) अन्तराय (विघ्न) ३३८
अंतरासम-पद्दंसि=गली के बीच में ३८८
अंतिए=पास ३८१, ३९०
अंतिकाओ=समीप से ३७२
अंतेवासी=शिष्य १२०
अंतो=भीतर ४६, १५२, ३२४
अंतो-नदंतं=(मुखादि प्रकाश्य शब्द करने वाली इन्द्रियों के बन्द हो जाने से) अव्यक्त शब्द करते हुए, सा. गले से बोलते हुए ३२३
अंतो-वट्टा=भीतर से गोल २०८
अंदुय-बंधणं=जंजीरों में बांधना १९६
अंब-खुज्जस्स=आम्र-कुब्जासन अर्थात् आम के फल के समान कूबड़े आसन से २९९
अंब-पेसिया=आम की फांक ४४१
अकम्मं=दुष्ट कर्म-रहित, सा. कर्म-रहित ३२९
अकाल-सज्झाय-कारए=अनुपयुक्त समय में स्वाध्याय करने वाला २३
अकिरिय-वाइ=अक्रिय-वादी, नास्तिक, जीवादि पदार्थों का अपलाप करने वाला १७६, २१३
अकुमार-भूए=जो बाल-ब्रह्मचारी नहीं है ३३३
अक्खमाए=अक्षमा (क्षमा अथवा सहनशीलता का अभाव) के लिए ३०६
अक्खायं=कहा है ३
अक्खीण-झंझे-पुरिसे=जो पुरुष कलह से उपरत नहीं हुआ है ३३०
अगणि-काएण=अग्नि-काय द्वारा २०१
अगणि-वण्णाभा काउय देखो
अग्गी=अग्नि १९६
अच्छिदित्ता=विच्छेद करने वाला ९०
अजाणं=न जानता हुआ २३८
अज्जो=हे आर्यो ७५, ३२१, ४९३
अज्झयणं=अध्ययन ४९३
अज्झवितव्व,व्वा=आदेश देना चाहिए ४५८
अज्झोववण्णा=(विषय में) परम आसक्त २०५
अट्ठं=समाचार, प्रस्तुत विषय ३७०
अट्ठमेणं=अष्टम, आठवें ३०३
अट्ठ-विहा=आठ प्रकार की १००
अट्ठीण=अस्थियों से, हड्डियों से २०१

अहम्माणुए=अधर्म का अनुगामी १८०
अहम्मिए=अधार्मिक क्रियाओं का सेवन करने वाला १८०
अहम्मिट्ठे=जिसको अधर्म प्रिय हो १८०
अहम्मिया=अधार्म्मिक ४३०
अहा-कप्पं=प्रतिमा के आचार के अनुसार २६३, ३०८
अहा-गुरु=गुरुओं का उचित रीति से ११७
अहा-तच्चाणं=वास्तविक बात १३३
अहा-तच्चं=यथातथ्य, सत्य, तत्त्व के अनुसार १४८
अहा-थामं=यथाशक्ति १३४
अहा-पणिहितं हि=यथा-प्रणिहित अर्थात् जिस स्थिति में हैं उसी में ३०३
अहा-मग्गं=प्रतिमा के ज्ञानादि मार्ग के अनुसार ३०८
अहारिहं=यथायोग्य ४६१
अहा-लहुयंसि=छोटे से १६४
अहावरा=इसके अनन्तर २३४
अहा-विहि,धि=यथा-विधि १३०
अहा-सुत्तं,यं=सूत्रों के अनुसार २६६
अहा-पडिरूवं=उचित, यथायोग्य ३७०
अहिए=अहितकारी २०३, २६६, ३०४
अहि-गमेणं=सेवा से ३३६
अहियासेइ=परीषहों को सहन करता है २६०, २६६, ३०४
अहे=अधो लोक १६०
अहे=नीचे २०५
अहे-आराम-गिहंसि=उद्यान में स्थित घर में २७२
अहो=विस्मय है ४०५
अहोराइंदिया=एक दिन और एक रात की उपासक-प्रतिमा ३०२
आइक्खति=कहते हैं ४६३
आइगरे=धर्म के प्रवर्त्तक ३६०
आइ(दि)ट्टं=आज्ञा, आज्ञा के अनुसार ३८८
आउक्खएणं=आयु-क्षय होने के कारण ४४४
आउट्टिता=पीड़ा पहुंचाने वाला, दुःख देने वाला २०१
आउट्टियाए=जानकर ५०
आउयं=आयुष्कर्म १६६
आउसं=आयुष्मन् ! हे दीर्घायु ! ३
आउसेसं=आयु के शेष भाग को ४८७
आएसणाणि=शिल्प-कला-स्थान (कारखाने) ३६८
आगया=आगई हो ३३७
आगमि(गे)स्साणं=आगामी जन्म में २१३, ४२१, ४४३, ४५३
आगाराओ=घर से ३१४, ४७३
आचार(यार)-संपया=आचार-संपत् १०१
आच्छिज्जं=किसी निर्बल से छीन कर लिया हुआ ४२
आणवेइ=आज्ञा करता है ३७०
आणाए=आज्ञा से २६३
आति(इ)क्खेज्जा=कहे ४२१
आदि=आदि २६६
आदिगरे आइगरे देखो ३७०, ३७६
आदेय-वयणे=आदेय वचन, ग्रहण करने योग्य वचन १०८
आभट्ठस्स=बुलाने पर २३८
आभोएइ=अवलोकन करता है ४८७
आमंतित्ता=आमंत्रित करके १४४
आमुक्कबाल-भावं=बाल भाव के छोड़ने पर ४२८
आयं=आत्मा (की समर्थता) को ११५
आय-जोइणं=आत्मा के योगों को वश में करने वाले १४६

इच्छइ=चाहता है ७६
इणामेव=प्रत्यक्ष है ४०७
इतो-पुव्वं=दीक्षा से पूर्व ३५७
इत्थं=इस प्रकार ४०७
इत्थिका=स्त्री, स्त्रियां ४३२
इत्थि-गुम्म-परिवुडे=स्त्रियों के समूह से घिरा हुआ ४१३
इत्थि-तणए,यं=स्त्री-तनु ४३३, ४४१
इत्थि-भोगाई=स्त्री-भोग ४३४
इत्थी-विसय-गेहीए=स्त्री-विषयक सुखों में लोलुप रहने वाला ३३३, ३३५
इत्थीओ=स्त्रियां ३२१
इमा=यह ४३२
इमाइं=ये १४६
इमेतारूवे=इस प्रकार का ४५३
इरिया-समियाणं=ईर्या-समिति वाले १४४
इरिया-समिया=ईर्या-समिति वाले ४८२
इह=यह लोक १७७
इहेव=इसी लोक में ३५८
ईसरी-कए=ईश्वर अर्थात् समर्थ-शाली बनाया हुआ ३३७
ईसरेण=ईश्वर ने, समर्थ व्यक्ति ने ३३७
ईसा-दोसेण=ईर्ष्या-दोष से ३३८
ईहा-मइ=ईहा-मति ११२
ईहा-मइ-संपया=विशेष अवबोध रूप ज्ञान, अवग्रह-मति से देखी हुई वस्तु के विषय में विचार करना, मति-सम्पदा का एक भेद १११
उक्कंचण=घूस, घूस लेने वाला १८२
उक्कुडुयस्स=घुटनों के बल बैठने का आसन २६६
उक्कोसेण=उत्कर्ष से २३०, २३२, २३६, २३८
उगिगिण्हणए=रोकना २६६
उगिगिण्हत्ता=ग्रहण करने वाला, आज्ञा लेने वाला ११७
उगिगण्हेइ=ग्रहण करता है १११
उग्ग-पुत्ता=उग्र-पुत्र ४३३, ४६६
उग्गहं=आज्ञा ३७०
उग्गह-मइ-संपया=सामान्य रूप से वस्तु का बोध करना, मति-संपदा का एक भेद १११, ११२
उच्चार-पासवणं=मल और मूत्र २६६, ३०४
उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाणग-वंत-पित्त-सुक्क-सोणिय-समुब्भवा=मल, मूत्र, श्लेष्म, शरीर के मल, नासिका के मल, वात, पित्त, शुक्र और रुधिर से उत्पन्न होने वाले ४४६
उच्चार-पासवण-खेल-सिंहाण-जल्ल-पारिठावणिया-समियाणं=मल, मूत्र थूक, नाक के मल, और पसीना आदि को यत्नाचार-पूर्वक डालने वाले १४४
उच्चावएसु=ऊंचे-नीचे ४३४
उच्चावयाइं=छोटे अथवा बड़े ४३४
उच्चासणंसि=ऊंचे आसन पर ९५
उच्छु-खंडिया=गन्ने की पोरी ४४१
उज्जाणाणि=उद्यान, बगीचे ३६८
उज्जुयं=सरल रीति से, सीधे साधे २४१
उड्ढं=थोड़ा २ २६२
उड्डहित्ता=जलाने वाला २०१
उड्ढं=ऊर्ध्व लोक १६०
उण्हं=गरम २६२
उण्हाओ=गरम (जगह) से २६२
उत्तमंगम्मि=उत्तम-श्रेष्ठ अङ्ग पर ३२५
उत्तर-गामिए=उत्तर दिशा जाने वाला २१३
उत्ताणस्स=आकाश की ओर मुख कर लेटने का आसन २६६
उदग-तलं=जल का तल ३५४

एकादसमा=ग्यारहवीं २४०
एक्कारस=एकादश, ग्यारह १७५
एगओ=एक स्थान पर ३७५
एगंतं=एकान्त में ३७५
एग-जाया=केवल एक पत्नी ४३७
एग-पोग्गल-ठितीए=एक पुद्गल पर स्थित (दृष्टि से) ३०४
एग(क)वीसं=इक्कीस ३४
एग-राइयं=एक रात्रि की (उपासक प्रतिमा) २२४, ३०४
एगा=एक, अकेली २६२, ४३७
एते=ये ३०, ३८५
एतेसिं=इनकी ४३४
एयं=इस ३७०, ३७२, ३७८, ४६१
एयारिसं=इस प्रकार के ३४१
एयारूवेण=इस प्रकार के २२७, २३२, २३४, २३६
एलुयस्स=देहली के २६२
एवं=इसी प्रकार ३, ३४, ५३, ५४
एसणाऽसमिते=एषणा समिति के विरुद्ध चलने वाला २६
एसणा-समियाणं=एषणा समिति वाले अर्थात् निर्दोष आहार ग्रहण करने वाले १४४
ओयं=निर्मल, राग-द्वेष-रहित १५५
ओरुंभिया=अवरुद्ध कर, रोक कर ३२४
ओहं=संसार-रूपी समुद्र १५६
ओहारइत्ता=शंका-रहित भाषा बोलने वाला, असमाधि के ग्यारहवें स्थान का सेवन करने वाला २०
ओहि=अवधि १५६
ओहि-णाणे=अवधि-ज्ञान, ज्ञान का पांचवां भेद १४६
ओहि-दंसणे=अवधि-दर्शन १५२
ओरालियं=औदारिक, स्थूल (शरीर) १६६
कंखं=काङ्क्षा, अभिलाषा १२७
कंखियस्स=काङ्क्षा (अभिलाषा, लोभ) वाले की १२७
कंठे=गले में ३६४
कक्खड-फासा=कर्कश अर्थात् कठोर स्पर्श वाले २०८
कज्जंति=किये जाते हैं १६०
कटि-सुत्तयं=कटि-सूत्र, मेखला, कमर का गहना ३६४
कट्टु=करके २४०
कट्ठ-कम्मंताणि=लकड़ी के कारखाने ३६८
कण्ह-पक्खिए=कृष्णपाक्षिक अर्थात् वह व्यक्ति जो अर्ध पुद्गल परावर्तन काल से भी अधिक संसार-चक्र में भ्रमण करता रहे २११
कण्हुइ-रहस्सिया=किसी भी कार्य्य में रहस्य (भेद) रखने वाले ४५७
कप्पति=उचित है २४१, २४४
कप्परुक्खे(च)इव=कल्प वृक्ष के समान ३६४
कम्मं=कर्म ३२१
कम्मंता=अशुभ कर्म के फल देने वाले। सा. कर्म के निमित्त-कारण ३५५
कम्म=आक्रमण कर ३२२
कम्म-बीएसु=कर्म-रूपी बीज १६८
कम्माइं=कर्म २०५
कय-कोउय-मंगल-पायच्छित्ते=जिस ने (रक्षा और सौभाग्य के लिए) मस्तक पर तिलक, (विघ्न विनाश के लिए) मङ्गल तथा (दुःस्वप्न और अपशकुन दूर करने के लिए) प्रायश्चित्त-पैर से भूमि-स्पर्श आदि क्रियाएं की ३६४
कयरे=कौन से ६
कय-बलिकम्मे=जिसने बलि-कर्म अर्थात् बलवर्द्धक व्यायाम (कसरत) किया है ३६४

चिच्चा=छोड़कर १६६
चिट्ठित्ता=खड़ा होने वाला ६६, ६४
चित्त-वद्धणा=चित्त की मलिनता बढ़ाने वाले। सा. चित्त-ज्ञान में वृद्धि करने वाले ३५६
चित्त-मंताए=चेतना वाली, सजीव ५४
चित्त-समाहि-ठाणाइं=चित्त-समाधि के स्थान १४०, १४६
चियत्त-देहे=शरीर के ममत्व भाव छोड़ने वाले २६०
चिर-ट्ठितिएसु=चिर-स्थिति वाले देवलोक में ४१७
चुए=च्युत हुए ३१३
चुय-धम्माओ=धर्म से गिरते हुए को १२५
चेइए=चैत्य, उद्यान, बगीचा १४२, ३२०, ३६४
चेएइ=उत्पन्न करता है, उत्पन्न करने का विचार करता है ३३
चेए(त)माणे=करते हुए ५४
चेयसा=(दुष्ट) चित्त से ३२५
चेयसे–कलुसाविल देखो
चेल-पेला=वस्त्रों की पेटी ४२३
छंद-राग-मती णिविट्ठे=अपने अभिप्रायों को राग अर्थात् विषयों की अभिलाषा में स्थापन करने वाला १७७
छएहं=छः ४६
छत्तेण=छत्र से ३६४
छमासियं=भिक्षु की छठी प्रतिमा जिस में छः दातें अन्न और इतनी ही पानी की ली जाती हैं २६४
छव्विहा= छः प्रकार की २६८
छायए=छिपाता है ३२८
छिंद=छेदन करो १८२
छिंदित्ता=छेदन करने वाला १२७
छित्ता= छेदन कर १६६
छिवाडीए=लघु चाबुक से २०१
छेदे=दीक्षा-छेद २६६
जइ=यदि ४१७, ४३४
जंपि=जो कुछ भी ३५६
जक्खे=यक्षों को ३५४
जढं=छोड़कर ३५६
जणं=(भोले भाले) जन को, मनुष्य को, व्यक्ति को ३२४, ३२७
जत्थ=जहां २६२
जदा=जिस समय ३७०
जया=जिस समय १६२, १६३
जल्ल=उच्चार-पासवण देखो
जवजवा–कलम-मसूर देखो
जससा=यश से ३३६
जस्स=जिसको, जिसके ७६, ३७५
जहन्नेणं=जघन्य से, कम से कम २२७, २३६
जहा=जैसे ६
जहा-नामए=जिस प्रकार, जैसा कोई २०५
जाइ=जाति, उत्पत्ति, जन्म १४८
जाइं=जो ३६८, ३७२
जाइ-मरणं=जन्म और मृत्यु ३६०
जाइ-सरणेणं=जाति स्मरण से, गत जन्मों के अनुभव-स्मरण से
जागरमाणे=जागते हुए ७५
जागरा=जागते हैं ७५
जाणं=जानता हुआ, जानता हूं २३८
जाणं=यान ३८५
जाण=यान १८७
जाण(णा)इ, ति=जानता है १५६, १६१, १६२
जाणगं=यान ३८५
जाण-प्पवरं=श्रेष्ठ रथ को ३८५
जाणमाणे=जानता हुआ ३३०
जाण-सालं=यान-शाला में ३८५
जाण-साला=यान-शाला ३८५

णिदाणं=निदान कर्म ४४४, ४५१
णिदाणस्स=निदान कर्म का ४३८
णिरया=नरक १७७
णिवेदह=निवेदन करो ३७०
णिविट्ठे-छंद-राग-मती णिविट्ठे देखो
णीणेइ=निकालता है ३८५
णूणं=निश्चय से ४०५
णेयारं=नेता को ३४१
णेरइया=नारकी, नरक में रहने वाले जीव १७७
णो=नहीं, निषेधार्थक अव्यय २६२, ४२१
ण्हाए=स्नान किया ४१३
ण्हाण=स्नान, कसाय दंतकट्ठ देखो १८७
तओ=तीन ४७
तं=अतः ३७८, ४३४
तंजहा=जैसे ६, ३४, ६५, ६६
तच्चंपि=तीन बार ६१, ३७२
तज्जण-तालणाओ=तिरस्कार करना और मारना १८६
तज्जाएणं=उसी के वचनों से ८६
तज्जेह=तर्जित करो १६४
तते,तो=इसके अनन्तर ३७२, ३८१, ३८५
तत्थ=वहां ३७२, ४३५
तत्थ-गए=वहीं पर बैठा हुआ, अपने ही स्थान पर बैठा हुआ ८३
तया=उस समय ३७०
तया-भोयणं=त्वक् अर्थात् वृक्ष की छाल का भोजन ५६
तले=ताल वृक्ष १६४
तव-नियम-बंभचेर-वासस्स=तप, नियम और ब्रह्मचर्य पालन का ४३४
तव-समायारी=तप कर्म करना, तप का अनुष्ठान १२१
तवसा=तप से १३४
तसे(स्से?)=त्रस अर्थात् भय के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने वाले द्वि-इन्द्रियादि जीव २४०, ३२२
तस(स्स?)-पाणघातीं=त्रस प्राणियों का घात करने वाला २०५
तस्स=उसी के ३३६, ४३७
तस्सेव=उसी को ३३१
तहप्पगारा=इस प्रकार के १८६
तहा-रूवे=तथा-रूप, शास्त्र में वर्णन किए गुणों को धारण करने वाला ४५३
तहेव=उसी प्रकार (पूर्ववत्) २२७, ४३७
ताणि=उनको ३५६
तामेव=उसी ३७२
तालेह=मारो १६४
तिकट्टु=इस प्रकार (कहकर) ३७६
तिक्खुत्तओ=तीन बार ३७६
तितिक्खति=अदैन्यभाव अवलम्बन करता है २६०
तित्थयरे=चार तीर्थ स्थापन करने वाले ३७०, ३७६, ३६०
तित्थाणं=ज्ञानादि तीर्थों के ३५०
तिप्पंति=रुलाते हैं २०३
तिप्पण=रुलाना २०३
तिप्पयन्ता=निन्दा करता हुआ ३४४
तिरिक्ख-जोणिया=तिर्यग् योनि-सम्बंधी पशु पक्षी आदि २६०, २६६
तिरिच्छं=तिरछे, टेढ़े २४०
तिरियं=तिर्यग् लोक १६०
तिव्वासुभ-समायारे=अत्युत्कट अशुभ समाचार (आचरण) वाला ३२७
तीरित्ता=पूर्णकर २६३
तीसे=उसके ६१, ४३७
तुमं=तू ८४
तुम(कासि)=तूने यह कार्य किया है ३२६

दाहिण-गामि-नेरइए=दक्षिणगामी नारकी २११, ४५३
दिगिंच्छाए=भूख से ४१०
दिज्जमाणं=दिया जाता हुआ ४२
दिट्ठ-पुव्वगताए=जिसने धर्म नहीं देखा उसको इस प्रकार धर्म की ओर आकर्षित करना जिससे उसे यह पहले देखा हुआ जैसा प्रतीत हो १२५
दिट्ठ-पुव्वगं=दृष्ट-पूर्वक जिसने सम्यग् ज्ञान और दर्शन-रूप धर्म को देखा हुआ है १२५
दिया=दिन में २२७
दिव्वं=प्रधान १४८
दिव्वं=देव-सम्बन्धी ३०४
दिव्वा=देव-सम्बन्धी २६०
दीव-ताणं=द्वीप के समान रक्षा करने वाले ३४१
दीव-समुद्देसु=द्वीप और समुद्रों में १५३
दुक्कडाणं=दुष्कर्म, बुरे कर्म २१३
दुक्खं=कष्टकर ४३४
दुक्खणं=दुःख देना २०३
दुक्ख-दोय=दो प्रकार के अर्थात् शारीरिक और मानसिक दुःखों से १५६
दुक्खहियासं=दुःख-पूर्वक सहन की जाने वाली २०८
दुक्खेंति=दुःख देता है २०३
दुग्गं=दुर्गम २११
दुचरिया=दुष्ट आचरण वाला, जिसकी दिनचर्या दुष्ट है १८२
दुन्निरणा=दुष्ट, अशुभ १७०
दुट्ठस्स=दुष्ट के १२७
दुट्ठे=दुष्ट अथवा द्वेषी ३४४
दुण्हं=दो के लिए २६२
दुति(इ)ज्जमाणे=जाते हुए ३७०,३७४,३७६
दुधरं=भंगादि दुर्धर, अत्यन्त कठिनता से धारण किया जाने वाला ११२
दुप्पडियानंदा=दुष्ट कार्य से प्रसन्न होने वाला। सा. कठिनता से प्रसन्न होने वाला १८२
दुप्प(प)मज्जियचारि=दुष्प्रमार्जित-चारी अर्थात् अविधि से प्रमार्जन कर चलने वाला। असमाधि के तीसरे भेद का सेवन करने वाला १२
दुप्पय=दो पैर वाला जीव, मनुष्य २६२
दुप्परिचया=दुष्ट संगति करने वाला १८२
दुम्मणा=दुर्मन, खिन्न-चित्त २०१
दुयाण्हं=दो दिन २२७
दुरणुणेया=बुरी प्रकृति वाला अथवा दुष्टों का अनुगामी १८२
दुराहियास=दुःख से सहन किया जाने वाला २६८
दुल्लभ-बोहियए=दुर्लभ बोधिक अर्थात् कठिनता से समझने वाला ४५३, ४५५
दुवे=दो २३८
दुव्वया=बुरे व्रत करने वाला, बुरे आचरण वाला १८२
दुस्संचाराइं=कठिनता से जाने योग्य ४४१
दुस्सीला=दुराचारी, बुरे स्वभाव वाला
दूति-पलासए=दूतिपलाशक नाम वाला (उद्यान) १४१
देव-कुलाणि=देवकुल ३६६
देव-जुइ=देवद्युति १४६
देवत्ताए=देव रूप ४२६
देव-दंसणे=देव-दर्शन १४८
देव-लोएसु देव-लोकों में ४२६, ४५१
देव-लोगाओ=देव-लोक से ४२६
देवाणुप्पिया=देवों के प्रिय ३६८, ३७०, ३७६
देवाणुभावं=देवानुभाव को, देवता के सामर्थ्य को १४६
देविड्ढिं=देवर्द्धि, देवताओं की ऋद्धि १४६
देवे=देव ४२६, ४४४

रहित साध्वी, सर्वस्व त्याग करने वाली साध्वी, णिग्गंथी देखो १४४
निग्गया=पास गई १४२, ३२०
निग्गुणे=गुण-रहित १८२
निच्चं=नित्य, सदा २६०
निच्चंधकार=सदा अन्धकार और तम वाले २०८
निज्जाण-मग्गे=मोक्ष का मार्ग, कर्म से छूटने का मार्ग ४०७
निज्जायमाणीए=घर में प्रवेश करते हुए ४२३, ४२८
निज्जूहित्ता=निकाल लेने पर, पृथक् रख देने पर या निपटाने पर २६२
निद्दायंति=निद्रा लेते हैं २०८
निद्धं=स्निग्ध आहार ८०
निपच्चक्खाण-पोसहोववासे=जो कभी प्रत्याख्यान और पौषध या उपवास नहीं करता १८२
निम्मेरे=मर्यादा से रहित १८२
नियडि=गूढ़ कपट वाला १८२
नियम=नियम ४३४
नियल-जुयल-संकोडियं-मोडियं=लोहे की सांकलों के जोड़े से बांध कर मोड़ तोड़ डालना १९६
नियल-बंधणं=बेड़ी से बांधना १९६
निरणत्तं=उऋणता ऋण से छुटकारा १२०
निरिंधणे=लकड़ी आदि इन्धन के अभाव में १६५
निरुद्धयं-भत्त पाण-देखो
निविट्ठे-छंद-राग-मती-देखो
निवेदेज्जा=निवेदन करो ३७२
निवेदेमो=निवेदन करते हैं ३७९
निव्वए=व्रत से रहित, जो कभी व्रत नहीं करता १८२
निव्वाघाए=निर्व्याघात अर्थात् पीड़ा आदि से रहित ३१३, ४८६
निव्वाणं=निर्वाणपद अर्थात् मोक्ष १५५
निव्वाण-मग्गे=मोक्ष का मार्ग, मुक्ति-पथ ४०७
निसम्म=हृदय में धारण कर ३६०
निसिहियं=बैठना ५२
निसीइत्ता=बैठने वाला ६७
निसीयइ=बैठता है २६४
निसीहियं=बैठना ५४
निस्फाव=धान्य विशेष १९२
निस्सीले=शील या सदाचार से रहित १८२
निस्सेसं=निःशेष, सम्पूर्ण १२३
निस्सेसाए=कल्याण के लिए १२५
निहते=मारे जाने पर १६५
नीरए=कर्म-रज से रहित १६९
नेत्तेणे=नेत्राकार शस्त्र विशेष से २०१
नेयाइअस्य=न्याय-युक्त ३४४
नेयारं=नेता को ३४०
नेरइया=नारकी २०८
नो=निषेधार्थक अव्यय ८७, २४१, २६२
पइठाणे=प्रतिष्ठित, स्थित २०५
पउंजइ=प्रयोग करता है १९२
पउंजित्ता=प्रयोग करने वाला ११५
पओग-मइ-संपया=प्रयोग-मति-सम्पदा, वाद-विवाद के अवसर पर स्फुरण होने वाली बुद्धि ११५
पओग-संपया=प्रयोग-सम्पत्, प्रकृष्ट अर्थात् सर्वोत्तम योग-रूपी सम्पत्ति १०१
पओद-लट्ठि=चाबुक ३८८
पओद-धरे=चाबुक वाले ३८८
पंक-बहुले=पाप-रूपी कीचड़ से आवेष्टित २०५
पंच=पांच ३१३
पंचिंदियाणं=पञ्चेन्द्रियों को, पांच इन्द्रिय-नाक, कान, आंख, जिह्वा और मन

आंचने वाला ११७
पडिलोमाहिं=प्रतिकूल ३३२
पडिवज्जति=प्राप्त कर लेता है ४१६
पडिवन्नस्स=प्रतिपन्न, स्वीकार करने वाले २६०
पडिविरयं=जिसने संसार से विरक्त हो कर साधु-वृत्ति ग्रहण की है ३४२
पडिविसज्जित्ता=प्रतिविसर्जन कर अर्थात् बिदा कर ३८१
पडिविसज्जेति=बिदा करता है ३८१
पडिसंवेदेति=अनुभव करते हैं ४३४
पडिसुण(णे)ई=सुनते हैं ३७२, ३७८
पडिसुणित्तए=सुनने के लिए ४३०
पडिसुणेज्जा=सुनेगा ४३०
पडिसेवमाणे=सेवन करते हुए ३८
पडिहणित्ता=प्रतिहनन करने वाला ८६, १३३
पढमा=पहली २५७
पणग=पांच रंग के फूल ५४
पणस्सति=नाश हो जाती है १६५
पणिय-गिहाणि=पण्य घर, पंसारी की दुकानें ३६८
पणिय-सालाओ=पण्य शालाएं, फुटकर माल बेचने वालों की दुकानें ३६८
पणिहिए=छल से, कपट से ३२७
पण्णत्ता=प्रतिपादन किए हैं ६
पण्णत्ताओ=प्रतिपादन की हैं ६५, २५६
पण्णत्ते=प्रतिपादन किया है २४०
पण्णाणे-नियडि-पण्णाणे देखो
पण्णे-नाहिय-पण्णे देखो
पतंग-विहिया=पतंग की चाल के समान अनियत वृत्ति से भिक्षा करना, गोचरी का एक भेद २६८
पत्त-भोयणं=पत्तों का भोजन ५६
पत्तिएज्जा=विश्वास करे ४५३
पत्तियत्तए=विश्वास करने की ४५३
पधारंति=(हृदय में) धारण करते हैं ३७५
पधारित्ता=धारण कर ३७५
पब्भार-गएहिं=नमे हुए, झुके हुए ३०३
पभासमाणे=शोभायमान होता हुआ ४५१
पभू=सामर्थ्यशाली ३४८
पयण-पयावणाओ=अन्नादि पकाने और पकवाने से १८६
पयलायंति=प्रचला नाम वाली निद्रा लेते हैं २०८
परंसि (लोगंसि)=पर (लोक) में २०३
परक्कमेज्जा=पराक्रम करे २४१, ४५५, ४८४
पर-पाण-पडियावण-कडा = दूसरे के प्राणों को तपाने वाले १६०
परम-दुब्भिगंधा=तीक्ष्ण दुर्गन्ध से युक्त २०८
परलोए=परलोक १७७
परलोग-वाइ=परलोक मानने वाला १७७
परिकिलेसाओ=सब प्रकार के क्लेश से १८६, २०३
परिक्खित्तं=घिरा हुआ ४१०
परिग्गहाओ=परिग्रह अर्थात् ममत्व भाव से १८५
परिघेतव्वा=पकड़ना चाहिए ४५८
परिचिय-सुय=सब श्रुत अर्थात् शास्त्रों को जानने वाला १०४
परिठवित्तए=उत्सर्ग करने के लिए ३०४
परिठावणिया-उच्चार-पासवण देखो
परिणाए=परिज्ञात, परित्यक्त, छोड़ा हुआ २३४, २३८, २४०
परिणाह-आरोह-परिणाह देखो
परित्तं=गिनती में आने वाले (उपकरणों में कमी) १३०
परितप्पंति=पीड़ा पहुंचाते हैं २०३
परिनिव्वायंति=सांसारिक दुःखों के त्याग से शान्त-चित्त होते हैं ४०७

पिसुणण-परपरिवायाओ=चुगली और निंदा से १८५
पीढ-फलग=चौकी ११७
पुच्छणी=मार्गादि या अन्य प्रश्नादि पूछने की भाषा २७१
पुट्ठस्सवागरणी=प्रश्नों की उत्तर रूप भाषा २७१
पुढवीए=पृथिवी पर ५२
पुढवी-सिलापट्टए=पृथिवी के शिला पट्ट पर १४१
पुणरागमणिज्जा=बार २ आने वाले ४६८
पुणो-पुणो=पुनः-पुनः, बार २ ३५०
पुण्णभद्दे=पुण्यभद्र, एक उद्यान का नाम ३२०
पुत्तत्ताए=पुत्र-रूप से ४१७
पुप्फ-भोयणं=पुष्पों का भोजन ५६
पुमत्ताए=पुरुषत्व ४४१, ४७७
पुरओ=आगे ६६, २४०, ४१२
पुरत्थाभिमुहे=पूर्व दिशा की ओर मुंह कर ३६४
पुरादिगिंच्छाए=पहली (पूर्व-जन्म की) क्षुधा से ४२३
पुरिसजाए=पुरुष-जात १६२, २०३
पुरिसाणं=पुरुषों के ३८१
पुरिसे-कोडुंबिय-पुरिसे देखो
पुरिसो=पुरुष ३२२
पुव्वतरागं=पहले ७०
पुव्व-पडिलेहियंसि=पूर्व प्रतिलिखित, पहले के देखे हुए २६६
पुव्वाउत्ते=साधु के भिक्षा मांगने को आने से पहले पकाकर उतारा हुआ २४४
पुव्वागमणेणं=आने के पहले २४४
पुव्वाणुपुव्वि=अनुक्रम से ३६०
पूय=विकृत रुधिर, पीप २०८
पेइयं=पैतृक सम्पत्ति ४१६
पेच्चा=परलोक में ३५८
पेज्ज-बन्धणे=प्रेम-बन्धन २४१
पेज्जाओ=प्रेम से १८५
पेला(डा)=चतुष्कोण पेटी के आकार से भिक्षा करना, गोचरी का एक भेद २६८
पेसारंभे=अन्य से आरम्भ अर्थात् कृषि आदि कर्म कराना २३४
पेसे=प्रेष्य, इधर-उधर कार्य के लिए भेजा जाने वाला नौकर १६४
पेहमाणे=देखता हुआ २४०
पोराणं=पुरानी बात ११२
पोराणाणं=पुरातन, पुराने २२, १३०
पोराणियं=पुरानी १४८
पोसहोववासाइं-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं देखो
प्पवाइ-रवेणं=उत्पादित ध्वनि से ४१३
फरिस—कसाय-दंतकट्ठ-ण्हाण देखो
फल-विवागे=फल-विपाक, परिणाम ४३८
फल-वित्तिविसेसे=विशेष फल ४३४
फाले=विदारण करता है ३२५
फासित्ता=स्पर्श कर २६३
फासु-यएसणिज्जं=अचित्त और निर्दोष ४६६
फासमाणे=स्पर्श करता हुआ २४०
बंभयारी=ब्रह्मचारी २२७, २३६
बंभचेर-तव-नियम देखो
बलि-कम्मे—कय-बलि-कम्मे देखो
बहिया=बाहर ७०
बहुं=अत्यन्त ३४४
बहु=प्रायः, अधिक १०६, १११, ११२
बहुइं=बहुत से २१७
बहुजन=बहुत मुनियों के ११७
बहु-सुय=बहु-श्रुत, बहुत से शास्त्रों का स्वाध्याय या अध्ययन करने वाला १०४
बारस=बारह २५६

हुए के २६२
भुंजमाणी=भोगती हुई ४०३
भुंजमाणे=भोगते हुए, खाते हुए ३६, ६०
भुंजिस्सामो=भोगेंगे ४३४
भुज्जतरो=प्रभूत, अधिक, बहुत २०५
भुज्जो=पुनः-पुनः ३१४
भूओवघाइए=जीवों का उपघात करने वाला १७
भे=आपका ३७६
भेत्ता=भेदन करने वाला ६०
भेयाणं=भेद के लिये हो ३५०
भेरवं=भयावह (परिषह) १५६
भो=हे, अय, सम्बुद्ध्यर्थक अव्यय ३६५
भोए=भोग ३५३
भोग-पुत्ता=भोग-पुत्र, भोगकुल में उत्पन्न हुए ४३४
भोग-पुरिसे=भोग-पुरुष, विलासी मनुष्य १६४
भोग-भोगाइं=भोगने योग्य भोग ४०१
भोग-भोगे=भोग्य भोगों का ३३३
भोगेहिं=भोगों के विषय में ४६८
भोयणस्स=भोजन की २६२
मइ-संपया=मति-सम्पत्, विशिष्ट बुद्धि १०१, १११
मउलि-कडे=धोती की लांग न देना २२७
मक्कडा-संताणए=मकड़ी का जाला ५४
मग्गस्स=मार्ग का ३४४
मज्जण-घरं,रे=स्नानघर, स्नानागार ३६०,३६४
मज्जण-घराओ=स्नान-गृह से ३६०
मज्झंपि=मेरे लिए भी ३४८
मज्झं-मज्झेण=बीचों-बीच ३७२
मज्झत्थ-भाव-भूते=मध्यस्थ का भाव रखते हुए १३५
मज्झे=मध्य में २६६
मण-गुत्तीणं=मनोगुप्ति वाले, मन का निग्रह अर्थात् पाप आदि से मन की रक्षा करने वाले १४६
मण-पज्जव-णाणे=मनः-पर्यव-ज्ञान, मन के पर्याय का ज्ञान, ज्ञान का चौथा भेद १५२, ३०८
मणामं=मन का प्रिय (भोजन) ८०
मणुस्स-क्खेत्तेसु=मनुष्य क्षेत्र, मनुष्य का उत्पत्ति या जन्म का स्थान १५२
मणुन्नं=मनोज्ञ, सुन्दर, रमणीय ८०
मणो-गए=मनोगत, मन में स्थित १५३
मत्त=पात्र विशेष । आयार-भंड-मत्त देखो १४४
मत्तेण=पात्र विशेष से ६०
मत्थयं=मस्तक को ३२५
मत्थय=मस्तक १६४
मद्दन—कसाय-दंतकट्ठ देखो
मल्ला=माल्य । कसाय-दंतकट्ठ-देखो १८७
महज्जुएसु=अत्यन्त सुन्दर कान्ति वाले ४५१
महड्ढिए=बड़े ऐश्वर्य वाला ४१७, ४४४
महड्ढिएसु=बड़े ऐश्वर्य-शालियोंमें४२६, ४५१
महत्तरगा=अधिकारी लोग ३६८, ३७२
महा-आसा=बड़े २ घोड़े ४१२
महा-परिग्गहे=अधिक परिग्रह (ममत्व) वाला १८०
महा-माउया=महा-मातृक, कुलवती माता की सन्तान ४३४, ४६६
महा-मोहं=महामोहनीय कर्म ३२२, ३३०
महारंभा=हिंसा आदि उत्कट कामों को आरम्भ करने वाली ४३०
महारंभे=हिंसा-आदि उत्कट काम करने वाला १८०
महा-रवे=बड़ी ध्वनि, बड़ा शब्द ४१३
महालयंसि=बड़े विस्तार वाले ४१३
महावीरे=श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ३७०, ३९०

राइ-भोअणं=रात का भोजन ३६
राओवरायं=रात-दिन २३२, २३६
रातिणिअ-परिभासी=आचार्य उपाध्याय आदि गुरुजनों के सामने निरंकुश बोलने वाला, असमाधि के पांचवे स्थान का सेवन करने वाला १५
रायणिए=रात्निक, आचार्य आदि गुरुजन ७०, ७२
रायणिएणं=रत्नाकर के (साथ) ७०, ७२
रायणियस्स=रत्नाकर के ६६
रायगिह-नयरं=राजगृह नगर ३७२
रायगिहस्स=राजगृह नगर के ३६८, ३७२
रायगिहे=राजगृह ३६४
राय-पिंडं=राजा का आहार ४१
रायहाणिस्स=राजधानी के ३०३
राया=राजा ३६४, ३७०
रीएज्जा=चले २४०
रुइ-सव्वधम्म-रुइ देखो
रुइ-मादाए=रुचि की मात्रा से ४५७
रुव-कसाय-दंतकट्ठ-देखो
रुक्ख-मूलगिहंसि=वृक्ष के मूल में अथवा वृक्षों की जड़ से बने हुए घर में २७२
रुहिर=रुधिर २०८
रोगायंकं=रोगातङ्क, रोग की पीड़ा ३०६
लगड-साइस्स=लकड़ी के समान आसन ग्रहण करने वाले का २६६
लब्भेज्जा=प्राप्त करे ३०६
लयाए=लता से २०१
लित्ताणुलेवण-तला=(मेद-वसा आदि से) नीचे का हिस्सा लिपा हुआ होता है २०८
लुक्खं=रूक्ष, रूखा (पापड़ आदि पदार्थ) ८०
लुत्त-सिरए=लुञ्चित केश वाला २४०
लुब्भइ=लोभ करता है ३३६
लेलुए=प्रस्तर-खण्ड पर, ढेले पर ५४
लेलुएण=कङ्कड़ों से, ढेलों से २०१
लोगं,यं=लोक को १४६, १५२
लोयंसि=लोक में १५६
लोहिय-पाणी=रुधिर से जिसके हाथ लिप्त हैं १८२
वंचण=छली १८२
वंता=वमन कर, दूसरों के सामने प्रकट या दूर फेंक कर ३५७
वंतासवा=वमन के द्वार ४४६
वंदति=स्तुति करता है ३८१
वंदंति=वन्दना करते हैं, स्तुति करते हैं ३७६
वंदित्ता=स्तुति कर ३७६, ३८१
वग्गुहिं=वचनों से ३३२, ३८८
वग्घारिय-हत्थेण=लिप्त हुए हाथ से ६०
वग्घारिय-पाणिस्स=दोनों भुजाओं को लम्बी कर ३०२
वज्ज-बहुले=पापी, पाप-पूर्ण कर्मों वाला २०५
वट्टग=बटेर १६२
वट्टमग्गं=नियत मार्ग में ३८८
वट्टा-अंतोवट्टा देखो
वण-कम्मंताणि=जंगलों के ठेके ३६८
वणीमग=भिखारी २६२
वण्णओ=वर्णन करने योग्य है ३२०
वण्ण-वाई=वर्णवादी, आचार्य आदि के गुण-गान करने वाला १३३
वण्ण-संजलणया=वर्णसंज्वलनता, गुणानुवादकता, कीर्ति या यश फैलाना, विनय-प्रतिपत्ति का एक भेद १२६, १३३
वत्तव्वं=कहना चाहिए २४७
वत्ता=कहने वाला ८४
वत्तेति=देता है १६४, २००
वत्थु=पदार्थ, व्यक्ति विशेष या पूर्वोत्तर प्रकरण ११५
वदइ=कहते हैं ३७२

वित्तंमि=धन पर ३३६
वित्ति=आजीविका १८०
विदाय=जानकर ११५
विदितापरे=मोक्ष के स्वरूप को जानकर ३५८
विद्धंसण-धम्मा=नाश होना जिनका धर्म्म है ४४७
विपडि वदंति=(अपने दोषों को दूसरों के माथे मढ़कर) अपलाप करते हैं ४५७
विप्पजहणिज्जा=त्यागने योग्य ४६८
विप्पमुक्कस्स=बन्धनों से मुक्त १६१
विप्पवसमाणे=दूर रहने पर २०१
विभज्ज=फोड़कर ३२५
विभूसिए=विभूषित, अलङ्कृत ३६४, ३६०
वियड=सचित्त ६०
वियड-गिहंसि=खुले घर में २७२
वियड-भोई=प्रकाश में ही अर्थात् सूर्य के रहते ही भोजन करने वाला, रात्रि को भोजन न करने वाला २२७
वियार-भूमिं=मलोत्सर्ग की भूमि, पाखाना जाने की जगह ७०, ७२
वियारेइ=विदारण करता है, विनाश करता है ३३२
वियाले=विकाल में, रात्रि या संध्या के समय ७५
विरत्तस्स–सव्व-काम-विरत्तस्स देखो
विरूव-रूवेहिं=नाना प्रकार के ४१०
विलेवण=विलेपन, कसाय-दंतकट्ठ-देखो १८५
विवज्जेज्जा=छोड़ दे ३५५
विवित्तं=स्त्री, पशु और पंडक(नपुंसक) से रहित १५७
विसमासी=सर्प ३५८
विसो=विष को ३५८
विस्सरं=विस्वर, कर्ण-कटु ३३४
विहरइ=विचरता है, विचरती है १८०, ४०४
विहरति=विहार करें ३६०
विहरमाणे=विचरता हुआ २२७, २३८, २४७
विहरामो=विचरण करेंगे ४०४
विहरि(रे)ज्जा=विचरें, विहार करें १३५, २३०, ३७०
विहारेण=विहार से २२७, २३८, २४७
विहिंसइ=मारता है ३३६
वुड्ढ(ट्ठ)-सीले=वृद्ध जैसा स्वभाव रखने वाला १०३
वुड्ढ-सेवि=वृद्धों की सेवा करने वाला १३३
वुत्ता=कथन किये हैं ३५५
वुत्ता(समाणे)=कहे जाने पर ३८५
वेत्तेण=वेत से २०१
वेढेण=गीले चाम से ३२६
वेय-छिन्नयं=जननेन्द्रिय का छेदन १६६
वेयणिज्जं=वेदनीय कर्म १६६
वेयावच्च=सेवा के लिए १३४
वेर-बहुले=अधिक वैर करने वाला २०५
वेरमण=विरमण व्रत, सावद्य योग्य की निवृत्ति-रूप सामायिक व्रत २२०
वेरायतणाइं=वैर-भाव के स्थानों को २०५
वोसट्ठ-काए=व्युत्सृष्ट-शरीर, शरीर की ममता त्यागने वाला २६०, २६६, ३०४
सउत्तिङ्ग=कीड़ी के नगर से युक्त, जहां कीड़ियां रहती हों ५४
सउदगं=जल वाली ५४
सओसे=ओस वाला ५४
संकममाणे=संक्रमण करने वाला, जाने वाला ४६
संकोडिय–नियल-जुयल–देखो
संगह-परिन्ना=संग्रह-परिज्ञा नाम वाली आठवीं गणि-सम्पत् १०१, ११७
संगहित्ता=संगृहीत करने वाला १३४
संगाहित्ता=सिखाने वाला, आयार-

सिहा-धारए=शिखा धारण करने वाला २३८
सीतोदग-वियडंसि=शीत और विशाल जल में ३०१
सीतोदय-वियड=सचित्त शीतल जल ६०
सीयं=शीत २६२
सील-वय-(व्वत)-गुण-वेरमण-पच्च-क्खाण-पोसहोववासाइं=शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषध-उपवासादि २१७, ४६४
सीसं=शिर को ३२६
सीसम्मि=शिर पर ३२५
सीह-पुच्छयं=सिंह की पूंछ से बांधना १६६
सीहासणओ=राज-सिंहासन से ३८१
सुकुमाल-पाणि-पाए=सुकुमार अर्थात् कोमल हाथ और पैर वाला ४१६
सुक्क-उच्चार-पासवण-देखो
सुक्कड-दुक्कडं=पुण्य और पाप के १७७, २१३
सुक्क-पक्खिए=शुक्ल-पाक्षिक, जिसे अर्ध पुद्गल परिवर्तन के अन्दर मोक्ष जाना हो, वह २१३
सुक्क-मूले=शुष्क-मूल, जिसकी जड़ सूख गई हो १६७
सुगतिं=सुगति, श्रेष्ठ गति को ३५८
सुचत्त-दोसे=पूर्णतया दोषों को छोड़ने वाला ३५८
सुचरियस्स=सुचरित्र का, शुद्ध आचरण का ४०४
सुचिण्णा=शुभ १७७, २१३
सुणस्स=कुत्ते का २६१
सुणीहडं=सुख-पूर्वक निकला हुआ ४७७
सुण्हा=पुत्र-वधू २००
सुतवस्सियं=भली प्रकार से कामना-रहित तप करने वाला ३४२
सुति=स्मृति २०८
सुत्तं=सूत्र १२३
सुत्ता=सोए हुए ७५
सुद्धं=निर्दोष २६२
सुद्धप्पा=शुद्धात्मा, सदाचार आदि से आत्मा को शुद्ध रखने वाला ३५८
सुमणसे=दत्त-चित्त । सा. प्रसन्न-चित्त ८६
सुमणा=प्रसन्न-चित्त २०१
सुमरसि=स्मरण करते हैं ८७
सुमरित्तए=स्मरण करने के लिए १४८
सुमिण-दसणे=स्वप्न-दर्शन, स्वप्न में देव आदि का दिखाई देना १४८
सुयं=सुना है ३
सुय-विणएणं=श्रुत-विनय, से शास्त्र के विनय से १२०
सुय-संपया=श्रुत-संपत्, शास्त्र-ज्ञान-रूप लक्ष्मी, शास्त्र का उच्च ज्ञान १०१
सुलभ-बोहिए=सुलभ-बोधिक कर्म को करने वाला, सहज ही में बोध प्राप्त करने वाला २१३
सुसमाहिए=सुसमाहितात्मा १६४
सुसमाहिय-लेस्सस=भली प्रकार स्थापित शुभ लेश्याओं को धारण करने वाला १६१
सूइए=सुई से १६४
सूर-ववगय-गह-चंद-देखो
सूर-प्पमाण-भोई=सूर्य-प्रमाण भोजन करने वाला, सूर्योदय से सूर्यास्त तक भोजन की ही रट लगाने वाला, असमाधि के १६वें स्थान का सेवन वाला २८
सूरा=शूर ३६०
सूलाभिन्नं=शूलि से टुकड़े २ करना १६६
सूलाकायतयं=शूली पर चढ़ाना १६६
से=वह, उसके २४४, ३८४, ३८५